समास - 10

समास-10

साहित्य, कला और सभ्यता पर एकाग्र
त्रैमासिक

सम्पादक
उदयन वाजपेयी

रज़ा फाउण्डेशन | THE RAZA FOUNDATION

समवेत लेखकों के विचारों का 'समास' आदर करता है
लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह उनसे सहमत ही हो।

समास : 10 © जुलाई 2014
पंजीयन क्रमांक : F-2 (S-46)Press/2012

त्रैमासिक पत्रिका

प्रकाशक : अशोक वाजपेयी
कार्यकारी न्यासी, रज़ा फाउण्डेशन, सी–4
139 सफ़दरजंग डेव्हलपमेण्ट एरिया, नयी दिल्ली–16
फ़ोन – 011–46526269

आवरण आकल्पन : शिरीष ढ़ोबले

सहयोग : मिथलेश शरण चौबे, संगीता गुन्देचा

सम्पादकीय पत्र व्यवहार : उदयन वाजपेयी
एफ 90/45 तुलसी नगर
भोपाल (म.प्र.) 462003
फ़ोन – 0755–2556940

ईमेल – <udayanvajpeyi@gmail.com>

मूल्य : 60 रुपये

वितरक : वाणी प्रकाशन
21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002
फ़ोन : 011– 23275710, 23273167
फैक्स : 011– 23275710

ईमेल : vaniprakashan@gmail.com
वेबसाईट : vaniprakashan.in

कम्पोज़िंग : शैलेन्द्र डाण्डे, रामवीर, मनोज डेकाटे
मुद्रण : भण्डारी आफ़सेट, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)

सम्पादकीय - ५-६

अनेक वचनी भूतकाल
भालचन्द्र नेमाड़े से सुधाकर यादव की बातचीत - ७-४०

उपन्यास अंश

हिन्दू - भालचन्द्र नेमाड़े - ४१-६६
क्रमश - अमित दत्ता - ७०-११०

कविताएँ

कुमार शहानी - १११
वांग वेई - ११२-११४
जबोलोत्स्की - ११५-१२०
प्रकाश - १२१-१२३

इतिहास व्याख्याएँ

देश के अभिधान : विश्वम्भरशरण पाठक - १२४-१६२
हिन्द महासागर में समुद्री वाणिज्य : अशीन दास गुप्त - १६३-१८४
रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश : कमलेश -१८५-२२७
वेदपाठियों का सान्निध्य : संगीता गुन्देचा - २२८-२४६
आधुनिक सभ्यता का अर्थ : राममनोहर लोहिया - २५०-२५६
धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार : आचार्य नरेन्द्र देव - २५७-२६२

निबन्ध

भारतीय धर्म : आचार्य नरेन्द्र देव - २६३-२६७
रसोई में नमक : वागीश शुक्ल - २६८-३०३

समीक्षा

कुरूप को शब्दांकित करते दस्तावेज़ की तरह : मिथलेश शरण चौबे - ३०४-३०६

पत्र : ३०७-३२४

सम्पादकीय

अभी हाल में भारतीय लोकतन्त्र के इतिहास के सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण चुनाव सम्पन्न हुए। इस चुनाव में अनेक प्रश्न उभरकर सामने आये। यह बात अलग है कि उन तमाम प्रश्नों पर जितनी गहरायी से विचार-विमर्श किया जाना था, नहीं हुआ। इस चुनाव में कौन जीतता और कौन हारता से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण यह था कि क्या हम अपने देश के मतदाताओं-नागरिकों को पर्याप्त सचेत होता देख पाएँगे या नहीं। कहीं यह तो नहीं होगा कि वे लगभग नींद में चलते हुए से अपनी लोकतान्त्रिक शक्ति के प्रति बिना आश्वस्त हुए मतदान कर दें। इस चुनाव के दौरान लेखकों की भूमिका पर भी पर्याप्त प्रश्न उठे और उन पर भी गाहे-बगाहे बहसें हुईं। हमारी रुचि लेखकों और बुद्धिजीवियों की इसी भूमिका में है। हिन्दी साहित्य में समय-समय पर वामपन्थी मत को मानने और प्रचारित करने वाले लोगों ने मुक्तिबोध को उद्धृत करते हुए लेखकों से यह बताने का दबाव बनाते रहे हैं कि 'पार्टनर, तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है?' मुझे याद है कि एक ज़माने में (ग़नीमत है वह ज़माना बीत गया) जब भी कोई वामपन्थी आलोचक किसी भी लेखक को बिना उसकी कृतियों का विश्लेषण किये, उसे नीचा दिखाना चाहता था, वह उससे व्यंग्य में कहता था, पार्टनर तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है? यह प्रश्न पूछते हुए वह अक्सर यह बताना चाहता था कि भले ही यह बेहद नया और चित्ताकर्षी लिख रहा हो, भले ही यह अपने लेखन में तमाम सम्भावित गहनता को प्राप्त कर चुका हो पर अगर वह वैसी राजनीति का समर्थन नहीं करता जैसी की ऐसे प्रश्नों द्वारा परोक्षतः प्रस्तावित की जाती थी, उसमें कोई मूलभूत त्रुटि है। यह दरअसल प्रश्न नहीं है, जड़ीभूत विचारधारा को आरोपित करने की समयसिद्ध युक्ति है जिसका पिछले कई दशकों से विज्ञापन एजेन्सियाँ निरन्तर व्यवहार कर ग्राहकों पर एक तरह के माल को खरीदने का दबाव बनाती हैं। मुक्तिबोध के इस एक प्रश्न के सहारे हिन्दी में कितने श्रेष्ठ लेखकों को निरन्तर लांछित किया जाता रहा है, इसका अगर पूरा विवरण लिखा जा सकेगा तो हमें पता चलेगा कि कैसे हमने साहित्य के संसार पर विचारधारा के अन्धकार को सचेत होकर लीपा और साहित्य में श्रेष्ठता को निरन्तर दर-किनार किया। आज चूँकि इस तरह के प्रश्नों पर अधिक वस्तुनिष्ठता से विचार किया जा सकता है इसलिए हम समझ सकते हैं कि ऐसे प्रश्न, फिर भले ही वे मुक्तिबोध जैसे लेखक ने पूछे हों, किस गहरे अज्ञान ने उत्पन्न हुए थे। ऐसे प्रश्न की पूर्व मान्यता यह थी कि किसी भी साहित्यिक लेखन को किसी विशेष राजनैतिक विचार का एक परिष्कृत या अपरिष्कृत अनुषंग होना चाहिए। सृजनात्मक लेखन को किसी विशेष राजनैतिक विचार का अनुसरण करने योग्य स्वयं को बनाना चाहिए। यह मान्यता न तो नयी है और न ही प्रश्नांकन से परे। अगर इस मान्यता के अपने इतिहास में जाएँगे, हमें पता चलेगा कि दरअसल यह मान्यता प्रथमतः दुनिया की लगभग सभी ग़ैर-पेगन धार्मिक परम्पराओं में अनुस्यूत मिलती है। इन ग़ैर-पेगन परम्पराओं को हम सामी धार्मिक परम्पराओं के नाम से जानते हैं। इन परम्पराओं में सत्य की प्रकृति का जो विवरण मिलता है, उसके अनुसार सत्य किसी पैगम्बर या मसीहा द्वारा खोजा जाकर समाज में अन्य सदस्यों की मुक्ति का साधन बनता है। सत्य केवल वही होता है जो इन विशेष व्यक्तियों द्वारा अनुभूत किया जाकर मुखरित किया जाता है। इस तरह सत्य का स्थान उन ग्रन्थों में हुआ करता है जो इन विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा स्वर्ग से पृथ्वी पर समाज के अन्य सदस्यों की मुक्ति के लिए अवतरित होते हैं। चूँकि सत्य केवल इन ग्रन्थों में ही उपलब्ध होता है

इसलिए समाज के सभी अन्य सृजन माध्यमों का यह कर्तव्य है कि वे इन ग्रन्थों में प्राप्य सत्य को ही प्रचारित और प्रसारित करने का उद्यम करें। किसी भी सृजन की श्रेष्ठता इस बात पर तय होगी कि वह इन विशिष्ट ग्रन्थों में प्राप्य सत्य को कितनी प्रांजलता और गहनता से प्रचारित कर सकता है। यही कला और साहित्य का औचित्य स्वीकारा जाता था। कला और साहित्य के इस औचित्य निरूपण के कारण बहुत-सी कलाओं और बहुत-से साहित्य को बहुत लम्बे समय तक गहरे अन्धकार में वास करना पड़ा। इन तमाम विचार परम्पराओं पर यूरोप में आधुनिकता के आगमन के उपरान्त इन्हीं परम्पराओं के विचारकों ने प्रश्न उठाये। इन प्रश्नों का परिणाम यह हुआ कि यूरोप में रेनेसाँ के बाद ऐसे अनेक श्रेष्ठ दार्शनिक विचार उत्पन्न हुए जिनमें कला और साहित्य की भूमिका पर पुनर्विचार हुआ। इस पुनर्विचार के फलस्वरूप यूरोप में सत्रहवीं शती के बाद कला और साहित्य के क्षेत्र में मानो नया विस्फोट हो गया हो। इटली से शुरू होकर यूरोप के तमाम देशों में तरह-तरह की कलाएँ और साहित्य प्रस्फुटित होना शुरू हो गये। इसी अवधि में साहित्य में उपन्यास जैसी विधा का आविष्कार हुआ जो हमारे समय तक आते-आते लगभग केन्द्रीय साहित्यिक विधा बन गयी है। यूरोप के इतिहास में इससे बड़ी कोई भी सृजनात्मक घटना शायद न मिले। पर यूरोप में ही सामी धार्मिक चेतना इस सृजनात्मक विस्फोट के समानान्तर जीवित रही आयी। उसी चेतना के कुछ तत्त्वों को लेकर जर्मनी के विलक्षण चिन्तक कार्ल मार्क्स ने मानवीय इतिहास की अपनी समझ को सामने रखा। इस समझ के मूल में सामी धार्मिक चेतना का एक अपेक्षाकृत मूल तत्त्व 'आश्वासन' उपस्थित था। इसके अनुसार अपने तमाम इतिहास को पार करते हुए मानवीय समाज की यह नियति है कि वह अन्ततः समता को प्राप्त करेगा। यहाँ मानवीय इतिहास के अन्त में सामाजिक समता की प्राप्ति के 'आश्वासन' की प्रकृति लगभग वही थी जो सामी परम्पराओं में फैसले के दिन पर ईश्वरीय कृपा के सभी पर बरस जाने में निहित थी। मार्क्स का चिन्तन सामी धार्मिक चेतना का ईश्वरविहीन सेक्यूलर जगत में पुनर्वास का अभूतपूर्व प्रयास था। इस चिन्तन के आधार पर जब कला और साहित्य और सत्य के सम्बन्धों पर विचार करना शुरू हुआ तब, जैसा कि अपेक्षित ही था, यह माना गया कि सत्य वही है जो मार्क्स ने अपने विश्लेषण में खोजा था, और इसलिए कला और साहित्य का यह कर्त्तव्य है कि वह इस सत्य को प्रचारित और प्रसारित करे। कला और साहित्य के इस औचित्य निरूपण को ऐसे समाजों में सहज मान्यता प्राप्त हुई जो उपरोक्त चिन्तन के आधार पर संयोजित हुए थे। इसके परिणाम ये हुए कि उन कलाओं और साहित्यों को अस्वीकार किया गया जो इस शर्त पर खरे नहीं उतरते थे। इस छद्म सौन्दर्यशास्त्र का काम विविध कला साहित्य-रूपों को समझना न होकर, उनमें से कुछ को स्वीकारना और अधिकतर को नकारना हो गया है। मुक्तिबोध के प्रश्न की भी यही भूमिका रही है। हम सबके सौभाग्य से इस तथाकथित सौन्दर्यशास्त्र की सीमाएँ पूरी तरह उजागर हो चुकी हैं। न यूरोप में और न भारत में ऐसे श्रेष्ठ कला-साहित्य की न्यूनता है जो इस दृष्टि को प्रश्नांकित न करते हों। अब यह बात बड़े स्तर पर पुनर्प्रतिष्ठित होने लगी है कि साहित्य और कलाएँ किसी उपलब्ध सत्य को प्रचारित-प्रसारित करने का माध्यम नहीं है, वे अपने में ही सत्य-शोधन का साधन हैं। उनमें उपलब्ध सत्य का मान किसी भी सत्य, फिर वह धार्मिक हो या वैज्ञानिक, से न्यूनतम नहीं है। और साथ ही यह बात भी अब और स्पष्टता से सैद्धान्तिकृत की जा पा रही है कि कला-साहित्य समाज को कुछ ऐसे सत्यों और समृद्धियों से विभूषित कर सकते हैं जैसा और कोई भी नहीं कर सकता। अब हिन्दी में भी धीरे-धीरे वह समय आ गया है जब हम अपने लेखकों से यह कह सकते हैं कि पार्टनर इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम्हारी पॉलिटिक्स क्या है, असल बात यह है कि तुम लिखते/ती कैसा अर्न्दृष्टिपूर्ण हो?

१ जुलाई २०१४ **उदयन वाजपेयी**

अनेकवचनी भूतकाल

भालचन्द्र नेमाड़े से सुधाकर यादव की बातचीत

पद्मश्री भालचन्द्र नेमाडे का जन्म २७ मई, १९३८ में महाराष्ट्र के जलगाँव जिले के सांगवी गाँव में हुआ। श्री नेमाडे फर्ग्युसन कॉलेज, पुणे से स्नातक हुए फिर उन्होंने डेक्कन कॉलेज से भाषा विज्ञान और मुम्बई विद्यापीठ से अँग्रेज़ी साहित्य में स्नातकोत्तर और पी.एचडी उपाधि प्राप्त कीं। आप लम्बे समय तक मुम्बई विद्यापीठ में अँग्रेज़ी विभाग में प्राध्यापक और विभाग प्रमुख रहे हैं। २००८ में आप भारतीय उच्च अध्ययन केन्द्र, शिमला में राष्ट्रीय फैलो हुए। श्री नेमाडे मराठी भाषा के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार और विचारक हैं। श्री नेमाडे के कई उपन्यास मराठी और भारत की अनेक भाषाओं में लोकप्रिय हुए हैं। उनमें कोसला, बिढार, हूल, जरीला, झूल आदि प्रमुख है। नेमाडे के उपन्यासों के हिन्दी, कन्नड़, गुजराती, उर्दू, अँग्रेज़ी, फ्राँसीसी, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। उन्हें साहित्य अकादमी, कुसुमाग्रज, महाराष्ट्र फाउण्डेशन जीवन गौरव पुरस्कार आदि प्राप्त हुए हैं। हाल ही में उनका लगभग सैंतीस वर्षों बाद एक उपन्यास ''हिन्दू : जगण्याची समृद्ध अडगळ'' प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास के प्रकाशित होते ही, नेमाडे के अन्य उपन्यासों की तरह ही, मराठी साहित्यिक जगत में इस पर वाद-विवाद आरम्भ हो गया है। यह सुदीर्घ उपन्यास कई ज़िल्दों में पूरा होगा। इसका एक भाग प्रकाशित हुआ है। उसके कुछ अंश हम समास के इस अंक में दे रहे हैं। श्री भालचन्द्र नेमाडे से हमारे आग्रह पर मुम्बई के प्रख्यात चित्रकार और समालोचक सुधाकर यादव ने लम्बी बातचीत की है। सुधाकर मुम्बई के जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्राध्यापक है और अपनी तरह के गहन चित्रकार है। सुधाकर के चित्रों की प्रदर्शनी मुम्बई, चेन्नई आदि स्थानों पर हो चुकी हैं। सुधाकर ने प्रभाकर कोल्ते, गायतोण्डे, प्रभाकर बर्वे, तैयब मेहता, अम्बादास आदि चित्रकारों पर लेख लिखे हैं। सुधाकर यादव ने भालचन्द्र नेमाडे से यह बातचीत १९१२ में मार्च के महीने में अपने घर पर की थी। यह बातचीत पूरी रात चली और सुबह चार बजे समाप्त हुई। यह बातचीत मराठी में सम्पन्न हुई थी, बाद में इसका हिन्दी अनुवाद नागपुर की अनुवादक माधुरी बेडेकर ने हमारे आग्रह पर किया है। माधुरी मराठी के कई नाटकों के अनुवाद कर चुकी हैं।

सुधाकर यादवः- चर्चा के आरम्भ में-मेरा प्रश्न यह है कि भारतीय साहित्य परम्परा में काव्य ही अधिक है। गद्य लगभग था ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है।

भालचन्द्र नेमाड़ेः-प्रथम दृष्टया यह सही लगता है, हमारी शुरुआती रचनाएँ अधिकतर छन्दात्मक ही थीं। आगे चलकर तो ऐसा सिद्धान्त बना कि सारा साहित्य 'काव्य' ही होता है। यूनान में जिसे 'फाईन आर्ट' समझा जाता है, वह सारा साहित्य 'काव्य' ही है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' जिसमें रस हो, वही काव्य है, ऐसी समावेशक, उदार भूमिका हमने, हमेशा की तरह, ले रखी थी। यह बात मुझे ठीक भी लगती है क्योंकि हम बचपन से जो कुछ सुनते आये थे, उसमें आकलन के स्तर पर गद्य और

पद्य में ज़्यादा अन्तर नहीं दिखता थ। जैसे कीर्तनकार बोलते-बोलते बीच में कहीं पद्यात्मक अभंग-ओबी गाते थे, या फिर अपनी सान्धिक पारायण की पद्धति में भी पद्य पढ़ते-पढ़ते बीच में ही कहीं शास्त्रीय गद्य में अर्थ भी बताया जाता था, या तमाशा में नाटक जैसे सम्वाद होते ही थे लेकिन बीच में ही कोई एकाध पात्र अपने मनोगत छन्द में बोला करता था-एकालाप की तरह-फिर एकदम कोई गाना ही शुरू हो जाता, इसी तरह साहित्य की एक मिश्र आविष्कार पद्धति हम उपयोग में लाते थे और आज भी वह लोक साहित्य में प्रबल है। गद्य विरुद्ध पद्य का यह भेद जो बड़े पैमाने पर हमारे यहाँ शुरू हुआ, वह अँग्रेज़ी के प्रभाव के कारण उपनिवेश काल के पश्चात रूढ़ हो गया। थोपी हुई कुछ उपनिवेशिक बातें जो हममें आयीं, उनमें से यह एक है। नयी और बदलती, सामाजिक और राष्ट्रीय परिस्थितिवश हमें अपनी परम्पराएँ बदलनी पड़ीं। फिर हम इस नयी-परायी परम्परा को ही सच मानने लगे और गद्य एवं पद्य में ऐसे बुनियादी भेद होते गये। इस तरह हम अपनी देशी परम्परा से दूर होते गये। उदाहरण के तौर पर तेरहवीं शती में रचा गया महानुभावो का सशक्त 'लीलाचरित्र' या फिर 'स्मृतिस्थल' जैसे तेरहवीं-चौदहवीं शती में रचे गये पचास-साठ गद्य ग्रन्थों को देखें तो यह सब उत्तर साहित्य कृतियाँ तो हैं ही, लेकिन आज के गद्य की तरह 'विवेकपूर्ण' नहीं है। लेखन प्रकारों और वांड्मय प्रकारों में अन्तर है। इस लेखन प्रकार में कई तरह के संमिश्र, कथनात्मक, चरित्रात्मक घटक होते थे, कुछ लोक कथाएँ होती थीं, कुछ दृष्टान्त होते थे। कुछ ऐतिहासिक कथाएँ, स्मृतियाँ-प्रासंगिक, स्मरणानुसार-श्री चक्रधर द्वारा निरूपित की जाती थीं। इस प्रकार कई वांड्मय प्रकारों का अन्तर्भाव करने वाला सारा साहित्य इस गद्यलेखन प्रकार में आता था। कुछ अन्य परम्पराएँ वारकारी सम्प्रदाय की थीं-जैसे विट्ठल भक्ति परम्परा में सिर्फ़ कविताएँ ही गायी जाती थीं। उनका यह मानना था कि ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचना हो तो मौखिक कविता का माध्यम ही सबसे सुरक्षित है इसलिए उन्होंने गद्य परम्पराओं का अनुसरण नहीं किया। इस तरह, अपने यहाँ एक मिश्र परम्परा ही थी। जब यूरोपीय लोग आये तो गद्य के लिए आवश्यक मुद्रणकला साथ ले आये। मुद्रणकला के आने से अनायास ही गद्य को उठाव मिला। यह बदलाव समूचे विश्व में ही आया। मुद्रणकला के कारण गद्य आक्रमक हो गया और उसमें निहित भिन्न-भिन्न गद्य प्रधान वांड्मय प्रकार विकसित होते गये। आज विद्याशास्त्रीय क्षेत्र में जिस परम्परा का पालन हम करते हैं, वह बहुतांश यूरोपीय उपनिवेशवादी है। गद्य और पद्य में पूर्ण विरोध है, यह परम्परा ऐसा मानती है। सृजनशील आविष्कार का बुनियादी तौर पर विभाजन करने वाली इस परम्परा को मैं स्वयं नहीं मानता।

सुधाकर :- यानि यह जो प्रचलित गद्य है, अपनी परम्परा से नहीं, यूरोप से आया है?

नेमाड़े :- काफ़ी हद तक। जैसे कथा, उपन्यास, समीक्षा, ट्रेजेडी, नाट्यछटा अर्थात ड्रामैटिक मोनोलॉग, वृत्तपत्रीय गद्य लेखन, लघुकथा इत्यादि। कहानी तो पूर्णतया मुद्रणकला के कारण 'मैगज़ीन स्टोरी' के नाम से जन्म और रूढ़ हुई, यह केवल व्यापारी वृत्ति पर पला-बढ़ा वांड्मय प्रकार है। अपने यहाँ भी कथा, कहानियाँ होती थीं, जिन्हें अँग्रेज़ी में 'टेल' कहते हैं। परन्तु 'टेल' अलग और 'शार्ट स्टोरी' अलग है। 'शॉर्ट स्टोरी' अर्थात् कहानी, यह पूर्णतया गद्य होती है पर 'टेल' अधिकतर काव्यात्मक होती है।

सुधाकर :- हमारे यहाँ की 'टेल' का, किस्से का, कौन-सा फॉर्म बता सकते हैं ?

नेमाड़े :- पहले तो यहाँ पंचतन्त्र की कहानियाँ हैं। लिखित और आज के मुद्रित स्वरूप के पहले तो हिन्दुस्तानी लोग उनका मौखिक कथन ही करते थे। यानि बिल्कुल सिन्धु संस्कृति के लोग भी चार हज़ार पाँच सौ वर्षों पूर्व, उनकी अपनी भाषाओं में पंचतन्त्र की कहानियाँ सुनाते ही थे। संस्कृत भाषा तब नहीं थी। उत्खनन से मिले खपरैलों पर बने चित्रों में अंकित पंचतन्त्र की कहानियों से इसका प्रमाण हमें मिलता है। फिर अपने यहाँ उपनिषदों में, सूत्र वांङ्मय में और तत्पश्चात बाण और दण्डी आदि लोगों द्वारा सशक्त गद्य लिखा पाया गया है। 'हर्षचरित' या फिर 'दशकुमारचरित' ये अत्यन्त उच्च कोटि की ललित गद्य रचनाएँ हैं। पाँचवे और छठे शतक से जैन और बौद्ध लोगों ने प्राकृत में उपन्यास लिखे हैं। हम समझते हैं कि उपन्यास का यह प्रकार पाश्चात्य है तथा चौदहवे-पन्द्रहवे शतक में यूरोप में उसकी शुरुआत हुई और तदोपरान्त पाश्चात्य लोगों से वह हम तक आया। लेकिन ऐसा नहीं है। अपने यहाँ पहले से प्राकृत साहित्य अतिशय धर्म निरपेक्ष था। यद्यपि यह उपन्यास जैन और बौद्ध मुनियों द्वारा और भिक्षुओं द्वारा लिखे गये थे, इन उपन्यासों में सेक्युलर प्रेम कथाएँ होती थीं। प्रेम हो जाना, फिर प्रियकर के साथ प्रेयसी का भाग जाना, इस प्रेमी युगल का किसी डाकुओं की टोली से सामना हो जाना-ऐसा बिल्कुल पुराने यूरोपीय उपन्यासों जैसा कथन उनमें दिखता है। हाल ही में गुजरात के प्राकृत के विद्वान हरिवल्लभ भायानी ने 'तरंगलोला' नामक एक अत्यन्त लोकप्रिय प्राचीन उपन्यास का गुजराती में सम्पादन और प्रकाशन किया है। यह छठे शतक की गद्य-कथा होते हुए भी आज के उपन्यास जैसी ही है। इस पर एक अच्छी हिन्दी फ़िल्म बनायी जा सकती है। भायानी जैसे प्राकृत के विद्वान द्वारा सम्पादित इस कलाकृति से हमें पता चलता है कि अपने यहाँ 'उपन्यास' उत्तम दर्ज़े के हुआ करते थे। लेकिन हमारे आज के भारतीय लेखकों को जो मॉडल्स पता हैं वे मूलतः इतालवी, तत्पश्चात् यूरोप द्वारा उठाये गये अथवा अँग्रेज़ी परम्परा का हू-ब-हू अनुसरण करने वाले ही हैं। उपन्यास, लम्बी कहानी, दीर्घकथा और कथा इनमें क्या अन्तर है, वे कितने शब्दों के, वाक्यों के होते हैं-हमारी उपनिवेश पूर्व, देशी, मौखिक परम्परा इन सब तकनीकि बातों का हिसाब नहीं रखती थी। तब हमारे देश के साहित्य प्रकारों में एक दूसरे की शैलियों का उपयोग और वांङ्मय प्रकारों का समावेश बड़ी सहजता से अपने आप हो जाता था। मेरी दृष्टि से यह बहुत अच्छा आविष्कार है।

सुधाकर :- कुछ देर पहले आपने कहा कि आर्यों ने यहाँ की परम्पराओं को सहजता से आत्मसात कर लिया था। ऐसा कौन-सा वांङ्मय प्रकार था, जिसे उन्होंने अपने साहित्य में शामिल कर लिया था ?

नेमाड़े :- इसका प्रमुख प्रमाण यह है कि ऋग्वेद में जो ऋचाएँ हैं, उन्हें हम आर्यों द्वारा रचित मानते हैं। हम जिसे-जिसे 'आर्यवर्त' कहते हैं, वह उत्तर हिन्दुस्तान है और ये आर्य सर्वप्रथम आये वायव्य दिशा से। अर्थात् बाद में इन जनजातियों का फैलाव उत्तर की ओर, तत्पश्चात् पूर्वी और दक्षिण प्रान्तों में होता गया। परन्तु पुरातत्ववादियों का यह अनुमान है कि ईरान और मध्य एशिया से, ऑक्सस नदी के नीचे, अफ़गानिस्तान से, अपनी सतलज से पंजाब तक का हिस्सा यही लगभग एकसन्ध 'आर्य प्रदेश' रहा होगा। उस समय तो 'भारत', 'हिन्दुस्तान' की हद यहाँ तक और ईरान, अफ़गानिस्तान परदेस ऐसा कोई भेद नहीं था। आसपास बसने वाले सभी लोग एक-दूसरे की संस्कृति को अपने में समा लेते थे। तो यह कहना मुश्किल है कि यही आर्य भाषिकों का राजकीय प्रदेश रहा होगा या फिर, आज का जो भारत

है वही सच है। आज का भारत तो पाकिस्तान तक पीछे सिमट आया है। अपनी समझ-बूझ ही इस बात को तय कर सकती है कि पहले का काल्पनिक 'अपना देश', जिसका नाम तब 'भारत' नहीं था, उसे अफ़गानिस्तान से शुरू हुआ मानें या ईरान से। राजकीय विचार धाराओं के बल पर, प्राचीन संस्कृति की सरहद को, आज तय करना, सरासर बुद्धिहीनता कहलाएगी। कृषि संस्कृति से पूर्व, भटकती आर्य टोलियाँ उस प्रदेश में सर्वत्र रहती थीं। अमू नदी से लेकर, पंजाब तथा हिमाचल प्रदेश तक आर्य ही थे। भृगु ईरान और विश्वामित्र यमुना के आसपास से थे। उन लोगों ने, लगभग हज़ार वर्षों के कालखण्ड में, समय-समय पर वेदों की ऋचाए रचीं, जिनकी याद में संहिताएँ बनीं, वे पहले तो मौखिक ही थीं। उस समय, वसिष्ठ के अथवा भारद्वाज के अखाड़े के लोग परम्परावश जो कहते आये, वह एक संहिता, फिर दूसरे अखाड़े के कोई अन्य ऋषि की अलग संहिता, यही प्रथा रही थी। आज के दौर में दुर्लक्षित कई देवता जैसे-वरुण, मरुत, पूषण, इन्द्र इनकी स्तुति में रचे गये स्त्रोत इत्यादि उत्स्फूर्त आर्ष काव्य के हिस्से, ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी तक रचे गये। अगर इस सबको आर्यों का साहित्य मानकर चलें तो उसका आधा हिस्सा उत्कृष्ट और आधा निम्न दर्जे का होगा।

सुधाकर :- ऋग्वेद को हम कितने अनुपात में 'भारतीय' कह सकते हैं ?

नेमाड़े :- वेदों के तौर पर, ऊर्वशी-पुरुरवा की कहानी, फिर आर्य पूर्व, शैव पद्धति के विचार, यहाँ का परिवेश, विज्ञान, रिवाज़, कृषि संस्कृति से सम्बन्धित साहित्य की भी उसमें मिलावट है। अब 'हाथी' का ही उदाहरण ले लीजिए। हाथी तो किसी यूरोपीय देश का हो नहीं सकता। वह भारत ही में था। अगर कल्पना से ही, तब के तज़ाकिस्तान-अफ़गानिस्तान तक के 'इण्डिया' अथवा 'हिन्दुस्तान' या आज के 'भारत' को समझें, तो इस सम्पूर्ण भूखण्ड पर स्थित पशु-पक्षी, नदियाँ, मानवी परम्पराएँ, ये 'अपनी' कहलाएँगी। इस सबको हम आर्य ही समझते हैं। उस समय इस सभी भू-भाग पर सिन्धु संस्कृति हुआ करती थी, जो बहुत समृद्ध थी। आर्यों के लगभग डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व वह इस प्रदेश में जीवन्त रची बसी थी। आज हम यह नहीं कह सकते कि उनका कोई मौखिक साहित्य था ही नहीं, किसी लिपि वगैरह के आधार से वह हमें आज नहीं मिल रहा है, लेकिन उनके बर्तनों पर, मटकों पर, खपरैलों पर जो चित्र हमें मिले हैं या फिर उनकी जो नगर रचना थी, उससे यह तो पता चलता है कि सब निवासी किसी मुख्य स्थान पर एकत्र हुआ करते थे, जहाँ उनके गोष्ठी-कक्ष होते थे, वहाँ ठीक-ठीक क्या होता था, इसका पता अब हमें केवल कल्पना से ही चल सकता है। परन्तु पुरातत्व शास्त्र के अनुसन्धानों के ज़रिये हम इतना तो सिद्ध कर सकते हैं कि वेदों में जो नहीं है, वह संस्कृति अपने यहाँ पूर्व तथा मध्य एशिया में पहले से ही अस्तित्व में थी। उसके सारे प्रमाण हमारे पास हैं। उदाहरण के लिए भृगु यानि फ्रिजियन हिंसक आर्य ईरानी लोग उन्हीं का एक आदमी-परशुराम-ये आर्य, जिन देव- देवताओं, धर्मों को मानते थे, वे अपने मूल देव-देवता, धर्मों से बिल्कुल अलग थे। उदाहरण के लिए लिंग पूजा मूलतः यहीं की है। लक्ष्मी, यह आर्यों की देवी नहीं, वह मूल भारतीय जैनों की देवी है। बाद में ह़जार सालों बाद, धीरे-धीरे यह सब भारतीय हुआ। यह सब पहले के और बाद के देवी-देवता, यहाँ के आचार विधि, संस्कार, इधर और उधर की दन्तकथाएँ इन सबके, पुराणों में मिथक निर्माण हो गये। जिन्हें आर्य ग्रन्थों में राक्षस कहा जाता है, वे अत्यन्त सुसंस्कृत लोग-रावण की तरह-यहाँ के निवासी थे। आगे चलकर, आर्यों के बाद भी, मध्य एशिया तथा पूर्व से जो भिन्न-भिन्न वंशों के लोग अपने देश में आये, उनकी भी

अपनी-अपनी संस्कृति, उनका कुछ साहित्य रहा ही होगा। यह सब भारतीय साहित्य के नाम से पहले संस्कृत और फिर प्राकृत में, राष्ट्रीय भाषाओं के माध्यम से व्यक्त होता गया। दुर्भाग्यवश, हमारे यहाँ ब्राह्मणों के दुराग्रह के चलते, जो भी संस्कृत है वह सब ब्राह्मणी है, ऐसा स्थापित हो बैठा। सच पूछें तो संस्कृत भाषा पूर्णतया ब्राह्मणी तो है नहीं, बौद्धों का ब्राह्मण विरोधी साहित्य बहुत बड़े पैमाने पर संस्कृत में ही है।

सुधाकर :- बौद्ध ज्ञान से पूर्व, आर्य वैदिक ब्राह्मण दर्शन के विरोध में कुछ तो रहा होगा?

नेमाड़े :- अनेक भ्रमण पन्थ, सिन्धु संस्कृति से चले आ रहे लिंग पूजक शैव पन्थ, आगे चलकर लोकायत-चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध हुए, नास्तिक पन्थ, ऐसे कई पन्थ देशभर में सक्रिय होंगे। विशेषतः उपनिषदों के कर्ता लगभग सभी ब्राह्मणी आर्य देव धर्म को न माननेवाले हैं। ये लोग मूल यहाँ के अनार्य हैं। ये सिन्धु नदी के उस पार से आर्य तो निश्चित ही नहीं है। उनका भी ख़ास भारतीय अभिजात साहित्य संस्कृत भाषा में व्यक्त हुआ है। उनके दर्शन का मूलाधार समूची सृष्टि को व्याप्त करनेवाला एक ही तत्त्व है। उसे ब्रह्म कहा जाए, ऐसा प्रस्थापित हो गया। शायद यही हमारा देशी तत्त्व है। वह धीरे-धीरे हमारे समूचे धर्म विचार में प्रवेश करता गया। उपनिषदों में निहित तत्त्व तथा वेदों में निहित तत्त्व इनमें स्पष्ट रूप से अन्तर दिखता है। फिर भी बुद्धोत्तर काल में उसे साधने की कोशिशें की गयीं। वैदिक, श्रमण, बौद्ध, जैन, सूफी दर्शन एकत्र होकर ही हिन्दू-भारतीय दर्शन बना है। परिणामतः अपने यहाँ कल्चर की संकल्पना यूरोप की तरह एकजीव नहीं हो सकती। अपना कल्चर एक ही काल में स्तरित रूप से पेश होता है-हर स्तर के नीचे दूसरा स्तर- जैसे मुण्डा, फिर द्रविड़ी, राक्षसी, पैशाच्च, तान्त्रिक, किन्नरी और आर्य। यह सारी संस्कृति हिन्दू भारतीय इस अर्थ से देशी है। यहाँ की जनजातियों के साथ-साथ बहुवांशिक लोगों की है। हमारे यहाँ हिमाचल से तिब्बत की सीमा तक या नागालैण्ड, असम तक के ब्रह्मी लोगों के साहित्य तक या फिर दक्षिण के अखण्डमानी लोगों तक सभी जातियों-जनजातियों की सांस्कृतिक विविधता में एकता दिखायी देती है। मेरे उपन्यास में (हिन्दू-जगण्याची समृद्ध अडगल) मैंने इस संस्कृति को सांकेतिक रूप से सम्बोधित करते हुए 'अनेकवचनी भूतकाली' (बहुवचनी भूतकालीन) कहा है। अनेक वांशिक विचारधाराएँ अपना रूप तथा अर्थ बदलते हुए भारतीय होती आयी हैं और फिर कई कहानियाँ इस सांस्कृतिक एकीकरण के परिणाम स्वरूप व्यक्त होती आयी हैं, जैसे महिषासुरमर्दिनी की या फिर अलग-अलग युगों में विभिन्न अवतारों द्वारा हुए असुरों के नाश की, लंकादहन की, रामायण और महाभारत की कथाएँ। इसी कारण हमारे लिए ऐतिहासिक सत्य के तौर पर आर्य और अनार्य में सूक्ष्म भेद बता पाना सम्भव नहीं है। परन्तु वस्तुनिष्ठ अध्ययन हमें इतना अवश्य बताता है कि वह सारा सांस्कृतिक द्रव्य निरन्तर एक-दूसरे में सम्मिलित होता, बदलता और उत्कीर्ण होता आया है। समूचे विश्व में यह एक ख़ास 'भारतीय' प्रक्रिया ही है। इस तरह की भूसांस्कृतिक प्रक्रिया केवल इसी देश में हुई है, अन्यत्र नहीं।

सुधाकर :- अर्थात चिह्न व्यवस्था के माध्यम से उस समय की भाषिक व्यवस्था का बोध होता है।

नेमाड़े :- यह तो काफ़ी हद तक कल्पना पर निर्भर करता है। ऐतिहासिक पुनर्रचना ही करनी पड़ती है, जैसा कि सब करते हैं। डार्विन ने भी तो पुनर्रचना ही की है। यह जो अवशेष आज दिखायी देते हैं उन्हीं के

आधार पर सिद्धान्त निर्मिति होती है। यही ढँग है। इसी तरह हम अपना प्राचीन साहित्य भी पुनर्सृजित कर सकते हैं।

सुधाकर :- अर्थात् संस्कृत साहित्य में उस समय जो कुछ रचा गया था, वह जैसा कि आपने कहा, 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' इस मानदण्ड में बैठता था।

नेमाड़े :- अब संस्कृत हो या प्राकृत या फिर मागधी अथवा महाराष्ट्री, इनके माध्यम से पद्यों के विभिन्न छन्दों से महाकाव्य, पुराण, मूल जातक कथाओं समेत अनेक साहित्य प्रकार व्यक्त होते गये। संस्कृत इन सब उपखण्डों की सर्वराष्ट्रीय भाषा हो गयी। इसका कारण यही था कि संस्कृत में हमारी अधिकांश जाति-जनजातियों के साहित्यिक स्वयं को व्यक्त कर पाते थे। यहाँ तक कि दक्षिण के शंकराचार्य नम्बूदरी भी उत्तम संस्कृत लिखते थे। इतनी खूबसूरती से संस्कृत बोलने और लिखने वाला शायद उत्तरदिशा में भी आठवीं सदी में हमें कोई भी न मिलता। इतनी वह 'लिंग्वा फ्रांका' जिसे कहते हैं, वैसी भाषा हो गयी। जिस प्रकार आज हम अँग्रेज़ी का उपयोग करते हैं, उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति आत्मविश्वास के साथ उसका उपयोग कर लेता था। संस्कृत में जो-जो बातें व्यक्त हुईं, वे अत्यन्त विभिन्न दर्शनग्राही (एकलेक्टिक) और सर्वसमावेषी थीं। विधि-निषेध की चिन्ता किये बिना इसमें इस भूमि का अपना बहुत कुछ व्यक्त हुआ है।

सुधाकर :- हिन्दू वैदिकों के पश्चात् बौद्धों ने भी संस्कृत में मिलाप कर लिया। बौद्ध साहित्य की जातक कथाएँ मूलतः गद्य हैं या फिर काव्य ?

नेमाड़े :- जो जातक कथाएँ हमें आज मिली हैं, वे मूलतः छन्दोबद्ध गाथाएँ ही थीं। बाद में वे 'अट्ठकथा' अर्थात् 'अर्थकथा' के रूप में अवतरित हुईं। वे मुख्यतः, श्रीलंका के बौद्ध विहार में, सिंहली से पाली भाषा में आयीं। उसके बाद इनका जर्मन और अँग्रेज़ी भाषाओं में अनुवाद हुआ। हिन्दी में आनन्द कौसल्यायन, मराठी में धर्मानन्द कौसम्बी वगैरह विद्वानों द्वारा अनुवादित होकर वे हम तक पहुँचीं। मूलतः हमारे देश में उनका पूर्णतया वास हुआ ही नहीं था। वे भारत के बाहर श्रीलंका, चीन, ब्रह्मदेश और तिब्बत इन देशों के बौद्ध मठों में गद्यकथाओं के रूप में मिली थी। बौद्ध मठों में वे उसी गद्य के प्रारूप में बतायी जाती रही होंगी। परन्तु गौतम बुद्ध ने प्रसंगानुरूप , हर एक कहानी, दो पंक्तियों के छन्दमय सूत्र में ढाली थीं। ये सूत्रबद्ध गाथाएँ प्रत्येक गद्यरूपी जातक कथा में हैं। इसके कुछ अंश खुद्दकनिकाय नामक त्रिपीटक में मिलते हैं। उदाहरणार्थ मान लीजिए ऐसी एक गाथा कि 'इस जगत में जिसका ज़्यादा से ज़्यादा विश्वास कर सकते हैं, ऐसा प्राणी कोई है, तो वह आप स्वयं हैं'। अब इस सूत्र को बुद्ध ने छन्दबद्ध कर प्रस्तुत किया था। फिर उस पर बोधिसत्व के विभिन्न प्राणियों के रूप में जन्म दिखाकर, एक समर्पक कथा रची गयी। जो कथाएँ भिक्षुओं को बुद्ध बताया करते थे, उनका संस्मरण, बुद्ध के निर्वाण के पश्चात कथाओं के रूप में पाली में रचा गया। अब या तो बुद्ध ने वह कथा वैसी ही सुनायी होगी या फिर उनके पट्ट शिष्यों ने उसे वैसे याद करके बताया होगा। परन्तु आज की तारीख में उसे एक अधिकृत 'जातककथा' माना जाता है।

सुधाकर :- तो क्या 'जातककथा' को पहला गद्य मान लिया जाए ?

नेमाड़े :- उसके भी बहुत पहले हमारे यहाँ गद्य कथा साहित्य प्रचलित था। जातक कथाएँ पाली में भी बहुत बाद में, ईसा सन् पाँचवे शतक के पश्चात्, जब बुद्ध घोष ने उन्हें पाली गद्य में लाया, तब आयीं और इसके भी बहुत बाद बीसवीं सदी में, वे हमारी आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रकट हुईं। इन जातक कथाओं से भी पूर्व हमारे यहाँ पंचतन्त्र का गद्य था। फिर उपनिषदों में कहीं कहीं और लोक परम्परा में भी सशक्त गद्य मिलता है। महाभारत में तो देश के कोने-कोने की गद्य लोक कथाएँ विराट म्यूज़ियम की तरह एकत्र कर छन्दबद्ध हैं। रामायण में भी ऐसी कहानियों का अस्तित्व है ही। परन्तु इन सबमें भी विशाल समुद्र के रूप में हैं, गुणाढ्य की 'बृहत्कथाएँ'। यह विराट ग्रन्थ भी मूलतः गद्य ही रहा होगा। उसका पद्य रूपान्तर 'कथासरित्सागर' के रूप में उपलब्ध हैं। अनेक लम्बकों में गुँथी हुई ये हज़ारों कथाएँ, कई स्थानों से एकत्र की गयी हैं-दक्षिण, उत्तर, पश्चिम और शायद बाहर के देशों से भी। हमारे लोग तब दूर दराज के प्रदेशों में प्रवास करते थे। मिस्र वगैरह-कुछ वहाँ से, कुछ इधर इण्डोनेशिया से भी। इन विलक्षण कथाओं को कई चक्रों में गूँथा गया है। ईसवी सन् के पहले, दसवें दशक में बौद्ध धर्म को प्रत्युत्तर देने, ब्राह्मण युग में, अनेकों प्राचीन देशी कथाओं को संस्कृत में लिखकर हिन्दू धर्म को लोकाभिमुख करने का दौर चला था। हमारी मौखिक संस्कृति में कथाएँ सुनना-सुनाना बड़े पैमाने पर होता था। लोक कथाओं के अलावा ग्रान्थिक स्वरूप की गद्य कथाएँ भी थीं। आविष्कार की तह में जैसे 'लिरिक' या कविता है, वैसा ही 'कथा' भी मानवी आविष्कार का एक प्राचीन मूल साधन है। ऐसा ही तीसरा मूल तत्त्व 'नाट्य' भी है। इस तरह इन तीनों प्रकारों का गद्य तथा पद्य हमारे यहाँ पुरातन काल से मिश्र रूप में है। उपन्यास, कहानियाँ तो थीं हीं, पिछले दो सौ वर्षों में अँग्रेज़ी से आये कुछ ख़ास वांङ्मय प्रकार हैं, जैसे-कहानी अर्थात् 'शार्ट स्टोरी', लघु निबन्ध, ट्रेजिडी, कॉमेडी और निबन्धों जैसे गद्य प्रकार। ये हमारे विश्वविद्यालयों में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पढ़ाये गये जिससे इनकी सूक्ष्म समझ में वृद्धि हुई।

सुधाकर :- भले ही अँग्रेज़ों के कारण हमारे यहाँ गद्य अथवा कथा प्रकार आया हो पर हमारी परम्परा में जो मूल गद्य था वह भी स्वयं ही उत्क्रान्त हो रहा होगा ....

नेमाड़े :- सही है। वह तो हो ही रहा था। लेकिन उपनिवेशवाद के फलस्वरूप यह प्रक्रिया खण्डित हो गयी और हम ग़लत दिशा में अपनी जड़ें फैलाने लगे। यूरोप-ही-यूरोप का फिर अनुकरण होने लगा और औपनिवेशिक अनुकृतियाँ बनने लगी जैसे-'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' यह मूल यूरोपीय संकल्पना है। पर हाल ही में उसे संस्कृत नाम देकर, यह तो हमारा ही था, यह कहने की प्रथा शुरू हो गयी है। उन्नीसवीं सदी में हम दुराभिमान और आत्मनिन्दा इन दो ध्रुवों के बीच दोलायमान थे। परिणामस्वरूप समीक्षा से तो निरोगी और नैसर्गिक परम्परा गुम हो गयी।

सुधाकर :- उपनिवेशवाद के चलते असली भारतीय गद्य प्रकार भले ही खण्डित हो गये हों, हमारी ये प्राचीन कथाएँ जैसे कथा-सरित्सागर, पंचतन्त्र, जातक कथा इत्यादि गद्य प्रकार परम्परा के रूप में आज भी अस्तित्व में तो होंगे ही।

नेमाड़े :- आज हमें विभिन्न कलाप्रकारों में यह परम्परा दिखती है। अजन्ता के चित्रों में अनेक प्राचीन कहानियाँ देखने को मिलती हैं। गौतम बुद्ध को किसी मार नामक शत्रु ने कैसे कष्ट दिये या गौतम बुद्ध को महल छोड़कर कैसे जाना पड़ा, उन्होंने कैसे तपस्या की-इस पर केन्द्रित अनेक शैलियों में गुँथीं हुई कहानियाँ

मिलती हैं। विभिन्न क्षेत्रों की पारम्परिक कथाएँ, चाहे लोकवांङ्मय की ही कथाएँ देखी जाए, बिल्कुल अँग्रेज़ों ने ही क्यों न संकलित की हों, बहुत ही समृद्ध हैं। लोककथाओं के वर्ग में 'टेल्स ऑफ डेक्कन', पंजाब की कहानियाँ, मध्यप्रदेश की कहानियाँ, किलों की कहानियाँ, गौण्ड-परधानों की कहानियाँ, मध्यवर्ती हिन्दू परम्परा से भिन्न होते हुए भी बहुत साम्य है। कई मौखिक, प्रायोगिक कला प्रकार, उपनिवेशिकता के प्रभाव से सुरक्षित रहे जैसे कथकली, पण्डवानी, ओडिसी, भवाई, तमाशा, चित्रकथी, यक्षगान इत्यादि। इन सभी में कुछ पारम्परिक घटक तो हैं ही, उसी प्रकार आज भी मौखिक महाकाव्यों में उन शैलियों का उपयोग किया जाता है। अब रामायण को ही लें तो वाल्मीकि रचित रामायण ही इकलौता महाकाव्य नहीं है। हमारे देश में अनेक रामायण सर्वत्र सुनायी जाती हैं। जैनों की रामायण अलग थी, बौद्धों की कुछ और ही, आदिवासी जनजातियों की अपनी ही भिन्न रामायण है; सतपुड़ा के भीलों की भी एक अलग ही रामायण है। वाल्मीकि ने एक प्रकार की रामायण लिखी, जो सबसे ज़्यादा लोकप्रिय हुई। कुल मिलाकर लगभग दो सौ रामायण उपलब्ध हैं। इस पर ए.के. रामानुजन ने किताब ही लिख रखी है। नबनीता देबसन ने भी ब्रह्मदेश से बंगाल तक के अनेक प्रकार के रामायणों पर अध्ययन किया है। इन सब रामायणों में, सीता कौन थी, इस बात पर एकमत नहीं है। कहीं वह रावण की बहुत क़रीबी थी, कहीं रावण का उसे ले जाना उचित ही था क्योंकि वह रावण की ही बेटी थी और एक रामायण में तो मन्दोदरी की ही ज़िद थी कि मुझे एक सीता ला दो। ऐसी इस एक 'रामायण' में बहुविधता है। हमारी खेती करने वाली मराठी स्त्रियों को ओबी (एक छन्द का नाम) में भी रामायण आती है-'राम राम म्हणू नये। नाही सीतेच्या तोलाचा।। हिरकणी सीतामाई। राम हलक्या दिलाचा।। (राम राम ना ही कहो। ना वो सीता जैसा तुला।। हीरे जैसी सीता माई। राम छोटे दिलवाला।।) इसे हम झुठला नहीं सकते। क्योंकि यह परम्परा चली आ रही है। वाल्मीकि के बहुत पहले से इस देश की औरतें यह गीत गाती आयी हैं और वाल्मीकि कौन था ? वह शुंगों के काल का ईसा पूर्व पहली सदी का, दरबारी कवि था। इसलिए वाल्मीकि की रची हुई रामायण ब्राह्मणी है। उसके राम वेदों का अभ्यास करने वाले शूद्र को जान से मार डालते हैं। सीता को जला देते हैं। आज कुछ हिन्दू पति जो करते हैं, वैसा ही राम ने किया था। उसे 'अग्निपरीक्षा' ऐसा संस्कृत नाम भले ही दिया हो, है तो वह जला डालना ही। फिर एक शक्की पति की तरह अपनी गर्भवती पत्नि पर आरोप जड़कर उसे जंगल में छोड़ देना, वहीं बेचारी का दो बच्चों को जन्म देना-ये इतना सारा स्त्री विरोधी तत्त्वज्ञान ब्राह्मणी रामायण के कारण बेहद लोकप्रिय किया गया और यह बुद्धोत्तर ब्राह्मणवादी शुंगों को खुश रखना, आश्रित दरबारी वाल्मीकि का कर्तव्य ही था। हाँ, इसे उसने लिखा बहुत खूबसूरती से है इसमें कोई दो राय नहीं। वह काव्य सुन्दर ही है। तमिल कम्बण रामायण में ऐसी और कई कहानियाँ हैं जो वाल्मीकि रामायण में नहीं हैं। कम्बण, राक्षसों को, वाल्मीकि की तरह, बुरा नहीं मानते थे। द्रविड़ मुन्नेत्र कडघम (डी.एम.के.) के नेताओं ने तो वाल्मीकि की संस्कृत रामायण को पूरी तरह से तिरस्कृत ही कर दिया था। उनका यह मानना था कि रावण ही सिविलाइज़्ड था और राम एक क्रूर आर्य। उस सुसंस्कृत राक्षस रावण के राज्य में लोग सुखी थी। उल्टे राम ही एक घुमक्कड़ दहशतवादी था।

सुधाकर :- अभी आपने कहा कि आदिवासियों से लेकर जैन, बौद्ध इत्यादि के रामायण हिन्दू तो हैं नहीं !

नेमाड़े :- बिल्कुल नहीं। आज के ब्राह्मणी अर्थ के हिन्दू तो कदापि नहीं। वैसे हिन्दू यह शब्द भी रामायण जितना

पुराना नहीं। वह बाद में ही बना है। लोगों ने उसे बदलकर आज संकुचित कर दिया है। साहित्य के मामले में जैसे आज हम उदार दृष्टि रखते हैं, वैसे भी धर्म के सन्दर्भ में, यह 'हिन्दू' है, वह 'बौद्ध'-ऐसा भेद करने वाली कोई निश्चित सीमारेखा नहीं है। मेरे गाँव में जितने मुसलमान हैं, वे संक्रान्त, दीवाली, पोला (बैलों का त्यौहार) मनाते हैं, श्राद्ध करते हैं। यह जो हमारी सुसम्वादी, उदार सर्वसमावेशक, सामाजिकता थी, वह दुर्भाग्यवश धीरे-धीरे खत्म होती गयी। औपनिवेशिक राज्यकर्ताओं और परकीय व्यापारियों को यहाँ की एकता को तोड़ना था और दूसरा हमारे यहाँ पर कट्टर, सनातनी ब्राह्मणवाद, जो पराये राज्यकर्ताओं से ही स्फूर्ति पाकर पला, वह इस अन्तर को और बढ़ाता गया। इसलिए हमारे यहाँ सामयिक संस्कृति के भी हिस्से होते गये। वरना हमारे यहाँ गाँव इकाई होता था। या यों कहें कि वहाँ मराठी संस्कृति एकत्र रहती थी। लोग एक-दूसरे के आचार-विचारों से एकरूप होते थे। शिवाजी मुसलमानों के त्योहार मनाते थे। वह कुरान की इज़्जत करते थे, कहीं मिल जाये तो उनका जतन करते थे। फिर अपने यहाँ निजाम शाह मलिक अम्बर था। उसके मन में हिन्दुओं के प्रति असीम स्नेह था। श्री राजवाड़े ने कागज़-पत्रों के सबूतों के साथ प्रकाशित किया है कि किस तरह उसने जगदाले नामक एक हिन्दू को, एक मुसलमान के विरोध में न्याय दिलाया था। औरंगज़ेब से पूर्व जितने मुगल थे हुमायूँ, जहाँगीर, अकबर बगैरह, वे हिन्दू परम्परा का सम्मान करते थे और उसके बचाव में इस्लामी काज़ी, मौलवियों तक को झिड़क देते थे। कहते कि जो हिन्दुस्तानी जनता का धर्म है, वही धर्म मानना चाहिए। अकबर ने तो इस्लाम सहित सभी धर्म नकारते हुए अपना एक अलग ही धर्म निकाला था। ऐसे अनेक प्रकार के अपने देश में प्रान्त में हुए हैं। फलाना एक प्रकार हिन्दू या फिर फलाना एक प्रकार का 'गैर हिन्दू' ऐसा हमने कभी नहीं किया।

सुधाकर :- भक्ति परम्परा के सभी सन्त काव्य ही रचते थे, बस 'लीलाचरित' और अन्य महानुभाव गद्य ग्रन्थ इस बात का अपवाद हैं। विट्ठल के भक्त, वारकरी सन्त, सभी काव्य में ही अभिव्यक्त होते थे। कीर्तन में भी निरूपण के हिस्सों के अलावा सारा काव्य ही होता था। अभंग, ओवी, भारूड़ ललित, यह सब प्रकार मुझे लगता है, मौखिक परम्परा से सन्तों ने अपनाएँ होंगे। यहाँ मुझे तुकाराम के सन्दर्भ में पूछना है कि उसके अभंगों के संकलन को लोग 'गाथा' क्यों कहते हैं ?

नेमाड़े :- गाथा का एक प्रचलित अर्थ है, सब गीतों को एकत्र 'ग्रंथ' किया हुआ संग्रह। मानों मूल गीत लिखकर उन्हें रस्सी से एकत्र बाँधकर बनायी हुई 'तुकाराम गाथा'-तुकाराम के ग्रन्थित, बँधे हुए अभंगों का संग्रह।

सुधाकर :- क्या उसका गेयता से कोई सम्बन्ध नहीं ?

नेमाड़े :- महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में जो गेय गीतों की 'गाथा' हुआ करती थी, वह एक आर्य वृत्त का फॉर्म था। पहले उसे 'गाना' अर्थ में उपयोग में लाते थे। जो 'हाल सातवाहन' की 'गाथासप्तशती' थी, वे गाने ही थे। यहाँ दो भिन्न अर्थों का आर्थी मिश्रण है। शालिवाहन काल की जो मूल गाथा थी, वहाँ से 'गाथा' शब्द उठाकर हमने तुकाराम गाथा से जोड़ दिया। मूल गाथा वह वांङ्मय प्रकार है। दो पँक्तियों की, गाढ़ी बुनाई की, शृँगारिक लक्ष्यार्थ की ये गाथाएँ स्त्री-पुरुष दोनों ही रचते थे। उसमें बहुत सारी कल्पना दिखायी देती थी। एक सुन्दर शैली में, निसर्ग के ग्रामीण रूपकों से सजाकर, ये कवि, कवियित्रियाँ अपना

मनोगत प्रकट करते थे। जैसे प्रेयसी, प्रियकर से कहती है, 'अरे, तुम्हें बूझ नहीं रहा क्या ? खेत में आदमी खड़ा हो जाए तो भी न दिखे इतनी घनी धान बढ़ गयी है। 'इतनी ही दो पँक्तियों की गाथा है, यहाँ उसे काव्यात्मक शैली में यह सुझाना है कि खेत में ही मिलना, वहाँ हम किसी को दिखेंगे नहीं। सातवाहनों का हाल राजा, अपने देश के गाँवों-कस्बों से कवि, कवियित्रियों को बुलाकर उनसे उनकी नयी गाथाएँ सुना करता था। उनमें से सबसे अच्छे कवियों का गौरव करता था। ऐसी सात सौ सर्वोत्तम गाथाएँ हैं, जो प्राचीन प्राकृत में स्त्री-पुरुषों ने रची थीं, उनसे महाराष्ट्री साहित्य की प्रगल्भ शुरुआत होती है।

सुधाकर :- तुकाराम के बारे में एक और प्रश्न है कि उनके समय में अनेक सन्त कवि हुए हैं, लेकिन उनमें तुकाराम ही आप के चलते क्यों हैं? अन्य सन्त कवियों की अपेक्षा तुकाराम में क्या विशेष है, जो आपको भाता है ?

नेमाड़े :- तुकाराम मुझे ज़्यादा अच्छे लगते हैं क्योंकि पहली बात उन्होंने अपनी भाषा और उसके सत्व से अपना नाता अन्त तक जी जान से सँभाला। उन्हें और किसी बात की परवाह नहीं थी। वह सबका इस्तेमाल कर लेता था-विट्ठल का भी : जो मैं बोलता हूँ वह विट्ठल ही मुझसे बुलवाता है, इस तरह की होशियारी भरा सिग्नल वे अपने को तंग करने वाले ब्राह्मणों तक पहुँचाते थे ताकि वे उन्हें तकलीफ़ न दें। भले ही आप को मेरे विचार पसन्द न आएँ, लेकिन क्या करें-ईश्वर ही मुझसे यह सब बुलवाता है-यह उसकी भूमिका थी। हमें, तुकाराम की शैली को शास्त्रीय दृष्टि से ठीक तरह से समझ लेना चाहिए। तुकाराम को जो लगता था, उसे वे अनगढ़ भाषा में बेझिझक व्यक्त करते थे। मराठी भाषा में अभिव्यक्ति के जो प्रयोग उन्होंने किये उनके पहले और बाद में किसी ने ज़्यादा किये नहीं हैं। जैसे पदों को पूरी तरह तोड़-मरोड़ कर रख देना। अत्यन्त सादे शब्दों के अंगभूत सामर्थ्य को प्रकट करने अलग-अलग पद्धतियाँ उपयोग में लाना, जैसे 'वाट' (राह) के बदले, 'वाटुली' कहना-'वाटुली' पाहता शिणले डोकुले' (भावार्थ : राह तकत थक गयी अँखियाँ) या फिर, अनगढ़ भाषा को उठाव देने वाले छन्दों का प्रयोग करना। उनकी रचनाओं में श्लोकों से लेकर लोकगीतों तक के प्रयोग मिलते हैं। लोगों में, वर्तमान जग में, अपने परिवेश में, खुद के समावेश को लेकर सतत सजग रहने के अलावा उन्हें और किसी बात की परवाह नहीं थी। प्रसिद्धि की, कीर्ति की या फिर लोग क्या कहेंगे, इस बात की उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। मेरा मानना है कि असली साहित्यकार की जाति यही हो कि वह अपनी निजी भाषा के साथ ईमान रखे और अभिव्यक्त हो-बाकी दुनिया की परवाह करने की ज़रूरत नहीं। यह मैंने बचपन में ही तुकाराम से सीखा। दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग यह कि तुकाराम ने अपना कार्यक्षेत्र अपना गाँव ही रखा। देहू-एक छोटा सा गाँव-जिसकी जनसंख्या तब हज़ार-दो हज़ार ही रही होगी और आज भी चार-पाँच हज़ार तक ही होगी-मुझे जगप्रसिद्ध कवि बनना है, मेरा स्थान समूचे विश्व में हो, मैं महान कहलाऊँ, ऐसी किसी महत्त्वाकांक्षा को उन्होंने अपने आसपास भी नहीं फटकने दिया। वे अपने घर में बैठते थे और स्वयं में मगन रहते थे। गाँव के ही लोगों की ज़ोरदार आलोचना करते उन पर फब्तियाँ कसते थे। इस कारण उनके शत्रु भी बहुत बने। देहू गाँव के ब्राह्मणों के विरुद्ध वे बिना डरे लिखते थे कि तुम ब्राह्मण अपनी बेटियाँ विवाह में बेचते हो-देहू गाँव में दहेज के लिए किसी ब्राह्मण ने बेचा होगा-इस प्रकार के उपहास और विडम्बन तुकाराम ने बिना किसी की परवाह किये, लिखे। मुझे लगता है, आज

भी किसी लेखक के लिए तुकाराम एक आदर्श हैं। आज सलमान रश्दी और नायपॉल जैसे लेखक कठिनाईयों में फँसे हैं। रश्दी को फ़र्जी नाम लेना पड़ा है। 'जोसफ एण्टन' नाम से मुम्बई में आना, ताज में ठहरना और 'मैं रश्दी नहीं' यह जताना एक लेखक के लिए शर्मिन्दगी की बात है। 'इण्टरनेशनल स्टेटस की चाह', 'ग्लोबल होने की चाह' इन झूठे असाहित्यिक तत्त्वों के कारण ऐसा होता है। तुकाराम अपने ही भाषिक परिवेश में काम कर जीने वाला तथा ग्लोबलायज़ेशन के पूर्णतया विरुद्ध है। मुझे लगता है कम-अधिक अनुपात में, सारे सन्त ऐसे ही थे। लेकिन तुकाराम इसका असल नमूना हैं। अपने ही कस्बे में उन्होंने वास्तव को जाना, उसके बाहर वे गये नहीं। लेकिन दूर-दराज़ के समकालीनों ने उनका लोहा माना। वे उनके कीर्तन सुनने आते, सुने हुए अभंग लिख लेते। तुकाराम सुध-बुध खोकर नाचते और नये रचे हुए अभंग गाते। उस समय देहू में जाकर बसने वाले बहिणाबाई जैसे लोग थे। उनके आत्मचरित्र में वर्णन है कि इतना महान कवि सुध-बुध खोकर नाचते गाते ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। यह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति की बड़ी विशेषता है। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुकाराम ने सिर्फ़ अपनी गँवार परम्परा को माना न कि उर्ध्वरचित वेद, शास्त्र, स्मृति अथवा धर्म को। अपने गाँव का मानवीय धर्म ही उन्होंने सँभाला और बाकी सब दूर खदेड़ दिया। यही बात शास्त्री-पण्डितों को रास नहीं आयी। तुकाराम ने जब एक अभंग में कहा कि 'वेदांचा तो अर्थ। आम्हासिच ठावा।।' तो उच्चवर्णीय चिढ़ गये कि क्या हम उच्चवर्णियों को कुछ आता नहीं ?

सुधाकर :- यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मुद्दा आता है कि आप के अनुसार तुकाराम की एक भाषाशैली थी, उनका भाषा पर प्रभुत्व था। ज्ञानेश्वर की भी अपनी भाषाशैली थी। इन दोनों की भाषाशैली की, छन्दों की, रचना की, वैश्विकता की विशेषताएँ देखते हुए आप अपने को किसके ज़्यादा क़रीबी समझते हैं ? तुकाराम या फिर ज्ञानेश्वर ?

नेमाड़े :- वारकरी होने के नाते हमारे घर की परम्परा में तो-'ज्ञानोबा-तुकाराम'-यही कालक्रमानुसार नाम लेने की पद्धति है। उसमें तो हम कोई भेद नहीं मानते। एक साहित्य का प्राध्यापक, लेखक और समीक्षक होने के नाते जब मैं इन दोनों का सूक्ष्म विश्लेषण करने लगा तो मैंने पाया कि तुकाराम की निर्मिति, यहाँ-वहाँ से, जैसे-तैसे एकत्र किये कुल चार-साढ़े चार हज़ार अभंगों की है और ज्ञानेश्वर की जो कुल रचनाएँ हैं, उनमें 'अमृतानुभव' अभंग और मुख्यतः महाकाय ग्रन्थराज 'ज्ञानेश्वरी' है। 'ज्ञानेश्वरी' के बारे में मेरा मत कुछ ख़ास अच्छा नहीं है। उसकी भाषा तो सुन्दर है लेकिन उसमें विचार पुराने, बुरसैले हैं और सामाजिक आरोग्य के लिए और औरतों तथा शूद्रों के लिए अन्यायकारक, यादवकालीन ब्राह्मणी विचार हैं। इक्कीसवीं सदी का भारतीय नागरिक होने के नाते मुझे यह नापसन्द है। संविधान को देखते हुए भी वह सही नहीं है। ज्ञानेश्वरी की समझ, लोगों की नैतिकता से मेल नहीं खाती। ज्ञानेश्वरी को गीता पर किया हुआ भाष्य मान कर परे रखा जाये तो ज्ञानेश्वर के अभिजात वारकरी अभंग हैं, विराणियाँ हैं, लोकगीत हैं, बालगीत हैं, अहिराणी गीत हैं, भक्तिपरक गीत हैं, यह सारा बेहद सुन्दर काव्य है। दार्शनिक काव्य के रूप में 'अमृतानुभव' की महानता भी सर्वमान्य है ही। इन सबका भाषिक विश्लेषण करें तो ज्ञानेश्वर, तुकाराम के काफ़ी समीप जाने का प्रयास करते हैं। लेकिन उन्हें जाना जाता है ज्ञानेश्वरी के लिए ही। एक ऐसा मत भी है कि दो अलग ज्ञानदेव हैं। मैंने स्वयं आपेगाँव जाकर उनका घर देखा, नेवासे जाकर भी देखा और मुझे महसूस हुआ कि आपेगाँव का गँवार ज्ञानदेव अलग और

नेवासे का ब्राह्मणी ज्ञानदेव अलग है। मराठवाड़ा के आपेगाँव का 'पैल तो गे काऊ कोकताहे' (उस पार अरि, कागा बोलता है) कहने वाले और नेवासे के 'हे विश्वचि माझे घर' (यह विश्व ही मेरा घर है) कहने वाले में मूल अन्तर है। आपेगाँव के ज्ञानदेव का प्रत्येक शब्द एकदम सादा, आशय को सीधी तरह अचूक अभिव्यक्त करने वाला और शान्त रस की ओर ले जाने वाला है। जब कि नेवासे के ज्ञानदेव के शब्द कुछ ज़्यादा ही बताते हैं-जो अनावश्यक हैं। ख़ैर, इसके बावजूद, अभंगों में व्यक्त होने वाले विट्ठलपन्थी वारकरी के रूप में वे बहुत ही श्रेष्ठ हैं। तुकाराम की तुलना में ज्ञानदेव को देखें तो एक भक्त के रूप में ज्ञानदेव की अनुभूतियाँ बहुत मर्यादित लगती हैं। ज्ञानदेव स्वयं को विट्ठल भक्त कहते हैं, ग्वालन कहलाते हैं, राधा कहलाते हैं, लेकिन मुझे लगता है यह भक्ति का सीमित दायरा ही है। इसके विपरीत तुकाराम की भक्ति का दायरा विराट है। तुकाराम कहते हैं, विट्ठल, मैं तुझसे कुछ नहीं माँगता। मैं माँगू ऐसा कुछ नहीं है तेरे पास। तू क्यों मुँह छुपाता है, तेरे पास है ही क्या हम भक्तों को देने के लिए, जो हम तुझसे माँग सकें ? भक्त होने के नाते, हमारे पास तेरे समेत सब कुछ है। या फिर एकदम नास्तिक आविष्कार-'देव नाही ऐसे मानावे मनी आणि देव आहे ऐसे सांगावे जनीं' (ईश्वर नहीं है ऐसा मानो मन में और ईश्वर है ऐसा बोलो जन में)। इस तरह कई आयामों का अवकाश तुकाराम, सहज, सादे शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं। नास्तिकता की सीमा तक जाना यह भक्ति का शिखर है ऐसी भक्ति, जहाँ वह पूर्णतया निषेधपरक होते हुए भी विट्ठल के चरणों में ही सारी बातें कहती है। यह भी तो नवधा भक्ति की एक विधा है। तुकाराम का विट्ठल, पत्थर का एक सुन्दर एन्द्रिय मॉडल है। वह विट्ठल, तुकाराम का ही ऑल्टर ईगो है।

सुधाकर :- एक अभंग में तुकाराम कहते हैं कि 'तू मेरा आकार, मैं तेरा आकार' अर्थात तू और मैं अभिन्न हैं।

नेमाड़े :- तुम्हारा यह अवतरण ज़्यादा फिट बैठता है। ईश्वर और भक्त के रिश्ते की ऐसी हज़ारों व्याख्याएँ उन्होंने अभंगों में दिखायी हैं। मरते समय भी उन्होंने कहा 'अब मैं अपने मायके वापस जा रहा हूँ', यह कहना भी भक्ति का, जीवन-मरण सम्बन्धों का श्रेष्ठतम आकलन है। तुकाराम को मरने से भय नहीं था, उल्टा उन्होंने उसे सुन्दर बनाया है। जैसे आज हम यहाँ हैं वैसे ही मरने के बाद भविष्य में होंगे। तुकाराम मृत्यु को चौथे आयाम के रूप में देखते हैं। जागतिक वांङ्मय में व्यक्त हुई मानवी अस्तित्व की यह एकमेवाद्वितीय अभिव्यक्ति है। अन्य सारी बातों में तुकाराम औरों से ऊपर हैं। हाँ, एक गालिब उनके जितने बड़े हैं, ऐसा मुझे लगता है।

सुधाकर :- नामदेव के साथ भी ऐसा ही है। वे विट्ठल को मारने ही उठते हैं। यहाँ मुझे लगता है कि ज्ञानेश्वर और तुकाराम में भिन्नता है। या यों कहें कि मराठी वारकरियों की भक्ति परम्परा में दो प्रवृत्तियाँ दिखायी देती हैं जैसे ज्ञानदेव और एकनाथ, नामदेव और तुकाराम। नामदेव का विट्ठल के साथ, तुकाराम को स्वप्न में दृष्टान्त देकर यह कहना कि तू करोड़ों अभंग लिख ; एकनाथ को स्वप्न में दिखना कि ज्ञानेश्वर की समाधि को पेड़ की जड़ों ने जकड़ लिया है और फिर उसका उन जड़ों को अलग करना, मुझे लगता है, यह परम्परा दिखाने का ही प्रयास होगा।

नेमाड़े :- सच है। भिन्न प्रवृत्तियों को परम्परा से जोड़ लेने की ये श्रेष्ठ सांस्कृतिक युक्तियाँ हैं। किसी न किसी तरह इन अलग-अलग पन्थों की दार्शनिकता को, भिन्न जातियों के ज्ञानदेव, नामदेव, चोखामेला,

एकनाथ, तुकाराम सबको एकत्र करना फिर ज्ञानेश्वर नाथ पन्थ के, निवृत्तिनाथ के शिष्य नामदेव भक्ति को दक्षिण से उत्तर तक ले जाने वाले प्रवासी-इन सब को जोड़ने के लिए कोई तत्त्व इन लोगों के पास था। उसी आवश्यकता से दन्तकथा अथवा लौकिक कहानियों का जन्म हुआ होगा।

सुधाकर :- यह संयोग है या फिर सामाजिक तत्त्व, पता नहीं, लेकिन वारकरी परम्परा के अधिकांश भक्त भिन्न-भिन्न व्यवसायों से जुड़े थे। गोरा-कुम्हार, नरहरी-सुनार, सावत-माली, चोखामेला-महार (ढेंढ), नामदेव-दर्जी, जनाबाई-दासी, कान्होपात्रा-वैश्य। ये लोग जिन व्यवसायों से जुड़े थे, उनके प्रतिनिधि थे या फिर उनकी कारीगरी का साहित्य से कोई सम्बन्ध था ?

नेमाड़े :- भक्ति का, विभिन्न व्यवसायों का एवं साहित्य का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। अब तक जो अनुसन्धान तथा समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं, उनसे यह पता चलता है कि नौवीं सदी के पश्चात्, इस्लाम के आगमन के बाद, हमारे यहाँ पहली बार निम्न श्रेणी की कारीगर जातियाँ, उच्च वर्णियों के शोषण से मुक्त हुईं। इस्लामी समानता के चलते भारतीय उपखण्ड में जो चातुर्वर्ण्याधिष्ठित सामाजिक शोषण व्यवस्था थी, हिन्दू धर्म जिसे कहते हैं, जो बुद्ध के लगभग एक हज़ार वर्ष बाद, ब्राह्मणी धर्म के पंजे तले फैलती गयी थी, उसके सम्मुख एक बड़ी चुनौती आ खड़ी हुई। मुहम्मद गौरी के काल से, सिन्ध प्रान्त में यह स्थापित हुआ कि हम सब एक ही हैं। एक ही परमेश्वर की सन्तानें होते हुए भी अगर उच्चवर्णीय अभिजन हिन्दू ब्राह्मण, हमारा स्पर्श भी नहीं होने देते तो ये धर्म किस काम का ? बहुजन समाज की निचली जातियों में सर्वत्र ऐसा विद्रोह का वातावरण फैल गया। भक्ति परम्परा का इस विद्रोह से नाता रहा होगा। इसलिए निचली जातियों को इस्लाम, क़रीबी लगा। पहली बार उन्हें आत्मविश्वास के साथ अपने समीप लेने वाला यह धर्म था। अतः जब ये हो रहा था तब देशभर में श्री चक्रधर, नामदेव जैसे विचारशील लोगों में बड़े पैमाने पर कठोर आत्मपरीक्षण आरम्भ हुआ। हिन्दू धर्म के इन बुद्धिमान विचारकों को, जातिभेद मानने वाला ब्राह्मणी स्वार्थ समझ ही रहा था। श्री चक्रधर भडोच बन्दरगाह के गुजराती थे। पड़ोस के सिन्ध में क्या चल रहा है, यह तो वे जानते ही होंगे, स्वाभाविक है कि वे बड़े जोश के साथ ब्राह्मण-विरोधी समता का विचार प्रसारित करने लगे। वे चम्हार-मातंगो के घर खाना खाने लगे। स्त्रियों का मासिक अशौच, बहती नाक जैसी ही एक नैसर्गिक शारीरिक क्रिया है, इस विचार को पैठण के कर्मठ ब्राह्मणों को प्रतीत कराने लगे। सौभाग्य से श्री चक्रधर के इस कार्य का विवरण माहिम के कारण मराठी गद्य में उपलब्ध है। उसी प्रकार कबीर जैसे इंसान, जो ईरान तक भ्रमण कर आये थे और नामदेव जो देशभर में भ्रमण करने वाले थे ये कहने लगे कि पत्थर के हिन्दू देवता किस काम के जो यवनों द्वारा पानी में डुबाये जाने पर भी चूँ तक नहीं करते। सारांश ये सारे दार्शनिक विचार हमें ग्यारहवीं-बारहवीं सदी के बाद ही अचानक सूझने लगे। कहीं न कहीं ये समूची संस्कृति के सम्मुख बड़ी चुनौती का सामना करने के लिए अपनाये हुए संरक्षक उपाय थे। अतः सारी जाति-जनजाति के बुद्धिमान लोग सामाजिक समता को तात्त्विक नींव मान कर उसे अपने साहित्य में आविष्कृत करने लगे। गोरा कुम्भार, उसके चचेरे भाई, बहन जनी दासी सबको मानो कविता से आत्माविष्कार करने की अभूतपूर्व सिद्धी प्राप्त हो गयी। यह विश्वास अपने देश के ग्रामीण, शोषित लोगों में पहले नहीं था। बुद्धोत्तर भारत में तो केवल ब्राह्मणों में ही लिखने की परम्परा थी। मुसलमानों से मिले इस सकारात्मक प्रभाव के परिणामस्वरूप हिन्दुओं ने पहली बार माना कि ईश्वर सबका है। वारकरी सन्त तो इसके और

आगे जा कर कहते हैं कि ईश्वर हम दीन-दुर्बलों का ही है, तुम ब्राह्मणों का नहीं। ईश्वर को हम ही समझ सकते हैं। यह हमें मुसलमान धर्म ने सिखाया। इस के परिणामस्वरूप हमारे देश में कई क्रान्तिकारक बदलाव आये।

सन् १९४० में भी, जब बाबासाहेब अम्बेडकर और उनके अनुयायी नासिक के कालाराम मन्दिर में प्रवेश करने लगे तो ब्राह्मण पुजारियों ने उनके सिर फोड़े। उस समय की हिन्दू सामाजिक नैतिकता अत्यन्त निचले स्तर की रही होगी। उन्नीसवीं सदी में यह हाल था तो हज़ार वर्ष पूर्व क्या होगा, ज़रा सोचिये। मन्दिरों में मत जाओ लेकिन हिन्दू धर्म में ही रहो-भला कैसे मानें अस्पृश्य लोग ? तो यह एक सामाजिक क्रान्ति ही देशभर में बड़े पैमाने पर हुई। ऐसा नहीं कि यह सिर्फ़ मराठी लोगों ने किया, इसमें सभी शामिल थे। विभिन्न भाषाओं में कवियों ने खुलेआम क्रान्तिकारी परिवर्तन शुरू किये जैसे कि कबीर, असम में शंकरदेव, दक्षिण में बसवेश्वर और सिन्ध में एक बड़े सूफी कवि शाह लतीफ़ ने किया। इन लोगों ने सिर्फ़ लिखा ही नहीं प्रत्यक्ष प्रचार और कृति भी की। चोखामेला को मन्दिर में प्रवेश वर्ज्य था तो पण्ढरपुर में नामदेव ने सीढ़ी पर ही उसकी समाधि की स्थापना की। इस प्रकार इन सब सन्तों ने अपनी देशी परम्परा से नैतिकता को एक मज़बूत स्वरक्षक कवच ही दिला दिया।

सुधाकर :- इसी समय महानुभावों का अभिजात गद्य 'लीलाचरित्र', 'गोविन्दप्रभुचरित्र', 'स्मृतिस्थल', 'दृष्टान्तपाठ' वगैरह सामने आये। ये समान्तर और समकालीन ही हैं। श्री चक्रधर स्वामी के स्वतन्त्र दार्शनिक विचार भी इसी सामाजिक पुनर्रचना का हिस्सा थे। लेकिन सम्पूर्ण मराठी परम्परा के प्रवाह में महानुभाव कहीं स्वीकृत नज़र नहीं आते। वारकरी सम्प्रदाय में तो महानुभावों का उपहास ही नज़र आता है। मसलन यह भारूड देखिये-'मानभाव आला हो मानभाव आला'। अगर महानुभावों का आन्दोलन भी सामाजिक पुनर्रचना में पूरक ही था तो क्या वह वारकरी साम्प्रदायिकों को अनाकलनीय हो गया ? उन्होंने उसे बहिष्कृत क्यों किया ?

नेमाड़े :- यह जो फ़र्क है, वह अतिवादी और मध्यवर्ती प्रवृत्तियों के बीच का है। राम मनोहर लोहिया के अनुसार यह फ़र्क अपने यहाँ हर युग में, बिल्कुल बीसवीं सदी के तिलक-गोखले तक में दिखायी देता है। उग्र अर्थात् कट्टर, कर्मठ, सनातनी 'चरमपन्थी' लोग अपने यहाँ हमेशा से हैं। वही फ़र्क वारकरी और महानुभावों में है। महानुभाव लोग भयंकर ब्राह्मण विरोधी थे और अतिवाद वृत्ति रखते थे। वे, औरतों को पुरुषों जितने ही अधिकार देते थे। श्री चक्रधर की एक आऊसा नामक शिष्या थी। चक्रधर ने उसे रात की चाँदनी में सबके सामने नग्न नृत्य करने को कहा था। ऐसी ही कुछ मौलिक सुधारणाओं के चलते हेमाड़ पन्त आदि कर्मठ ब्राह्मणों ने उन पर प्रतिशोध की भावना से मुकदमा चलाया और पैठण के मुधादित्य मन्दिर में उनका शिरच्छेद ही करने का निर्णय लिया। महानुभाव पन्थ के प्रवर्तक इतने अतिवादी थे। आपके सिद्धान्त भले ही उचित हों लेकिन विद्रोह को अतिरेक की सीमा तक ले जाना सही है क्या ? यही प्रश्न हम महात्मा गाँधी के काल में भी देखते हैं। महात्मा गाँधी, विनोबा, सुभाषचन्द्र या सावरकर की तरह अतिरेकी नहीं थे। अँग्रेज़ों को यहाँ से तुरन्त चले जाना चाहिये, हिंसक मार्ग से राज्य का कारोबार ठप्प करें, जेल भरें, कपड़े जला दें, यह मार्ग सही है या फिर अपना नैतिक धैर्य बढ़ायें, अँग्रेज़ अपने आप ही चले जाएँगे, यह सही है ? रवीन्द्रनाथ ठाकुर को तो महात्मा गाँधी का स्वदेशी

आन्दोलन भी अतिरेकी ही लगता था। यही वह फ़र्क है। महिलाओं को स्वातन्त्र्य देना चाहिये, यह श्री चक्रधर का कहना सही था लेकिन क्या जनाबाई, सोयराबाई, बहिणाबाई इन्हें स्वातन्त्र्य नहीं था ? वारकरियों में माली, नाई, महार, मातंग सभी सामाजिक परिवर्तन में क्रियाशील थे। ऐसी स्थिति में, परम्परा का दिया हुआ स्थान छोड़कर उन्हें कहाँ तक समानता के लिए क्रान्ति करनी चाहिए ? मन्दिर में प्रवेश करना या नहीं? वगैरह-वगैरह। इस मामले में समाज की नब्ज़ पहचानकर विद्रोह करना चाहिए ऐसी वारकरियों की मृद या परिमित नीति थी। हमें हिंसक क्रान्ति नहीं करनी-अपितु धीरे-धीरे ही यश सम्पादन करना है, यह उनकी रणनीति थी। आज भी हमारे बहुसंख्य लोग इसी मत के हैं। हम नक्सलवादियों जैसे एकदम रक्तरंजित क्रान्ति पर नहीं उतर सकते। महात्मा फुले और बाबासाहब अम्बेडकर का विद्रोह भी रक्त क्रान्ति से परे था। सम्पूर्ण परिवर्तन की परम्परा हम हिन्दुओं में नहीं है। राजगुरू, भगतसिंह, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद, जतिन दास जैसे सैकड़ों सशस्त्र क्रान्तिकारी स्वातन्त्र्य योद्धा या आज के नक्सलवादी भी अपने यहाँ मुख्यधारा नहीं हो सकते। उसी तरह सांस्कृतिक परम्परा के 'वीटो' के कारण महानुभाव मुख्यधारा में नहीं रह सके। परम्परा का वीटो अन्तिम होता है। महानुभाव पहले से ही तुरन्त बदलाव लाने के पक्ष में थे। चाण्डाल के यहाँ भोजन करना, स्त्रियों और पुरुषों को एक समान पूर्ण अधिकार देना, उन्हें शिष्यत्व देना, ये बातें बुद्ध से लेकर ब्राह्मणी धर्म में और आज के कर्मठ हिन्दू समाज में भी हजम होने वाली नहीं है। अब इनमें कौन सही, कौन ग़लत है? मेरे विचार से यह शैली का फ़र्क है। इसमें किस बात पर ज़ोर दिया जाये इससे किसी एक प्रवृत्ति की योग्यता-अयोग्यता हम तय नहीं कर सकते।

सुधाकर :- अब इन दोनों परम्पराओं से मैं आप की ओर आता हूँ क्योंकि आपकी नज़र में चक्रधर और तुकाराम दोनों का समान महत्त्व है।

नेमाड़े :- हाँ, मुझे दोनों ही एक जैसे महत्त्वपूर्ण लगते हैं।

सुधाकर :- दोनों ही महत्त्वपूर्ण लगते हों तो भी उनकी शैलियाँ बहुत भिन्न हैं। मैं फिर एक बार पूछता हूँ कि तुकाराम और चक्रधर इनमें आप स्वयं को कहाँ रखेंगे?

नेमाड़े :- मेरी वृत्ति चक्रधर के ज़्यादा समीप है। मतलब विचारों से मैं अतिवादी ही हूँ। या यों कह लीजिए कि मुझे मध्यवर्ती होना कुछ पसन्द नहीं। लेकिन उसी के साथ में समूह का सम्मान करने को अग्रक्रम देता हूँ। निर्विघ्न जीने के लिए यह एक स्थायी समझौता मैंने किया है और तय कर लिया है कि इसका पालन तो करना ही है। मैंने मान लिया है कि अपना समाज जिस मार्ग पर चल रहा है उसके विपरीत आप कुछ नहीं कर सकते। इस द्वन्द्व के चलते मैं हमेशा पिछड़ जाता हूँ, यह मुझे मंजूर है, पर इस कारण सुख से जीना सम्भव हो जाता है। ये दोनों बातें सच हैं और तुम जैसे कलाकार के सामने इन्हें ईमानदारी से रखना ही चाहिए। चक्रधर द्वैत मानते थे। ईश्वर और हम जीव अलग-अलग हैं, वह अनादि, निराकार है, स्वतन्त्र है, उसके सम्मुख बाधाएँ नहीं आतीं। इसके विपरीत इन्सान स्खलनशील है, यह मैं मानता हूँ। तुकाराम की अद्वैत वारकरी दार्शनिकता को आज देखें तो परमेश्वर का अस्तित्व क्या हमसे अलग है ? उस निराकर निरन्तर तत्त्व को स्वयं से अभिन्न मानें तो इसमें हमारी कितनी उन्नति है ? यह भी मानाना पड़ेगा। द्वैत और अद्वैत में भेद बताने वाली जो भूगर्भरेखा है-'फॉल्ट्लाईन' वही फॉल्टी है।

अन्ततः ज़ोर किस बात पर देना है, यही सवाल रह जाता है।

सुधाकर :- इन दोनों के विचारों के बीच स्वयं को कहाँ रखेंगे आप ?

नेमाड़े :- मेरा चक्रधर की ओर झुकाव ज़्यादा है। यह बात अलग है कि कवि होने के कारण मुझे तुकाराम भी पसन्द हैं। चक्रधर कवि नहीं थे। वे गद्य दृष्टान्त बताने वाले, उत्कृष्ट मराठी बोलने वाले थे। उनके समकालीन उनके बारे में कहते थे कि वे अनिवार मराठी बोलते थे-ऐसी प्रवाहमान, सुन्दर, सादी और खरी मराठी-जो लागों को प्रभावित कर देती थी। वास्तव में गद्य का यह प्रकार कविता जैसा ही है। हम परम्परावश गद्य और पद्य ऐसा भेद मानते ही नहीं हैं। हमारी पुरानी परम्परा के अनुसार गद्य को काव्य ही कहना चाहिए, चूँकि वह इतना प्रभावित जो करता है। हमारे घर में वारकरी और महानुभावों ये दोनों परम्पराएँ जीवित हैं। मेरी माँ का घराना महानुभावों का था और पिताजी का घराना वारकारी का। इसलिए मूलतः ये दोनों परम्पराएँ मुझ में होंगी। अतः मैं तय नहीं कर पाता कि मैं इधर हूँ या उधर। फिर भी मुझे लगता है मैं चक्रधर के ज़्यादा निकट हूँ। वो कवि नहीं थे, यह मैं मानता हूँ और इसलिए मुझे तुकाराम की ओर आना पड़ता है। मैं मूलतः कवि हूँ। कविता मेरा सबसे प्रिय साहित्य प्रकार है।

सुधाकर :- अर्थात आपकी मानसिक बनावट चक्रधर की है लेकिन साहित्यक प्रतीति का विन्यास करते समय आप को तुकाराम ज़्यादा करीबी लगते हैं।

नेमाड़े :- ज़्यादा क़रीबी क्योंकि आजकल रात बेरात भी तुकाराम मेरे क़रीब आते हैं। जैसे ग़ालिब भी इन दिनों मेरे समीप आते हैं। मैं बैचेन होने लगूँ या अचानक अस्वस्थ हो जाऊँ, तो जब तक मैं ग़ालिब की दो-चार पंक्तियाँ या ग़जल गुनगुना न लूँ, मुझे नीन्द नहीं आती। ग़ालिब यह तीसरा एक आयाम मुझमें आया है।

सुधाकर :- ग़ालिब तो कोई मराठी कवि नहीं था ?

नेमाड़े :- ग़ालिब की जो उर्दू है, वह मराठी के बहुत क़रीब है। वैसे उर्दू मूलतः दख्खनी भाषा ही है। इसलिए उसका कभी-कभी झलकने वाला फारसी बाहयांग छोड़ दो तो बाकी अन्दर सारा मराठी के ही निकटवर्ती है। हम भी, ग़ालिब ही की तरह 'हया', 'व्हां' कहते हैं। 'व्हा वो गुरूरे इज्जोनाज, हयां ये हिजाबे-पासे-वजअ' अर्थात वहाँ उसे अपनी शान पे गर्व, तो यहाँ रीतिरिवाज के बोझ तले झुका मैं। तो हम मिलें कैसे ? ये 'हया' 'व्यां' ऐसे हम हमारे गाँव के मुसलमानों के साथ बोलते हैं। 'हयां क्या कर रहे हो?' 'व्हां जाव', यह तुरन्त समझ में आ जाता है। वैसे तो उर्दू ही अपनी राष्ट्रभाषा हो जाती। देशभर में जितनी हिन्दी नहीं चलती उतनी उर्दू चलती है। ग़ालिब, इक़बाल, फैज़, मण्टो ये मुझे मराठी ही लगते हैं। पराये नहीं लगते।

सुधाकर :- यानि अब ये तीन हो गये- चक्रधर, तुकाराम और ग़ालिब। तुकाराम कविता के अंग से बोलता है, चक्रधर भाषा के और ग़ालिब जीने की उदात्तता दिखाता है।

नेमाड़े :- यानि हिन्दू स्वायत्त, विद्रोह और सूफ़ी एकेश्वरवादी।

सुधाकर :- और ये सूफ़ी भी भक्ति परम्परा में ही घुले मिले हैं।

नेमाड़े :- वह अपना ही, हिन्दू-श्रमण भारतीय इस्लामी पन्थ का, भक्ति साधना प्रकार है। तुकाराम की गुरू परम्परा सूफ़ी ही है। वो हज़रत ख्वाजा बन्देनवाज़ गेसू दराज़ गुलबर्गा तक जाती है। गुलबर्गा के पास आलन्द गाँव के राघव दराज आलन्द शरीफ़ तुकाराम के गुरू के गुरू थे। अम्बाजोगोई के पास साकेगाँव है। वहाँ के सुप्रसिद्ध दरगाह में मुख्य मौलवी बारी बारी से एक बार हिन्दू और एक बार मुसलमान होते हैं। ऐसी प्रथा चलती आयी है। यह एक ही परम्परा हिन्दू-मुस्लिम मिलकर आज तक निभा रहे हैं। दक्षिण में हिन्दू मुसलमान यह फर्क उत्तर जितना तीव्र नहीं था। जाति जैसा उसका अस्तित्व मात्र है। ऐसी उदार परम्परा दुर्भाग्यवश अपने आधुनिक काल में ढँकी गयी। एकनाथ की भी सूफ़ी परम्परा ही है। पैठण के उनके गुरू थे - जनार्दन स्वामी, जिनके गुरू थे एक बड़े सूफ़ी सन्त चाँद बोधले उर्फ़ सैयद चाँद साहेब क़ादरी। आजकल हिन्दुत्व के कारण यह सत्य भी अपने यहाँ ढाँककर रखा जाता है। यह फ़र्क अपने यहाँ था ही नहीं। शिवाजी के हमेशा से पीर, उनके क़रीबी, भरोसेमन्द व्यवस्थापक वगैरह, मित्र, सेनापति, अंगरक्षक सब मुसलमान ही थे। शिवाजी के पिता का नाम 'शहाजी' उन का भाई 'सर्फ़ोजी'-ये मुस्लिम नाम है। हिन्दुत्ववादियों के प्रभाव के कारण इस बात को हम भूल बैठे। इसलिए हमारे यहाँ बँटवारे जैसी समस्याएँ हुईं। हिन्दू मुसलमान प्रश्न हमारे यहाँ पहले नहीं था। पहला बाजीराव ब्राह्मण होते हुए भी, उसके मन में यह भेदभाव नहीं था। उसने मस्तानी के साथ पत्नी-सा व्यवहार किया। उससे जने बेटे 'शमशेर' का उपनयन संस्कार करने का प्रयत्न किया लेकिन ब्राह्मणो ने वह होने नहीं दिया। आगे चलकर उसे विवाह के लिए हिन्दू वधु भी न मिलने दी। इसे हम अपनी अधोगति की शुरुआत कह सकते हैं।

सुधाकर :- इतनी सारी परम्पराओं को देखने के पश्चात अब मुझे आपके लेखन की ओर जाना है।

नेमाड़े :- यानि एकदम फिसलन। गिरावट बड़ी या मामूली ?

सुधाकर :- कविता यह वाङ्मय प्रकार आपका बहुत पसन्दीदा है। हमारी परम्परा में काव्य भरपूर है और गद्य अल्प है। लेकिन आपने गद्य ज़्यादा लिखा और काव्य अल्प लिखा।

नेमाड़े :- लेकिन मेरा पहला प्रेम कविता ही है। मैं खुद को प्रथमतः कवि ही समझता हूँ।

सुधाकर :- आपका सबसे पहला लेखन काव्य था या गद्य ?

नेमाड़े :- शुरुआत में, चौदह-पन्द्रह साल की उम्र में मैंने कविताएँ ही लिखीं। आज भी मेरे पास वो कापियाँ हैं। पहले की सब कविताएँ ही हैं। कभी-कभार डायरी जैसा कुछ होता था, लेकिन उसमें भी कविताएँ ही ज़्यादा मात्रा में रहती थीं।

सुधाकर :- आप अपनी पहली कविता सुनायें ।

नेमाड़े :- घर घर में जन्म लेती हैं कृषकों की दीन पीढ़ी
पहाड़ी के इस गाँव पर अज्ञान की शाश्वत छाया

अन्धकार के काले धुएँ में उभरती है आकांक्षाओं की लहर
सत्त्व गवाँ चुके दारिद्रय पर धेयनिष्ट शिशु भरभरा कर गिरते जाते हैं
खेतों-बागों के नीरस उपक्रम और (नित्य) चार मील पाठशाला
धुआँ उगलती चिमनी पर (पाठ पढ़ने वाली) उनींदी रात, विचार छलते हैं पढ़ते-पढ़ते
क्या जन्म लेना कृषकों के घर कोई अपराध है?
ऊँचाईयों में जाता संसार, हम मिट्टी में ही बार-बार
न सम्मान, न मोल, जीवन अपना सदियों सदियों पशुओं जैसा
क्यों सहें सदा यह हाल, स्वयं मर कर पाले-पोसे इस जग को हम।

(भालचन्द्र निमाड़े, २० जून १९५९, कक्षा नौंवीं वर्ग-अ)

सुधाकर :- यह कवि आगे चलकर उपन्यासकार कैसे बना ?

नेमाड़े :- हाँ, ग़लती से वह उपन्यासकार हो गया। किंबहुना उपन्यास लिखकर ग़लती कर बैठा। आयु के पच्चीसवें वर्ष में मैंने 'कोसला' लिखी-उन्नीस सौ तिरसठ में। उस समय मराठी में एक ऐसी स्थिति बन गयी कि मुझे उपन्यास ही लिखना पड़ा। तब तक मैं कविताएँ ही लिख रहा था, कभी कभार समीक्षा वगैरह भी लिखता था। 'छन्द' पत्रिका में पु.शि रेगे, मेरी कविताएँ खुशी से पहले पन्ने पर छापते थे। तब मैं कुछ बीस बरस का था। मेरी कविताएँ कुछ लोगों को बेहद पसन्द थीं। वे बहुत मशहूर भी हुईं। पु.शि. रेगे मुझे अक्सर पत्र लिखते कि कविता भेजो। लेकिन मैं कविताएँ भी कम ही लिखता था। एक ही कविता, छह-छह महीनों तक मेरे सिर में भिनभिनाती रहती है। फिर वह अचानक बाहर निकलती है। नवजात शिशु जैसी। तय करके, जल्दी-जल्दी, मैं नहीं लिख सकता।

सुधाकर :- इतनी कम उम्र में, कविता या साहित्य लिखने की प्रेरणा आप को कैसे मिली?

नेमाड़े :- देहात में, आप के इर्द गिर्द बचपन से ही कविता रहती है। एक हिन्दुस्तानी किसान के घर में तो होती ही है। सतपुड़ा की पहाड़ियों के बहुत अन्दर, जिसका बाहरी दुनिया से ज़्यादा सम्पर्क भी तब नहीं था ऐसा, दो नदियों के बीच बसा, तीन हज़ार की बस्ती का हमारा गाँव। फिर भी देखिये, लोगों ने कितनी समृद्ध परम्पराएँ वहाँ जतन कर रखी थी। कुल पन्द्रह-बीस जाति, जनजातियों के लोग। भोर हुई नहीं कि औरतें चक्की पर बैठे ओदियाँ गाना शुरू करतीं, फिर मन्दिरों में आरतियों, वासुदेव, नाथ जोगी, दिनभर कोई न कोई गाना गाते हुए भीख माँगता, अभंग, लोकगीत, ब्याह के गाने, गौरी के गारे, तमाशा यह सारा होता रहता था। इसमें कविता ही ज़्यादा थी। मुझे लगता है अपनी संस्कृति मुख्यतः काव्यिक ही है। दुर्भाग्यवश, अँग्रेज़ों के आने से वे सारे गद्य और लिखित व्यवहार शुरू हो गये : वो अखबार पढ़ना और वो तीसरे दर्ज़े का सम्पादकीय पढ़ना भी। मूलतः हमारे लोग प्रेम करते थे भाषा से और उसके ज़रिये मुख्यतः कविता से। यही अपना परम्परा है। ऐसी काव्यमय भाषा बचपन से सुनते-सुनते हम अपने आप ही कवि हो जाते हैं। मेरे घर के बगल में ही विट्ठल मन्दिर था। वहाँ भजन, कीर्तन, पारायण, आरतियाँ, गाने निरन्तर शुरू ही रहते थे। जत्रा में, रातभर चलने वाले तमाशे होते थे। किसी के घर बच्चा जन्मा तो तमाशे का खेल आयोजित करने की प्रथा थी। बाद में सत्यनारायण की पूजा करने की प्रथा शुरू हुई। उससे पहले सालदार से मज़दूर तक गाँधल, लावणी, पोवाडा गाते थे। वासुदेव आते थे।

अलग-अलग लेहनादारों के कार्यक्रम होते थे, अखजी के गाने होते थे। खानदेश में अक्षय तृतिया का बड़ा उत्सव होता था। दीवाली, पोला, औरतों के त्यौहार, घर-घर जाकर हक से अनाज़ माँगने वाले कारू-नारू सुन्दर गीत गाते थे। गुराखी, महार, मछुआरे, मातंग, ग्वाले, घनगर सभी लोग नाचते, गाते, सतत जीवन का आनन्द व्यक्त करते थे। 'धन्ना धन्ना हे दिवाली, गाई म्हशी मे ओवाली' (धन्ना धन्ना है दीवाली, गाय भैंसों की कर आरती) ऐसे अत्यन्त सुन्दर समूहगान मुझे अब भी कभी नींद में सुनायी देते हैं या फिर 'बार बार बरसे एवसो बोलेवी, सारी ने भारस दोनों मनी' ऐसे भीलों के स्वर खेतों से सुनायी देते, विभिन्न भावनाएँ व्यक्त करते, कानों को डेफ़्थ ऑफ फिल्ड का अहसास कराते स्वर दूर से आते। रोज़मर्रा के व्यवहार में भी जो गद्य सुनने में आता था उसमें भी सुप्त काव्य होता था। वह भाषा भी निकटता से काव्यात्मक हो जाती थी। शास्त्रीय, तार्किक भाषा में ढाला हुआ यह जो बुद्धिजन्य गद्य प्रकार है, वह हमारे जीवन में कम ही था। कुल मिलाकर उस कृषि प्रधान संस्कृति में कविता ज़्यादा थी, ऐसा मुझे लगता है।

सुधाकर :- अभी आपने जिनका उल्लेख किया, वे लोककला के आविष्कार हैं। लोककला से अनेक कलाओं का समूह अभिप्रेत है। हमारा कोई भी लोककला प्रकार एकांगी नहीं होता। उसमें दृष्य, श्रव्य, नाट्य, नृत्य सब होता है। आप के स्रोत लोककला में होते हुए भी, आपने काव्यांग को चुना ?

नेमाड़े :- देखिये, हमारे समूचे देशी कलाक्षेत्र में आमूलचूल बदलाव आये हैं। समाज पहले जैसा ही स्थिर होता, हमारे यहाँ रेल्वे, मुद्रणालय, मीडिया शुरू न हुए होते, कॉलेज और स्कूल न खुले होते, शहरीकरण न हुआ होता, तो शायद मैं तमाशा का सोंगाड्या या नचनिया बन गया होता, कहना मुश्किल है। वास्तव में सम्मिश्र कला मुझे बहुत पसन्द है। उसमें नृत्य है, आख्यान है, नाट्य है, गीत है, गद्य है, सम्वाद हैं, एकालाप हैं, संगीत है, दृश्य है, सभी कुछ तो है। लेकिन हुआ यह कि हम पाँचवें-छटवें वर्ष में स्कूल में दाखिल हो गये और फिर क्रमवार लिखना-पढ़ना अँग्रेज़ी शिक्षा पद्धति के प्रवाह में बहते-बहते पीएच. डी. हो गये। डी.लिट्. मिल गयी और अन्तराष्ट्रीय परिसम्वादों में बोलने लग गये। नये युग का यह जो बदलाव है, बेहद 'हिंसक' है। पर्वतों से घिरे एक छोटे से गाँव में सत्रह-अठारह की उम्र तक केवल खानदेशी बोला हुआ कोई आदमी इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी भाषाशास्त्र पढ़ाता है या फिर इण्टरनेशनल बुक फेस्टिबल में समूचे उपनिवेशित देशों के साहित्य व्यवहार पर परायी भाषा में एक कठोर और सच्चा पेपर पढ़ता है, ये देहातियों के जीवन में आया 'हिंसक' बदलाव ही है। इसे केवल प्रगति नहीं कह सकते। आपके पैरों को उठाकर किसी असंगत स्थान पर छोड़ देने वाला यह बदलाव है। प्रगति वह है जिसमें आप अपनी ही परम्परा में उत्तुंग आविष्कार कर सकें, जो यहाँ नहीं है। अँग्रेज़ी वगैरह में हमारी प्रगति नहीं है। ये हिंसक बदलाव लाने वाली जो शक्तियाँ होती हैं, उन्हें एक ऐतिहासिक अभियान पूरा करना होता है कि अगर आप इस देश के नागरिक हैं, तो आप ऐसे ही शिक्षित हों : अगर आप एम.ए. करने वाले हैं तो आप को फलाना-ढिकाना आवॉगार्द कुछ तो करना ही होगा। हमारे समय में, कुछ इस तरह की अन्तश्चेतना स्वतन्त्रयोत्तर हिन्दुस्तान में बनी हुई थी। आप जितने आदर्श नागरिक बनते जाते हैं, उतने ही 'एथिक' के शिकार होते जाते हैं और आपके भीतर का उग्र कवि ख़त्म होता जाता है। बचपन में मैं केवल मेरे देहात का नागरिक था, आज मैं इस अगले-पिछले, आड़े-खड़े, विस्तृत काल्पनिक भारत का नागरिक हूँ। इसलिए मुझे पत्र आता है कि आप फलाँने पद को स्वीकार

कर लें या प्रधानमन्त्री महोदय के भाषिक सलाहकार हो जाएँ या फिर मराठी अभिजात भाषा कहलाने के लिए पात्र है या नहीं, इस पर अपनी राय दें वगैरह। तो फिर हमें भी लगने लगता है कि हमें यह काम करना चाहिए क्योंकि यह देश के हित वगैरह की दृष्टि से आवश्यक है। तो ऐसे झंझट मुझे नागरिक होने के नाते अब झेलने पड़ते हैं, चूँकि इतने उच्च स्थान पर बैठे हुए सज्जन लोग मुझे बार-बार कह रहे हैं कि मुझे यह करना चाहिए, तो मेरा फिर शुरू हो जाता है-अध्ययन, लायब्रेरी जाकर उस विषय पर कुछ पढ़ना, ऐसा करना, वैसा करना, पाण्डित्य प्राप्ति और इन दिनों शिमला में स्थित इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडव्हांसड स्टडीज का नेशनल फेलो होने के नाते, नियमानुसार, मुझे हर हफ़्ते एक सेमिनार में शिरकत करनी पड़ती है। यानि यह सब करते हुए आप स्वयं का लेखन कार्य चलने दें या न दें, इस बात को महत्त्व नहीं है, लेकिन हर हफ़्ते एक सेमिनार में शिरकत करना अनिवार्य है। उस इन्सटीट्यूट में, दूर-दराज़ से आये विद्वान प्रोफेसर लोगों की, विदेशी विचारकों की, हिन्दुस्तान की आज की प्रस्थापित विचारधारा के कारण जो दिशाभूल होती है, वह न हो, ऐसा मुझे नेशनल फेलो होने के नाते यों ही लगता रहता है। वर्ना, वैसे तो आजकल सत्य का आग्रह धरने का मौका ही कहाँ मिलता है? फिर ऐसे चर्चा सत्रों में विभिन्न विषयों पर भरपूर पढ़कर, नयी से नयी जानकारी हासिल कर, 'हिंसक' होना पड़ता है।

सुधाकर :- जब आप परदेश, परभाषा परसंस्कृति में पढ़ा रहे होते हैं या उनके सामने पेपर प्रस्तुत कर रहे होते हैं या अपने विचार रख रहे होते हैं, तब इस कर्म को आप 'हिंसक' क्यों मानते हैं? इसे हिंसक मानने के बजाय क्यों न इसे 'वैश्विक' अथवा 'ग्लोबल' कहा जाये ? ग्लोबल न सही, वैश्विकता की संकल्पना तो सन्त साहित्य से चली आ रही है। इस क्रिया को 'हिंसक' न कह कर वैश्विक नहीं कहा जा सकता ?

नेमाड़े :- वैश्विकता का सन्दर्भ थोड़ा अलग है। जैसे आप सांगवी में रह कर भी वैश्विक हो सकते हैं-तुकाराम के देहू जैसे-वो अलग हैं। 'ग्लोबल' होने का अर्थ है, वैश्विकता का प्रदर्शन। गाँव में रहकर भी कोई यूनिवर्सल, वैश्विक हो सकता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर, ग्लोबल इस अर्थ से वैश्विक हुए, लेकिन उन्हीं के समय बाऊल गीत गाने वाले फकीर हिन्दू, बाहर के लोगों को मालूम न होते हुए भी, वैश्विक अर्थात यूनिवर्सल साहित्य के धनी हो गये। तुकाराम वैश्विक ही थे। भले ही उनके जीते जी, देहू के बाहर उन्हें कोई पहचानता नहीं था। इस अर्थ से, यदि मैं तुकाराम की तरह हुआ होता तो मेरा आनन्द विश्व में न समाया होता।

सुधाकर :- सो तो है, लेकिन आप इसे 'हिंसक' क्यों कहते हैं ?

नेमाड़े :- मैं इसे द्वैत-अद्वैत के सन्दर्भ में हिंसक कह रहा था। अपना अस्तित्व, जो इतना सुन्दर अहिंसक, पेड़-पौधों जैसा है, उस परिवेश को छोड़कर, उसके एकदम विरोधी परिवेश में जाकर अपना इतिहास, अपनी राष्ट्रीयता, साहित्य और परम्परा का सुरक्षा कवच की तरह इस्तेमाल कर लड़ना पड़ता है-एक सैनिक की तरह-यह मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। कल अगर कोई मुझसे देश के लिए सीमा पर जाकर लड़ने को कहे तो एक नागरिक होने के नाते मैं इसे मंजूर कर भी लूँ, लेकिन वह हिंसक ही होगा। इस अर्थ से आपका ग्लोबल होना हिंसक है। वो मुझे पसन्द न भी आये, पर उसे पसन्द न करते हुए भी मैं वो कर पाऊँगा। यह एक ऐसी उलझन है जो हमें किंकर्तव्यविमूढ कर देती है।

सुधाकर :- लोककला में अनेक कलाएँ आती हैं, इसका आप पर हुआ प्रभाव दिखता ही है। परन्तु साहित्य के

अलावा किसी दूसरी कला से क्या आप को ईर्ष्या होती है ? जैसे चित्र बनाना आना चाहिए, शिल्प बनाना आना चाहिए वगैरह ?

नेमाड़े :- जैसा आप कह रहे हैं, सचमुच मुझे लगता है। इन सब कलाओं को लेकर मेरे मन में असूया है। मुझे चित्र बनाने नहीं आते, मैं तमाशा में काम नहीं कर सकता, मैं नाटक में कुछ नहीं कर सकता, मैं गाने नहीं गा सकता-हाँ, मैं ज़रूर गुनगुना लेता हूँ-संगीत हर प्रकार का सुनता हूँ लेकिन इच्छा होते हुए भी इन सब कलाओं के बारे में सोचकर खिन्नता महसूस करता हूँ। केवल साहित्य की ही निर्मिति करना बहुत एकांगी है। इन कलाओं में मैं औरों से बहुत अलग कुछ कर पाऊँगा, ऐसा मुझे नहीं लगता। लेकिन साहित्य के साथ-साथ इन विधाओं में भी कुछ कर पाना, टैगोर जैसे, मुझे आदर्श जान पडता है। मैं समझता हूँ कि खूब आनन्द के साथ चित्र बनाते, गाना गाते बनना चाहिए। मुझे यह सब अच्छा लगता है। मैं खूब आनन्द से चित्र देखता हूँ। इसीलिए आप जैसे चित्रकार मेरे मित्र हैं। संगीत, मैं हमेशा ही सुनता हूँ। अजन्ता की गुफाएँ मेरे गाँव के निकट होने के कारण, कई बार घर वालों का विरोध सहकर भी मैं दिन रात वहीं रह जाया करता था। अजन्ता के लिए इतना मैं पागल हूँ। ऐसा होते हुए भी हम वहाँ पल बढ़ क्यों नहीं सकते ? कहीं न कहीं हमारी शिक्षण पद्धति, समाज पद्धति हमारा भयंकर बौद्धिक रेजिमेण्टेशन कर रही होती है। ख़ैर, किसी के मत्थे आरोप मढ़ने के बजाय हमें खुद हो कर वो सब करना चाहिए जो हम करना चाहते थे। टैगोर कर सके, हम नाहक नौकरी वगैरह का रोना रोते बैठे रहे।

सुधाकर :- एक ही व्यक्ति को सब कलाएँ न आना, इसका टैगोर अपवाद हैं।

नेमाड़े :- दो-तीन कलाओं में रुचि रखने वाले कुछ कलाकार हैं लेकिन सभी कलाओं में निपुण होना, इसे अपवाद का भी अपवाद कहना पड़ेगा। अर्थात टैगोर के लिए, ज़मीदारी जीवनशैली के कारण ही वह सम्भव हो सका। वे हमारी तरह मध्यम वर्ग से होते- उन दिनों के कलकत्ता के बाबू होते-तो ये सब नहीं कर पाते।

सुधाकर :- टैगोर का बड़ा ज़मीदार होना, ये मुझे लगता है उनकी प्रतिभा की नहीं, उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति की दखल लेना होगा।

नेमाड़े :- ज़मीदार याने 'कैपिटलिस्ट' या उनके पास संसाधन थे इसलिए वे विविध कलाओं में निपुण हो सके। मेरे कहने का यह अर्थ नहीं था, सभी ज़मीदार बड़े कलाकार हुआ करते हैं। ये इकलौता ऐसा शख़्स था जिसे कलाकार बनना साध्य हुआ। कला के समाजशास्त्र का यह विरोधाभास है कि इतने बड़े भौतिक संसाधन आपके पास न हों तो आप बड़े साहित्यकार नहीं हो सकते। सबको यह स्रोत उपलब्ध नहीं होते। प्रश्न कला को आश्रय मिलने का है। अपने यहाँ सरकार कला को आश्रय नहीं दे सकती। पहले ज़माने में कोई इन्सान बड़ा कलाकार हो तो ज़मीदारी, सामन्तशाही, राजगद्दी उसे आश्रय देती थी। इस कारण मानवता को निश्चित रूप से फायदा हुआ है। आज, राजवाड़ेशाही और ज़मीदारी का ख़ात्मा के बाद और कुल 'एण्टी कैपिटलिस्ट' नीति अपनाने के कारण अब ये सम्भव नहीं है। और अगर यह सत्य है, यह बात भी ज़ोर देकर कही जा सकती है कि अगर टैगोर के पास इतने कैपिटलिस्ट संसाधन न होते तो वे इतनी बहुमुखी व्यक्तित्व वाले कलाकार न हुए होते। प्रतिभावान होकर भी जो 'बड़े' नहीं हो सके,

ऐसे अनेक कलाकारों के बारे में हम यह कह सकते हैं।

सुधाकर :- जरा विषयान्तर हो रहा है, लेकिन हाल ही में गिरीश कर्नाड ने कहा कि रवीन्द्रनाथ टैगोर दोयम दर्ज़े के नाटककार थे। कोई यह भी कह सकता है कि वे दोयम या गौण दर्ज़े के कवि, संगीतकार या चित्रकार थे। आप को उनके बारे में आज क्या लगता है ?

नेमाड़े :- दो भिन्न माध्यमों की कलाकृतियों की तुलना करना जोखिम भरा होगा। टैगोर चित्रकार थे, नर्तक थे, संगीतकार थे, साहित्यिक थे और कला की इतनी सारी विधाओं पर हुकूमत रखना एक इन्सान के लिए सम्भव नहीं है। मुझे भले ही लगता हो कि मैं चित्रकार हूँ, अच्छे चित्र बना सकता हूँ-बचपन में मैं जे. जे. स्कूल की इण्टरमीडियट ग्रेड की ड्राइंग की परीक्षा पास कर चुका हूँ-लेकिन इसके साथ-साथ उस माध्यम का और उन साधनों का बुनियादी ज्ञान होना भी ज़रूरी है, रंगों का आकलन होना भी ज़रूरी है, जो मुझसे नहीं हो सका। किसी भी माध्यम को आत्मसात करने के लिए मेहनत और रियाज़ ज़रूरी है। इस रंग के साथ वो रंग लग गया या फिर इस सुर के साथ वो सुर लग गया तो हज़ार अंशों का फ़र्क हो जाता है। इस फ़र्क को समझने के लिए माध्यमों का अभ्यास ही करना पड़ता है। शब्दों के साथ भी ऐसा ही प्रतीत है। टैगोर को शब्दों का जितना अभ्यास था उतना नाटक के साधनों का नहीं हुआ होगा। इस हिसाब से कर्नाड ने जो कहा वह ठीक ही है। कलाकार होना केवल प्रतिभा पर ही निर्भर नहीं होता, उसके लिए आविष्कार करना होता है, माध्यम का ज्ञान भी उतना ही ज़रूरी होता है। जो सामग्री आप चुनते हैं, उसका आशयद्रव्य, उसके गुणधर्म, इनकी गाढ़ी जानकारी आवश्यक होती है। अगर मुझे शिल्पकार बनना है, मुझे संगमरमर, जाम्भा, कुरून्द और पाषाण के बीच का फ़र्क, उन पर खुद छैन्नी मारकर, उन पत्थरों के स्नायुओं से ही पता चल सकता है। माध्यमों के बीच के इतने सूक्ष्म अन्तर को समझना भी परिणामकारकता को कई गुना बढ़ा देता है। एक ही इन्सान में ये सारी कुशलताएँ होना सहज सम्भव नहीं होता।

सुधाकर :- अब कुछ व्यक्तिगत बातों की ओर बढ़ते हैं-आपका अधिकांश लेखन बेकारी के दिनों में ही हुआ है। जब आप अध्यापक बने, आपने सृजनशील लेखन को परे रखकर अध्यापन को ही प्राधान्य दिया। महालेखक, महाकवि बनने के लिए पूर्ण समय लेखन करना महत्त्वपूर्ण होता है। पूर्णकालीन लेखन और शिक्षक का पेशा, ये दोनों आदर्श आपको परस्पर विरोधी नहीं लगते ?

नेमाड़े :- अपने अनुभव के आधार पर मैं ये विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैं अगर पूर्णकालिक लेखक हो सकता, मुझे बहुत खुशी होती। लेकिन अपने देश की दरिद्रता में, विशेषतः स्वातन्त्रपूर्व काल में, अँग्रेज़ों के उपनिवेशवादी राज्य में, किसी किसान के घर में जन्म लेना कितना क्लेशकारक था, इसकी आज कल्पना भी नहीं कर सकते। तब हमारी बेहद लूटमार होती थी-हम खानदेश के कपास की पैदावार करने वाले किसान थे, लेकिन घर में पहनने के लिए लोगों के पास पूरे कपड़े भी नहीं होते थे। सर्वत्र यही स्थिति थी। उस परिस्थिति में उपनिवेशवादी और क्रूर साम्राज्यवादी सत्ता के तले, ऐसी गँवार हालत में, गुलामी करते हुए एक लेखक का अलग ही व्यक्तित्व बन रहा होता है। उसे लगता है, मैं क्या अपनी किताब लेकर बैठा हूँ ? मुझे अपने माँ-बाप की सहायता करनी चाहिए। माँ भोर को चार बजे उठकर, जानवरों का और घर का सारा काम निपटाकर, खेत में मेहनत करने जाती है तो मेरी भी कुछ

ज़िम्मेदारी है या नहीं ? मेरे भाई-बहन हर समय काम का बोझ ढोते हैं लेकिन उन्हें पेट भर खाना तक नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में मैं कुछ हाथ बँटा दूँ तो बेहतर होगा। इस तरह मन कचोटने से नैतिक मूल्य बढ़ने लगते हैं। जैसी बन पड़े वैसी मदद करने की बच्चों की फ़ितरत बन जाती है। सात-आठ साल की उम्र से ही बैलों को पानी पिलाओ, चारा लाओ तेली से ढेंप लाकर बैलों को खिलाओ, घर और बाहर के ऐसे अनेक छोटे बड़े काम आप को सांस्कृतिक मूल्यों समेत संस्कारित करते जाते हैं। नैतिकता के रूप में ढ़लते जाते हैं। उस उम्र में बच्चों को खेलना, संगीत सुनना अच्छा लगेगा लेकिन उन्हें तो माता-पिता, भाई-बहन का हाथ बँटाना होता है। फिर उसमें कला विरोधी आदि परिवेश की शुरुआत होती है। काम कितना ही नापसन्द हो, उसे अच्छी तरह ही करना है। आपके अपने लोग कड़ी धूप में खेतों की जुताई कर रहे हैं, उन्हें कम से कम पानी तो पिला आओ वगैरह, वगैरह। फिर ऐसी वृत्ति, नैतिकता या इन्सानियत के चलते आप के अन्दर घर करने लगती है। आप ख़ुद मानने लगते हैं कि मुझे मेरी व्यक्तिगत पसन्द-नापसन्द को अपने समूह के लिए दूर ही रखना चाहिए और यह वृत्ति बढ़ती गयी कि फिर वह आपकी और बड़े समूहों-गाँव, प्रदेश, भाषिक समूह, राष्ट्र के लिए त्याग इत्यादि करने की जीवन दृष्टि हो जाती है, औरों के लिए मुझे कुछ करना ही चाहिए। ये ख़ब्त भी हो सकती है कि अपने छन्द, पसन्दीदा चीज़ें बन्द करो, उधर गाय का बछड़ा चिल्ला रहा है, उसे पानी पिलाओ। नैतिक दृष्टि से इसमें कोई बुराई नहीं, लेकिन आप अपनी व्यक्तिगत निष्ठा और साधना से परे हटने लगते हैं और ये समूह बोध बढ़ता चला जाता है। इसी नैतिकता के कारण कलाकार प्रतिबद्धताओं और मूल्यों को जतन करते हुए जिन्दा रह पाते हैं, वर्ना श्रेष्ठ कलाकारों के नसीब में आत्महत्या ही होती है। औरतें तो बच्चों के लिए, पति के लिए, परिवार के लिए, खटते रहने की नैतिकता के कारण 'श्रेष्ठ' लेखिकाएँ नहीं बन पातीं। सिल्व्हिया प्लाथ जैसी उत्तम कवियित्री ने इस दुविधा का हल न मिलने की स्थिति में आत्महत्या कर ली थी। जब आप 'अध्यापन' जैसा समूह-प्रधान पेशा अपनाते हैं तो आपका समूचा जीवन संस्था-प्रधान, अन्य-केन्द्री हो जाता है। फिर आप को परीक्षा के साथ जुड़े क्लेशकारक काम करने होते हैं, विद्यार्थियों के सम्मेलन, स्पर्धाएँ आदि पूरी निष्ठा के साथ करानी चाहिए, धन्धा ईमानदारी से हो, इसलिए हमेशा, हर दिन अच्छे से अभ्यास कर, बिल्कुल बेवकूफ़ बच्चे भी समझ पाएँ, ऐसे पढ़ाना चाहिए। फिर कहीं डार्विन, देकार्त के उल्लेख हुए या चाणक्य, अभिनव गुप्त, फ्रायड, बौद्ध धर्म, मार्क्स वगैरह के सन्दर्भ आएँ तो यह मूलतः क्या हैं, ये पढ़ाने के पहले हमें ख़ुद पढ़ना-समझना चाहिए। ऐसी हर बात को वैयक्तिक नैतिक आवश्यकता मान कर आप ऐसे कष्ट उठाने लगते हैं।

सुधाकर :- मतलब, जिस ज़िम्मेदारी को हम अपना लें, उसे फिर अपना नैतिक कर्तव्य समझ कर निभाते जाएँ।

नेमाड़े :- वह आपको पसन्द न होते हुए भी उसे कर्तव्य समझ कर निभाते रहने की वृत्ति बन जाती है। मेरे मित्र कन्नड़ लेखक शान्तिनाथ देसाई से मैंने एक बार मज़ाक में कहा था-टु मेक बोथ एण्ड्स मीट-से तात्पर्य है रोटी और सृजनशीलता इन दो छोरों को साथ रखना-वर्ना अपराध बोध से आप लिख भी नहीं पाएँगे। इसलिए समझदार लेखक को दरिद्र देश में पूर्णकालिक लेखक नहीं बनना चाहिए, इतना मैं नैतिकता के निकष पर कह सकता हूँ।

सुधाकर :- महाकवि, महालेखक होने के लिए, पूर्णकालिक लेखक को आवश्यक परिस्थिति उपलब्ध हो तो आप अध्यापन या अपने पसन्दीदा पेशों से कैसे चुनेंगे?

नेमाड़े :- उपलब्ध परिस्थिति में मैंने अध्यापक की नौकरी निष्ठापूर्वक की जो लेखन कार्य विरोधी नहीं होती। मुझे कोई और नौकरी भी करनी पड़ती-पुलिस, राजनीति, रेल्वे, बैंक, ऑफिस सुरक्षा या कहीं और की-तो वह भी मैं उतनी ही निष्ठा से करता। एक किसान के घर में संस्कार ही ऐसे होते हैं कि आप को पेट भरना है तो अपने काम को अच्छी तरह करना ही होगा। लेकिन जैसा कि आपने सुझाया, अगर ये सारा नैतिक ज़िम्मा तुरन्त छोड़कर मैं पूर्णकालिक लेखक बन जाऊँ, मुझे अच्छा ही लगेगा।

सुधाकर :- इस दृष्टि से यूरोपीय समाज और अपने समाज में भिन्नता है। कोई अन्य काम न करके सिर्फ़ लेखन करने वाले को हम 'टुकड़ाखोर' कहते हैं।

नेमाड़े :- सही बात है। मुफ़्तखोर ही कहलाएगा वह। लोग जब भूख से मर रहे हों और आप बस लिखते बैठें, ये ग़लत ही होगा। मैं फिर कहूँगा कि यह अपना सांस्कृतिक पूर्वग्रह ही है। लेकिन सारी ही संस्कृतियों में ऐसे लेखक टुकड़ाखोर नहीं कहलाएँगे। ऐसी शायद ही कोई संस्कृति होगी जो ये समझती हो कि लेखक हमारे लिए ही काम कर रहा है और उसे एक आवश्यक तत्त्व मानकर, लेखक को सुकर और सुखद स्थान देती हो। बोल्शेविक क्रान्तिपूर्व रूस में १८५७ के आसपास, कारावास में चार साल रह कर, तड़ी पार होकर जीने वाले दोस्तोयवस्की के लेखन पर पाबन्दी थी। तब एक अधिकारी को उसने तिलमिलाकर लिखा था : सर, एक लेखक का काम भी समाज के लिए उपयुक्त होता है, अतएव कृपा कर मुझे लेखक होने दें, मेरे काम को प्रसिद्ध करने की अनुमति दें। अगर हम लेखन कार्य की नैतिक आवश्यकता को, उसकी समाजोपयोगिता को मान्यता दें, दोस्तोयवस्की की बात मान्य करनी ही होगी। कई बार लेखनी से समाज का विरोध कर, उसे चुभन देकर भी आप उपयुक्त काम कर रहे होते हैं। यह भी समाज को समझना चाहिए। समाज के दोषों पर पर्दा डालकर, झूठे आशीर्वाद को बढ़ावा देते हुए, केवल मनोरंजन करना उपयुक्त नहीं है, इस बात को समाज भी जान ले। नकारात्मक चित्रण करके, खिल्ली उड़ाते हुए भी लेखक समाज का काम कर रहा होता है।

सुधाकर :- उपन्यास और कविता लेखन के साथ-साथ, आप ने प्रभावी समीक्षा लेखन भी किया है। समीक्षा करते हुए जिस तटस्थता से आप औरों के लेखन को परखते हैं, क्या उसी नज़र से खुद के लेखन को भी देख पाते हैं?

नेमाड़े :- समीक्षा लिखते वक़्त एक बात मुझे हमेशा कचोटती रहती है कि कहीं मैं स्वयं का बचाव तो नहीं कर रहा हूँ ? 'मढं झाकून पेरणी करावी' (लाश ढँक कर बोआई करो) ऐसी परिस्थिति लेखक पर बीतती है। उस समय अपने भाषा की अथवा समाज की भलाई के लिए, नीति धर्म बताते हुए मूल्य विषद करना या फिर जो ग़लत हो रहा हो उसे उसी वक़्त ज़ाहिर करना आवश्यक होता है। फिर भले ही आप बुरे ही क्यों न बन जाएँ। अगर आपको 'अन्दर' से लगता है कि यह बताना ज़रूरी है तो यह 'स्वयं का बचाव' नहीं कहलाएगा। आप कभी खेत में भी न गये हों तो किसानों पर कथा-उपन्यास मत लिखिए या फिर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर, सामाजिक वास्तव को अनदेखा कर, रोमैण्टिक पद्धति से लिखना ग़लत है ऐसा मैंने मराठी उपन्यास पर लिखे लेख में कहा। इस लेख की गूँज दूर-दूर तक फैली। बड़े-बड़े लेखक चिढ़ गये। उस लेखन के परिणामों से मुझे गुज़रना पड़ा, लेकिन वाचक मान गये कि अब तक उपन्यासों और कविताओं में युवाओं को समाज से लड़कर, 'आधुनिक' होकर, प्रेमविवाह के लिए उकसाया जाता रहा

है, जो अपने दरिद्र समाज के युवक-युवतियों के लिए सम्भव नहीं है। अपने समाज के ९० प्रतिशत युवक-युवतियाँ उम्र के तीस वर्षों तक अपने पैरों पर स्वतन्त्र खड़े तक नहीं हो सकते। ऐसी स्थिति में आप यूरोप-अमरीका के युवक-युवतियों की तरह अन्तरजातीय प्रेमविवाह इत्यादि, केवल विद्रोह के नाम पर, नहीं कर सकते। यह वास्तव नहीं है। आपको अपनी ही जाति में, अन्य बातों का मेल देखकर, 'अरेंज्ड मैरेज' करना ही सम्भव होता है। यही वास्तव परिस्थिति है। इसमें कोई पिछड़ेपन वाली बात नहीं है। प्रगतिशीलता के नाम पर यूरोप-अमरीका के पूँजीवादी मूल्यों को, यहाँ के पिछड़े, शोषित, ग़रीब लोगों पर थोपना अच्छे साहित्य की निशानी नहीं है। १९८० में मराठी में यह बात खुलकर लिखना आवश्यक था। उस शोध निबन्ध को लिखने के लिए मुझे छः महीने लगे। उन दिनों ना.सी. फड़के, वि. स. खाण्डेकर से लेकर गंगाधर गाडगीह के श्रेष्ठ समझे जाने वाले कथा-उपन्यासों में, जो कल्पनारंजन था यानि प्रेमविवाह करना, महाविद्यालय में ही युवक का युवती से प्रेम हो जाना, फिर उनका विवाह कर लेना, शहर में अपना घर-संसार बसाना, यह वास्तव में सम्भव ही नहीं था। आज भी हमारे दरिद्र देश में यह सहज सम्भव नहीं। 'कोसला' लिखी गयी तब तक यह अवास्तव परम्परा ही अग्रसर थी। मैं पच्चीस का था तब तक थी। इससे पहले सन १९६३ में 'कोसला' का लिखा जाना अलग बात है। अब आप कहेंगे कि मैं 'कोसला' का बचाव कर रहा हूँ क्योंकि उसका नायक पाण्डु सांगवीकर-प्रेम नहीं करता। लेकिन 'कोसला' का मूल्य मापन हमें अलग कसौटियों पर करना होगा। देहात से पूना पढ़ने आया हुआ कोई लड़का क्या सचमुच वैसा प्रेम कर सकता है ? उसके अपने घर की ही कितनी समस्याएँ होती हैं। उसकी पाँच साल की बहन चेचक से मर जाती है। उसके लिए वह दुःख ज़्यादा मायने रखेगा। उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है ? गाँव की दरिद्रता, किसानों की ज़िन्दगी, विषमता, दुःख, दीनता, शोषण, कृत्रिम शिक्षण पद्धति या फिर प्रेम करना और प्रेम में डूबकर, पन्नों पे पन्ने लिखना ? एक तरह से यह तो समीक्षा की समीक्षा कहलाएगी-अर्थात सांस्कृतिक अधिसमीक्षा (मेटाक्रिटिसिज़्म)-लेकिन समीक्षक होने के नाते, मैं अपने लिए इतना ही कहूँगा कि साहित्य में जो ग़लत परम्पराएँ चल पड़ती हैं, उनमें हस्तक्षेप करना ही चाहिए। जैसे कहानी यह वाङ्मय प्रकार। कहानी का इतना बोलबाला तब मराठी में था कि हमारे यहाँ, बीसवीं सदी के मध्य में और उसके उपरान्त भी कोई बड़ा उपन्यासकार ही नहीं हुआ। मराठी साहित्य की अवस्था इतनी बुरी हो गयी। सारे लेखक बस कहानी ही लिखने लगे। फटाफट। हर साल दर्जनों व्यापारी पत्रिकाओं में दो-चार पृष्ठों की कहानी छपवाते रहना-तुरन्त पैसे भी मिल जाते थे-जिनमें गहरायी न कथावस्तु में और न ही पात्रों में होती थी-ऐसा चटपटा खाद्य जीवनभर बनाते-बनाते कई लेखक ख़त्म भी हो गये। ऐसा चल रहा था। इसके विरोध में स्पष्ट रूप से कुछ लिखना आवश्यक हो गया था। इस कचरा सफाई में एक लेखक होने के तौर पर मेरा कोई निजी स्वार्थ नहीं था। पर जिस भाषा में हम लिखते हैं उस के स्वास्थ्य के लिए और एक पाठक होने के नाते ही सही, हमें जो लगता है, वह बताना आवश्यक होता है।

सुधाकर :- इसी दौरान आपने 'देशीवाद' की संकल्पना को भी प्रस्तुत किया। क्या यह संकल्पना सिर्फ़ साहित्य तक ही मर्यादित थी ? कोई भी वाद अन्य कलाओं को भी कम या अधिक मात्रा में प्रभावित करता ही है। यूरोप में चित्रकला के सन्दर्भ में, घनवाद, दिक् प्रत्ययवाद का प्रभाव अन्य कलाओं पर भी देखा गया। क्या देशीवाद का प्रभाव अन्य कलाओं पर दिखता है।

नेमाड़े :- जब सन् १९७८-७९ में, मैं मैसूर के सी.डी. नरसिंहन के 'ध्वन्यालोक' में फेलो बनकर गया, मैंने पहली बार, विधिवत एक विद्याशास्त्रीय स्वरूप का लेख, सोच विचार कर लिखा था। पैंतीस साल हो गये उस बात को। आज अन्य कलाओं से मेरा जो परिचय है, उससे यह लगता नहीं कि देशीवाद का प्रभाव साहित्य के बाहर भी ज़्यादा है। साहित्य तक ही वह सीमित लगता है। अन्य भाषाओं में, अब, जो नयी पीढ़ी लिखने लगी है, उसे वह पूर्णतया मान्य है। साहित्य में अब कम से कम यह माना जाने लगा है कि जो हमारे अनुभव क्षेत्र में नहीं, हमारे समाज में, परम्परा में नहीं, उसका ढिंढोरा पीटना निरर्थक है। हाँ नाटक और सिनेमा के लेखक अब देशीवादी हो रहे हैं, ऐसा थोड़ा बहुत दिखता है।

सुधाकर :- उदाहरण के तौर पर, सतीश आलेकर, जयन्त पवार या सम्भाजी भगत जैसे नाट्य लेखक।

नेमाड़े :- इन नये प्रयोगशील लेखकों को यह मंजूर है कि जो है, उस पर प्रतिक्रिया कर उसे प्रस्तुत किया जाये। मराठी में शिवाजी का जो इतना गुणगान किया जाता है, वह केवल स्वार्थ और गुण्डागर्दी के हेतु से है, ये नाटक 'शिवाजी अण्डरग्राउण्ड इन भीमनगर मोहल्ला' में विशद किया गया है। पुराने 'रायगडाला जेंव्हा जाग येते' (वसन्त कानेटकर द्वारा राजा शिवाजी पर लिखा हुआ एक लोकप्रिय नाटक) और आज के नाटक 'शिवाजी अण्डरग्राउण्ड इन भीमनगर मोहल्ला' में ये फ़र्क है। इन लेखकों ने इतना बदलाव तो निश्चित ही लाया है। फ़िल्मों में यह नहीं हो पाया क्योंकि फ़िल्मों से जुड़े हुए अधिकतर लोग सतही और अनभिजात हैं। मुझे नहीं लगता उनकी कोई जड़ें हैं। किस तरह की फ़िल्में बनाते हैं वे लोग ? सत्यजित रे ने सिर्फ़ बंगाली में काम किया। उन्होंने कभी कैश बॉक्स पर ध्यान नहीं दिया। कम लागत में बना हुआ होकर भी उनका काम अप्रितम हुआ, जगप्रसिद्ध हुआ और ऐतिहासिक साबित हुआ। उस तरह का काम मुम्बई में सम्भव नहीं है और जब तक बॉलीवुड महाराष्ट्र में है, मराठी सिनेमा को भी वह स्तर प्राप्त होना कठिन है क्योंकि वहाँ काम करने वाले भी अन्दर से जड़विहीन ही हैं। और आपकी चित्रकला का दुर्भाग्य तो ऐसा है कि उस के जितने भी स्कूल्स थे, वे सारे परकीय उपनिवेशवादी मॉडलों और आन्दोलनों पर ही टिके आ रहे हैं। चित्रकला में कभी कोई देशी लहर आयी थी, ऐसा मैं तो नहीं जानता। मैं नियमितरूप से चित्र नहीं देखता, लेकिन मुझे लगता है ऐसी लहर चित्रकारों की तरफ से सर्वप्रथम आनी चाहिए थी। बंगाल या मध्यप्रदेश में कहीं आयी हो, महाराष्ट्र में तो नहीं आयी। एक तो कलाकार ज़्यादा पढ़ते नहीं होंगे या फिर साहित्य का परिणाम सिर्फ़ साहित्य पर ही सीमित होगा अन्य विधाओं पर नहीं। तिस पर भी नाटककार जागरूक हैं क्योंकि नाटक भाषा से जुड़ी कला है। लेकिन सिनेमा, चित्रकला, शिल्पकला इनमें कोई देशीपन नहीं आया। नृत्य और संगीत की अभिजात शैलियों में वह सौ फ़ीसदी पहले से ही था। इसलिए कुछ विशेष करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। वैसे फ़िल्मों में भी देशी संगीत, लोक संगीत बहुत था-नौशाद, एस.डी. बर्मन, रोशन, मदन मोहन इन सब के गीत या फिर फ़िल्मी संगीत में हमेशा लहलहाने वाले लोकगीत, कव्वाली, भजन आदि। आजकल ही वे कुछ कम होने लगे हैं।

सुधाकर :- देशीवादी विन्यास को आये भी अब काफ़ी समय बीत गया है। क्या आप चाहते हैं कि देशीवाद का प्रत्यक्ष कृतिशील आन्दोलन आगे बढ़े ? या फिर वह अपने आप ही सम्भव होगा ?

नेमाड़े :- उस पर आन्दोलन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अन्ततोगत्वा हर कला परम्परा से बँधी होती है,

इस विचार को तो हर कलाकार महसूस करता है और अगर वह प्रामाणिक है, वह उसे मान्य भी होता है। परम्परा को तोड़कर आप कला का विस्तार नहीं कर सकते और अगर आप परम्परा में ही काम करते हैं, आपकी चित्रकला की परम्परा भी आप ही खोजते हैं या नहीं ? आप हज़ारों वर्षों की पुरानी अजन्ता की, लोककला की परम्परा को मानते हैं कि केवल पेरिस की ताज़ी फैशन को ही मानते हैं ? मानने में कोई हर्ज़ नहीं क्योंकि दृश्यकला में सबका एक ही प्राथमिक दृश्य बोधन होता है, लेकिन केवल वही मानें और अपने देश की परम्परा मालूम ही न हों, क्यूबिज़म मानें लेकिन अजन्ता के प्रतीकवाद का आकलन भी न हो-हमारे जैसी विशाल परम्परा को कलाकार ऐसे अनदेखा नहीं कर सकते। इसका अर्थ है कि हमारे चित्रकार या फ़िल्मकार ठीक से सोचते नहीं है। उनकी प्रतीति ठीक तरह से संरचित नहीं होती। कोई भी बाज़ार कला के लिए बड़ा शाप होता है। कुछ कलाकारों ने, उनके कलाक्षेत्र से उसे खदेड़ दिया है जैसे संगीतकार, लेखक लेकिन कुछ कलाओं में वह फैलता जा रहा है। विशेषतः सिनेमा में। चित्रकला में भी वह है। सर्वसाधारण कलाकार इस बाज़ार के दबाव की बहुत जल्दी बलि चढ़ जाते हैं। मुझसे अगर कोई कहे कि आप समाचार पत्र में नियमित रूप से एक कॉलम लिखें, आपको हर महीने कुछ हज़ार रुपये मिलेंगे-ऐसे में अगर मेरे पास नियमित उत्पन्न का कोई साधन न हो तो मैं ऐसे प्रस्ताव पर विचार करना चाहूँगा फिर चाहे रोज़ लिखने के दबाव में मैं कितना ही घटिया क्यों न लिखने लग जाऊँ। उस दूसरे विषैले पर्याय से तो यही मुझे उपयुक्त लगेगा। ऐसे पर्याय से उपजी स्थिति, जिसमें आप नियमित रूप से हर रोज़ अपने एहसास, बोध लिखते चले जाएँ, वहाँ किसी भी कला का टिकना सम्भव नहीं होगा।

हाल ही में ३६ वर्षों बाद मेरा उपन्यास 'हिन्दू : जगण्याची समृद्ध अडगल' (हिन्दू-जीने का समृद्ध कबाड़) प्रसिद्ध हुआ है। ठीक है, ३६ साल के अन्तराल के बाद आया तो क्या बिगड़ता है ? यही आशय अगर मैं किसी समाचार पत्र में, नियमित कॉलम के रूप में लिखता तो उसका स्वरूप निश्चित ही तात्कालिक-सा होता और वह अगले ही दिन रद्दी में चला जाता। घातक पर्याय त्याग की माँग करते हैं, अब त्याग किस चीज़ का करना है, यह हर व्यक्ति को खुद ही तय करना होता है। इस पूँजीवादी समाज में आपको बँधी-बँधायी कमाई, ऐशोआराम, उच्च दर्ज़े के रहन-सहन का मोह होता है और इस तरह के मोह को अनैतिक मानकर उसे टालना होता है। आप को आम लोगों की तरह रहन सहन में सादगी रखनी होती है। नखरे बन्द। अन्य कोई उपाय नहीं होता। इस तरह का कोई आन्दोलन किया, लोग उसमें शामिल होंगे, ये ज़रूरी नहीं है। मैंने समाचार पत्रों के बारे में अपना मत इतना परिणामकारक कर रखा है कि मराठी अख़बार वाले मुझे हमेशा गालियाँ देते हैं। मेरे बारे में उल्टा-सीधा लिखते रहते हैं। वह एक पुण्य का काम मैंने ज़रूर किया है। मैंने आज तक समाचार पत्र में एक पंक्ति भी नहीं लिखी और इस बात का मुझे अभिमान है। अख़बार वाले खुद को प्रसिद्धी का ठेकेदार समझते हैं। आज से पचास साल पहले तो अपने देश के समाचार पत्रों के ब्राह्मण सम्पादकों की सीनाज़ोरी देखते ही बनती थी। उसे मैं ख़त्म कर सका। यूरोपीय देशों में कोई आन्दोलन शुरू होता है- रोमैण्टिसिज़म, दादाइज़्म, सर्रिअलिज़म, उसकी व्याप्ति समूचे समाज में होती है। एक पीढ़ी के सारे ही समीक्षकों, लेखकों, कवियों, चित्रकारों, शिल्पकारों में विचारों का आदान-प्रदान इतना होता है कि वह आन्दोलन सिर्फ़ कला तक सीमित नहीं रहता। अपने यहाँ वैसा नहीं होता। मैं मुम्बई में रहता हूँ इसलिए चित्रकला की थोड़ी बहुत

जानकारी रखता हूँ। लेकिन देहात को तो छोड़ ही दीजिए, किसी ज़िले स्तर की जगह के किसी बुद्धिमान व्यक्ति को भी चित्रकला के बारे में कुछ भी पता नहीं होता। उस विधा में आजकल क्या चल रहा है, किस पद्धति के तन्त्र, शैलियाँ कार्यरत हैं, फिगरेटिव्ह से अमूर्त कला किस कारण अलग होती हैं, इस तरह की प्रारम्भिक बातें जानने का भी कोई स्रोत उसके पास नहीं है। कई जगहों पर तो आर्ट गैलरियाँ तक नहीं है। जलगाँव, धुहे, अकोला जैसे बड़े शहरों की अगर ये हालत है हज़ारों देहातों में किस तरह की कला साक्षरता होगी ? वहाँ के लोग कब चित्र देख पाएँगे ? भविष्य में इन्हीं में से कुछ चित्रकार होंगे। माना कि किसी देहात का लड़का किसी शासकीय विद्यालय में चित्रकला सीखता है, लेकिन उतने भर से कला का शिक्षण पूरा नहीं होता।

सुधाकर :- आप का देशीवाद और आप के उपन्यास : अर्थात् आपके विचार और प्रत्यक्ष निर्मिति इन में कोई फ़र्क नहीं दिखायी देता। फिर भी साहित्य के कई वाचकों को आपके उपन्यास मान्य हैं लेकिन देशीवाद नहीं। और कुछ वाचक, देशीवाद के तत्त्वों को मान्यता देते हुए भी, आपके उपन्यासों पर सवाल उठाते हैं। इस विषय पर आपने कई बार लिखा है, प्रतिक्रियाएँ भी दी हैं, क्या ये बातें लोगों तक पहुँचती नहीं है या उन्हें मान्य नहीं है ?

नेमाड़े :- मैं केवल समीक्षा ही नहीं, उपन्यास भी लिखता हूँ। वर्ना केवल समीक्षा के पाठकों ने मेरे विचार पूर्णतः परे हटा दिये होते। मैं कविता भी लिखता हूँ। कई पाठक बताते हैं कि मेरी कविताओं में देशीपन खूब होता है। मेरी कविता के 'सुदर्शन' होने पर भी काफ़ी चर्चा होती है। कविताओं के देशीपन का स्वीकार त्वरित हो जाता है, भले ही परिवर्तित स्वरूप में हो। मेरे विचार कम से कम कविताओं, उपन्यासों के माध्यम से लोगों तक पहुँचते हैं, उन्हें मान्य भी होते हैं। विवाह के अथवा देहातों की प्राचीन जाति व्यवस्था के सन्दर्भ में, मातंग, महार, चमार, ब्राह्मण, कुणबी, सब लोग किस तरह एकजुट होकर रहते थे, इसका एक प्रारूप , उपन्यास के सूत्रों के अनुसार जस का तस प्रस्तुत होता दीखता है। इसमें अच्छा बुरा कुछ नहीं होता, वो बस वैसे 'होता' है। आज के शहरीकरण और आधुनिकीकरण के दौर में बुलडोज़िंग करते समय, समूची पुरानी व्यवस्था ही बेकार होने का जो दावा किया जाता है, वह ग़लत है और इस बात को पाठकों के सामने लाना आवश्यक है। कोई भी व्यवस्था कम-अधिक महत्त्व के घटकों से ही बनती है। अगर सारे घटक समान हों व्यवस्था ही न बने। इससे समाज की बनावट पर ही संकट आ बनता है। इस उपखण्ड के पाँच हज़ार वर्षों से उत्क्रान्त होते आयी बनावट का दुर्भाग्य यह है कि पिछले दो सौ वर्षों की गुलामी के चलते, यह समय के साथ, नैसर्गिक पद्धति से नहीं बदला है। इसलिए हमारी आर्थिक व्यवस्था से लेकर जाति व्यवस्था तक एक ही व्यवस्था कार्यक्षम नहीं रह सकी। फिर अक्षमतावश आये सारे अपयशों का ठीकरा जातिव्यवस्था के मत्थे मढ़ने की बौद्धिक लत, स्वतन्त्रता के बाद की आलसी पीढ़ियों में घर कर गयी। अन्याय, शोषण ये सब केवल जाति व्यवस्था के कारण तो होता नहीं। शहरी लोगों की चालक आधुनिक संस्थाएँ, ग्रामीण जनता का किस कदर लगातार शोषण करती हैं ? किसी सरकारी कार्यालय में जाकर देखिये तो समझेंगे कि निन्यानवे प्रतिशत जनता, जिसे केवल मातृभाषा ही अवगत होती है, उसका केवल अँग्रेज़ी के दम पर कितनी सहजता से शोषण होता है।

सुधाकर :- जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट की कला में देशीपन कम है, ऐसा आपको क्यों लगता है ?

नेमाड़े :- मराठी में, हमसे पहले की पीढ़ी की अभिरुचि पर रूपवाद और सौन्दर्यवाद का बहुत प्रभुत्व था। उन्होंने एक पारदेशी-यूरोपी-कृत्रिम सौन्दर्यवाद का समीकरण बनाया था। जो उस समीकरण में बैठे वही सुन्दर है, ऐसी धारणा बन गयी थी। जैसे तन पर पर्याप्त कपड़े नहीं है, लेकिन माँ-बाप-बच्चे, गाँव के सभी जाति-जमात के लोग प्रेम भाव से रहते हैं, इसमें उन्हें सौन्दर्य नहीं दिखता था। आधुनिक यूरोपीय, पूँजीवादी नज़र में, यह ग़रीबी का, सादगी का, पारम्परिक सौन्दर्य, कुरूपता का लक्षण था। क्योंकि इन ग़रीब, शोषित लोगों के पास मूलभूत सादगीपूर्ण जीवन साधनों के अलावा, 'शान' दिखाने लायक कुछ नहीं होता था। आपकी, दृश्य कला की भाषा में जिसे न्यूडिटी का मूल्य कहते हैं, दरअसल वही असली सौन्दर्य कहलाना चाहिए। निर्धन लोग एक दूसरे से जो प्रेम करते हैं, वही मूल असली सौन्दर्य है, ये हमें इन फ़िल्मों में भी देखने को मिला है-इतालवी लेखक बर्तोलिनी के 'बायसिकल थीव्हज' की डि सिका की हुई सिनेमैटिक व्याख्या या विभूतिभूषण के 'पथेर पांचाली' पर फ़िल्म बनाते हुए सत्ययिज रे की दिखायी हुई नग्नता की उच्च सौन्दर्यशिल्पी समझ या फिर समूचा चैपलिन। फ़ोटोग्राफी में, केविन कार्टर जैसे अनेक लोग, ये सारे कलाकार, आज के विलासी, पूँजीवादी समाज की सादगी में नग्नता और इस नग्नता में सौन्दर्य ढूँढ़ने वाले और दिखानेवाले हिंसक लोग हैं। मानवीय अस्तित्त्व का यह खुला, नंगा स्ट्रक्चर ही अपने युग में खरा सौन्दर्य सिद्ध होता है। ग़ालिब ने इसी को 'जौक-ए-उर्यानी' कहा है। आप के जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट की दुनिया मुझे इस मूल नग्नता से दूर जाती हुई दिखायी देती है। अभिजनों के छोटे से दायरे से बाहर इसका अपील ही नहीं है।

सुधाकर :- इसका मतलब यह हुआ कि पिछले डेढ़ सौ-दो सौ वर्षों में जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट की कला पर महाराष्ट्र में जो कलाविष्कार हुए, उन पर कभी देशी मूल्यों वाले साहित्य, नाटक वगैरह का दबाव नहीं आया? जे. जे. स्कूल की भीतरी कला का देशीपन से कोई सम्बन्ध नहीं है ?

नेमाड़े :- सम्बन्ध है ही नहीं। केन्द्रिय तो कदापि नहीं। अपने पारम्परिक संगीत, नृत्य और लोक कलाओं की इस आर्ट से तुलना करके देखिये न। आप ने जहाँ जन्म लिया हो, वहाँ के भूगोल के साथ कहीं न कहीं, खानपान से लेकर मानसिकता तक से आपकी नाल जुड़ी होती है। उस के निशान आप के चित्रों में दिखने चाहिए न? यहाँ क्या दिखता है? उच्च मध्यवर्गीय, एरिस्टोक्रेटिक, अमीर, ऐशो-आरामी सृजनशीलता की ही पकड़ दिखती है, जो महाराष्ट्र के पीड़ित हिस्सों से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। आप जैसा इक्का दुक्का ही ग्रामीण अहसासों वाला कलाकार होगा। लेकिन ऐसे माहौल में सभी की ब्रेनवाशिंग हो जाती है। नन्दलाल बोस या राम किंकर बैज जैसे कितने कलाकार हुए हैं यहाँ ?

सुधाकर :- आपके उपन्यासों में जो देशीवादी प्रस्तुति है, उनमें जातियों का क्या स्थान है ?

नेमाड़े :- कोसला, बिढ़ार चतुष्टय, इनमें अनेक जातियों के लोग आते हैं। जातियों के बहुविध सन्दर्भ आते हैं। इसकी पूरी छानबीन करेंगे तो आप पाएँगे कि कहीं भी जातिवाद को लेकर लापरवाही नहीं बरती गयी है। जाति की अपनी वास्तविकता है। उसे ढाँक कर नहीं रख सकते। देखिए, जातिवाद अलग है, जातीयता अलग और जाति व्यवस्था अलग है। जाति का उल्लेख तक टालने वाले लोग भी नासमझ ही हैं। उनका मन अन्दर ही अन्दर कचोट रहा होता है क्योंकि मन ही मन में तो वे जातिभेद को मानते हैं, 'जाति नष्ट करो' का नारा लगाते हुए, जाति का फ़ायदा उठा कर, ऊपर-ऊपर चढ़ते जाते हैं। इतना ही

नहीं, वे राजकीय नेताओं से चिपके रहते हैं बाद में पूर्णतया शहरी हो कर उच्च जाति की लड़की से ही विवाह करते हैं, जिससे जाति विरोध का पुण्य भी प्राप्त होता है और पुरोगामी आधुनिकता का सर्टिफिकेट भी। जबकि असली वजह तो यह है कि अपनी जाति की पिछड़ी, अनाड़ी लड़कियाँ, इन उच्च शिक्षितों को स्वीकार्य ही नहीं है। एम. एन. श्रीनिवास के संस्कृतायज़ेशन-ब्राह्मणायज़ेशन को एकत्र स्वरूप में देखें तो हमारे उपन्यास के नायक खण्डेराव के मतानुसार, इन प्रेम विवाह वाले नीची जाति के उच्चशिक्षित, धूर्त लोगों को ऊपरी जाति की शहरी, सुधारित स्मार्ट 'रैडिमेड' पत्नियाँ चाहिए होती हैं। ज़रा सर्वेक्षण करके देखिये, इन सब अवसरवादी सुधारवादियों की यह विशेषता ही है। जाति व्यवस्था, अपने विस्तीर्ण देश की आधारशिला है। भारतीय सभ्यता की यह एक मूलभूत विशेषता समझी जाती है। भारतीय संस्कृति, जाति व्यवस्था पर ही बाँधी गयी एक संरचना है।

सुधाकर :- आपके देशीपन के आग्रह को देखते हुए, आपके साहित्य पर एक बड़ा आरोप होता है कि उसमें जाति व्यवस्था का समर्थन है।

नेमाड़े :- यह निश्चित ही हिन्दू उपन्यास पर प्रतिक्रिया है। अँग्रेज़ों की शुरू की हुई जनगणना तक, हमारा सम्बन्ध समूचे देश की लगभग बीस हज़ार जातियों से था, जो निरन्तर बदलते, प्रवाही सेन्द्रिय द्रव्य की तरह, एक दूसरे में घुल कर पुनः अलग होने वाली थीं। इस उपखण्ड के, हज़ारों बहुभाषिक, बहुजिनसी समूहों ने, अपनी-अपनी स्वायत्तता टिकाये रखने के लिए निर्माण की हुई, अत्यन्त उपयुक्त जातियों के सतत उत्क्रान्त होने वाले ढाँचे का इन लोगों से ठीक से आकलन ही नहीं हुआ है। जाति व्यवस्था लचीली ही थी, इसलिए ये ग़लतफहमियाँ होना स्वाभाविक है। अब जातिभेद नष्ट हो जाने चाहिए, जातीयता एक विषैली प्रवृत्ति है, इसमें कोई दो राय नहीं। लेकिन छिछले आदर्शवाद विचारवन्त जातिव्यवस्था को ही जातीयता मानकर, जातियों का खात्मा कर देंगे, उन्हें जड़ से उखाड़ देंगे वे इस तरह का वन्ध्यामैथुन करते रहते हैं। असम्भव चीज़ें आप कैसे करेंगे ? महावीर, बुद्ध, नाथ, वारकरी, कबीर महानुभाव फुले, अम्बेडकर में से कोई भी इन जातियों को समूल तो छोड़िये उनकी ऊपरी सतह तक भी नष्ट नहीं कर पाया है। उल्टे फुले-अम्बेडकर के पश्चात जातियाँ और पक्की हो गयीं। ये प्रगति मराठी लोगों को बताने की आवश्यकता नहीं है। हमारे उपखण्ड में रहने वाली सारी जनता-ख्रिस्ती, मुसलमान, बौद्ध, जैन, सिख, हिन्दू इन सबका जातिव्यवस्था यह एक स्ट्रक्चर है। यही ढाँचा सबको एक साथ बाँधने में यशस्वी होता आता है। पाँच वर्षों पहले, हार्वर्ड के लोगों ने काश्मीर से अण्डमान तक सभी जाति-जनजातियों के लाखों लोगों के जेनोम सैम्पल लेकर जाँचने के बाद यह पाया कि इस देश में ऊपर से नीचे तक सारे लोगों के जनुकों में बड़े पैमाने पर साम्य है। फिर वे लोग चाहे आदिवासी हों, जनजाति के हों, स्वयं को शुद्ध ब्राह्मण कहने वाले हों या फिर असली क्षत्रिय वगैरह हों, इन सब जातियों ने अपना दर्जा बाद में हासिल किया। हिन्दुस्तान के वंशशास्त्रज्ञों का कहना है कि ऐसे संमिश्र शरीर सम्बन्ध, रक्तगटों में मिलावट, यूरोप में भी नहीं हुई है। इसी से पता चलता है कि इस देश में पूर्वकाल से ही बड़े पैमाने पर अन्तरजातीय विवाह सम्बन्ध होते आये हैं। इसके सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं। हमारी जाति व्यवस्था ने यूरोपीयों की तरह पराये समूहों को निर्दश नहीं किया बल्कि इन बेशुमार अल्पसंख्यकों में हिन्दुस्तानी समाज को इकट्ठे जोड़ा है। जाति व्यवस्था का इस्तेमाल एक निरुपद्रवी, दिखाऊ, उग्र ढाँचे की तरह किया। अस्मिता के लिए भिन्नवंशी अल्पसंख्यक समूहों के लिए भी ऐसा ढाँचा आवश्यक था।

सुधाकर :- इस देश में हम सभी अल्पसंख्यक ही हैं ?

नेमाड़े :- स्वजाति के अन्दर अपना बिल भीतर से बन्द कर, क्या हम कभी भी आत्मा संरक्षण कर पाते ? जाति से बाहर निकलने के लिए मौका तलाशना पड़ता था। पारतन्त्रिक उपनिवेश काल में जनगणना लाद कर हर जाति की लचीली संरचना, लिखित, पक्की और अति कठोर कर दी गयी। इसी वजह से आज जातियों का बदलाव थम गया है।

सुधाकर :- तात्पर्य, जाति व्यवस्था का पर्याय नहीं हो सकता -

नेमाड़े :- मोहनजोदड़ों काल से पाँच हज़ार वर्षों में अपने देश में बड़े बड़े जन समूह आते रहे और बसते रहे जैसे-ऑस्ट्रोएशियाटिक ब्रह्मदेश, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, अफ्रीका सब तरफ से बिल्कुल एंग्लो-इण्डियन तक। इसमें से प्रत्येक के साथ लायी हुई भाषा, धर्म, देवी-देवता, रीति-रिवाज़, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने, सजने सँवरने के हज़ारों तरीकों को अपने में समाकर अपनी जाति व्यवस्था उत्क्रान्त होती आयी है। इतनों को स्वायत्तता देकर भी कायम रहने वाली दुनिया में और कोई पर्यायी व्यवस्था है ? मेरे उपन्यासों में अन्य जातियों के प्रति तुच्छता रखने वाले पात्रों के प्रति सहानुभूति नहीं होती। मेरा अनुभव बताता है कि गाँव-गाँव में महार, मातंग, कुणवी, चमार, ब्राह्मण आज के शहरी, पुरोगामी लोगों से कहीं ज़्यादा एक दूसरे से प्यार करते थे और कम तिरस्कार करते थे। उल्टे, आज जाति-जाति में ज़्यादा द्वेष, ज़्यादा तुच्छता है। पहले केवल एक आधारभूत संरचना के तौर पर जाति व्यवस्था का पालन किया जाता था। इस ढाँचे को हटा सकें तो अच्छा ही होगा, लेकिन छोटी-छोटी जन जातियों का आत्मसम्मान, उनकी स्वायत्तता, अबाधित रख कर, इस देश की विशाल जाति व्यवस्था का स्थान ले सके, ऐसी दूसरी संरचना मुझे कल्पना में भी नहीं दिखती। अपने यहाँ आ रहा यूरोपीय पूँजीवादी क्लास स्ट्रक्चर इससे ज़्यादा बुरा, विषैला परिणाम देगा, इसमें मुझे कोई शक नहीं है। ऐसी निर्दयी वर्ग व्यवस्था की शुरुआत, औद्योगीकरण से आदिवासी, वनवासी तथा नगरीकरण से शहरों ने देहाती समूहों का शोषण करने से कर ही दी है। एक जाति में हर इन्सान समान होता है फिर वो चाहे अमीर हो या ग़रीब। यह नयी वर्गाधिष्ठित आधुनिक शहरी प्रजा, मिलावट भरी, सांस्कृतिक अवमूल्यन हुई जाति के फ़ायदे और वर्ग के भी भौतिक फ़ायदे उठाकर स्वार्थपरायण हो गयी है। उसमें, अस्पृश्यता का भयंकर कलंक पिछले लगभग हज़ार वर्षों से चला आ रहा है। परन्तु यह अस्पृश्यता, जाति व्यवस्था के कारण निर्मित नहीं हुई है। ऐसी कई अपप्रवृत्तियाँ हम में उपजी उसके पीछे अलग-अलग ऐतिहासिक कारण दिखते हैं। यह एक बड़े अनुसन्धान प्रकल्प का विषय है।

सुधाकर :- १९६३ में दलित साहित्य के आन्दोलन से पहले 'कोसला' लिखी गयी थी। मुझे लगता है, कोसला से हिन्दू में एक सातत्य है। क्या वैसा सातत्य दलित साहित्य में है ? अशोक शहाणे ने कहा था कि सारे दलित आत्मचरित्र 'कोसला' के प्रभाव से आये हैं।

नेमाड़े :- पाण्डुरंग सांगवीकर के आत्मचरित्र के कथन प्रकार से मराठी में परात्म, अधिकारहीन, सादे मनुष्य को अपनी बोलीभाषा में विद्रोह के आविष्कार करने का आत्मविश्वास मिला। 'कोसला' प्रकाशित होने के आठ-दस वर्षों बाद औरंगाबाद में हमारे ज्येष्ठ मित्र म. ना. वानखेड़े ने दलित साहित्य का आन्दोलन बड़े जोश के साथ शुरू किया। मैं उन दिनों औरंगाबाद में ही रहता था। आगे चलकर गंगाधर

पानतावणे ने उसे एक सशक्त केन्द्र का रूप दिया। अब सातत्य की बात करें तो बाबूराव बागूल, राजा ढाले, प्र.ई. सोनकांबले, अरुण काले से आज प्रज्ञा दया पवार तक, अत्यन्त आत्मनिष्ठ दलित साहित्यकारों ने, मर्ढेकर की महान वाङ्मयी कसौटी पर खरा उतर कर, लेखनगर्भ आत्मनिष्ठा के तत्त्व की सातत्य से हिफ़ाजत की है। दुर्भाग्यवश, मराठी दलित साहित्यकारों ने नेता बनने का पागलपन दिखाया जो अत्यन्त भारी शब्दों का इस्तेमाल करने वाले राजा ढाले जैसे इन्सान को भी भारी पड़ा। इससे हुआ यह कि दलित साहित्य में देशी वाणी के भाषिक आविष्कार में सातत्य नहीं रह पाया। अब तो उस का अवधान भी नहीं रहा। स्टिरियो टायपिंग बढ़ गयी है। हाल ही में प्रज्ञा पवार की लिखी कवितओं में, अन्य दलित कवियों जैसी लोगों का मनोरंजन करने वाली स्टण्टबाजी दिखायी नहीं देती। मैं प्रज्ञा पवार को दलित कवियित्री नहीं समझता। 'कोसला' के पश्चात, स्वतः के आविष्कार ही स्टिरियो टायपिंग बढ़ ना जाये इस बात का मैं खुद भी हमेशा ध्यान रखता आया हूँ। मेरे सभी उपन्यासों में एक ही जीवनदृष्टि है, लेकिन जब तक हर पात्र को, हर प्रसंग को स्वतः का नया कथन तन्त्र नहीं मिलता, नये भाषिक प्रयोग नहीं मिल जाते तब तक मैं उपन्यास का कथानक पक्का ही नहीं करता। सारे ड्राफ़्ट सम्हाल कर रखता हूँ। 'कोसला' (१९६३) और 'बिढार चतुष्ट्राय' (१९७९) इनमें दस वर्षों का अन्तर था, उसके बाद सैंतीस वर्षों बाद-हिन्दू-जगण्याची समृद्ध अडगल (२०१०) प्रकाशित हुई। इतना अन्तर होते हुए भी आपको जो सातत्य महसूस होता है, वह इसी कारण होगा।

सुधाकर :- मुझे लगता है, 'कोसला' का अन्य विधाओं में काम करने वाले कलाकारों पर भी असर हुआ होगा।

नेमाड़े :- 'कोसला' के वाचक, फ़िल्म, नाटक, संगीत, वास्तुकला जैसे विभिन्न क्षेत्रों में मशहूर हुए या फिर इन क्षेत्रों में मशहूर कलाकारों को वह बहुत पसन्द आयी। दोनों में से कुछ भी सच होगा। चित्रकला के बारे में मैं दावे से नहीं कह सकता, लेकिन पिछले पचास वर्षों में सातत्य से पढ़ी जाने वाली पुस्तक का क्या प्रभाव हो सकता है, इसका सूक्ष्म विश्लेषण करने वाली समाज शास्त्रीय कला समीक्षा मराठी में नहीं है। इसलिए, इस बारे में केवल अनुमान ही लगाये जा सकते हैं।

सुधाकर :- 'कोसला' के पश्चात ही देशीवाद का विन्यास शुरू हुआ होगा ?

नेमाड़े :- जब 'कोसला' लिखी, मैं विद्यार्थी था। इसलिए सैद्धान्तिक प्रबन्ध लेखन करना नहीं जानता था। देहात में ही पला-बढ़ा था इसलिए देशीयता का धुँधला-सा विचार आत्मीय-सा था। आगे चलकर, जब प्राध्यापक हुआ तब व्यवस्थाबद्ध वाचन, अध्यापन, चर्चा-परिसम्वादों में एक विषय पर अपने विचार व्यक्त करने की हिम्मत, अनुभव, जानकारी का व्यवस्थित संकलन-ये सारे बौद्धिक हुनर धीरे-धीरे सीखता गया। आज तक, हमेशा का अध्यापन भी, विषय का खुद का अध्ययन गहरायी से होने के बाद ही करने का अनुशासन मैंने कायम रखा है। कई विश्वविद्यालयों में, अच्छी तरह तैयारी करके, मैं विद्याशास्त्रीय भाषण देता आया हूँ। अपना लेखन परे रख कर चर्चा परिसम्वादों में पेपर पढ़े हैं। इस सब का बौद्धिक फ़ायदा मुझे ज़रूरत से ज़्यादा ही हुआ। जिस तरह 'कोसला' का नायक खुद के अहसासों का उत्खनन करता है, उसी तरह 'हिन्दू...' का पुरातत्त्वज्ञ नायक सारे समूह की संस्कृति का उत्खनन करने की कोशिश करता है। इसमें से देशीवाद का विचार भी धीरे धीरे उत्क्रान्त होता गया। १९८० के आसपास, मैसूर के सी.डी. नरसींह के 'ध्वन्यालोक' में, जब मैं निवासी लेखक था। मैंने यह शोध प्रबन्ध वहाँ के

लेखकों के सामने सविस्तार प्रस्तुत किया। तब एम. एम. श्रीनिवास और कई बड़े विचारवन्त मुझसे बहस कर रहे थे। लेकिन एक मुद्दे पर कोई विरोध नहीं कर पा रहा था, वो यह कि देशीवाद केवल सिद्धान्त न रहकर जीने का दृष्टिकोण बने। उसके बाद चार-पाँच वर्षों में देशीवाद, देशभर में चर्चा का विषय बन गया। उस पर अनेक परिसम्वाद हुए। मुझे कई विश्वविद्यालयों में भाषण देने पड़े। अब यह विषय कई विश्वविद्यालयों के अभ्यासक्रम का हिस्सा है। इस सब झंझट के चलते मेरे 'हिन्दू चतुष्ट्य' के उर्वरित तीन खण्ड, प्रत्येक चालीस चालीस वर्ष लम्बे चलेंगे ऐसा डर मुझे और मेरे पाठकों को भी लग रहा है।

सुधाकर :- हिन्दू यह संज्ञा आज भी लोगों को धर्मवाचक ही लगती है।

नेमाड़े :- यही तो मुझे बदलना है। 'हिन्दू चतुष्ट्य' के प्रकाशित हो चुके पहले भाग में, इस व्यामिश्र संकल्पना के कुछ सूत्रों की प्रारम्भिक सूचना मात्र मिलती है। उपनिवेशवादी राजनीति के कारण कुछ शब्दों को ग़लत अर्थ प्राप्त हो गये हैं। उनमें एक शब्द 'हिन्दू' है। मुस्लिमद्वेष्टा, ब्राह्मणी, संकुचित राष्ट्रीयता का ढींढोरा पीटनेवाला, आड़ी जाति व्यवस्था की खड़ी फिसलन पक्की करने वाला अर्थात जातीयता मानने वाला, ऐसा इसका अर्थ हो बैठा है। जब 'हिन्दू चतुष्ट्य' के चारों खण्ड पूर्ण होंगे 'हिन्दू' यह संकल्पना कितनी उदार, सहिष्णु, भूसांस्कृतिक और सर्वसमावेशक थी, यह बात सनातनी हिन्दुओं के भेजे में उतरेगी। अभी तो वे हिन्दुत्ववादी मुझ पर चिढ़े हुए हैं। हिन्दू का नायक खण्डेराव पुरातत्त्व संशोधक होने के नाते किसी भी कालखण्ड में पूरे आत्मविश्वास के साथ आवाजाही कर सकता है। चाहे मोहनजोदड़ो हो, वेदकाल हो, गुप्तकाल हो, या मुगलकाल वो पाँच हज़ार वर्षों के मूर्त अवशेष, हिन्दुओं के बहुआयामी गढ़न के सबूतों के तौर पर सब के सामने रख सकता है।

सुधाकर :- अब अन्तिम सवाल यह है कि 'हिन्दू-जगण्याची समृद्ध अडगल' इस उपन्यास का अवकाश बहुत विशाल है। मोहनजोदड़ो से ही यह अवकाश दिखता है। इतिहासपूर्व भूप्रदेश, अनेक जाति-जनजातियों, विभिन्न संस्कृतियों, भाषा, सत्ता इतना बड़ा यह अवकाश है। चौथे खण्ड के आते- आते तो वह अतिभव्य हो जाएगा। क्या तब भी वह देशीवाद ही होगा या वैश्विक हो जाएगा?

नेमाड़े :- फिलहाल तो उसके कच्चे ड्राफ़्ट्स बने हैं। उनमें लगभग बीस विभिन्न आशय सूत्र हैं। जाति व्यवस्था पर हमने चर्चा की, वह भी उनमें से एक है। इस देश की भाषाएँ, विविध धर्म, पन्थ, आचार-विचार, बहुविधता, खान-पान, समय के साथ स्त्रियों की बदलती परिस्थितियाँ, राजकीय सत्ता परिवर्तन, उच्च ज्ञान की उपासना, यूनिवर्सिटियाँ, सतत बाहरी बातें आत्मसात करने की वृत्ति, अन्तरजातीय सम्बन्ध, कर्मठ विरुद्ध उदार प्रवृत्तियों का निरन्तर संघर्ष, ये सारे सूत्र आते-आते अन्ततः हमारे सम्मुख यह आता है कि संसार का सबसे प्राचीन, प्रचण्ड, सबसे विलक्षण ऐसा यह हिन्दू और निरन्तर बदलता, प्रयोगशील सांस्कृतिक भूप्रदेश है। यहाँ किसी भी धर्म के लोग सम्मान से एकत्र रह सकते हैं। कैसे भी विद्रोही विचारों के, उल्टी-सीधी मत प्रणालियों के डेढ़ सौ राजकीय पक्ष यहाँ हो सकते हैं। रेगिस्तान से लेकर बर्फ़ीले प्रदेश तक, जंगल तथा समुद्र से घेरे होकर भी अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थितियों में लोक समूह निवास कर सकते हैं। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान के बाहर रहने वाले हों, फिर भी आप हिन्दुस्तानी हो सकते हैं। अर्थात, भारत में कुछ भी अ-भारतीय नहीं हो सकता। बेहद उदार, विलोभनीय मानवता की

अद्वितीय सांस्कृतिक यात्रा है यह। जितने हम बदलते हैं उतने ही पूर्ववत रहते हैं। बाशम की हिन्दुस्तानी इतिहास पर एक सुन्दर किताब है-'द वण्डरलैण्ड दैट वॉज इण्डिया'। यह किताब अमेरिका, यूरोप, आस्ट्रेलिया में पाठ्यपुस्तक के तौर पर पढ़ी जाती है। इसमें आया 'वॉज़' शब्द मुझे खटकता है। आज तक जितने आश्चर्यजनक प्रयोग यहाँ हुए, वैसे किसी अन्य संस्कृति ने किये नज़र नहीं आते। बौद्ध धम्म, जैन धर्म, ग्राम संस्था, बृहत्कथा, महाभारत, अजन्ता, ताज़महल, ग़ालिब, मोहनजोदड़ो के लोग, सब ने प्रयोग ही तो किये हैं न, उन्होंने कभी आप-पर भेद किया न ही हम आज करते हैं, कुछ मूर्ख अपवाद छोडें तो। बीच के एक छोटे से उपनिवेशिक अत्याचार से जो बना-बिगड़ा वह ज़्यादा टिक नहीं पाएगा। अन्ततः यही निष्कर्ष सामने आता है कि इस देश का बड़प्पन बहुजिन्सी, परस्पर विरोधी, बहुविधता में है। यहाँ के लोगों ने हर बात आत्मसात कर के भी स्वयं को टिकाये रखा है। ऐसा यह मानवता का अनेकवचनी भूतकालीन रूप है।

क्रमशः

अमित दत्ता

प्रभात-फेरी

ठण्ड थी।

शाम रज़ाई में डुबका हुआ बाहर का अन्दाज़ा लगा सकने की चेष्टा करता रहा था। वह लेटा हुआ हिसाब लगा रहा था। अलार्म बजने के ठीक पन्द्रह मिनट पहले उठ कर सबको जी भर कर कोसना। इस एक अवस्था में कितने ही स्वप्न थे। मिट्टी से सने हुए एक बच्चे के हाथ उसका मुँह पोंछ रहे थे। वह माँ का इन्तज़ार कर रहा था। मन फटा जा रहा था। वह खिड़की की ओर बन्द आँखों से टकटकी बाँधकर तब तक देखते रहता था जब तक बाहर का दृश्य साफ़ न हो जाता। फिर बन्द आँखों से ही उसको अन्दाज़ा होना शुरू होता। प्रभात फेरी वाले बाबे के गाने की आवाज़ आज बस एक ही जगह से क्यों आ रही है? कहीं बाबा किसी घर के सामने थम तो नहीं गया? कहीं आज आसमान तो फट नहीं गया? यह विचार दसवीं बार आया था आज सुबह। बन्द आँखों से डायरी टटोल कर निकाली और उसे दर्ज कर दिया गया। यह डायरी उसने बन्द आँखों से ही लिखी थी। वह पढ़ेगा भी उसे बन्द आँखों से या फिर खुली जाग्रत आँखों से? उसने सोचा कि यह डायरी जो वह बन्द आँखों से लिखे जा रहा है, शायद उसमें कुछ भी न हो। हो सकता है वह एकदम कोरी हो या फिर एक विचार दूसरे के ऊपर लिख जाता हो। हो सकता है पेन कभी लिखता ही न हो। हो सकता है वह ही कभी कुछ नहीं लिखता हो, या फिर शायद वह हो ही नहीं और यह डायरी भी। तभी एक अहसास-सा हुआ। चंचलों के आँगन से चल कर बाबा लघु किराने वाले की गली पार करता हुआ उसके ही घर के पास आ रहा था। इतनी ठण्ड न होती और आँखें बन्द न होतीं, बड़ा ही रुमानी दृश्य था। अभी माँ उठ आएगी और फिर पिताजी।

अगर तू मेरी बात का भरोसा करे तो मैं कह सकता हूँ कि चाँद जो बाबे की पीठ पीछे है, माँ की थाली से ज़्यादा कुछ नहीं। बाबे को इस बात का भली-भाँति अन्दाज़ा था अन्यथा वह कभी भी डफ़ली में भिक्षा तो न माँगता। बाबा दीवार पर हाथ रगड़ता हुआ चलता था और गाता था। कुछ देर बाद अँगुली के पोरों को आपास में छुआने से मुलायम-सा अनुभव होता था। पक्के रंग का बाबा बड़ा सुन्दर था। उसके हाथ मुलायम थे। कुछ बच्चों का मानना था कि बाबे की डफ़ली में तरह-तरह के जीव-जन्तुओं का वास है। बन्द आँखों से इस पर विश्वास करना आसान था। आँख खोलते ही अविश्वास लौट आता। काश मैं सदा आँखें बन्द किया रहता। लगता है मेरे कई रूप हैं। हर रूप की अपनी कहानी। क्यों न मैं आकाश में विचरण करूँ?

बन्द आँखों से ही शाम उठा। उसका सिर छत्ती से जा टकराया। बरगद के पेड़ पर से कुछ पक्षी उड़े। अचानक सिर के टकराने से जो दृश्य मन में बना वह उसे भी पूरे ध्यान और लगन से अपनी डायरी में दर्ज़ करता है।

दृश्य : छत्ती से सिर लगते ही मुझे तारे दिखे। लेकिन उसके बाद जो दिखा वह कदाचित साधारण न था। मेरी गर्म साँस ठण्डी हवा से टकरा कर सुगन्धित हो गयी थी। उस सुगन्ध से तरह-तरह के फूल खिलने लगे थे। पानी हरा था और आसमान पीला। फूल रंग-बिरंगे। शब्द विचारों से स्वतन्त्र हो बिखरने लगे। मन हुआ कि अपने इन रूपों से कभी बात करूँ, बहस करूँ इस अनुभव को लेकर। सब रूपों की अपनी कहानी है।

अब सोच। इस गाँव में यहाँ अखबार भी दो दिनों के बाद पहुँचता है, मेरे पास किताबें कैसे उपलब्ध हैं? एक षड़यन्त्र रचा गया है। मेरे हर रूप की शक्ल भी अलग है। हो सकता है जब तू मुझ से मिलता हो तो जो मेरा दोस्त मुझ से बात कर रहा था, मेरा ही रूप हो, या फिर कहूँ कुछ इससे भी भयंकर? दिल थाम कर सुन। हो सकता है तू भी मेरा ही एक रूप हो। साँस मत रोक उसको बाहर की ठण्डी हवा से टकराने दे। वह सुगन्धित हो जाएगी। लगता है पहली बार असर हो रहा है मेरी आह का। अनुभव समुद्र-मन्थन जैसा। कितनी ही वस्तुएँ बाहर आ रही हैं। उनमें से कुछ छोटी-छोटी वस्तुएँ मैं रोज़ उपयोग में लाता हूँ।

बाबे की डफ़ली चमड़े की है। चमड़ा साँप का या फिर घड़ियाल, हिरण का? मेरी रोज लब्बे से बहस होती। लब्बे की समझ केवल ग्रन्थी से बनी है। उसने सब पढ़ रखा है। चाचा रोज लब्बे को समझाता था, 'इतना पढ़-लिख कर क्या कर रहा है इस बदबूदार कस्बे में?' पर लब्बा समझने को तैयार न था, बोला, 'जितना समझ में न आये उतना अच्छा। न समझने में ही असली समझ है।' लब्बे को ऐसी घुमावदार बातें करने में बड़ा मज़ा आता था। मैंने कभी भी उसके दर्शन को गम्भीरता से नहीं लिया। अक्सर ऐसी बहसें करना उसका रोज़ का शगल था। वैसे मज़ा तो बहुत आता था। हम दो-तीन जन गर्मियों की दोपहर में गली में खाट बिछा कर आम और लब्बे की बातें चूसते। लब्बे के पास बातों की कमी न थी और चाचे के पास आमों की। गुठलियों के ढेर पर अक्सर परियाँ नाचते हुए मिल जातीं। छोटी-छोटी परियों को लब्बा ढूँढ़ निकालता और उनसे बातें करता। सामने बहती नाली एक बैंगनी रंग के झरने में परिवर्तित हो जाती। परियाँ एक-एक कर उड़तीं और मुड़ेर पर उगे मैथी के साग पर जा बैठतीं। मुझे मैथी का साग बहुत पसन्द है खासकर नाली के किनारे उगने वाला। दादी रोज़ शाम को जा कर उसे चुन लाती। आलू और दही के साथ उसको परोसा जाता। कुछ परियों को मैंने ज़रूर खाया होगा क्योंकि जिस दिन भी मैं वह साग खाता, सपने में परिलोक पहुँच जाता। कई बार तो परियों ने शिकायत की कि मैंने उनकी आत्मा अपने पेट में छुपा ली है। एक दिन मेरे पर भी उग आयेंगे शायद!

यह सब मैं भविष्य में जाकर सोच रहा हूँ या फिर मैं बूढ़ा हो चुका हूँ। खिड़की के पास लेटे शाम ने बन्द आँखों से

सोचा। बाबा खिड़की के पास आ पहुँचा था। उसके गाने की आवाज़ पक्षियों के चहचहाने से घुल-मिल सी गयी थी। उसे पता था कि बत्ती जलाते ही खिड़की से पीली रोशनी पड़ेगी। माँ शायद अब जाग ही जाएगी।

(उसने अपनी परछाईयों से समझौता कर लिया था। कपड़ों पर लगी फुलकारियों की चमक उसकी आँखों से कहीं ज़्यादा थी!)

सब जानते थे कि विचित्र पुस्तकों का अध्ययन ही शाम का एकमात्र शौक था। पता नहीं इस एक बात पर माँ इतना क्यों चिढ़ती थी। उसने शाम की पुस्तकों का विभाजन अपनी समझ के अनुसार किया तो कुछ पुस्तकों को 'अपनी' व कुछ पुस्तकों को 'दूसरी' की संज्ञा दे दी।

अभी माँ अन्दर आएगी।

शब्दों से उसे सख्त नफ़रत है। हवा में लटके हुए शब्दों को वो मकड़ी के जाले की तरह साफ़ करती है। कुछ दिनों से यह विचित्र घटना हो रही है। रात को शब्द डायरी में से निकलकर हवा में लटक से जाते हैं। कमाल की बात तो यह है कि माँ ने कभी भी इसे एक अनोखी घटना नहीं माना। वह अन्दर आयी। पहले फ़र्श साफ़ किया। मेरा मुँह पोंछा और फिर झाड़ू ले कर जाले साफ़ करने लगी। जालों के साथ-साथ उसने हवा में लटके शब्द भी झाड़कर साफ़ कर दिये। मैं तो विस्मित मुद्रा में यह सब ताकता रहा। मुझे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। वैसे तस्वीर कुछ दिनों बाद साफ़ होना शुरू हुई थी। यह चाची दमारि का ही काम है। मैं पेड़ के नीचे बैठा उसकी परछाई से रोज़ कहानियाँ सुनने लगा था। खैर यह तो एक ऐसी लम्बी घटना है जिसका विस्तार से वर्णन बाद में होगा। शब्द उसने ही लटकाये हैं। मुझे कुछ और घटनाओं के पीछे छिपे रहस्यों का भी पता चला। जैसे कि खिड़की पर रखे बंजर गमले में अचानक एक दिन फूल आ जाना। आँगन में पड़ी चट्टान में कलात्मक दरार पड़ जाना। पेड़ का कुछ क्षणों के लिए रंग बदलना इत्यादि। पर इससे भी आश्चर्यजनक बात यह है कि माँ चकित न हुई। उसने शब्दों का झाड़ना अपनी दिनचर्या में ऐसे शामिल कर लिया जैसे कि यह एक मामूली काम हो। रोज़ सुबह मुझे उठाकर वह इन शब्दों को झाड़ू से साफ़ कर देती है। मुझे गाली देते हुए। पाठ करते हुए। बुदबुदाते हुए। गाते हुए। समझाते हुए। खाँसते हुए। तब मुझे दमारि की पहली सीख याद आयी, 'जो यह दिख रहा है वह जो नहीं दिख रहा है उसका केवल एक सूचक भर है। दृश्य का उपयोग केवल यह है कि जो नहीं है उसका आभास करवा देता है।' मुझे याद है कि ऐसा कहने के बाद दमारि खिलखिलाकर हँस पड़ी थी।

बाबा अब बिल्कुल खिड़की के ठीक सामने खड़ा है।

थोडी ही देर में माँ जब बल्ब जलाएगी उस पर पीली रौशनी पड़ेगी। उसकी काली दाढ़ी हरी हो जाएगी। इस परिवर्तन में बड़े गूढ़ रहस्य छुपे हुए हैं। एक दिन दमारि ने मुझे इसके बारे में विस्तार से बताया था। मेरी जाग्रत अवस्था में यह सब बातें बकवास मालूम पड़ती हैं। आँख बन्द कर देखने से ही इनका असली मतलब समझ में आता है। 'अपनी समझ को जेब में रख' दमारि एक दिन दहाड़ी थीं तब से मैं अपनी समझ को जेब में लिए घूम रहा हूँ। इसके वास्ते मैंने एक पीतल की डिब्बी भी खरीदी थी। उसमें मैंने माँ के आँसू एकत्र करने शुरू कर दिये थे। आँसुओं को मोतियों में परिवर्तित करने की कला भी मैंने दमारि से ही सीखी थी। खैर पीतल की डिब्बी का एक और प्रयोजन था। माँ से उसके तानों का बदला लेना। जब मन चाहा मैं उसको उसके जन्मे हुए आँसू दिखाकर, उसका दिल दुखा सकता था।

सुराही

मेरे सिरहाने पड़ी मिट्टी की सुराही से पानी की बूँदें लगातार टपकती रहती थीं। मैंने माँ से कहा तो उसने पिताजी को बोलने के लिए कहा। अगर वो खुद ही देख लेती तो क्या परेशानी थी? सुराही वर्षों से टपक रही थी। सब को मालूम था कि सुराही को कभी-भी उसकी जगह से हिलाया नहीं गया था। पिता जी रोज़ रात को उसमें पानी भर कर रख देते थे। पानी पियो न पियो पर सुबह तक सुराही एकदम खाली हो जाती थी। पानी की बूँदें एक जगह टपकती थीं। ज़मीन नम हो गयी और फिर वहाँ से तरह-तरह के पेड़-पौधों का विकास होना आरम्भ हुआ। पहले तो माँ रोज़ पौधों को जड़ से उखाड़ देती थी पर फिर एक दिन मेरी दादी ने मना कर दिया। बरगद का पेड़ है। तोड़ने से अपशगुन होगा। पेड़ बढ़ता चला गया और आज मैं इसी पेड़ के नीचे सोता हूँ। पेड़ तो छत फाड़ कर बाहर निकल चुका है तथा उस पर तरह-तरह के पक्षी रहने लगे हैं। अब तो यह पेड़ लगभग सारे घर में ही फैल चुका है। हमारा घर इसी कारण बड़ा प्रसिद्ध हुआ। बरगद वाले घर का पता कोई भी बता देता।

तब मेरे पिताजी ने अनोखी कल्पना की। सारे घर में फैले हुए बरगद को बिना नुकसान पहुँचाए वह उसके तने को काट-छाँट कर उससे फर्नीचर का काम लेंगे। मेज़, कुर्सी, पलंग सब एक ही तने के तरह-तरह के रूप में बन गये। मैं तो इसी पेड़ के नीचे सोता हूँ व मेरा पलंग इसी की जड़ से बना हुआ है। पिता जी ने रंग-बिरंगे बल्ब लगा कर इसको और भी सजा दिया है। मैंने अपने पढ़ने की जगह इसी पेड़ की निचली जड़ को खोदकर उसमें छेद कर बनायी है। आप तने से दाखिल हो कर जड़ से निकल सकते हैं। इसकी खोखली कोख अच्छा-खासा कमरा है।

इधर गाँव में अफ़वाहें फैलने लगीं थीं। इस बात पर बड़ी चर्चा हुई कि दादी ने बरगद के पेड़ से अपने घर का सत्यानाश क्यों करवा लिया था। कुछ लोगों का तो मानना था कि दादी ने उस पेड़ से चुपके से विवाह रचा लिया था। दादा जी को भी शायद इस बात की खबर थी। वो सदा दुखी रहते थे और जल्दी ही चल बसे।

फिर मैंने एक दिन देखा :

दादी ने तहखाने का चोर दरवाज़ा खोला और चुपके से अन्दर चली आयी। बरगद अब जबकि सारे घर में ही फैल चुका था, कोई भी उसके असली तने को मार्क नहीं कर पाया था। कई बार तो वन विभाग वाले भी माथा फोड़ कर चले गये थे। कोई भी कभी भी जान नहीं पाया कि बरगद का असली तना और जड़ कौन-सी और कहाँ है। मुझे इसका ज्ञान दादी की जासूसी करने से ही हुआ। दरवाज़ा खोलकर वो तहखाने के अन्दर आयी। तने की परिक्रमा की। दही-दूध चढ़ाया। उसको आलिंगन्बद्ध किया, चूमा और फिर से उसके नीचे लेट गयी। विवाह की बात सच थी।

माँ उठने वाली है

बाबा मेरे एकदम सामने दम साधे खड़ा है। उसको भी बत्ती जलने की प्रतीक्षा है। बाबे के सामने खिड़की और पीछे एक दीवार है। रवि की माँ रोज वहाँ कूड़ा फेंक कर भाग जाती है। कल लघु का उससे झगड़ा हुआ था। उसी ने मुझे बताया कि रवि इस कलैनी का अपना पुत्र नहीं। उसने इसे गोद लिया था जब इसकी अपनी माँ इसे एक मेटाडोर में पटक कर भाग गयी थी। 'पता नहीं उसने ऐसा क्यों किया?', मेरी दादी हमेशा फूट पड़ती जब भी रवि मुझे बुलाने मेरे घर आता। रवि को कभी कुछ समझ में नहीं आया और न ही उसने अपने बारे में ज़्यादा जानने-समझने की चेष्टा की। मुझे भी इस कहानी में कुछ खास दिलचस्पी नहीं थी। पर उसे जिस तरीके से गोद लिया गया, वो ज़रा विचित्र

था। पूरी प्रक्रिया में कुछ घण्टे लगे थे और वो इस प्रकार थी-रवि की माँ अपनी टाँगें खोलकर खड़ी हो गयी थी। फिर एक बच्चे को लाल कपड़े में लपेट कर उसकी टाँगों के बीच में से निकाला गया। जैसे ही बच्चे का सिर दूसरी ओर से दिखा वह तुरन्त हरकत में आयी और टेढ़ी-मेढ़ी चलती हुई घर की तरफ गयी, फिर वापिस। ऐसा उसने कोई सात बार किया होगा।

शनैः शनैः न चाहते हुए भी मुझे पूरी कहानी का पता चला जिसे मैंने समय रहते अपनी नोटबुक में दर्ज़ भी कर लिया था। असल में समस्या यह थी कि रवि की माँ के घर कोई बच्चा नहीं हो रहा था। ऐसे में रवि का गाँव के बाहर पड़ी जंग लगी मेटाडोर में मिलना उसके लिए चमत्कार ही था। रवि का बाप रोज़ वहाँ स्पेअर-पार्ट चुराने जाता था। एक दिन उसको रवि मिल गया। वैसे रवि के मिलने से पहले रवि की माँ ने बड़े प्रपंच रचाये थे। जंगी को बुलाया गया जिसके अपने कोई बारह बच्चे थे। ज़ाहिर है ईश्वर उसकी सुनता था। रवि के बाप ने उसकी बड़ी मिन्नतें कीं कि अगर जंगी खुद भगवान से उसके बारे में सिफ़ारिश करे तो बात बन सकती है। जंगी ने पहले बड़े नखरे दिखाये, बोला कि दफ़्तर जाना होता है, पैसे कट जायेंगे। रवि के बाप ने उचित भरपाई का भरोसा दिलाया और साथ में कुछ बूढ़े साँपों की केंचुलियाँ भी प्रदान कीं। फिर उसने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि जंगी खुद सूर्य से प्रार्थना करे कि उसके घर बच्चा हो। रवि की माँ ने लाल धागे की एक गुड़िया-सी बना रखी थी जिसको वह ज़बरदस्ती स्तनपान करवाने का प्रयत्न किये जा रही थी। उसके पति का रो रो कर बुरा हाल था। कहते हैं मेरी दादी को इस पूरे तमाशे में बड़ा मज़ा आ रहा है। वो इतने ज़ोर से हँसी कि ज़मीन पर गिर कर अपने बाएँ कूल्हे की हड्डी तुड़वा बैठीं। अब दादी सीधा नहीं बैठ सकती हैं, पर अभी भी इसी मुद्रा में वह पूरी की पूरी प्रक्रिया विस्तार से बताती हैं :

रवि की माँ लाल धागे से बनी गुड़िया को अपने वक्ष से सटाये हुए है। जंगी के हाथ में एक चिड़िया है जिसको वह टाँगों से पकड़े हुआ है। चिड़िया मृत्यु-भय से फड़फड़ा रही है। तभी जंगी उत्तेजना से चिल्लाता है, 'हे सूर्य! एक बालक को गिरने दे, समय की सीमाओं को लाँघ उसको जन्म लेने दे, गिरने दे मेरे हाथों में या मेरी गोद में।' फिर वो रवि की माँ से पूछता है, बालक ने जन्म लिया कि नहीं ? वो जवाब देती है कि न केवल उसने जन्म लिया है बल्कि स्तनपान भी शुरू कर दिया है। तालियाँ बजीं। लोगों ने मुबारकबाद दी। तभी जंगी ने फड़फड़ाते पक्षी को रवि के बाप के सिर पर रखा और कुछ मन्त्र बुदबुदाया। बाद में उस पक्षी के पंख लोगों में बाँट दिये गये। ऐसा टोटका पहले किसी ने नहीं देखा था। सूर्य से बच्चा माँगने की वजह से लोगों ने रवि की माँ का नाम कुन्ती रख दिया। बाद में यही नाम बदल कर कुन्तो हो गया।

बाबे ने गाना अचानक बन्द कर दिया है।

शायद वह भी मेरी तरह सोच रहा है कि आज बत्ती जलने में देर हो रही है। जबकि यह ग़लत है। मुझे और उसे अक्सर यही आभास होता है पर माँ रोज़ अपने समय पर उठती है। बत्ती एकदम सही समय पर ही जलेगी। बाबे ने भी ऐसा सोचकर गाना शुरू कर दिया है। यह गाना जो वो रोज़ गाता है, मेरी समझ में कभी नहीं आया। ऐसा सोच कर उसने यह बात अपनी डायरी में दर्ज़ कर दी। डायरी अब भारी हो चली थी। बन्द आँखों से ही उसने उसका वजन भाँप लिया था। माँ को अक्सर वो आँखें मन्द डायरी को हाथ में तोलता हुआ दिखायी पड़ता था। माँ को डर था कि लड़का पागल हो चला है। उसको किताबों से नफ़रत उनकी पागल कर देनी वाली शक्ति से थी। फिर एक दिन माँ ने उससे पूछ ही लिया कि यह आदत उसे पड़ी कहाँ से? हमारे घर में कोई पढ़ा-लिखा तो नहीं! माँ को उत्तर शाम की डायरी पढ़ने से मिला। माँ ने डायरी बिना शाम को बताए चोरी-छुपे पढ़ी थी। डायरी में से माँ को शाम की एक और

विचित्र आदत का खुलासा हुआ।

डायरी :

डायरी लिखने की आदत मुझे मामाजी से पड़ी थी। मामाजी तो इतना ज़्यादा दर्ज़ कर दिया करते थे कि पूरे दिन के पल-पल का हिसाब मिल जाए। मैं तो बस कुछ खास बातें ही नोट किया करता हूँ। वैसे मामा जी की कई और भी विचित्र आदतें हैं। दादी उनको आदतें न कह बीमारियाँ कहती हैं। अगर आपने ध्यान दिया होगा तो पाया होगा कि मामा जी के हाथों में केवल दो ही अँगुलियाँ शेष हैं। बाकी अँगुलियों को कौए चुरा ले जा चुके हैं। सुना है तब गाँव में कौओं का बड़ा आतंक था। बच्चों की आँखें चुरा कर ले जाते थे, उनके हाथ, पाँव। मामा जी तो केवल चार अँगुलियाँ ही गयीं।

तभी मैं एक सपना देखता हूँ, जागते हुए बन्द आँखों से : आसमान में उड़ते अनेक कौए। उनका गिरोह फिर से बन चुका है। वह गाँव भर के सारे बच्चे चुराने की फ़िराक में हैं। पहले तो उन्होंने घड़ियाल पर हमला बोला और उसकी घड़ी को चोंच मार कर फोड़ दिया। अब समय उनके सामने नतमस्तक था। यह काली रात कभी समाप्त न होगी। आकाश से उनके खुरदुरे काले परों की वर्षा होती है। औरतें ज़ोर-ज़ोर से रो रही हैं। काले कौए उनके बच्चे चुरा कर उठा ले जा रहे हैं। शाशा ऐअर-गन से नाकाम-सी कोशिश कर रहा है। क्रन्दन इतना भयंकर है कि आसमान में उड़ते बादल थम कर फट गये हैं। कौए गीले हो गये और बच्चे भी। मैंने ध्यान दिया बच्चे लाल धागे से बने हुए हैं।

अचानक पीली बत्ती जल उठती है।

बाबे की दाढ़ी हरी हो गयी है और कुन्तो ने एक बार फिर कूड़ा फेंक दिया। कूड़े में अज़ीबो-ग़रीब सामान हैं। मछलियों की आँखें, मिट्टी से बने बन्दर के पैर, तोते के चोंच, प्लास्टिक का केला, हरा आलू, पीला सेब इत्यादि। चाबी से चलने वाला खरगोश अचानक चिल्ला उठता है, 'भागो-भागो आसमान फटने वाला है।' तभी उसके पीछे दूसरे जानवर भी भागने लगते हैं।

'यह इस खरगोश का दोष है हमने तो ऐसी झनझनाटक पहले कभी नहीं देखी।'

'चुप कर', बाबे से अब रहा नहीं गया। शायद उसके गाने में बाधा पड़ी थी। 'आसमानी सामान बाहर फेंक तू इस बेचारे पर क्यों आरोप मढ़ती है? यह सब तूने क्यों इकट्ठा कर रखा है, मैं अच्छी तरह से जानता हूँ।

'समझाइए,' कुन्तो सुबह-सुबह झगड़े के लिए तैयार थी।

अब बेचारा पति मरता क्या न करता, आस्तीनें चढ़ाता हुआ वह भी बाहर निकल आया।

(क्यों कर इसकी आँखों में चुनौती थी, उसने अपनी गति सँभाल ली।)

इधर इन तीनों में होती बहस को मैं अपनी डायरी में दर्ज़ करने लगा था। पहले पहल तो समझ में नहीं आ रहा था कि बहस बाबे और कुन्तो में हो रही है? कुन्तो और उसके पति में? या फिर प्रभाकर और बाबे में?

बहस कुछ इस प्रकार थी :

'मैं जानता हूँ कि तू इसके साथ छत पर बैठा ध्रुव तारे की प्रतीक्षा क्यों करता है।' 'तो क्या?' कुन्तो बोली, 'मेरी कढ़ाई के प्रकार भी तो यही लाते हैं।' इस पर कुन्तो का पति भड़क गया, बोला, 'तेरी इसी ज़िद के कारण मुझे रोज़ एक से एक खतरनाक साँपों को पकड़ना पड़ता है।' तभी बाबा हँसा और बोला कि उसे दफ़्तर तो समय से ही जाना चाहिए। पर ग़ैर-हाज़िरी तो ऐसे ही लग ही जाती है, 'कुन्तो का पति रुआँसा हो कर बोला। बाबे ने आकाश की ओर देखा और हिदायत दी, 'अब समय की चिन्ता मत कर, कल रात कौओं ने घड़ियाल फोड़ दिया है!"

इधर मेरे होश ही उड़ गये। बाबा क्या आकाश की ओर न देख, मेरी ओर ही देख रहा था? अब यह बात उसको साफ़ हो गयी थी कि वह केवल मूक दर्शक बन कर सारा रस ग्रहण नहीं कर सकता है। वह भी इस सब का पात्र बनेगा। बलि उसकी भी होगी। अब तो उसने केवल डायरी काली की।

कुन्तो सर झुकाये खामोश खड़ी है। पहले मुझे लगा कि शायद वो उदास है पर जब मैंने उसकी नज़रों का पीछा किया तो पाया कि असल में वो नीचे ज़मीन की ओर देख रही है जहाँ पर एक बन्दर का पैर अपने पास चल रहा है। ग़ौर किया तो पाया कि बहुत सारी चीटियाँ उस बन्दर के पैर को उठा ले जा रही हैं। काले पैर के ऊपर दो सफ़ेद धारियाँ थीं! 'अरे! इस बन्दर का आतंक तो शहर तक फैला हुआ था। कल शाशे ने अपनी एअर गन से कौओं को फोड़ते वक़्त शायद इसे भी मार गिराया जबकि यह किसी मशीन-गन से भी न मरे। बन्दर का नाम रोमियो था। रोमियो बन्दर। छात्राओं को नोचने के लिए कुख्यात। इसके कारण कितने ही निर्दोष बन्दर मारे गये।'

'अब इन चींटियों का क्या करें?'

'इस पर पानी डाल दो या फिर ले ही जाने दो चींटियों को।'

'वैसे तो बन्दर मारना घोर पाप है पर जैसा तुमने बताया यह बन्दर राक्षस प्रवृत्ति का जान पड़ता था। तुम ऐसा करो चींटियों पर पानी मत डालो। इन बेचारियों के प्राण बेवजह जायेंगे। चींटियों को झाड़ दो और इस बन्दर के पैर को कहीं दफ़ना दो।

'आह!', कुन्तो असन्तुष्ट थी।

'इसको दौरे पड़ते हैं भाई, तुम्हारी रक्षा हो।' बाबा बोला तो जरूर पर कुन्तो को कमतर आँकने की भूल कर गया था। जैसे ही बाबा गाता हुआ आगे बढ़ा, प्रभाकर की नज़र पीछे छूटते पदचिह्नों पर पड़ी। इस बीच मौका ताड़ कर कुन्तो ने न जाने कहाँ से एक हथौड़ी निकाली और उन पदचिह्नों में से एक पर ठोक दी। कहते हैं बाबे की मृत्यु इसी कारण हुई। पर फिलहाल तो बाबा चलने लायक ही न था। वह एक जगह खड़े-खड़े छटपटाने लगा। अब वो न आगे जा पाये, न पीछे। प्रभाकर को न जाने क्यों बाबे की इस हालत पर बड़ा तरस आया था। उसने धीरे-धीरे बिना कुन्तो को नाराज किये कील निकाल दी और बाबा आगे बढ़ गया।

पर न कुन्तो, न प्रभाकर और न ही बाबे ने (जिसे अब सचेत हो ही जाना चाहिए था) ध्यान दिया कि कोई और भी उसके पदचिह्नों पर नजर गड़ाये बैठी है। केवल मैंने इसे अपनी बन्द आँखों से देखा :

सबके जाने के बाद पद्मिनी चुपके से आयी, बाबे के पदचिह्नों की धूल बटोरी और उसको जाकर अपने गमले में डाल दिया। इसके बाद उसने उसमें गुलाब का पौधा लगाया। उसका यह विश्वास था कि जैसे-जैसे पौधा बड़ा होगा

वैसे-वैसे बाबे का प्रेम भी उसके लिए बढ़ता जाएगा। पद्मिनी काला संगीत जानती थी। उसके बल पर उसने क्षणों में ही पौधा उगा लिया और उस पर फूल भी आ गये। पद्मिनी बाबे के प्रेम में थी, पर बाबे का जीवन ज़्यादा न था। कुन्तो अपना टोटका सफलतापूर्वक कर चुकी थी।

माँ धीरे-धीरे पलंग से उठी।

गर्म पाँव ठण्डी ज़मीन पर पड़े तो उसे अपने बचपन की एक ऐसी घटना स्मरण हो आयी जिसका उसको अन्देशा भी न था कि वो अब तक उसके दिमाग की किसी तह में इस तरह छुपी हुई थी। उसे अचरज हुआ। पिछले कुछ दिनों से माँ को अपने बचपन की अनेक घटनाएँ याद आने लगीं थीं। इससे वह काफी परेशान थी और थोड़ा डरी भी हुई थी। उसने सुना था कि मृत्यु से पहले बचपन एक फ़िल्म की भाँति आँखों के सामने से गुज़र जाता है।

माँ हर काम बड़े इत्मीनान से करती थी। धीरे-धीरे उसने रजाई की तह लगायी और फिर स्विच बोर्ड की ओर हाथ बढ़ाया। उसने ध्यान दिया कि वह इस बात पर ध्यान दे रही है कि उसका हाथ धीरे-धीरे स्विच बोर्ड की ओर बढ़ रहा है। बड़ी कोफ़्त हुई। पहले तो वो सारे काम यन्त्रवत कर लेती थी। पता ही नहीं चलता था कि कब सारे काम समाप्त हो गये। पर अब उसका ध्यान हर छोटी से छोटी क्रिया पर केन्द्रित हो जाता था। पंखा कैसे घूमता है। चूल्हे में आग कैसे लगती है। पानी कैसे उबलता है। यद्यपि वह इन सारे कामों को निपटाते वक़्त ज़रा भी समय नष्ट नहीं करती थी, दो क्षणों के भीतर ही उसका दिमाग इन सब क्रियाओं का हिसाब लगा लेता। बस दिमाग काफी भारी हो जाता था इस मशक्कत से। माँ ने स्विच ऑन कर दी।

पीली बत्ती जल गयी।

शाम अपनी डायरी में नोट करता है :

माँ की आँखों में धूल झोंकना आसान नहीं। उसने समस्त इन्द्रियों को वश में कर रखा है। वो नथ भी नहीं पहनती।

इधर पिताजी के खाँसने की आवाज़ सुनायी दी उधर अलार्म बज उठा। शाम ने आँखें खोलीं। खिड़की पर शामन खड़ा था।

बोला, 'क्यों हुआ कुछ असर?'

'हाँ'। ऐसा बोल शाम ने खुली आँखें नीची कीं।

'धत् तेरे की!'

'खैर!'

'फिर?'

'किताब कहाँ से मिली?'

'जाहिर है दामरि ने ही दी होगी?'

'पर आजकल तो तेरी मास्टरजी से भी दोस्ती है'

'तो? उसका अपना एक अलग प्रयोजन है'

'खैर। प्रयोजन जो भी हो। जल्दी कर, अब सहा नहीं जाता।'

'वैसे माँ तो रोज़ बैग की तलाशी लेती है कि कहीं मैं दूसरी किताबें तो घर में नहीं लाता।'

'दूसरी किताबें ?'

'हाँ, माँ ने यह संज्ञा दे रखी है।'

'अच्छा नामकरण है। अच्छा! एक बात बता किताब आख़िर मिली कहाँ से ?'

'किसकी किताब? नहीं बताऊँगा।'

'चुरायी है?'

'हाँ'

'अनुवाद किसका है?'

'पता नहीं'

शामन यह सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। फटी आँखों से वह शाम को कुछ क्षणों तक ताकता रहा, फिर बोला, 'दमारि के पास तो खज़ाना है ऐसी किताबों का। मैं तो बस तेरे ही मुँह से सुनना चाहूँगा'

'पर तू इतनी सुबह-सुबह मत आ जाया कर, शाम को मिल, तब बताऊँगा और भी बहुत सारी बातें।', शाम हकलाता हुआ बोला।

'पर मैं शाम को भी रोज़ मिलता हूँ, मैं शामन,' ऐसा कहते ही शामन ज़ोर से हँसने लगा। शाम डर गया था। फिर उसने ध्यान दिया कि शामन हँस तो रहा है पर उसकी आँखों से पानी की धार निकल रही है।

माँ ने चूल्हा जला लिया है। जब उसने लोहे की फूँकनी में से ज़ोर की फूँक मारी, धुँआ पूरे कमरे में फैल गया। 'शामन की आँखों में से पानी इसी कारण से था या वो फिर सचमुच रो रहा था?', हँसते हुए नाथ ने यह प्रश्न किया था। धुआँ पूरे कमरे में फैल चुका था। पिताजी खाँसते हुए उठे। जब वो आँगन में से निकलते हुए गुसलखाने की ओर जाने को हुए, अचानक उनका ध्यान अपनी पत्नी की ओर गया। उन्हें बड़ा अज़ीब सा लगा। माँ ने धुँए से बचने के लिये काला चश्मा लगा लिया था। कुछ बुदबुदाते हुए जब उन्होंने गुसलखाने का दरवाज़ा खोला, उनका ध्यान फिर भटका। प्रभात फेरी वाले बाबे के गाने की आवाज़ दूर से आ रही थी।

स्नान

माँ शाम के कमरे में आयी। यन्त्रवत उसने सब चीज़ों को ठीक किया। झाड़ू लगा, पोंचा फेरा, शब्द झाड़े और फिर शाम को उठने के लिए बोली।

'चल उठ छहः बज गये!'

शाम को मालूम था कि माँ उसको पिताजी के प्रकोप से बचाने के लिए रोज़ की तरह आज भी झूठ बोल रही होगी, इसलिए वह बोला, 'तुम झूठ बोल रही हो, प्रातः के पाँच बजे हैं।'

'चल उठ जा'

शाम उठ कर बैठ गया। बन्दर टोपी पहन गणित की किताब झोले में से झटपट निकाल उसकी ओर टकटकी बाँध देखने लगा।

(इस एक अवस्था में कितने ही स्वप्न थे।)

एक बूढ़ा चट्टान के पीछे छुपा हुआ है। वह बहुत ही घबराया हुआ है। पर शाम उसको क्यों और कैसे देख पा रहा है, ज़रा भी स्पष्ट न था। बूढ़े ने पहले बाँई ओर देखा, फिर दाँई ओर। वहाँ पीले फूलों की झाड़ियाँ थीं। ऊपर देखते ही एक बुढ़िया की आकृति उभरी और तभी बूढ़े ने घबरा कर चीख मार दी। बत्तख उसके हाथ से छूट कर हवा में तैरने लगी। बूढ़े की चीख इतनी भयंकर थी कि बत्तख के पंख टूट कर बिखर गये। शाम के गाल पर थप्पड़ पड़ने से बूढ़े की चीख थमी।

किताब हाथ से छूट धीरे-धीरे धरती पर गिर रही थी।

कहते हैं कि जब पिताजी ने चिल्लाकर पूछा किः

'सो रहे थे?'

तो ऊँघते हुए शाम ने उत्तर दिया :

'नहीं! सोच रहा था।'

किताब धरती पर गिरी और शाम के मस्तिष्क में ऊधम मचा रहे निश्चल विचारों से बना हुआ एक बिच्छू डर कर पिताजी के जूते में जाकर छुप गया। इसी एक थप्पड़ की झुनझुनाहट में शाम को दादी की एक विचित्र आदत का ज्ञान हुआ था। दादी हर बार खाना खाने से पहले कुछ कौर कौओं के लिए बचा कर रख देती थी।

फिलहाल पिताजी नंगे पाँव थे।

वैसे कौओं ने कभी भी दादी के बचाये हुए खाने को नहीं ठुकराया था। पहले पहल तो उन्होंने भी सोचा कि यह गाँव वालों की कोई नयी चाल है। उन्होंने भी अपने पुरखों से कहानियाँ सुन रखीं थीं कि पहले जमाने में कैसे कौओं को निर्ममतापूर्वक मार दिया जाता था। अनारों में बम फिट कर दिये जाते और जैसे ही कोई कौआ अनार ले आकाश में उड़ता, उसमें विस्फोट हो जाता। नीले आकाश में लाल रंग के पैट्रनस बन जाते। कुछ कौओं की अंतड़ियों से और कुछ अनार के दानों से। इस भव्य दृश्य को गाँव वाले बड़े चाव से देखा करते थे। कुन्ती उन पैट्रनस की नक़ल कर स्वेटर बुना करती थी। यह पैट्रनस बड़े लोकप्रिय हुए थे।

नीले आकाश में काले कौओं के फूटने के बाद जब उनकी अंतड़ियों व अनार के दानों के प्रकार बनते तो बच्चे उन्हें बड़े चाव से पहनते। शायद यही वजह थी कि कौए बच्चों पर वार करने लगे थे। सुलह दादी की कौओं के लिए खाना

बचाने की आदत के कारण हुई। उधर कुन्ती को नये पैट्रनस के लिए कुछ और सूझा। उसका पति रोज़ अज़ीबो-गरीब साँप पकड़ ले आता था। जो रात को सड़क पार करते हुए ट्रकों के नीचे कुचल जाते थे। कुन्तो पहले तो उनकी आँखें फोड़ कर बटन बना लेती और उनकी पीठ पर हाथ फिरा, मार कर शीशे में जड़ देती। साँप की चमड़ी को देख-देख उसने कई स्वेटर बुने। वो उतने लोकप्रिय नहीं हुए।

उसको शायद कभी पता नहीं चलता कि पिताजी अक्सर शाम को गायब हो जाते हैं। बात गाँव में फैलने लगी थी। सुबह-सुबह लोग चौपाल पर आ कर बैठ जाते थे। बरगद की ठण्डी छाँव में अक्सर नयी-नयी कहानियाँ गढ़ी जातीं थीं। शाम को शक हुआ कि पिताजी के गायब होने की झूठी अफ़वाह पड़ोस में रहने वाले तीन भाइयों ने ही उड़ायी है। उसे बड़ा गुस्सा आया। बाहर से तो इतने दोस्त बनते हैं। खैर उसने मन मसोस कर पाठशाला के पीछे वाले खेत में उग आयी तरबूज़ की बेल पर एक और गाँठ बाँध दी।

पिताजी उठ गये थे। सुबह हो चुकी थे। तमाचा जड़ चुका था। अब और क्या बचा? वह अक़्सर यह सोचता तब सोता। विवेचना का साहस नहीं पर समझ लगातार बढ़ रही थी।

'इसी कारण ही मैं सदा आक्रोश व नफ़रत से भरा रहता हूँ। अगर सबने मेरी बीमारी को पहले ही ताड़ लिया होता तो मैं भविष्य में जाकर इतनी तबाही तो न मचाता। मेरा मेरी माँ की तरह अपनी इन्द्रियों पर वश नहीं। मुझे अक्सर यह बोध होता है कि मैं हूँ ही नहीं। मैं किसी को क्या उत्तर दूँ जब मैं खुद ही किसी और का रूप हूँ। मैं अक़्सर घर से भाग खड़ा होता। आसमान पर थूकता। तालाब में कूदता। बत्तखों से दोस्ती हो गयी और अज़गर से दुश्मनी। विचारों को प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह प्रस्तुत करता और कमाल की बात यह है कि लोग मान भी लेते। मैं कुछ भी अंटशंट बकता। मुझे बाद में बड़ी हैरानी होती, जब अंटशंट किसी न किसी तरीके से एक रूप ले लेता। बत्तखों को मैंने चाची दमारि से सीखी हुई तरकीब बता दी थी। उनके आँसू जम कर मोती बनने लगे। आज भी कई गोताखोर हमारे तालाब में मोती ढूँढ़ने आते हैं। 'सँभल जा' तालाब के किनारे घूमती राणो से उपदेश मिला। मैंने भी दो बातें उत्तर में कहीं। वह डर कर खड़ी हो गयी, बोली, अगर इतना ही भरोसा है अपने इस पाखण्ड पर, तो तू ही क्यों नहीं मोती बींध कर बेचता? या तो फिर जा, जा कर अपने बूढ़े माँ-बाप की सेवा कर। क्यों व्यर्थ में इधर-उधर घूमता रहता है। 'तो क्यों न हम एक साथ घूमें? ले पकड़ मेरा पल्लू!' राणो शरमा रही थी। उसकी आँखों में अज़ीब काला रंग, मुख लाल हो गया था, बोली, 'आजा मेरे लाल, मैं भी तो तेरी माँ जैसी ही हूँ।' शाम को लगा कि इस सब से उलझने से अच्छा है कि एक राकेट बना लो। आसमान में उड़ती कबूतरी सब देख रही थी। मैं बोला, 'ले मेरा जमैट्री-बाक्स देखेगा? मेरा टिफिन-बाक्स? या फिर मेरा स्कूल बैग?

शाम की आँख खुली। किताब धरती पर ही पड़ी हुई थी। यह कैसे-कैसे विचार आने शुरू हो गये हैं? शरीर के भीतर विचित्र परिवर्तन। क्या यह सब उसने क्षण भर में ही सोच लिया था? पिताजी अभी बाहर भी न गये थे। दरवाज़ा आधा खुला हुआ था। दरार में से माँ चूल्हे में फूँक मारती दिख रही थी। धुँए से बचने के लिए उसने काला चश्मा अभी भी लगा रखा था। चूल्हे में आग थी।

डायरी :

बाहर आँगन में फैले पेड़ पर बैठे दो कबूतर मेरे सब विचारों को न केवल सुन पा रहे थे बल्कि उनको यह तक पता था कि मैं खुद इन विचारों पर { जो वैसे भी मेरे चाहने न चाहने (से आने) पर निर्भर थे} विश्वास रखता हूँ कि नहीं।

उधर लघु किराने वाला अगर कुछ देर बाद एअर-गन चलाता तो शायद कबूतरी बच जाती। उसे कम से कम मेरे घर से निकलने का इन्तज़ार तो करना चाहिए था। मेरे घर से निकलते ही कबूतरी अपने काम पर लग जाती थी। लघु ने जल्दबाजी की। खैर मैं नियमानुसार उठा। दरवाज़ा खोल बाहर आँगन में जा माँ के पैर छुए फिर कमण्डल ले मैं और पिता जी घाट की ओर नहाने चल दिये।

पिता जी नंगे पाँव, बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे सीढ़ियाँ उतर रहे थे। जब शाम ने पिता जी का अनुसरण करना चाहा तो उन्होंने टोका : 'फिसलना अपने आप में एक ऐसी कला है जिसे सीखना हर नौजवान के लिए अनिवार्य है। हर क्षेत्र में जब तक फिसलोगे नहीं, कुछ सीखोगे नहीं। इसलिए मेरा अनुसरण मत करो, अपने रास्ते खुद बनाओ।

'पिता जी यह बोले ज़रूर पर भेद नहीं बताया।'

'भेद क्या है?'

'अपनी माँ से पूछो।'

'माँ से इस तरह की बातें मैं कर न पाऊँगा'

'शरमा मत'

'मुझे शक हो रहा है आप पर'

'मत मान'

'अगर आप मेरे पिता हैं, भेद बताने में क्या हर्ज है?'

'खुद-ब-खुद पता चल जाएगा किसी दिन। कबूतर करेंगे खुलासा।'

'अच्छा इस गाँव का रहस्य बताइए।'

'मैं मामा जी की तरह विद्वान नहीं पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि पहले यह गाँव एक मछली के आकार का था। अगर तू सामने की पहाड़ी पर चढ़ कर देखे तो पाएगा कि अब यह गाँव एक कुत्ते के आकार का है।'

'वह क्यों?'

'बात पुरानी है। जब तक यह गाँव मछली के आकार का था, इस पर कौओं के बड़े आक्रमण हुए। तब बड़े-बूढ़ों ने विचारा कि कैसे इस विपदा से जूझा जाए, किसी ने सलाह दी कि मिल्खे को बुलाया जाए। वह विधा जानने का दम्भ भरता है। शायद मदद कर पाये। पता नहीं क्यों मामा जी ने इस सुझाव का जम कर विरोध किया था।'

'मैं समझ सकता हूँ कि मामा जी को इस स्थिति में क्या आपत्ति हो सकती है'

'खैरए कुछ लोग मामा जी के विद्रोह को अनदेखा कर मिल्खे से मिलने उसके घर गये। मिल्खा बाहर आँगन में बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। उसकी गुड़-गुड़ की आवाज़ बन्द होते ही सामने बैठे दो कौए बोलना शुरू करते। लोगों को आते देख मिल्खा पहले तो मन्द-मन्द मुस्कराया फिर अचानक बड़ी ही गम्भीर आवाज़ में बोला, 'कौए हमला कर रहे

हैं ?' तुम्हें कैसे पता चला, 'खैराती बड़ा हैरान हुआ। यह हैरानी की बात थी ही। एक तो मिल्खा अन्धा था, दूसरे उसका घर था अपने गाँव से कोई सत्रह मील की दूरी पर, ऊपर से दूरसंचार का कोई साधन नहीं था। मिल्खा फिर मुस्कराया और बोला, 'उन्होंने ही बताया है। अभी उन्हीं से बात कर रहा था।' 'पर आप तो हुक्का पी रहे थे, बात कहाँ कर रहे थे?' 'मैं उनसे हुक्के द्वारा ही बात करता हूँ। उन्होंने ही मुझे हमलों के बारे में बताया।' 'आपने उन्हें ऐसे ही जाने दिया? उपाय नहीं बताया?'

'नहीं'

'क्यों?'

'खेल रहे हैं शातिर।'

'हे...हे...' खैराती ने खींसे निपोर दीं।

'ओह हो, तो अब चलें,' सरदारी बोला। वो उनमें सबसे गम्भीर था।

'कहाँ? पहले चढ़ावा तो चढ़ाओ!' मिल्खे ने चादर खोल दी।

फिर सबने जितना सम्भव हो सका, दिया और मिल्खा थोड़ी नानकुर के उपरान्त गाँव में आ ही गया। उसकी शर्त थी कि मामा जी कहीं भी न दिखें और अगर वो दिखायी दिये, वह काम तुरन्त बन्द कर देगा। कुछ दिनों के लिए मामा जी को अपने ही घर में नज़रबन्द कर दिया गया। मिल्खे ने पूरे गाँव का बड़े ही विचित्र ढँग से मुआयना किया। एक स्थान के दृश्य शीशों में कैद कर दूसरे स्थान से जोड़ दिये। गाँव तिलिस्म बनता जा रहा था। किसी ने अपने दरवाज़े को खोला तो घर के अन्दर उसको अपना खेत मिला। किसी की भैंस बिस्तर पर पसरी हुई। ढोल पीटे गये। दर्पणों से जगह-जगह प्रकाश फेंका गया। घड़ियों को उलटा चलाया गया। फिर उसने अचानक सबको एक साथ साँस रोकने को कहा। सबने जैसे ही एकसाथ साँस रोकी, मिल्खे का खुद का दम इतना बढ़ गया कि वो एक ही साँस में सामने वाली पहाड़ी पर चढ़ गया और कुछ देर हाँफने के बाद ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा। यह सब क्रिया-कलाप करते कराते उसको लगभग दो हफ़्ते हो चले थे। और तो और इस दौरान कौए भी दो बार हमला बोल चुके थे। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मामा जी को क़ैद किये भी दो हफ़्ते हो चले थे। लोग परेशान थे। आज मिल्खे को हँसता देख उनका गुस्सा भड़क गया और पूरी की पूरी भीड़ ने पहाड़ी के ऊपर धावा बोल दिया (एक बार तो मुझे लगा कि यह भीड़ कहीं मिल्खे को मार ही न दे।) पर उधर मिल्खे की हँसी बढ़ती ही जा रही थी। भीड़ जब हाँफ़ती-काँपती ऊपर पहुँची तो मिल्खे ने हँसते हुए ही बताया कि उसको कौओं के आतंक का कारण पता चल चुका है।

'देखो इस गाँव का आकार मछली की तरह का है। इसी कारण कौए आक्रमण करते हैं। ज़ाहिर है उनको मछली पसन्द है। खासकर उसकी आँख।'

'वो देखो! वो देखो!', इतने में खैराती चिल्लाया, 'मछली की आँख तो कुन्तो का घर है, वो देखो कुन्तो छत पर कपड़े सुखा रही है, ही...ही...ही...तभी तो उसके ऊपर कौओं के सबसे ज़्यादा आक्रमण हुए हैं।'

'इस समस्या का केवल एक ही समाधान है, बस केवल एक ही उपाय।' मिल्खा गला खँकार कर बोला, 'गाँव का आकार बदल दो, हम्म...मैं कहता हूँ, गाँव को एक बाज़ की शक्ल दे दो, कौए बाज़ से तो ज़रूर डरेंगे।'

इसके बाद गाँव के घरों में गज़ब की फेर-बदल हुई। बस दो जनों ने अपना घर बदलने से मना कर दिया। एक तेरी दादी और दूसरी चाची दमारि ने। भला हो अपने बूढ़े बरगद के पेड़ का, बाद में तो हमें अपना घर बदलने की ज़रूरत ही न पड़ी। पर चाची दमारि अपनी जिद के कारण गाँव से बाहर हो गयी। इसलिए आज उसका घर गाँव के एकदम बाहर वीराने में है।

कितना अच्छा होता कि शाम किसी तरह यह सब बातें रिकार्ड कर पाता, पर हमेशा की तरह वो आज भी टेपरिकार्डर घर पर भूल आया था। पिछले कुछ दिनों से उसे कुछ खास वस्तुओं की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। अब तो उसने मामाजी की तरह थैला लटकाना भी शुरू कर दिया था। वह अपने थैले में एक हॉटशॉट कैमरा, छोटी नोटबुक, आईवा का वॉकमैन (जिसे रिकार्डर की तरह भी इस्तेमाल किया जा सकता था) रखने लगा था। कभी भी आवश्यकता पड़ने पर वह इन सब वस्तुओं को प्रयोग में लाता। साँझ को रात के फोटो और रात को सुबह के, सब तरह के प्रयोग होने लगे। हर एक प्रयोग होने लगे। हर एक प्रयोग के हिसाब के लिए अलग डायरी। फोटो के रंग उड़ने लगे। रात की रानी की खुशबू कैसे क़ैद की जाती है? बस यही समझ में नहीं आ रहा है। एक बार गन्ध की रिकार्डिंग मशीन मिल जाये तो बस फिर मैं प्रकृति से सीधा लोहा लूँगा। जब उसने यह बात मामा जी को कही, उन्होंने तुरन्त सलाह दी कि वह तप करे, समस्या का समाधान हो जाएगा। क्या कभी कोई समझ पाएगा तोते की अक्ल को? क्यों न कोई जन्तु ही पाल ले? रिकार्डिंग मशीन से बेहतर उपकरण एक तरीके से।

माँ ने जमकर विरोध किया। 'सनक के तो कई रंग हैं। आकाश के रंग में परिवर्तन लाना कोई बड़ी बात है भला? यहाँ के आसमान पर हमेशा बादल छाये रहते हैं, वरना तेरी इस धौंस का तुझे मुँह तोड़ जवाब मिल जाता। पोल खुल जाती तेरी। तू जा कर अपनी किताबें पढ़। यह सब ऊल जलूल विचार दूसरी किताबें पढ़ने से ही आते हैं। 'पर मेरी समझ तो एनसीआरटी की किताबों से बनी है?' फिर एक दिन शाम ने लब्बे से पूछ ही लिया कि भाई फेल होने का दम है? उधर शामन ने भी शाम से यही पूछा। 'फेल तो हुआ है,' लब्बे ने भी वही उत्तर दिया जो शाम ने दिया था। सामने गिलहरी पेड़ पर चढ़ने का प्रयत्न कर रही थी। शाम को मामा जी की सीख स्मरण हो आयी। उधर शामन की मौत आयी थी जो उसने एक सवाल और जड़ा। 'आज शब्द नहीं लटकाये? चादर पर ही पड़े रहे। माँ को धोते वक़्त शर्म सी आ रही थी।' उत्तर में शाम ने पास रखी मन की बन्दूक से फायर कर दिया।

डुबकी ज़रा लम्बी हो गयी थी इसलिए पिता जी ठिठुर रहे थे। थोड़ी देर बाद शाम भी बाहर निकला। क्षण भर में उसने यह क्या सोचा? वो क्या यह सब अपनी इच्छा से सोचता है या फिर उसको मज़बूर किया जाता है सब का सच सोचने को? क्यों वो मुक्त वातावरण में साँस तक नहीं ले पाता है? शामन बहुत कठोर है। उससे दोस्ती तोड़नी पड़ेगी। पर मैं यह भविष्य के बारे में सोच कर क्यों परेशान हो रहा हूँ।

तभी सामने आकाश में एक हवाई जहाज गुज़रा। सफेद धुँए की लकीर बन गयी थी।

पिता जी वास्तव में ठिठुर रहे थे या फिर यह महज एक नाटक था। 'ठिठुर कर इन्सान होने का भ्रम या फिर वो सचमुच ही शैतान है,' आदतन शामन फिर बोला। शैतान ही इन्सान होने का ढोंग रचा सकता है। सामने गिलहरी पेड़ से कूद कर दम तोड़ गयी। मेरे पैदल चलने पर क्यों? क्या समझ रखा है उसने अपने आपको? कारण समझ में आया जब सामने एक मत्स्य-कन्या पानी में से प्रकट हुई। बड़ा ही विचित्र दृश्य था। पिताजी ने शाम की आँखों को अपने हाथों से ढाँक रखा था। शाम जब पिताजी का हाथ झटक कर भागा, उसे समझ में आया रहस्य-'एक'।

उसके पैदल चलने पर रोक क्यों थी? सामने उसने देखा, दो मत्स्य-कन्याएँ कोल्हू के बैलों की जोड़ी की तरह जुती हुई हैं और एक बूढ़ी उनको हाँक रही है। 'पानी में हल क्यों जोत रही हो?', शाम चिल्लाया। पिताजी की धोती झाड़ी में अटक कर फट गयी। मरी गिलहरी फिर से ज़िन्दा हो गयी। सामने कुछ लोग बिना वजह उत्तेजित हो उठे। बच्चों ने शाम का इशारा पा कर अपनी गुलेलों से पत्थर छोड़े तो शाम को अफसोस हुआ। 'काश मेरे पास मेरा कैमरा होता इनकी फोटो खींच लेता। देहाती की भी कुछ कमायी हो जाती। समझ लेते कि यह सब भ्रम है, महज एक मायाजाल।' शामन बोला, 'यह सब मायाजाल ही है, आँख खोल के देख, सामने कोई भी नहीं है। केवल पिता जी धीरे-धीरे घाट की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं, ठिठुरते हुए। डुबकी जरा लम्बी हो गई थी आज, बस!'

मेरी तो मत ही मारी गई थी। ही...ही...अब इतना संवेदनशील होने की भी ज़रूरत नहीं है। शामन तू दोस्त है कि दुश्मन? मेरे पास एक मन्त्र है। मैं जानना चाहता हूँ कि क्या इस नाटक की कोई समय सीमा है? तो मन्त्र बताऊँ ?' 'बता।' शाम के ऐसा बोलते ही शामन ने उस के कान के मन में मन्त्र पढ़ कर फूँक जो मारी तो पूरे गाँव में तूफान आ गया। दमारि को इसकी खबर पहले से ही थी शायद। सिर्फ़ उसकी मुर्गियाँ सही सलामत रहीं। लघु के सारे तीतर उड़ गये। कुन्तो के टोटकों में बाधा पड़ी।

पानी में से पिता जी निकलते हैं।

डुबकी जरा लम्बी हो गयी थी आज इसलिए ठण्ड से काँप रहे हैं। शाम और पिता जी ने एक साथ ठिठुरते हुए सूर्य को जलाजंली दी तो इन्द्रधनुष का निर्माण हुआ। 'जलांजली से?', पिताजी की भोहें चढ़ आयी। 'सब कुछ मंगल तो है?', सन्यारा दूर से बोला। 'समझ ले एक बात को, पार का सोना को मत बेचा कर, फँस जाएगा एक दिन।' 'सोना सूर्य का प्रतीक है पण्डित जी, उसे हम यहाँ का या वहाँ का नहीं कह सकते, भला सूर्य को भी कोई बाँट सकता है?' 'तेरी समझ की मैं दाद देता हूँ अन्यास ही आपसे सुबह-सुबह उलझ बैठा। ''कोई बात नहीं सन्यारया तू मेरे पास आ कर बैठ सकता है क्योंकि जो कुत्ता तुम्हें कल परेशान कर रहा था उसको शेर खा गया है।''

'अच्छा?'

'और नहीं तो क्या?' शामन बीच में बोला तो पिताजी को प्रसन्नता हुई। 'इसकी बात पर विश्वास मत कीजिए पिता जी।' शाम थोड़ा घबरा गया था। उसको भय था कि कहीं शामन पिताजी को भी अपने वश में न कर ले। 'तू घबरा मत पुत्तर', पिता जी को बोलने में बड़ी मुश्किल हो रही थी। सरदी से उनके दाँत ज़ोर से किट-किट कर रहे थे और आज डुबकी भी लम्बी हो गयी थी। शाम ने कमण्डल उठा लिया।

ठिठुरने तथा दाँतों के किटकिटाने कि आवाज़ से लघु किराने वाला जाग उठा। उसकी लाल खिड़की पर हरे रंग की बेल थी। वह दोनों को गली में से जाते हुए देख रहा था। शाम को लघु की लाल खिड़की बहुत भाती थी। लघु का रंग काला था। वह उन दोनों को रोज़ इसी खिड़की से देखता था। उसको इन दोनों की सुबह-सुबह इतनी ठण्ड में नहाने की आदत बड़ी विचित्र लगती थी।

'पिता जी मुझे ठण्ड लग रही है। लगता है आज पक्का बीमार पड़ जाऊँगा।' शाम के ऐसा बोलते ही पिता जी मुस्कराये। उन्हें लगा कि शाम का आज पाठशाला जाने का मन नहीं है। 'ऐसी बात नहीं है पिता जी पर जिस दिन मुझे ठण्ड लगती है, उस दिन मैं बीमार अवश्य पड़ता हूँ। मैंने शामन को बताया भी तो था। मुझे सुबह सपना आया

था। सपने में मैं बीमार था।' 'अच्छा? ज़रा हम भी सुनें बीमार सपना', पिताजी ज़रा उलाहना देते हुए बोले। 'सपना मेरा नहीं है, किताब से है।' 'लगता है तू फिर से दूसरी किताबें पढ़ने लगा है। माँ बस्ता तो रोज़ चैक करती है न? खैर सपना क्या था?'

'यह आत्मकथा उस बालक की है जो सुनाते वक़्त ही लगातार उसे बुने जा रहा है। अन्ततः अपने बनाये इन्द्रजाल में ही फँस कर वो लिख-लिख कर उससे बाहर निकलने का प्रयत्न करता है और बीमार पड़ जाता है। जब उसके चाचा उसका हाल-चाल पूछने घर आये तो लम्बे होने की वजह से उनका सर दरवाज़े की चौखट से जा टकराया। अब जैसा सबको मालूम ही है कि असल में हमारा घर बहुत बड़ा बरगद का पेड़ है। सिर टकराते ही बहुत सारे पक्षी उड़े। मानस अजगर भी उठ बैठा। चाचा जी रोज दो बकरे और सवा सेर घी खाते हैं। इसी कारण तो यह हलचल हुई। रसोई के सारे बरतन गिर गये। हवा में लटके हुए शब्द भी। अच्छा ही हुआ, नहीं तो चाचा सौ सवाल पूछते। 'पर जैसे कि मैं तुम्हारे चाचा को जानता हूँ, उन्होंने आदतन कुछ सवाल तो ज़रूर पूछे होंगे?'

'चाचा ने प्रश्नों का चक्रव्यूह जो रचा! सवाल इतने टेढ़े कि मेरा सर चकराने लगा। मुझे नींद आ गयी। मैं प्रश्नों का उत्तर सोचते-सोचते सो गया। इस इन्द्रजाल से निकलने का उपाय सपने में ही ढूँढ़ा जा सकता है। ऐसा सोच कर मैंने सपने में ही सपना देखा और उस सपने में आप मुझसे यही सपना सुन रहे हैं और अब मुझे पता नहीं कि मैं सपना देख रहा हूँ कि सचमुच जागा हुआ हूँ।'

'नालायक!' पिताजी ने शाम को ज़ोर से एक थप्पड़ मारा। 'मुझे ही उलझाने की चेष्टा कर रहा है?'

डायरी : थप्पड़ भरे बाज़ार में मारा गया था। बड़ी बेइज्जती हुई। पर इससे एक बात अच्छी हुई। शामन भाग खड़ा हुआ और मेरी सदियों की थकान मिट गयी। फ्रेश महसूस हुआ। सामने बन्दरों की टोली चने खा रही थी। शामन के भागने की खुशी में मैंने उनको खूब चने खिलवाये। बाद में पिता जी ने उनको केले भी दिये।

रिकार्डिंग मशीन

अगर बातों ही बातों में पिता जी यह सब राज बताने लगे तो रिकॉर्डिंग मशीन चौबीसों घण्टे साथ में रखना अनिवार्य होगा। पहले पहल सबने मज़ाक उड़ाया, बाद में सब सामान्य हो गया। रिकार्डिंग मशीन जैसे शाम के ही किसी अंग की एक्सटेंशन बन गयी हो। सब के सब पहले की तरह जी खोल कर रहस्य उगलने लगे। दमारि को भी इस बात पर काफ़ी आश्चर्य हुआ। 'सबसे महत्त्वपूर्ण है शब्दों के साथ-साथ उसकी ऊर्जा को समझना। शब्द मुँह से निकलते ही रूप बदलता है। हर रूप को समझ उसमें स्याही भरना, यही काम होगा तेरा आज से।'

'अगर मैं जो कहानी लिखूँ और उसके सब तथ्य और तर्क झूठे हों या फिर हों ही नहीं तो चलेगा?' शाम के ऐसा बोलते ही दमारि सोच में पड़ गयी। उसे यह समझने में कुछ ही क्षण लगे कि यह शाम की नयी चाल है। मनपसन्द खाना मिले तो शायद किसी और ढँग से सोचे। इस गाँव में ज़्यादा कुछ घटित होता नहीं है फिर किन रहस्यों के पीछे पड़ा है, यह अद्‌भुत बालक? 'तुम जानती नहीं हो या फिर न जानने का ढोंग रच रही हो? साधारण से दिखने वाले गाँव में तो कितने ही भयंकर रहस्य छुपे पड़े हैं। 'शाम आज कुछ ज़्यादा ही गम्भीर है', ऐसा सोच दमारि चुप रही। 'आज आसमान से तारों की वर्षा होगी,' यह कह दमारि ने अपनी चुप्पी तोड़ी, 'मुहाँसों का इलाज करना है तो आसमान की ओर बिना पलक झपके ताकते रह। जब भी कोई तारा गिरते दिखे तो झट से कपड़ा ले एक मुँहासा पोंछ

डाल। ध्यान रहे कि नंगे हाथ से कभी भी न पोंछना वरना मुँहासे हाथ पर आ सकते हैं।' शाम को मुहाँसे बहुत थे। रात भर वो टूटते तारे देख-देख कर मुहाँसे पोंछता रहा। तभी आज उसका चेहरा एकदम साफ़ था। पिता जी को भी अचरज तो हुआ पर किसी कारणवश उन्होंने इसका ज़िक्र नहीं किया। अब वो इस खेल से उकता गया था। यथार्थ और सपनों का द्वन्द्व अब उबाऊ हो चला था। उसने ज़ोर से आँखें खोलीं। ठण्डी हवा टकरायी। कुछ समय के लिए वो कुछ भी सोचना नहीं चाहता था। 'थोड़ा आराम चाहिए,' यह उसने ज़ोर से अपने आप को कहा। उसको इस बात की बड़ी खुशी हुई कि यह बात शामन ने उससे नहीं कही। उसको क्षण भर के लिए लगा कि वह अपने बारे में सोचने के लिए अपने पर भरोसा कर सकता है। पिता जी को शाम का मुँह इसलिए भी साफ़ लगा क्योंकि जब उन्होंने उसे थप्पड़ मारा, मुँहासे नहीं चुभे।

सामने दिलावर ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा था। उसके अनुसार वो एक समय चन्द्रकोस की सेना में कैप्टन था। लघु उसे एक पाव तेल उधार देने से मना कर रहा था। किसी से भी झगड़ा होने पर वह अक्सर यही एक सूचना देता था। शाम ने पहली बार चन्द्रकोस का नाम दिलावर के मुँह से ही सुना था। शाम की किताबों में चन्द्रकोस का वर्णन तो था पर उसको कभी भी उनका व्यक्तित्व स्पष्ट न हो पाया। अपनी किताबों में वैसे भी ज़्यादा कुछ पढ़ने को था नहीं। वो बस आसमान की ओर ताकता रहता। याद तो कुछ भी नहीं रहता था और समझ में भी कुछ नहीं आता था। पर घण्टों अपनी किताब पकड़ उसे आसमान की ओर बिना वजह ताकने से मज़ा आ जाता था बस। बचपन में पढ़े कायदे में से कुछ शब्द ध्यान में आये। यह जुड़वाँओं के टोटकों के उत्तर में था। ऊँट पर चढ़। दाँत साफ़ कर। बाँस वाली बाँसुरी बजा। दुनिया की सैर कर। माँगना बुरी बात है। साँप से दूर रह। आँख में काजल लगा। चिड़ियाँ चहचहा रही हैं। चाँद निकल आया। दाँत साफ़ रख। चन्द्रकोस। उसने ध्यान दिया कि सब जगह चन्द्र-बिन्दु। मामाजी ने गले तक भर कर भोजन कर लिया। अब पान ला। मात्राओं की मिथ्या।

इन सब विचारों के साथ शाम काली गली में मुड़ा, दूर से ही उसको अपने बरगद की शाखाएँ दिखने लगीं। 'कमाल का घर है आपका,' कोई पीछे से बोला। शाम ने ग़ौर किया कि बरगद के पेड़ के साथ-साथ और भी बहुत सारे पेड़-पौधे उग आये हैं। छोटे-छोटे सफ़ेद व नीले-पीले फूल। मीठी-मीठी धूप पड़ रही थी। शाम यह देख बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने निश्चय किया कि वो आज शान को अपनी इस नयी उपजी अनुभूति से ज़रूर परिचित करवायेगा। आज घर बड़ा ही सुन्दर लग रहा था। पेड़ की कोख से कभी तो खज़ाना मिलेगा। ऐसा सोच उसने कदम बढ़ाया।

दोनों घर के अन्दर को जाने को होते ही हैं कि शाम अचानक ठिठक कर रुक जाता है। एक बूढ़ी माई उनके आँगन में लगे हुए पेड़ से फूल तोड़ रही थी। बाहर गली में छिटके उस पेड़ पर सफ़ेद फूल थे। बूढ़ी माई सफेद फूल अपने सफ़ेद आँचल में एकत्र कर रही थी। शायद वो मन्दिर जा रही थी। शाम को बड़ा अजीब सा अहसास हुआ। उसको फूल लुटते भी दिखे पर बूढ़ी माई का सौम्य मुख। पूजा। सुबह। धूप। मिट्टी। सुख!

इतनी देर में सपने में आया बूढ़ा अपने स्थान से गायब हो चुका था। वह चट्टान पर बस एक निशान छोड़ गया था। निशान का मुआयना शहर से आये जासूस कर रहे थे। सारा गाँव उनको घेरे हुआ था। वैसे लघु का मानना था कि समझदारों को बस इशारा ही काफ़ी। उस बरसात में मेंढक एक साथ रिदम् में बोले। लघु किराने वाले ने उस रिदम् पर एक शानदार नाच भी किया था।

'पर बूढ़ा था कहाँ?'

शामन फिर प्रकट हुआ। प्रभा ने आवाज़ दी। आवाजें रूप बदल रहीं थीं। किसी की आवाज़, मुँह किसी और का। समझना असम्भव था। पहली बार आवाज़ों में हेर-फेर हो रहा था। शामन थोड़ा घबराया ज़रूर पर उसने हिम्मत नहीं हारी। 'कहाँ से कौन बोल रहा है? सामने आओ।' एक भयंकर अट्टहास और फिर एक भयानक चुप्पी। कोई हँसा और फिर भाग खड़ा हुआ। पिता जी को दरवाज़े पर खड़ा छोड़ शाम आवाज़ के पीछे लपका। पिता जी समझ चुके थे। उन्होंने भी पीछे से आवाज़ दी कि बेटा जो भी हो जाय पीछे मत देखना। शाम भागते-भागते रुका तो उसे पहले बत्तख के पैर दिखे।

उधर बूढ़ा लगातार छतें लाँघ रहा था। ऐसे जैसे किसी का पीछा कर रहा हो।

शाम ने नीचे से ऊपर देखा। इस एक प्रक्रिया में कुछ ही क्षण लगे होंगे कि उसको अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया। मामा जी और पेड़ की परछाई की केवल इसी बात पर सहमत हुई। पेड़ की परछाईयों का पिता कोई नहीं था। फिर वो क्यों इस पर विश्वास करती है?

'आस्था!' मामा जी का जवाब था।

'पर फिर क्यों भाग रहा है यह बुढ़ऊ? बत्तख का क्या महत्त्व?'

'सब समझ में आ जाएगा एक न एक दिन, वैसे तू इसका उत्तर जानता है। इतना उतावलापन अच्छा नहीं।'

'बस उत्सुकता सी है।'

'तो सुन! बत्तख उस बूढ़े की पत्नी है।'

'और बूढ़ा?'

'वह बूढ़ा तू है।'

'क्या बकवास है।'

'अच्छा? अगर यह सब बकवास है तो तू बात किस से कर रहा है? बता!'

शाम को झटका सा लगा। आगे-पीछे तो कोई नहीं था। या तो वो अपने-आप से बात कर रहा था या फिर किसी प्रेत से। शामन भी तो नहीं था।

'आवाज़ों के पीछे ऐसे ही नहीं भाग आना चाहिए। खासकर जब पिता जी ने पीछे से नसीहत दी हो कि पीछे मुड़ कर मत देखना।'

'अच्छी बात है। पर मैंने तो सुना था कि बूढ़े की तीन बीवियाँ थीं?'

'वह तो एक ही थी। बस यह बत्तख।'

'बत्तख? बीवी बत्तख कैसे बनी?'

'यह तू पूछ अपने आप से, तुझे पेड़ की परछाई भवसागर पार करवायेगी। तू ही तो गोता लगाता था तालाब में। बत्तखों से मेरी दोस्ती है। तू उनकी भाषा जानता है, कोशिश करके देख। शायद रहस्य समझ में आये?'

'मुझे इस सब से कोई सरोकार नहीं।'

'तो फिर इतिहास में रुचि रख।'

'पहले तू बता कि तू कौन है? बूढ़ा क्या सचमुच सपने में से भागा है? क्या यह सपना मेरे पहले सपनों की तरह ही किताबी था? या फिर यह सब एक ढकोसला है। मात्र शब्दों का हेर-फेर।'

'कब से सुन रहा हूँ तू कहानियाँ, परछाई से?'

'अनन्तकाल से।'

'घर पर बतलाया?'

'पेट में दर्द का बहाना किया था, पर शायद उनको पता है। जाग्रत अवस्था में तो वैसे भी सब-कुछ सामान्य ही दिखता है।

'प्रतिरोध नहीं किया तूने इस बात का?'

'कोशिश की थी पर बात कुछ जमी नहीं।'

'पुस्तक थोड़ी मोटी ही होनी चाहिए।'

'समय का विभाजन उसी पेड़ के नीचे हुआ था, परछाई के संग।'

'अब बात कुछ समझ में आ रही है! कमीज़ का क्या रंग था?'

'चॉकलेटी-चैक!'

'बन गयी बात! देख बूढ़े ने क्या पहन रखा है?'

'बस चॉकलेटी-चैक!'

'अब भी कोई शक है?'

'नहीं।'

'फिर एक बात बता, कहानियाँ कितनी सुनीं?'

'हज़ारों।'

'याद है?'

'सब की सब।'

'सुनाएगा?'

'पूछना पड़ेगा।'

'किससे?'

'परछाई से। बात यह है कि मैं कहानियाँ दूसरे रास्ते पर सुनता था।

'सच बोल रहा है'

'एकदम!'

'फिर इस रहस्य में ज़्यादा दम नहीं। गुत्थी सुलझ चुकी है। अब रास्ते दो दिखते हैं क्या?'

'हाँ।'

'पुस्तक से शब्द जब परछाई बन कर दीवार पर कहानी कहने लगे, विद्याधर (जो बाद में शाम के नाम से जाना जाएगा) की निद्रा टूटी।'

'पिता जी रोज़ सुबह सूर्य को क्यों मनाते हैं?'

'बचपन में वो मुझे एक गड्डे में गाड़ देते थे। मेरा सर बाहर रहता था।'

'मेरे गाँव की औरतों में यह चलन सदियों से है। वो भी सर ही बाहर रखतीं थी।'

इतनी देर में दिलावर चीखता-चिल्लाता हुआ इसी गली में आया, 'वो कहाँ चला गया है? वो कहाँ चला गया है?' सब इधर-उधर देखने लगे। किसी में भी उत्तर देने की हिम्मत नहीं थी। दिलावर फिर से चिल्लाया, 'मैं बताता हूँ, 'हम सब ने उसे मार डाला है। मैंने और तुमने (इशारा फूल तोड़ती बूढ़ी माई की तरफ़ था) हम सब हत्यारे हैं। पर यह हमने किया कैसे? क्या हमने समुद्र को पी लिया है? किसने हमें वो स्पांज दिया जिससे हमने क्षितिज को ही मिटा दिया? हमने तब क्या किया जब हमने धरती को सूर्य के बन्धन से मुक्त किया? क्या अब धरती ठण्डी नहीं हो गयी है? क्या अब रात लम्बी नहीं हो गयी है? क्या अब हमें सुबह-सुबह कन्दील नहीं जला लेनी चाहिए?' शाम यह सब मन्त्रमुग्ध हो सुनता रहा। उधर बूढ़ी माई बहुत घबरा गयी थी। दिलावर के पूरी तरह नज़रों से ओझल हो जाने तक वह साँस रोके उसी मुद्रा में खड़ी रही। सफ़ेद फूल तोड़ती एक बूढ़ी माई। शाम को उत्तर मिल चुका था।

उधर बूढ़ा अब दुगनी गति से छलागें लगाता हुआ एक साथ कई छतें लाँघ रहा था। बत्तख के कुछ पंख टूट कर हवा में फैल गये। सात पंख शाम के सर पड़े।

बत्तख के बच्चे

एक समय की बात है। हमारे इस गाँव में सात रंगों वाली एक बत्तख रहती थी। उस सात रंगों की बत्तख के दो बच्चे थे जो तालाब के किनारे बैठ कर बतियाने वाले मनुष्यों की बात बड़े चाव से सुनते थे। उन्होंने कभी भी किसी मनुष्य को भनक तक नहीं पड़ने दी कि मासूम से दिखने वाले ये बच्चे मनुष्यों की भाषा न केवल समझ पाते हैं बल्कि सुने

हुए को दोहरा भी सकते हैं। उन्हें होने और न होने के मध्य जारी निरन्तर द्वन्द्व का भली-भाँति अन्दाज़ा था। पर उन्हें भी कभी शाम और शान की बातें समझ में नहीं आयीं। कारण चाहे जो भी हो, भेद तो वो नहीं पा सके। जब भी शाम और शान शाम को सैर करने तालाब के किनार आते। यह दोनों जल्दी-जल्दी अपने पंख चलाते हुए उनके आस-पास तैरने लगते। पर उन बेचारों को यह पता नहीं था कि वो शाम-शान की बातें नहीं समझ पाते हैं पर शान उनकी सब योजनाएँ पहले से ताड़ कर शाम के कान में बोल दिया करता और शाम उनको विधिवत अपनी नोट-बुक में दर्ज भी कर लिया करता था। यह सिलसिला सालों तक चलता रहा। एक दिन अवारागर्द राणो ने दोनों को तालाब के किनारे बैठा पकड़ लिया, बोली 'बेटा जी आजकल के जमाने में जितना भी पढ़-लिख लो, जितनी भी भाषाएँ जान लो, कबूतरों से लेकर बत्तखों तक की, नौकरी कहाँ मिलती है?' अगर तुम दोनों चाहों, मेरे साथ मेरे घर चलो, मेरे पास एक तरह का खजाना है, घर आओगे तो ही दूँगी। राणो ने यह बात बता कर सबको सकते में डाल दिया। शाम और शान दोनों बेहद डर गये। उधर राणो को लगा आज तो बात पक्की, पर उन्मादनी एक दूसरी तरह की भूल कर गयी। अब यह बात शायद ही किसी को पता थी कि शाम में खास खूबी यह थी कि वह अपने मस्तिष्क के कई हिस्से कर सकता था। फिर वह उन हिस्सों को अलग-अलग काम दे दिया करता और हर हिस्सा अपना काम ईमानदारी से करता। 'यह खूबी केवल गन्धर्वों में होती है। तूने कहाँ से सीखी?' शान ने राणो से नज़रें चुराते हुए पूछा। 'माँ के पेट में से,' शाम ने जवाब दिया तो उसको खोया हुआ आत्मविश्वास वापिस लौटता हुआ दिखा। 'मुझे क्या', शान ज़रा मुस्कुरा कर बोला, 'हमें इस बात का सदा ख्याल रखना चाहिए कि हमें जो व्यक्ति सबसे ज़्यादा नापसन्द है, हम वही हैं, वही व्यक्ति, जैसे तू राणो और मैं तू।' पकड़ा जाए शाम को जो हमेशा फिसलना चाहेगा। शाम के पेट में जलन है। 'पत्थर अटक गया है गुर्दे में।' शान ज़रा चिढ़ाने के अन्दाज़ में बोला। सामने से नीरू आ रहा था। शाम की रिश्तेदारियाँ, रिश्ते ही रिश्ते। पार वालों ने देर रात हल्ला बोला तो जिसके हाथ में जो आया, लेकर भागा। नीरू की माँ अपने पेट को ही लेकर भागी। मूसलाधार बारिश हो रही थी। नदी अपने पूरे उफान पर थी। नदी पार करते वक़्त बच्चा पानी में ही टपक पड़ा। इसलिए नाम पड़ा नीर। दो प्लेट राजमा चावल से कम में तो यह मानेगा नहीं। रोज़ की चख-चख। 'चल हट राणो, खजाना देना ए ते अपने मुड़े गी दे। दर-बदर भीख माँगता घूम रहा है।' कुन्तो अपनी खिड़की पर खड़े-खड़े चिल्लायी। शाम और शान कुन्तो की आवाज़ सुन भाग खड़े हुए।

दहलीज से आँगन तक। सारा खेल दहलीज पार कर आँगन से गुज़रने भर में था। सामने छत पर रोमियो बन्दर खड़ा था। गली टेड़ी-मेड़ी थी अन्यथा शाम कब का बाहर भाग गया होता। 'अजब स्थिति है अब। गज़ब,' पेड़ के नीचे बैठी परछाईं का भयानक अट्टहास सुन ऊपर उलटी लटकीं सब चमगादड़ें डरकर भाग खड़ी हुईं। 'अन्दर बन्दर और बाहर कुन्तो। इस शाम को तो बहुत पहले ही सबक सिखा देना चाहिए था,' परछाईं का 'पर' बोला। 'शब्द लटकाने से समस्याएँ हल हो जातीं तो...!' 'तू जरा चुप कर', परछाई बोली। हवा बहुत तेज़ चल रही थी। परछाईं का नाक हवा में ऐसे जैसे कि वो हवा सूंघकर सब जान लेने वाली हो। फिर वो अचानक अपनी नाक नीचे कर 'पर' से पूछती है, 'हे 'पर', एक बात बता, मैं हूँ किसकी?' परछाईं का 'पर' कुछ भी उत्तर न दे पाया।

ऐसा नहीं था कि शाम इस सब से अनजान था। वो आँगन के बीचों-बीच फँसा विचार कर रहा था। कुछ न सूझा तो मामाजी की डायरी स्मरण हो आई। बन्दर वर्णन सुन कर स्तब्ध रह गया।

जुलाई २४ :

इसके लिए मैं पैदा हुआ था कि मैं दे सकूँ मुझको ब्रह्माण्ड को ब्रह्माण्ड के लिए वे खुद के आत्म उद्धार करने के लिये

आये थे प्रकृति जो छोड़ नहीं सकती है एक निश्चित लाभ करना है और न ही मैं प्रतिपादन से छुट्टी होने और फिर दोबारा पवित्र चुप्पी और मैं उभरते अन्त काल जिनमें से मैं पड़ा उभरा एक आदमी के रूप में...

बन्दर यह सुन भाग खड़ा हुआ। कुत्तो खिड़की बन्द कर रोनी लगी। परछाईं बड़ी खुश हुई, 'पर' दुखी। परछाईं को पता था कि शाम ने ने अपनी पहली परीक्षा उत्तीर्ण कर ली है।

मामाजी

एक बूढ़ा आदमी सफ़ेद कुर्ता-पायाजामे पहिने, थैला लटकाये, हल्का लंगड़ाता हुआ, हाट की ओर आ रहा था। उसकी चाल में एक अजीब बात थी। दूर से देखने पर ऐसा लगता था जैसे कि वह धीरे-धीरे बड़ी मुश्किल से चल पा रहा है, पर उसने कुछ ही क्षणों में एक अच्छी खासी ढक्की पार कर ली थी।

'मामा जी...मामा जी... मामा, बूढ़ा बहुत ही घबराया हुआ लग रहा है, बड़ी तेज़ी से छतें लाँघ रहा है, लगता है किसी का पीछा कर रहा है, पर अपने साथ उसने बेचारी बत्तख क्यों टाँग रखी है?

बेचारी को ऐसे ही बेमौत मारेगा, 'सब्जी वाला मामा जी के पीछे दूर आसमान में कूदने-फाँदने लाँघते बूढ़े की ओर इशारा करके बोला। 'तोल', मामाजी ने चार अँगुलियाँ दिखायीं। वह सब्ज़ी वाले से चार नींबू और आठ मिर्चों की माँग कर रहे थे। तभी पीछे से छींकने की आवाज़ आई तो मामाजी ने देखा कि सुबह-सुबह फूल चुनने वाली बूढ़ी माई धीरे-धीरे मन्दिर की सीढ़ियाँ चढ़ रहीं हैं। कुछ फूल उसके आँचल से गिर कर हवा में ठहर से जाते हैं।

'अभी किसी दिन टेलीविज़न आने वाला है। छतें ऐण्टिना से पट जायेंगे। पतंगों और पक्षियों के साथ यह भी अटक कर मर जाएगा एक दिन,' मामाजी ने बिना मुड़े सब्ज़ी वाले को उत्तर दे दिया था। 'मुझे विश्वास नहीं होता, इसको छतें कूदने में महारत हासिल है। पर एक बात माननी होगी, मामा जी, यह बूढ़ा छलाँगा खूब लगा लेता है। गुरुत्वाकर्षण की परवाह ही नहीं करता। भला यह भी कोई हरकत है, खामखाह किसी की भी छतें लाँघते रहना,' सब्जी वाला बड़ी मासूमियत से बोला। उसको आभास हो चुका था कि मामा जी इस बत्तख वाले बूढ़े को खास पसंद नहीं करते हैं। असल में उसने यह बात मामाजी को खुश करने के लिए कही थी। पर मामा जी और चिढ़ गये, बोले, 'पुलिस में रिपोर्ट करवा दो इसकी।' तभी सब्ज़ी वाले ने अचानक घूम कर देखा। वह उसी मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठा हुआ था।

इधर खाई, उधर छतें। सुबह-सुबह बत्तख वाले का कूदना न केवल विचित्र था बल्कि लुभावना भी था। बेचारा कभी किसी का कुछ बिगाड़ता भी नहीं है। सब्ज़ी वाले को जब यह विचार आया तो उसे यह अहसास हुआ कि वह इस बत्तख वाले बूढ़े को पसन्द करता है। फिर पता नहीं क्यों वो नाहक ही उस बेचारे के बारे में कुछ भी अंट-शंट बका जा रहा है। केवल मामा जी को खुश करने के लिए? सब्ज़ी वाले ने आँखें नीची कीं और अपनी निगाहें सामने पड़े लाल टमाटर में गड़ा दीं। उसको डर था कि अगर मामा जी ने एक बार भी उसकी आँखों में देख लिया, वो उसके सारे विद्रोही विचार पढ़ जायेंगे। मामा जी की प्रतिष्ठा थी। पर मामा जी विचार पढ़ चुके थे। नींबुओं को साफ़ कर थैले में डालते हुए बोले, 'घबरा मत भाई, तू बूढ़े की बत्तख को दाना डालता रह। मेरे वास्ते अपनी मत बिगाड़। उसमें बहुत बल है। रही मेरी बात। मेरा और उसका झगड़ा बड़ा पुराना है। खुद ही सुलझा लेंगे एक दिन। वैसे हम किसी जमाने में गहरे दोस्त थे।

अचानक सब्ज़ी वाला फूट-फूट कर रोने लगा। कृन्दन आक्रोश से भरा था। ऐसा निःसहाय उसने कभी भी महसूस नहीं किया था। उधर मामा जी को लगा कि उन्होंने कुछ ज़्यादा ही ढील दे दी है। दो मीठी बातें कर लो तो सर पर ही चढ़ आते हैं। कड़क आवाज़ में बोले, 'चल चार प्याज़ भी दे दे।' सब्ज़ी वाला अपना रोना-धोना भूल प्याज़ निकालने, तोलने में व्यस्त हो गया। मामा जी के चेहरे पर विजयी मुस्कान थी। 'हिसाब लिख लूँ?', सब्ज़ी वाले ने गिड़गिड़ाते हुए पूछा। 'क्या लिखना ज़रूरी है?', मामा जी ने एक बार बत्तख वाले बूढ़े से पूछा था। 'रात की खामोश घड़ी में अपने आप से पूछो,' उसका जवाब था। मामाजी इस सलाह के लिए बत्तख वाले बूढ़े के हमेशा आभारी रहे हैं। ऐसा नहीं था कि बूढ़ा उनकी डायरी के शब्द ले उड़ा था। नाराज़गी की वजह पेचीदा थी वरना वो उसका खुलासा सब्ज़ी वाले के सामने कर ही देते। मामा जी को शाम की याद हो आयी। उसके सामने वो कई खुलासा कर चुके थे। वे समझ चुके थे कि इस लड़के से कभी भी कुछ भी छुपाने से लाभ नहीं। अगर कबूतरों-कौओं का खतरा न होता तो वह अपने खिड़की-अलमारी भी शाम के लिए खोल देते। पर ऐसा न करने के कारण और भी थे। बात यह थी कि शाम का अध्ययन कमाल का था। इससे मामा जी अन्दर ही अंदर भयभीत और बेचैन थे। उनकी इच्छा थी कि किसी तरह शाम को रास्ते से बहका दूँ, भटका दूँ। एक दिन उसको ज़रा विश्वास में ले बोले,'

'son why do not we try and how behind the reality of things we can not hold terrible because it could be like things different from his experience of his reality is not only shallow people say that things do not go with them can be external the real secret of the world that it is visible do not see that it is.'

शाम ने इसका भी तोड़ निकाल डाला, बोला, अगर इसका विपरीत न माना जाए तो बात एक सी ही है।' उसने यह बात थोड़ा झिझक कर इसलिए भी कही कि कहीं मामा जी बात छुपाना न शुरू न कर दें। पर मामाजी बात छुपाना जानते ही न थे। हर सुबह वह प्रण लेकर उठते कि आज से कभी भी किसी को भी दिल की बात न बताऊँगा। पर पहला मौका मिलते ही न केवल वो मन की बात उगल देते पर ऐसी बातें, ऐसे शब्द भी जिनको अपने मुख से निकलता देख अचरज से वे अपनी जीभ काट लेते। इसी कारण मामा जी की जीभ हमेशा ज़ख्मी रहती थी। जबकि वो खाने में मसालों से परहेज करते थे, पर हरी मिर्च के बड़े शौकीन थे। मामा जी को अहसास हुआ कि उनके चिन्तन से उपजे शब्द जब बासी हो कर मुख से निकलते हैं तो उनके साथ-साथ कुछ और ऐसे शब्द भी फूट पड़ते हैं जो अभी तक उनके मस्तिष्क के कॉशियस हिस्से के चक्के से दूर ही थे। एकदम फ्रेश। ऐसे शब्दों की अपनी खूबी है, महत्त्व है, शक्ति है। उन विचारों को भी मान्यता देनी होगी जो इन शब्दों के मेल से निकलते हैं। जैसे कि सब्ज़ी वाले की आँखें लाल थीं। वह घण्टों टकटकी बाँधे बत्तख वाले बूढ़े को छतों पर कूदते देखते रहता था।

घर में मामा जी डायरी अपनी पसन्दीदा टेबुल पर ही लिखते थे। पहले-पहल तो उन्होंने टेबुल दीवार के साथ सटायी थी पर तरंगें दीवार के साथ टकराते ही वापिस दिमाग में घुस जातीं। एक शब्द भी न लिखा जाता। बाद में उन्होंने टेबुल ठीक खिड़की के सामने लगा दी जहाँ से वो न केवल पूरे गाँव को देख पाते बल्कि जब तक तरंगें पूरे गाँव का चक्कर लगा कर सूचनाएँ घर लातीं, मामा जी दिन का लेखन समाप्त कर चुके होते। आज की सूचनाएँ मामा जी कल के लिए रख छोड़ते थे।

मामाजी अब तरोताज़ा महसूस कर रहे थे। थैले में सामान रखते हुए उन्होंने विचारा कि अब ज़रा गाँव का एक चक्कर काट के ही घर वापिस जाना होगा। वह अक्सर बिना वजह घूमना बड़ा पसन्द करते थे। उनकी प्रतिष्ठा थी। घूमते हुए ही मामा जी को आज तड़के हुए संवाद का पता चला। कुंतो को इस बात की भनक क्या लगी, वह अपनी

खिड़कियाँ, दरवाज़े बन्द कर छत की ओर देखने लगी। कहते हैं डर के मारे आँगन में खड़ी वो कबूतरों को चालें समझा रही थी। उधर मामा जी मुआयना कर रहे थे। डायरी लिखने के लिए कुछ न कुछ जुटाना पड़ेगा। उन्हें अहसास था कि कोई कहीं बैठा हुआ यह सब रच रहा है। ऐसा विचार आते ही मामा जी रुके, पीछे मुड़ कर विचारा कि चलो वापिस चला जाए, दिन मनहूस लगता है पर पता नहीं क्यों फिर एक ठण्डी साँस भर कर आगे बड़ गए। कुंतों खिड़की से देख रही थी। 'पग-पग पर खतरा है,' मामा जी बुदबुदाए। कुन्तो ने ध्यान दिया कि मामाजी के पदचिन्ह कुछ ही क्षणों में मिट जाते हैं। कील ठोंकना असम्भव था। मामा जी सब जानते हुए भी पागलों जैसा बर्ताव क्यों करते हैं? शाम खिड़की पर खड़ा सोच रहा था। 'हवा में ही जन्म देंगी माँए इस गाँव में। पेड़ पर उलटी लटकी हुईं, और पेड़ की जड़ से निकला हुआ आधा आदमी त्राहि-त्राहि का जाप करेगा।' पिताजी को क्या मालूम नहीं था कि शाम को तो सोते हुए मारना असम्भव है? 'हर औरत अगर अपने सूर्य को मनाए तो ही बारिश होगी', मामाजी जब चिल्लाना शुरू हुए तो तुरन्त वही दो औरतें जो अभी तक पानी में हल जोत रही थीं, भाग कर पहाड़ पर चढ़ गईं। पादगिरी पर खड़े-खड़े ही मामाजी ने उनको सलाह दी कि वे दो दर्पण ले कर अपने-अपने सूर्य को मनाने का यत्न करें। सफलता मिलेगी। दोनों ने पहला काम यह किया कि सूरज का पहला चमकारा मामा जी की आँखों में ही दे मारा। मामाजी की आँखें चुँधियाईं और वो धड़ाम से धरती पर आ गिरे। गिरते-गिरते मामाजी के शब्द थे 'यही दो बत्तखें वही दो जुड़वाएँ हैं शाम, सावधान रहना।'

खिड़की

इधर समय बदला। शाम सारा समय खिड़की के पास लेटा हुआ था। पानी के छींटे पड़ते ही उसने आँखें खोल दीं। सामने खड़ी माँ पूछताछ कर रही थीं। शाम ने लेटे-लेटे ही बोलना शुरू किया। बाहर लब्बा दीवार के साथ कान सटा कर खड़ा था। उसे शाम की बातें चोरी-छुपे सुनने में बड़ा मज़ा आता था पर मामा जी पर उसे ज़रा भी विश्वास नहीं था। मामा जी की बकवास पर कौन ध्यान दे। कल वह कह रहे थे कि गाँव सिकुड़ रहा है। उसने फैसला किया कि वह दादी को ट्यूबबैल की टंकी की सैर कराएगा और साथ में यह मुआयना भी करेगा कि क्या गाँव वाकई में सिकुड़ रहा है? उधर दादी कितने दिनों से कहीं घुमाने ले जाने की ज़िद पकड़े हुए हैं। कुछ दिनों बाद दादी और लब्बा ट्यूबबैल की टंकी पर खड़े थे। दादी को ऊपर से गाँव दिखाने के लिए लब्बा घर से दुरबीन भी ले आया था। दादी को खूब मज़ा आ रहा था। कोई घण्टा भर बिताने के बाद जब वो हँसता नीचे आया, पहली बात उसने यही बोली कि मामाजी कपटी हैं। कोई गाँव नहीं सिकुड़ रहा है। कुछ ज़्यादा नहीं बदला है। बस वो जो विदेशी कम्पनी आयी है, उसने दो-चार मिट्टी के टीलों को साफ़ कर दिया है। 'मोया, पर यह बता दादी कहाँ है?' लब्बे की माँ चिल्लायी। दादी अभी भी ट्यूबवैल की टंकी पर ही खड़ी थी।

शाम लेटा हुआ सोच रहा था। माँ वापिस बाहर जा चुकी थी। उसने मामा जी की सीखें दोहराना शुरू कीं। सुनी-सुनायी कहानियों पर नियन्त्रण रखना सफ़ेद बालों वाली बुढ़िया से सीखा। रुई जैसे सफ़ेद बादल। वह बरगद के नीचे बैठी हुई कात रही होगी। शाम बहुत कुछ सीख रहा था। परछाईं ने जब एक के बाद एक कहानियाँ सुनानी शुरू कीं, शाम लड़खड़ा कर बोला, 'थोड़ा ठहर जाओ, इतना कुछ मैं अपने दिमाग में नहीं रख पाऊँगा।' अगली दोपहर वो पुराना टेपरिकार्डर ले आया। बाहर लब्बा ध्यान से सुन रहा था। बात पूरे गाँव में फैल चुकी थी। कुछ बदमाश लड़कों ने शाम को शाम में घर के पास घेरने का फैसला किया। लब्बा फुसफुसा कर उनको समझा रहा था। आग उसने ही भड़काई थी। अगले शनिवार शाम उनके हाथ चढ़ा। पीछे से लब्बा उचक-उचक कर देख रहा था। शाम पहले बहुत घबरा गया फिर उनको खुश करने के अन्दाज़ में बोला, 'वो तो केवल छला है। दोपहर को वो पेड़ के नीचे

मिलता है। रूप बदल-बदल कर कहानियाँ कहती है। पेड़ तलाश का है जिससे हज़ारों साल जीने की दवाई बनती है।

'कैसे बनती है?' उनमें से कोई बोला।

'पलाश से बनती है।'

'क्या-क्या मिलाना पड़ता है?'

'उसका अभ्यास है, कोर्स है। वो जो तालाब के किनारे बड़ा पलाश का पेड़ है न, उसकी जड़ खोद कर खुली करने के बाद उसको गहरा करो। फिर उसमें एक-दूसरी जड़ी मिला कर बन्द करो। एक खास घास है। उसी घास से बन्द करना है। जड़ से ऊपर तक। गोबर लगा लगा कर गुम्बद सा बना देना चाहिए। फिर उसके नीचे आग लगा दो। सुलगने के बाद वो धीमे-धीमे जल कर सब रस चूस लेगी। हुक्का पीने वाले सीधे नली लगाकर, धुँआ पी कर अमर हो जायेंगे। बाकी बचे लोगों के लिए दवाई बनाई जाएगी जिसे शुद्ध घी और शहद के साथ खाना होगा।'

'पर पहले हमें शाम का बचपन और बयान, दोनों चाहिए। यह सब बातें बाद में,' कोई भीड़ में से चिल्लाया।

'कहो'

'तुम जानते ही हो, पाठशाला से वापिस आते वक़्त अक्सर दिखती थी वो। इतनी गोरी कि सफ़ेद लगे।'

'पहेलियाँ मत बुझाओ साफ़-साफ़ कहो।'

'देखो मैं बता सकता हूँ पर आप विश्वास नहीं करेंगे।'

'क्यों?'

'क्योंकि समय रुकता था।'

'मतलब?'

'मुझे कहानियाँ सुनने की लत पड़ चुकी थी। मैं पाठशाला जाते वक़्त दूसरा रास्ता चुन लेता था। बस उसी पेड़ के नीचे वो दिखती थी।'

'समय वाकई रुकता था?'

'हाँ! घण्टों कहानियाँ सुनने के बाद भी पाठशाला जाने में कभी देर नहीं हुई।'

'उम्र क्या थी तब?'

'सात साल या फिर आठ, वैसे कहानियाँ सुनने की आदत मुझे दादी ने दी, पर परछाईं से कहानियाँ सुनने में अजीब मज़ा आया।'

'साफ़-साफ़ बताओ, क्या तुम सच बोल रहे हो? क्या तुम्हारा भरोसा किया जा सकता है?'

'अब आप ही सोचिए, अपने यहाँ अखबार भी दो दिन बाद आता है।'

'बाद में तुमने पाठशाला जाना ही छोड़ दिया था।'

'हाँ, आठवीं में'

'फ़ेल हो गये थे?'

'न! बस पाठशाला जाना छोड़ दिया था।'

'तो फिर करते क्या थे?'

'सारा समय पेड़ के नीचे बैठा रहता था।'

'समय का बँटवारा वहीं हुआ होगा?'

'सुनो, षड़यन्त्र रचने जा रहा था।'

एक ने तो धमकी दे डाली कि अगर नहीं कहता है तो इसे मार डालते हैं। वो दोनों कहानियाँ मेरे मुँह से निकल कर पेट पर बैठी हुईं थीं। मुझे पेड़ के नीचे बैठी परछाईं से कहानियाँ सुनने की लत लग चुकी थी। मज़े की बात तो यह थी कि चार-चार घण्टे कहानियाँ सुनने के बाद भी मैं पाठशाला समय पर पहुँच जाता। परछाईं ने विश्वास दिलाया था कि अगर मैं उसका विश्वास करूँ तो ऐसी पुस्तक प्राप्त होगी जिसका पहला पृष्ठ पढ़ने से पक्षियों की बातें, पानी में मछलियों का गाना सुनना व दूसरा पृष्ठ पढ़ने से आकाश में बैठे देवी-देवताओं को देख पाना भी सम्भव हो पायेगा।'

मामा जी इस पूरे तमाशे को दूर से ही देख रहे थे। उनको लगा कि अब शाम शायद पलक न झपकने का प्रण छोड़ ही दे। मामा जी खुश हो गये थे। एक दिन शाम तालाब के किनारे आँख खोल खड़ा था और तब उसने अचानक फैसला किया कि वो पलक नहीं झपकेगा। शाम की ठण्डी हवा उसकी आँख से टकरायी तो पानी जमने लगा। थोड़ी देर बाद पानी आँसू बन धड़ाम से तालाब में जा गिरा। शान थोड़ी ही दूरी पर खड़ा था। कुछ मज़ा नहीं। तालाब मनहूस है। शाम टकटकी बाँध कीचड़ में फँसी बत्तखों को देख रहा था। एक अजीब-सी घुटन पेट की किसी तह से, उमड़ कर गले तक आयी तो उसकी आँख ने जवाब दे दिया। पीछे पेड़ का सहारा ले शान गुनगुना रहा था। 'शान तू यहाँ नहीं है' शाम के ऐसा बोलते शान चुप हो गया। 'बेशक तू कुन्तो का बेटा है पर तेरी आदतें अलग-सी हैं। 'तुझे कैसे पता चला?' शान थोड़ा झिझक कर बोला। उसको शाम से इस अप्रत्याशित हमले की उम्मीद नहीं थी।' मुझे तेरी नाक ने बताया। खैर तुझे तो सब सच पता ही होगा, अन्दर ही अन्दर, तू है बहुत खतरनाक।' शान क्रोध से काँप रहा था, बोला कि अगर मैं इतना ही भयानक हूँ तो हम साथ में रह ही क्यों रहे हैं, फिर एक साथ घूमने का क्या मतलब? ऐसा कह शान जाने को हुआ तो शाम ने उसकी बाँह पकड़ ली। 'मेरे पास एक उपाय है। ले इसे अपनी बाईं जेब में रख ले' ऐसा बोल शाम ने अपनी दाईं जेब में से एक चुम्बक निकाल कर शान को दिया। 'इससे क्या होगा?' शान बोला। 'देखा, दूसरा हिस्सा मेरे पास है, जिसे मैंने अपनी जेब में सुरक्षित रख छोड़ा है। अब यह दोनों चुम्बक हमेशा एक-दूसरे को आकर्षित करते रहेंगे और हम दोनों मिलने का प्रयास।' शान को शाम की बात का विश्वास नहीं हो रहा था। वह उसकी आँखों में देखना चाहता था। तभी शाम ने अपने दोनों कान बन्द कर लिये।

डायरी :

सामने घबराया बूढ़ा छतें लाँघ रहा है। मामा जी सब्जी खरीदकर वापिस चौक की ओर आ रहे हैं। लघु किराने वाला अपने रेडियो से जूझ रहा है। मामा जी लँगड़ाते हुए धीरे-धीरे चल रहे हैं। लघु का पिता लगातार हुक्का गुड़गुड़ा रहा है। घबराये बूढ़े ने अचानक मामा जी को देखा और वहीं से सफ़ेद बत्तख हवा में छोड़ दी। बत्तख मामा जी से जा टकरायी। मामा जी मन्द गति से नीचे गिर रहे हैं। कुछ बच्चों ने बत्तख का पीछा किया पर उसे पकड़ नहीं पाये। मामाजी औंधे मुँह जमीन पर पड़े हुए थे। उनके थैले से तरह-तरह का सामान बाहर बिखरा पड़ा था। मिर्चें, नींबू, प्याज़ और कुछ डायरियाँ। लघु ने पहले तो पूरी घटना को अनदेखा-सा किया फिर हल्के पैरों से चलता हुआ मामा जी के पास गया। मामा जी को किराने वाले के चलने का ढँग बड़ा भद्दा लगा। उनको गुस्सा आ गया था। लघु ने अपना हाथ दिया तो मामा जी ने गुस्से से उसको झटक दिया। फिर वो तुरन्त किसी कुंग-फ़ू लड़ाके की तरह एक ही झटके में उठ खड़े हुए। इतनी देर में लघु ने मामा जी का सारा सामान वापिस थैले में डाल दिया था, पर एक डायरी अपने खींसे में छुपा ली। इस दौरान लघु का पिता लगातार हुक्का पीता रहा था। उसे इस घटना की भनक तक नहीं पड़ी।

टेलीविज़न

उधर चूल्हे की राख ठण्डी पड़ चुकी थी पर माँ ने फिर भी काला चश्मा पहन रखा था। दादी रजाई ओढ़े पाठ कर रही थी। शाम नहा-धो कर बालों में तेल लगा रहा था। शाम अब तैयार हो रहा था। उसने शेल्फ से अपनी पुस्तकें उठा कर बस्ते में डाल दीं फिर अचानक सामने सोती बहन को ध्यान से देखने लगा। छोटी बहन प्रभा सोती हुई मुस्कुरा रही थी। उसके पेट से अजीब-सी गुड़-गुड़ की आवाज़ आ रही थी, बिल्कुल ऐसे जैसे कि मिल्खा उनके पेट में बैठा हुक्का पी रहा हो। प्रभा के बाल साँप जैसे नाच रहे थे।

टेलीविज़न देखने का समय हो गया। जा ऊपर जा एक एण्टीना ठीक कर, यह कमबख्त कौए रोज उसकी दिशा उलट देते हैं। 'अच्छा माँ', इस क्षण शाम आज्ञाकारी था।

शाम और गाँव के अन्य कई लड़कों की यह आदत थी कि वो सब रोज़ सुबह पाठशाला जाने से पहले अपने-अपने एण्टीने सामने दूसरे देश के आसमान की ओर मोड़ देते थे। उनके टेलीविज़न पर रोज़ सुबह कार्टून शो आता था। उसे देख कर ही पाठशाला जाना होता था। सबके घर टेलीविज़न नहीं था। लोग एक-दूसरे के घरों में कार्यक्रम देखने जाते थे। कुछ दिनों से गाँव में कुछ रहस्यमय पत्र आने लगे थे। ज़्यादातर पत्र दिल्ली से आते थे। ये पत्र पुराने अखबारों के ज़रिए लोगों में बाँट दिये जाते थे। उनमें तरह-तरह के प्रलोभन होते थे। एक मामूली-सी पहेली हल कर आप रेडियो, कैमरा, घड़ी या फिर टेलीविज़न के मालिक बन सकते थे। बस आपको इनाम पाने के लिए कुछ पैसा दिल्ली के पते पर भेजना होता था। यह पैसा डाक खर्च के नाम पर माँगा जाता था। पैसा कुछ ज़्यादा नहीं होता था, फिर भी गाँव के बहुत सारे लोग इन पत्रों पर अपना पैसा लुटा चुके हैं।

माँ अपने लकड़ी के शटर वाले टेलीविज़न को खोल चुकी थी। शटर के खुलने की आवाज़ के साथ ही शाम की सीढ़ियाँ चढ़ने की गति तेज हो गयी। सीढ़ियाँ घुमावदार थीं। शाम चढ़ते-चढ़ते उनको गिनता भी जा रहा था, एक, दो, तीन।' तभी पड़ोस के घर की एक छोटी-सी खिड़की से एक जैसी दिखने वाली दो लड़कियों ने अपने सिर बाहर निकाल लिये। पड़ोस का घर लाल ईंटों को बना था। यह किलेनुमा घर काफ़ी दिनों से खाली था। वहाँ एक नौकर वाशिंग-मशीन से करण्ट लगने के कारण मर गया था। वाशिंग-मशीन इनाम में मिली थी। लोगों को अक्सर उस घर

से वाशिंग-मशीन के चलने की आवाज़ आती थी। इसी कारण कोई भी उस घर को लेने के लिए तैयार नहीं था। फिर यह दो लड़कियाँ? दोनों लड़कियों की शक्ल एक जैसी। शायद नये किरायेदार, मकान-मालिक या फिर उनके भूत? चुड़ैलों जैसे सिर चढ़ कर बोलते हैं यह किरायेदार। एक के मुँह पर लाल लिपस्टिक और सफ़ेद पाउडर। दूसरी की दो चोटियाँ, लाल रिबनों से बँधी हुईं। 'शाम की अक्ल क्या घास चरने गयी थी कि इन छलावों से बात करता?', पर ने कहा और परछाईं ने सुना। वह गोल-गोल घूमता रहा। तेज बहुत तेज छत तक पहुँच ही नहीं पा रहा था। शाम को लगा कि वह घूम-घूम कर एक ही जगह पर वापिस आ रहा है। तभी दोनों लड़कियाँ एक साथ बोल पड़ी', ऐ! तुझे लकवा नहीं चकवा मार गया है।' और फिर एक ही, ही और दूसरी खी, खी कर हँसने लगी। शाम अब हाँफ़ रहा था। पर इस दौरान उसने गिनना जारी रखा था। लड़कियाँ शाम की इस आदत को बड़े शौक से देख रही थीं। थोड़ी देर बाद उन्होंने भी शाम के साथ ज़ोर-ज़ोर से गिनना शुरू कर दिया। जब गिनती हज़ार तक पहुँची तो दोनों ने एक साथ पूछा, 'ऐ तेरा नाम क्या है?'

'ऐ, तेरा नाम क्या है?'

'क्यों पूछती हो?', शाम हाँफ़ते हुए।

लड़कियाँ फिर एक साथ बोलीं, 'बस ऐसे ही। जान-पहचान तो होनी चाहिए। हमने कल ही इस घर में शिफ़्ट किया है।' शाम गिनती भूल कर बोला, 'और आज से टोटका करना भी शुरू कर दिया? जादूगरनियों यह जादूगीरी अधिक देर नहीं चलेगी। चल ताला खोल। मुझे आज़ाद कर। मुझे ऊपर जा कर एण्टीना ठीक करना है।'

'एक शर्त पर!'

'वो क्या?'

'बस कायदे का पहला अक्षर 'क' मत भूलना।'

'ठीक है। समझ गया।'

शाम अब छत पर खड़ा था। आसमान सुबह से छह बार रंग बदल चुका था। उसने हिसाब लगाया कि सुबह से इतना कुछ घट चुका है कि अगर हर एक घटना का अर्थ निकाला जाए तो ऐसी कितनी ही सुबहें बीत जाएँ। पीछे बन्दर नाच रहे हैं, सामने डाल पे मानस अजगर। एण्टीना बरगद की डाल पर फिक्स किया गया था। उसने ध्यान से एण्टीना दक्षिण की ओर घुमाना शुरू किया, उसको शान की एक बात याद आयी। एण्टीना हिलाने से बहुत सारे पक्षी एण्टीना छोड़ छत की मुण्डेर पर आ बैठे। शाम ने छत से नीचे झाँका, माँ दिखी। माँ नीचे खिड़की पर खड़ी थी।

'अभी तक चश्मा नहीं उतरा?' ऐसा बुदबुदाकर शाम ज़ोर से चिल्लाया, 'आया।!'

माँ के काले चश्मे में सारा ब्रह्माण्ड दिखने लगा जब उसने ऊपर देख कर चिल्लाया,

'नहीं!'

मानस अजगर डाल पर पड़ा सुस्ता रहा था। सामने दूसरे देश का आसमान दिख रहा था। पिता जी की बीन से मस्ताया अजगर अगर थोड़ी मदद करे तो उसकी पूँछ पकड़ पुंश से कूद पार पहुँचा जा सकता है। पिता जी बीन खूब

बजाते थे। सामने देश का सिग्नल एकदम साफ़ जबकि अपना दूरदर्शन घूमा-घूमा कर भी न आवे। मानस अजगर को शाम की आकांक्षाओं की भनक थी वरना वो ऐसे ही आँखें मूँदे न बैठा रहता। सामने आसमान साफ़ हो रहा था। यह आज उसका सातवाँ रंग था। छत पर गमले और गमले पर हरी काई। शाम को हरी काई देखकर सुकून मिलता था। गमले की काई। बरगद की डाल। सामने सातवें रंग का सातवाँ आसमान। काले कौए। पीला अजगर।

लाल बाल्टी। टपकता नल। नीचे गली में राणो अपनी पसन्दीदा लाल बाल्टी में पानी भर रही थी। शाम को इस बात का मलाल था कि वो कभी भी राणो का मन नहीं पढ़ पाया। असल में शाम कभी किसी का मन नहीं पढ़ पाया था। उसको बड़ा अचरज़ होता, जब वह कोई उपन्यास पढ़ते वक़्त पाता कि लेखक को तो यह तक पता है कि फलाँ पात्र क्या सोच रहा है, क्या करने वाला है। उससे प्रेरणा पा कर शाम भी लोगों के बारे में ग़लत-सलत अन्दाज़े लगाने लगता और अक़्सर मुश्किल में पड़ जाता। जैसे कि सामने से नीरू आता दिखा तो शाम ने अन्दाज़ा लगाया कि या तो यह किराने की दुकान से आ रहा है या फिर नाई की। दोनों क़यास ग़लत थे। नीरू दिल्ली से आया था। नीरू दिल्ली से राष्ट्रपति के चुनाव के लिए अपना नाम रजिस्टर करवा के लौटा था। पिछले कुछ दिनों से नीरू लगातार राष्ट्रपति का चुनाव लड़ रहा था। हम अपना असली गाँव दूसरे देश को हार चुके थे। जबकि जंग हमने जीती थी। उसके राष्ट्रपति बनने का प्रयोजन केवल यह भर था कि हमें अपना गाँव वापिस मिले। शाम की समझ में यह कभी नहीं आया कि कोई जीत करके भी कैसे हार सकता है। नीरू के दादा जी उस इलाके के पहले ग्रेजुएट थे। उनकी अपनी एक लम्बी-चौड़ी जागीर थी। कई किलो मीटर लम्बा बाग जिसमें एक झील थी। उस झील के किनारे गाँजे, भाँग के पौधे बहुतायात में पाये जाते थे। नीरू के दादाजी अपनी ग्रेजुएशन के बाद उसी झील किनारे आ बस गये। उन्होंने झील के पास ही एक छोटी-सी झोंपड़ी बना ली थी। रायराजा जी अपनी चिलम पी कर मस्त झील के किनारे पड़े रहते जब तक एक दिन दुश्मन फ़ौज ने उन्हें आकर नहीं उठाया।

शाम छत पर खड़ा सोच रहा था। टेलीविज़न पर कार्टून खत्म हो चुके थे। अब वक़्त हो चला था। शाम ने फिर से एण्टीना घुमाया। इस बार टेलीविज़न ने सिग्नल पकड़ लिया। वक़्त की आवाज़ के साथ शाम सीढ़ियाँ नीचे उतरने लगा। मुँडेर पर बैठे पक्षी वापिस एण्टीना पर आ बैठे। वह सीढ़ियाँ एकदम धीरे-धीरे उतर रहा था। अब की बार तो गिनी भी नहीं। आखिरी सीढ़ी पर पाँव न रख उसने कूद कर पार की। जेब में ठनक हुई। माँ ने शाम की ओर देखा, उसने अपनी नज़रें झुका लीं। दोनों जुड़वाएँ खिड़की खोलकर देख रही थीं। शाम की जेब में पीतल की पीली डिब्बी थी। सीढ़ियों और रसोई के बीच में बैंगनी रंग के फूलों की क्यारियाँ थीं जिसे दादी ने बड़ी मेहनत से सफ़ेद कंकरों से सजाया था। शाम को यह रोज़ एण्टीना ठीक करना व सीढ़ियों से उतरने-चढ़ने का उपक्रम किसी साँप-सीढ़ी के खेल के समान लगता था। सीढ़ी उतरते वक़्त ऐसा लगता जैसे कि मानस अजगर ने डस लिया हो। उसने अपने इस खेल को कुछ और परिपक्व किया। कुछ दिनों बाद वह सीढ़ियों के बजाय मानस अजगर की पूँछ पकड़ कर ही नीचे उतर आता था।

शाम को पता था कि अब टेलीविज़न देखने से तो कोई फ़ायदा नहीं। वह जाकर रसोई के दरवाज़े पर खड़ा हो गया। माँ अन्दर काम कर रही थी। रसोई बाहर से मटमैली, पीली व भीतर से काली थी। खिड़की से हरे रंग का अमरूद का पेड़ दिखता था। शाम की जेब में अब भी पीली पीतल की डिब्बी सुरक्षित थी, पर अब उसका आकार बदल कर उल्लू जैसा हो गया था। माँ ने साड़ी बदल ली थी पर उसकी आँखों पर अब भी काला चश्मा था। जब उसने शाम के खाने का डिब्बा आले में रखा, उसकी हरी चूड़ियों की अजीब खनक हुई। आज शाम रोज़ के इस उपक्रम को तोड़ने के

चक्कर में था। कनखियों से देखते हुए उसने माँ को बेहद पतली आवाज़ में पुकारा :

'माँ, माँ' मैंने किताब में पढ़ा था।'

'क्या, क्या पढ़ा था?'

'यही कि अगर मैं तेरी हथेली पर उल्लू की आँखें रख दूँ, तू भविष्य देख पायेगी।'

'अच्छा? पर तू ही तो है!'

'क्या मतलब?'

'मेरा काठ का उल्लू।'

शाम इस अपमान को सह न पाया। अन्तिम वाक्य तीर की तरह चुभा। उधर माँ यह सब भूल कर खाने के डिब्बे को बन्द करने का प्रयास कर रही थी। शाम ने जेब से पीतल की डिब्बी निकाल ली।

'धातू का उल्लू!'

'ज़ोर से चिल्ला कर शाम ने कहा, 'यह ले!'

दो आँखें हवा में तैरती हैं। धातू का उल्लू अपना मुँह खोलता है। तभी पिता जी की चीख सुनायी देती है। शाम की तन्द्रा दूसरी चीख से टूटी। पहली चीख पिता जी की व दूसरी चीख छोटी बहन प्रभा की थी। शाम को अहसास हुआ कि बहन नींद से उठ गयी लगती है। दरवाज़े पर बीचों-बीच पिताजी अपना पैर पकड़ कर दर्द से नाच रहे थे। प्रभा अपनी खाट पर खड़ी थी। शाम को देख वो दूर से ही चिल्लायी, 'भैया, लगता है कि पिता जी को बिच्छू डस गया है। फ़ौरन डॉक्टर को बुलाइये।' शाम को ऐसा लगा जैसा कि प्रभा की आवाज़ कोसों दूर से आ रही हो। दोनों जुड़वाएँ अपनी खिड़की खोल इस पूरे प्रकरण को बड़े चाव से देख रही थीं। जंगम दरवाज़े पर आकर गाने लगे थे। उनकी घण्टियों की आवाज़। पिता जी की चीख। माँ की आँखों पर उल्लू की आँखें जन्म लेती हैं। जंगम की घण्टी में एक सिक्का गिरता है। अचानक पिता जी की चीख थमी। 'भैया!' इतनी देर में प्रभा फिर से चिल्लायी, 'चूल्हे के पास गिरा चश्मा पिघल रहा है, लगता है विष का असर भी उतर रहा है। पिता जी नीले हो चुके हैं।'

समस्त वातावरण एकदम शान्त हो गया। पक्षी वापिस चहचहाने लगे। पहले तो मानस अजगर भी लगातार मुँह से विष की झाग निकालता हुआ फुंकार रहा था। अब शान्त है। शायद वापिस सो गया है। शाम को इस बात का आश्चर्य ज़रूर हुआ कि इस दौरान दादी गायब थी। शाम के भीतर का आत्माराम। समझना होगा तटस्थता के इस ढकोसले को। इस सपने की विवेचना करने का दम तो शायद किसी में नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि कभी कुछ हुआ ही नहीं था या फिर यह रोज़ ही होता है। 'माँ, पिता जी आप दोनों की तो दो-दो जीभें हैं और दादी की तीन, मैं आप लोगों के बीच सुरक्षित कैसे हूँ? अपनी इस कटी हुई जीभ को लेकर?, शाम भय और आक्रोश से चिल्लाया। 'जैसे दाँतों के बीच जीभ सुरक्षित रहती है वैसे ही तू हमारे बीच में', दादी वापिस घर में आ चुकी थी। 'तेरे दादा चार-चार जीभें लेकर भी न बच पाये, हम सब की क्या औक़ात?' पर दादी की तीन जीभों से कही बात तो हमेशा सच्ची होती है, चल बता आत्माराम का क्या रहस्य।' 'तो सुन! रोज़ लड़ो ताकि कभी लड़ाई असली न हो।'

शाम दादी के सामने ऐसे खड़ा था जैसे कि उसे किसी ने वश में कर लिया हो। सामने दादी लगातार बोलती जा रही थी। उसके शब्द ध्वनि खो चुके थे। बोली मूक थी। बालक बहरा हो गया था। बाहर पिता जी इनाम में मिले स्कूटर को किक मार रहे थे। स्कूटर का रंग पीला था। इंजन चालू होने की आवाज़ के साथ ही बहुत सारे काले बीज शाम की हथेली पर आ गिरे। ये काले बीज दादी के जमे हुए आँसू थे। पिता जी ने समझाया कि जबकि माँ के जमे हुए आँसू मोती हैं, दादी के काले बीज। समय के साथ सफ़ेद मोती ही काले बीजों में बदल जाते हैं। हौसला रख और बादलों पर उधेड़-बुन करती हुई परछाई से कभी भी समझौता न करना। मोती काले वही करती हैं। और एक आखिरी बात, कक्षा में प्रथम अवश्य आना।

'आज का सबक याद है?'

'हाँ।'

'तेरी भाषा किताबों की नहीं है, यह अच्छी बात है। चल पीछे बैठ जा। धूर्त लघु का हिसाब करना है, द्रुतगति से जायेंगे। तू हवा से बातें कर लेना। यह भी सूँघना कि आखिर समस्या क्या है?' शाम की हवा से ही अफ़वाहें सूँघ लेने की शक्ति से पिता जी काफ़ी प्रसन्न थे। उन्होंने खुद भी बड़ी कोशिश की थी कि यह सिद्धि उन्हें भी प्राप्त हो, पर आत्माराम की गुत्थी सुलझाने की सज़ा उन्हें इस रूप में मिली थी कि उनके सूँघने की शक्ति ही चली गयी थी। शाम की यह खूबी कि वह अपने मस्तिष्क के अनेक हिस्से कर सकता था, खूब काम आयी। वह मन ही मन आत्माराम की गुत्थी सुलझा चुका था। इसलिए वो बिना हिचक-उचक कर स्कूटर के पीछे बैठ गया था। नीले पिता जी पीला स्कूटर चला रहे थे। पीछे बैठा हुआ शाम अपना सबक दोहरा रहा था। स्कूटर पके हुए गेहूँ के सुनहरी खेतों से निकल रहा था। स्कूटर काली सड़क पर चल रहा था। स्कूटर कच्ची सड़क पर रेंग रहा था। स्कूटर कीचड़ में फँस गया था। स्कूटर चौक से निकलता हुआ एक संकरी गली के मुहाने पर आ रुका था। शाम ने स्कूटर पर बैठे-बैठे ही आवाज़ लगाई।

'शान!'

सब शान्त। सन्नाटा।

शाम नीचे उतरा। थोड़ी देर इधर-उधर ताक-झाक करने के बाद वह वापिस स्कूटर पर आ कर बैठ गया। पिता जी बिना कुछ बोले स्कूटर को रेस दिए जा रहे थे। पिता जी का रूप देख शाम वापिस नीचे उतरा और उसने फिर शान को आवाज़ लगायी।

'शान!'

सब शान्त। सन्नाटा।

शाम को शक था कि हो न हो शान ने मेरी आवाज़ सुन ली है पर जवाब नहीं दे रहा है। 'हम अक्सर यह खेल खेलते हैं', ऐसा कह शाम ने खिसयायी नज़रों से पिता जी की ओर देखा और तुरन्त गली के अन्दर भाग गया। पिता जी ने कुछ देर खाली अँधेरी गली की ओर देखा और फिर वो चुपचाप सिर झुका कर स्कूटर को वापिस मोड़ने लगे। इतने में उनकी नज़र गली में झाड़ू देती औरत पर पड़ी। पास में ही बिल्ली दूध पी रही थी। पिता जी ने ध्यान दिया कि बिल्ली और औरत की शक्ल बिल्कुल एक जैसी है।

उधर शाम असमंजस में था। आत्माराम की गुत्थी सुलझाये कि सीधा जाकर दरवाज़ा खटखटाये। दरवाज़ा खटखटाने में मुसीबत थी। शान की माँ को पहेलियाँ कहने की आदत थी। पहेली का उत्तर देने पर ही दरवाज़ा खोला जाता वरना बाहर खड़े-खड़े ही इन्तज़ार करना पड़ता था। शाम के आवाज़ देने पर जब शान का कोई उत्तर नहीं आया तो शाम को शक हुआ कि हो न हो शान की माँ ने उसका मुँह दबा कर रखा हुआ है। अब पहेलियाँ बूझनी पड़ेंगीं। शान की माँ का पहेलियाँ कहने का अन्दाज़ निराला था। उसने अपने दरवाज़े पर छोटी-छोटी खिड़कियाँ लगा रखीं थीं। असल में वो दरवाज़ा न होकर छोटी-छोटी खिड़कियों से बना एक झंझाल था। शान की माँ कभी कोई भी खिड़की खोल कर पहेली पूछ सकती थी। शाम को डर था कि कहीं कोई ग़लती न हो जाये। दमारि ने तो समझा-बुझा कर भेजा था। क्या मुसीबत! जैसे ही शाम दरवाज़े के समीप गया ऊपर से जलते अंगारों की वर्षा होने लगी। तभी शान की माँ ने सबसे ऊपर वाली खिड़की खोल कर बोला, 'स्वागत है।' शाम थोड़े क्रोधित स्वर में बोला, 'पहेली पूछो।' अचानक सबसे नीचे वाली खिड़की खुली, 'आप-पार पित्त मंझ सुनने दी लित्त?'

'ज़बान!'

अचानक नीचे वाली खिड़की बन्द हुई और ऊपर वाली खुल गयी। फिर खिड़कियाँ निरन्तर बदलती ही रहीं।

'इक घड़ी ओह!'

'परछामा। पर। परछाई।'

'औ आया हा तूं गेआ हा, तूकी मेरे तक्का लग्गा हा। तू रोन की लग्गा हा?'

'हे, हे, भित्त। दर-दरवाज़ा तेरा।'

'उल्टा खल्लडू कैं कैं, कुत्ते दौं दौं, कुत्ते त्रै-त्रै।'

'निक्का जेआ फकीर ओदे टीड्डे उप्पर लकीर?'

'मेरे विधार्थीया ए बजात पुज्ज!'

'चिट्टी तरती काला बीं, आक्खे मानुआ जी।'

'कताब-किताब-पुस्तक।'

'अब बता, और पहेलियाँ तो न बूझा।'

'अच्छा! पर पहले आत्माराम की गुत्थी तो सुलझा!'

शाम अपने दोनों कानों पर हाथ रख कर ज़ोर से चिल्लाया।

'अभी नहीं!'

'फिर कभी?'

शाम ने भाग कर अपनी नाक दरवाज़े के साथ सटा दी। उसकी नाक चपटी थी। तभी ऊपर से एक गमला नीचे आ गिरा। गमले में गैंदे के फूल थे।

'मैं, मैं मानता हूँ।'

शाम के ऐसा बोलते ही दरवाज़े के बीचों-बीच जड़ी हरी खिड़की अपने आप खुल गयी। खिड़की पर कोई भी नहीं था। उसमें से घर का दालान दिख रहा था। दूर टेबुल पर बैठा शान जल्दी-जल्दी अपना होमवर्क निपटा रहा था। शाम को सारा नाटक सार समझ में आ गया।

'तूने जो गाँठ पाठशाला में बाँधी थी उसका हल केवल की दुकान में है।'

'जानता हूँ। अब तो दरवाज़ा खोल।'

शान की माँ को पूरा विश्वास था कि अगर उसने दरवाज़ा खोल दिया तो शाम किसी तूफ़ान की तरह प्रवेश कर तबाही मचा देगा। फिलहाल उसने उसे टालना ही बेहतर समझा।

'आत्माराम मर कर वापिस आ चुका है।'

'जानता हूँ।'

और फिर कुन्तो ने दरवाज़ा खोल दिया। सामने खड़ा शान मुस्कुरा रहा था। 'मुझे सब पता चल गया। माँ ने सब सवाल पूछ लिये। देख लेना इस बार मैं ही प्रथम जाऊँगा। 'देख लूँगा,' शाम जेब में हाथ डालते हुए बोला। 'अब चल बहुत देर हो गयी है, आज मास्टर जी हिसाब की परीक्षा लेंगे। पाईथागोरस की थयोरीस याद कर लेना अच्छी तरह से।' अब तक शाम और शान दोनों दरवाज़े से बाहर आ चुके थे। शान की माँ ने झट से दरवाज़ा बन्द कर लिया। तभी एक खिड़की खुली।

'कितने बीज थे?'

'पौने नौ'

'कहाँ छुपाए थे?'

'धरती में।'

'उन फूलों की ख़ासियत क्या है?'

'यही कि वह बचा भी सकते हैं और मार भी।'

शान इन सब बातों से उकता अपने नाखून सामने की दीवारों में छुपा रहा था। छुपाने से पहले वह नाखूनों को अपने काले दाँतों से काट रहा था। और जब रहा नहीं गया, अपनी घड़ी की ओर देखने लगा। टिक, टिक, टिक। शाम नीचे देख रहा था, शान ऊपर। तभी ऊपर से एक और गमला नीचे गिरा। 'बाल, बाल बच गया बालक', शान हँसते हुए बोला। 'तेरी माँ का दिमाग़ खराब है। ज़िन्दगी को वीडियो गेम की तरह खेलती है। किसी को मारेगी एक दिन', शाम

दाँत पीसते हुए बोला 'छोड़ यार, समय ताक, हमें देर नहीं हो गयी?' दमारि को समय रोकने के लिए रोक देंगे। 'हे, हे!' दोनों हँसने लगे थे। दोनों एक-दूसरे का हाथ पकड़ कर पाठशाला जाते थे। शाम, शान का हाथ पकड़ना चाहता था, पर शान अपनी किताबों को सँभालने में ही लगा हुआ था। तभी उसके हाथों में से किताबें छूट कर नीचे गिरने को हुई, शाम ने अद्‌भुत तरीके से उनका बचाव कर लिया। ऊपर एक कौआ करंट लगने के कारण खम्बे पर उलटा लटक गया। गाँव में बिजली आ चुकी थी। दोनों जुड़वाँओं ने खिड़की खोल एकसाथ आकाश में थूक दिया। लड़कियाँ कूद कर किताबें पार कर जाती हैं। पेड़ पर चढ़ती हुई कुन्तो ने आसमान में फैलते थूक को बलॉटिंग-पेपर से सोख लिया। उसने जुड़वाँओं को मारने के लिए विष उन्हीं के थूक से तैयार किया था। किताब के अन्दर तरह-तरह के पैट्रनस बन गये थे। यह सब गणित की पुस्तक के पहले पृष्ठ पर हल किया हुआ सवाल था। शान घबरा कर रोने लगा तो शाम ने आकर उसकी पीठ थपथपायी, बोला, 'घबरा मत, कल नहा-धो के आना, तुझे एक मूनस्टोन दूँगा।' शान को कुछ ढाँढ़स बँधा तो उसने आँसू पोंछते हुए शाम से पूछा कि क्या वो वाकई में अपनी दादी के माथे पर चिपका हुआ चाँद चुरा सकता है? उधर शाम को इस बात की कतई परवाह नहीं थी कि दोनों कबूतर छुप कर उनकी बातें सुन रहे थे, बल्कि उसने तो और ज़ोर-ज़ोर से बोलना शुरू कर दिया। 'अँगूठी में डालने से प्राण तो बच जायेंगे।' 'तो क्या अपोलो को मारने वाले अजगर का नाम मानस था? क्या वह तेरी दादी का नाती था? पर मणि उसके माथे पर क्यों कर नहीं थी?' दोनों की इस बातचीत के दौरान एक आदर्श दृश्य का निर्माण हुआ : 'दादी का चरखा साईकल के पहिये से बना हुआ है जिससे रुई की जगह बादल निकल रहे हैं। चाँद चुगने से दादी की हरी धमनियों में स्पन्दन हुआ और उसके मुँह से आवाज़ निकली; 'मूनस्टोन!'

तभी शान, शाम को झँकझोड़ कर बोला कि उसे उसकी सुकरात की तरह एक जगह खड़ा हो सोचने की बीमारी से नफ़रत है। मुँह उठा आकाश की ओर देखने को सोचना नहीं माना जा सकता। अगर शाम को ऐसा ही करना है तो वह अकेला ही पाठशाला जाया करे। वैसे भी घर से बस-स्टैण्ड का रास्ता बहुत लम्बा है। शाम तुझे पता है, मैं क्या पढ़ता हूँ?

'हाँ'

'क्या 'हूँ'? बता पता है कि नहीं?'

'अगर तू इतना जानता है तो उतना तो पढ़ता ही होगा।'

'मैं हर रोज़ पढ़ता हूँ छोटी-छोटी हज़ारों किताबें।'

'किताब ही पढ़ता है या फिर उसकी ज़िल्द भी?'

'मतलब?'

'मतलब यह कि अगर तू किताब पढ़ता है तो मैं जानना चाहता हूँ कि तू उसमें क्या पढ़ता है?'

'माने?'

'अच्छा चल हिसाब लगा, पहले तू पढ़ता है अक्षर, फिर शब्द, वाक्य, पूरा पैरा, पन्ना, अध्याय इत्यादि।'

'हाँ, ऐसे ही पढ़ता हूँ।'

'फिर थमता कहाँ है?'

'कहानी या फिर किताब के आख़िरी पन्ने पर।'

'हूँ'

'क्या 'हूँ'? बता पता है कि नहीं?'

'अगर तू इतना जानता है तो उतना तो पढ़ता ही होगा।'

'मैं हर रोज़ पढ़ता हूँ छोटी-छोटी हज़ारों किताबें।'

'किताब ही पढ़ता है या फिर उसकी ज़िल्द भी?'

'मतलब?'

'मतलब यह कि अगर तू किताब पढ़ता है तो मैं जानना चाहता हूँ कि तू उसमें क्या पढ़ता है?'

'माने?'

'अच्छा चल हिसाब लगा, पहले तू पढ़ता है अक्षर, फिर शब्द, वाक्य, पूरा पैरा, पन्ना, अध्याय इत्यादि।'

'हाँ, ऐसे ही पढ़ता हूँ।'

'फिर थमता कहाँ है?'

'कहानी या फिर किताब के आख़िरी पन्ने पर।'

'और यहीं पे तू मार खा गया!'

'तो तू क्या पढ़ता है, और कैसे?'

'मैं किताब के साथ-साथ उसकी जिल्द, नीचे रखे टेबुल, स्टाल, बाज़ार, गाँव, प्रान्त और देश तक को पढ़ जाता हूँ। समझ इसी को कहते है।'

'अच्छा, चल बता फिर, जो जैसा है वह कैसे बनता है या वैसा क्यों है?'

'जैसे सम से बनी समझ।'

'वैसे ताँबे से बना तालोस!'

'या जो जैसा है वैसा क्यों है? और जो जैसा है वैसा ही क्यों नहीं है?'

रास्ता साफ़ और हरा था। पेड़। पौधे। कँटीली झाड़ियाँ। सुनहरी धूप। इन सब से मिलकर ही निर्माण हुआ शाम के मस्तिष्क के अन्दर बँटते हुए रास्ते का। बाहरी रास्ता उसका प्रारूप मात्र है। बातों ही बातों में बस-स्टैण्ड आ गया।

शान अपना सर खुजला रहा था। उसे बुखार की खुमारी में रटी हुई निराला की एक कविता बार-बार याद आ रही थी। पर शाम की दुविधा दूसरे प्रकार की थी। 'सामने खिली धूप का वर्णन कैसे हो? लिख कर या बोल कर। कक्षा में अगर निबन्ध लिखना ही है तो क्यों न इसी विषय पर?' शान शाम से सहमत था। पहला मौका मिलने पर वो कविता सुनाने वाला था। दोनों खड़े-खड़े ऊपर ताकने लगे। बस-स्टैण्ड का शेड तरपाल के पुराने कपड़े से बना हुआ था। तरपाल धूप को किसी तरह रोक लेता था पर बरसात में टपकने लगता। लोग एक-दूसरे के साथ सट कर खड़े होते थे।

'आज गीदड़ की शादी है, धूप तेज़ है, बारिश भी आ सकती थी।' शाम शान को मनाने के अन्दाज़ में बोला। शान के बगल में एक औरत खड़ी थी। शाम थोड़ा दूर खड़ा था। वहीं से चिल्लाकर बोला,

'आप टीचर हो?' औरत इस अप्रत्याशित सवाल से सकपका-सी गयी, फिर खुद को संयत कर थोड़ा ज़ोर से बोली,

'हाँ, पर एक सरकारी स्कूल में।'

इतनी देर में पास खड़ा शान फुसफुसा कर बोला,

'फिर तो आपकी दिशा उलटी है।'

'हाँ जानती हूँ। धूप की वजह से यहाँ छाया में आ गयी। बारिश भी तो आ सकती है।' अध्यापिका के इतना कहते ही जोर से बादल गरजने की आवाज़ हुई।

'और तुम?'

'हम तो इंग्लिश मीडियम में पढ़ते हैं।'

'ओह!'

औरत के ऐसा बोलते ही शान ने उसको टोका।

'ओह को इंग्लिश में कैसे कहेंगे या फिर हिन्दी में?'

'हिन्दी समझ में आती है?' मैडम ने पलटवार किया।

'हाँ, इंग्लिश से बेहतर ही।'

उधर शाम उचक-उचक कर देख रहा था। अचानक बोला,

'पैंजी देखिए, दूर, ऐसा लगता है कि आपकी बस आ रही है।'

तीनों बस की ओर देखते हैं। मच्छर की आवाज़। सन्नाटा। शाम, शान और मैडम एक साथ मच्छर की आवाज़ को सुन पा रहे थे। तीनों के सिर एक साथ हिलते हुए। शाम को दूर से आती बस के काँच से छिटकते तेज़ प्रकाश से अद्‌भुत प्रेरणा प्राप्त हुई। इतनी देर में शान भागती टीचर का पल्लू पकड़ लेता है। पल्लू पकड़ वह बड़े ढीठ अन्दाज़ में बोला कि अगर टीचर चाहे तो वह कुछ सुना सकता है। टीचर को शान के पल्लू पकड़ने का तरीके से गुस्सा तो

आया था पर वो बच्चों का दिल नहीं तोड़ना चाहती थी। उसने झटके से अपना पल्लू छुड़ाया और बोली कि सुनाओ तो ज़रूर पर ज़रा ज़ोर से चिल्लाकर। मुझे सड़क पार कर अपने बस-स्टैण्ड तक पहुँचना है। तुम्हारी आवाज़ वहाँ तक पहुँच जाएगी ना? बस-स्टैण्ड वीरान था। कम ही लोग वहाँ से बस पकड़ते थे। इसलिए शान को विश्वास था कि अगर शाम साथ दे तो आवाज़ टीचर तक निरन्तर पहुँचती रहेगी। उधर शाम के दिमाग में कुछ और ही चल रहा था। ऊबड़-खाबड़ ज़मीन पर साईकल चलाते वक़्त पीछे बैठी पद्मिनी का ध्यान अगर शाशे ने रखा होता तो आज यह नौबत न आती। झील में शिकारा चलाती पद्मिनी को शिकार ढूँढ़ने में कभी परेशानी नहीं हुई। वह दबंग मुँह में कमल का फूल दबाये उसके पास तो कभी नहीं आयी?' शामन की तो परवाह नहीं, पर कितना अच्छा होता अगर 'वह' वह ही रहता। झील में मानस अजगर का निवास था। पिता जी उसको वहीं से पकड़ लाये थे। यह सब चुलबुल चिड़िया की चाल थी। चालाक, गाती हुई चुलबुल। मेरे पिता जी को चुलबुल चिड़िया से बड़ी नफ़रत है। कारण शामन जानता था। पल भर में ही यह सब विचार शाम के मन से निकल आँखों के सामने नाच रहे थे। आँखें मिचमिचाकर सामने देखा तो कुछ और ही नज़ारा था। टीचर काली सड़क पर भाग रही है। चाल इतनी धीमी कि लगे समय ठहर गया है। बादल ज़ोर से गरज रहे हैं। बिजली चमक रही है। तेज़ धूप बादलों को चीर सड़क की टार से टकरा रही है। आज सचमुच गीदड़ों के यहाँ शादी थी। भागती टीचर को पैरों के नीचे चिपचिपा-सा अहसास हो रहा था। शाम को अन्दाज़ा हुआ कि गीले टार की वजह से ही टीचर की चाल धीमी है। भागने में ज़ोर लग रहा है। दूर पहाड़ी से बस आती दिखायी दे रही है। टीचर बस-स्टैण्ड की ओर भाग रही है। दोनों बालक एक साथ चिल्लाते हैं। दोनों के बाएँ हाथ, बाएँ कानों पर हैं :

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !

राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,

घर, मरू, तरू-मर्मर, सागर में,

सरित्-तड़ित-गति-चकित पवन में

मन में, विजय-गहन-कानन में,

आनन-आनन में, रव-घोर कठोर-

राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

दोनों बालक मग्न होकर कविता चिल्ला रहे थे कि टीचर की बस आखिरकार बस-स्टैण्ड पर आकर रुकी। टीचर को इस पूरी प्रक्रिया में अज़ीब-सा मजा आया। टार पर भागना। बच्चों का चिल्लाकर कविता कहना। बस का धीरे-धीरे बढ़ना। कान के पास मच्छर का भिनभिनाना। यह सब सस्पैंस-थ्रिलर जैसा था। अजीब-सी व्यग्रता। टीचर का अपनी दबी हुई वेदनाओं से पहली बार सामना हुआ। कुछ पलों के लिए उसे लगा कि वह मन के अन्दर ही अन्दर कहीं स्पर्श कर पा रही है। अकस्मात् कथार्सिस। अब बारिश भी शुरू हो गयी थी। टीचर की आँखें भर आयीं। साड़ी सँभाल कर जब वह रुकी, बस भी ठीक सामने ही आ खड़ी हुई। क्षण भर के लिए टीचर को भी लगा कि वह रुक ही जाए। एक

बार तो बस मिस कर दे। कविता पूरी सुनने का मन था। फिर न जाने क्यों उसके विचार बदल गये। एक बार फिर से साड़ी सँभाली और बस के अन्दर घुस आयी। बाहर दोनों बच्चों ने कविता ज़ारी रखी हुई थी :

अरे वर्ष के हर्ष !

बरस तू, बरस-बरस रसधार !

पार ले चल तू मुझको,

बहा, दिखा मुझको भी निज

गर्जन-गौरव-संसार !

उथल-पुथल कर हृदय-

मचा हलचल-

चल रे चल,-

और बस धीरे-धीरे चल देती है। टीचर आवेश में किसी अन्धी की तरह सीटें टटोलने लगी। उसको लगा कि वह देख नहीं पा रही है पर सुन पा रही है असंख्य आवाज़ें। ऐसी प्रतीति हुई कि कानों ने आँखों की शक्ति खींच ली हो। तभी एक खुरदुरे हाथ ने टीचर के मुलायम हाथ को पकड़ अपनी तरफ खींच लिया। टीचर को सीट एक नौजवान मास्टर जी के पास मिल गयी। उधर बच्चों के पठन की आवाज़ धीरे-धीरे कम होने लगी थी। सम्मोहन भंग हुआ, टीचर ने देखा कि मास्टर जी उसकी तरफ ज़रा हैरानी से देख रहे हैं। मास्टर जी एक प्राईमरी स्कूल में अध्यापक थे। देखने में एकदम चुस्त व सुन्दर। मैचिंग पगड़ी पहनकर स्कूल जाते थे। न किसी को भला कहा न बुरा। बस अपने काम से काम। नौजवान थे और पढ़े-लिखे थे। इसलिए टीचर ने बुरा नहीं माना। खुरदुरा हाथ मास्टर जी का ही था। मास्टर जी ने तो उनको छेड़ने के लिए हाथ नहीं बढ़ाया होगा। वह खुद ही किसी अन्धी की तरह सीटें टटोल रही थी। मास्टर जी का तो ज़रा भी दोष नहीं। इस निष्कर्ष के बाद टीचर का मन हल्का हुआ और वह मास्टर जी की तरफ देख मुस्कुरा दी। पर मास्टर जी थोड़ा चिन्ताग्रस्त थे। उन्हें आशंका थी कि कहीं मैडम बुरा न मान गयी हो। वैसे उनका रैपुटेशन बुरा नहीं था, पर ग़लतफहमी की गुंजाईश हमेशा ही रहती है। अपना ध्यान बँटाने के लिए मास्टर जी सामने खिड़की की ओर ताकने लगे। खिड़की के शीशे पर झील का दृश्य चित्रित था। गहरी लाल झील पर काली नावें। अचानक उनका ध्यान बाहर देखती लड़की की आँखों की पुतलियों की ओर गया। पुतली बहुत तेज़ी से हिल रही थी। मास्टर जी ध्यान से आँख की इस हरकत को देखने लगे। मास्टर जी की पुतली लड़की की पुतली को देख रही थी। उन्होंने विचारा कि उनकी अपनी आँख की पुतली भी इतनी ही तेज़ी से आगे-पीछे हो रही होगी। इधर टीचर अपनी टाँगों से सीट के नीचे कुछ टटोलने लगी थी। मास्टर जी ने उनको टोका, 'यह क्या कर रहीं हैं आप?'

'बस ऐसे ही, आजकल बसों में ब्लास्ट जो होने लगे हैं। निरीक्षण कर रही थी।'

'देखिए मैडम जी', मास्टर जी थोड़ा मुस्कुरा कर, समझाने के अन्दाज़ में बोले, 'निरीक्षण आवश्यक है, पर उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है हमें अपनी शर्म उतारने की। अब जब आप सीधे सीट के नीचे झाँकने के बजाए, पैरों से टटोल

रहीं हैं, बहुत मुमकिन है कि बम आपके पैर को छूने से ही फट जाए।' मैडम जी शर्म से सिर झुका कर बैठीं हुईं थीं, बोली, 'नहीं,' नहीं, मास्टर जी शर्म की बात नहीं है।'

'फिर क्या बात है?'

'वो लोग ऐसे ही सीटों के नीचे बम थोड़े ही रखेंगे।'

'पिछली बार तो बम आटे की बोरी में छुपा कर रखा गया था। अब आटे की बोरी पर कौन शक करे?'

मास्टर जी फिर से बाहर देखने लगे थे। पेड़। पहाड़। नदी-नाले। बस बहुत तेज़ चल रही थी। मास्टर जी भागते पेड़ों के बीच में से दिखते न दिखते सूरज को टकटकी बाँध कर देख रहे थे। मास्टर जी की भागती पुतली। उनको अनेकों घटनाएँ स्मरण हो आयीं।

बीजी की आँखें हमेशा आम के पेड़ पर लगीं रहती थीं। 'कब भूर प्या, कब कच्चा, कब पक्का। मास्टर जी को अहसास था कि बीजी का आम के पेड़ के साथ रूहानी रिश्ता है। मास्टर जी मैडम जी को यह कहानी सुनाना चाहते थे। पर संकोचवश एक बार अन्दर ताकने के बाद वह फिर से बाहर देखने लगे थे। एक मोड़ पर बस धीमी हो एकदम रुक सी गयी थी। सामने बिल्कुल बीजी के पेड़ जैसा पेड़ था। एक बूढ़ा आदमी उसके नीचे परिश्रम कर रहा था। थोड़ी ही दूरी पर बूढ़े जैसा ही दिखने वाला एक नौजवान सिर झुकाये खड़ा था। तभी उसने तेज़ नज़रों से पेड़ की ओर देखा तो आम अपने-आप धड़ाधम नीचे गिरने लगे। आवाज़ ऐसी हुई जैसे बादल गरज रहे हों। पर इससे पहले कि आम उड़ कर पेड़ पर वापिस लग जाते, बच्चे उनको लूट कर ले जा चुके थे। 'उन आमों को खाकर बच्चों का क्या हाल होगा? शायद आम प्रसाद हो जाएँ! लूटने से फल का स्वाद बढ़ जाता है।' मास्टर जी ने यह बात बचपन से सुनी थी। उनके चाचा जी का कुकरों से भरा ट्रक गाँव के पास लूट लिया गया था। चाचा जी ट्रक ले कर दिल्ली से आ रहे थे। पास के गाँव वालों ने सड़क पर ग्रीस फैला रखी थी। ट्रक को रोक कर लूट लिया गया। अब सब गाँव वाले हाण्डी की जगह कुकरों में चावल पकाने लगे। या तो कुकर घटिया किस्म के थे या फिर गाँव वालों को कुकरों को इस्तेमाल करना नहीं आता था। घर-घर कुकर फूटने लगे। कितनों की छतें उड़ गयीं और कितने ही घायल हो गये। अब पता नहीं लूटे हुए आम खाकर बच्चों का क्या हाल होगा?

मास्टर जी कारण जान चुके थे। वह आँख मूँद सपना देख कर प्रसन्न हो जाने वालों में से न थे। बस में होने वाली घटनाओं का सीधा सम्बन्ध उनके मस्तिष्क से था। वह जो सोचते वही हो जाता। कभी-कभी तो रात को पढ़ी पुस्तक ही आँखों के सामने साकार हो जाती। मास्टर जी पढ़ते खूब थे। सोकर समय क्यों खराब किया जाए? इसके लिए उन्होंने ब्रेल सीख ली। सोते समय उनके मस्तिष्क का एक खास हिस्सा सक्रिय हो जाता, और अँगुली ब्रेल की किताब पर चलती रहती। इसी कारण मास्टर जी किसी से भी दुगने पढ़े-लिखे थे। उनकी आँखें उनकी अँगुलियों में थीं। इसलिए उन्होंने बिना मुड़े ही मैडम को अपनी ओर खींच लिया था। मास्टर जी को बस एक ही बात समझ में नहीं आयी कि यह सब चलती बस की खिड़की से बाहर देखने से ही क्यों प्रकट होता था?' उधर मैडम जी को बचपन से एक ही सपना बार-बार आ रहा था कि वो सपने में भाग नहीं पाती हैं। बहुत सारे लोग समझाते थे कि मैडम जी सपने में कोई भी नहीं भाग पाता है जबकि मैडम जी का मानना था कि वो अपनी माँ के आतंक के कारण भाग नहीं पाती हैं वरना सपने में भागना कठिन नहीं। मैडम जी आँख खोल कर भी सपना देख सकतीं थीं। इसी कारण उनके लिए यथार्थ और स्वप्न में निहित अन्तर धुँधला पड़ चुका था। मैडम जी को सपने खूब आते थे। एक ही सपना, कई

रूपों में। आँख खोलने और बन्द करने में। सादगी पसन्द करने वाली मैडम साड़ी पहन कर स्कूल जाती थी। उनका परिवार पर से विश्वास उठ चुका था और वो आजीवन कुँवारी रहना चाहती थीं। पिछले कुछ दिनों से सात पक्षी मैडमजी के कमरे का चक्कर काटने लगे थे। माँ जी जब उचक-उचक कर उनको भगाने लगीं, मैडम जी चिल्लायीं कि चिड़ियाँ ऐसे ही किसी के घर नहीं आती हैं। भगाओ मत बल्कि उनको घोंसला बनाने दो। माँ आहत हो मुस्कुरायी और बोली, 'देखना तू ही इनकी मृत्यु का कारण बनेगी।' कुछ दिनों के भीतर ही चिड़ियों ने कमरे के अन्दर अपने-अपने पुख्ता घर बना लिये थे। मैडम जी अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे ही इन पक्षियों का जीवन चित्रण करने लगीं। पहले तो उन्होंने सब पक्षियों का नामरण किया फिर हिम्मत कर उसने उनकी हरकतों की एक डायरी बनानी शुरू कर दी। धीरे-धीरे मैडम जी को पक्षियों की रिश्तेदारियाँ, झगड़े, दुःख-सुःख सब समझ में आने लगे थे। अब उन्हें लगने लगा था कि शायद वो उनकी भाषा भी समझ पा रही हैं। कुछ महीने मज़े से गुज़रे और फिर गर्मियाँ आ गयीं। सात में से पाँच पक्षी पंखे से टकरा कर मर गये। बाकी बचे दो को मैडम जी ने बाहर छोड़ दिया। उनमे से एक पक्षी बस की खिड़की से अन्दर घुस आया और मैडम जी के कन्धे पर बैठ कर गाने लगा। मास्टर जी ने खिड़की से अपनी आँखें हटायीं और कहा कि यह मैना है। मैडम जी मुस्करायीं और बोलीं, 'इसको आम बहुत पसन्द हैं। मास्टर जी और मैडम जी की हँसी छूट गयी। माहौल सहज हो चुका था। दोनों को लगा अब शायद वर्तमान के बारे में बात हो। मास्टर जी अचानक मैडम जी की ओर घूमे और उनकी आँखों में झाँकते हुए बोले कि वह सात पक्षी यात्री थे। 'यात्री'? पक्षी अक्सर इधर से उधर जाते ही रहते हैं इसमें खास क्या?' मैडम जी का तर्क था। 'नहीं, यह बात नहीं है, वह दिव्य पक्षी की तलाश में भटक रहे थे शायद ऐसा कहते हुए मास्टर जी के चेहरे पर दिव्य शान्ति थी। मैडम जी को उनका बात करने का तरीका भा गया था, बोलीं, 'खैर' डायरी पढ़ने से इसकी पुष्टि हो जाएगी पर मास्टर जी क्या मेरे पक्षी यात्रा छोड़ चुके थे? क्या वो थक गये थे? क्या वो लड़-झगड़ कर मेरे यहाँ विश्राम करने आये थे? क्या वो कायर नहीं थे या फिर गद्दार भी? पर क्या मालूम हो सकता है ये दो पक्षी तीस पक्षियों में से हों?' मास्टर जी बिना कोई जवाब दिये खिड़की के बाहर देखने लगे थे। मैडम जी धैर्य खो रहीं थीं। अब उन्हें सात पक्षियों का व्यवहार समझ आ चुका था। 'आपके सातों पक्षी उस महान यात्रा में शामिल हुए, यह निश्चित है। अब उन्होंने यात्रा बीच में क्यों छोड़ दी, यह जानना जरा मुश्किल है,' मास्टर जी ने बाहर देखते हुए ही बोला।

'पर बदली आपकी भी हो गयी थी न मास्टर जी, फिर आप यहाँ कैसे?'

'कुछ अज़ीब ही घटित हुआ, आपको खबर नहीं? कमाल है कल डेली में भी आया था।'

'पर हुआ क्या? आप जानते हैं कि अपने यहाँ अखबार दो दिन के बाद ही पहुँचता है। मास्टर जी ने अपनी दोनों टाँगें सीधी कीं और फिर सीट पर ही चौकड़ी मार कर बैठ गये। 'मेरी बदली यहाँ से कोई साठ-सत्तर किलोमीटर की दूरी पर हुई। बस वहाँ जाती नहीं इसलिए कुछ देर पैदल चला फिर खच्चर कर ली। थोड़ी देर बाद खच्चर भी जवाब दे गयी और मैं पैदल चलने लगा। कुछ ही दूर चला हूँगा कि रास्ता भूल गया। कोई दो-तीन घण्टे इधर-उधर भटकने के बाद आखिरकार मुझे एक स्कूल दिखा। मैं वहाँ किसी तरह पहुँचा। कोई दस-बारह छात्र थे जैसा कि अक्सर इस इलाके में होता है। मैंने हाज़िरी ली और फिर पढ़ाना भी शुरू कर दिया। जब मैंने इतिहास की किताब खोली तो लगा कि कुछ गड़बड़ है। तभी कहीं से एक वृद्ध सज्जन आ गये। मुझे देखकर चकरा से गये, बोले, 'भला-मानस कहाँ से आया है?' मैंने बोला, पूँछ पकड़ कर आया हूँ, तो बोले कि जैसे आया है वैसे ही वापिस चला जा। मुड़ कर मत देखना। मेरा थूक ही सूख गया। मैं पहाड़ उतर ही रहा था कि उसी व्यक्ति ने पीछे से आवाज़ दी, 'ढक्की ज़रा ज़रा

जल्दी ढलो मास्टर जी, आप दूसरे आसमान में हो!' बहन जी यह सुन ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगीं, बोली, 'मास्टर जी मैंने आपकी इस कहानी में एक विचित्र बात नोटिस की है।' मास्टर जी ने पूछा, 'क्या?' बहनजी बोली, 'वह आपको मैं कल इसी वक्त इसी बस में बताऊँगी। फिलहाल बस दूर चली जाती है।'

इधर यह दोनों बालक अभी भी बस स्टैण्ड पर खड़े-खड़े चिल्ला रहे हैं :

मेरे पागल बादल !
धँसता दलदल,
हँसता है नद खल्-खल्
बहता, कहता कुलकुल कलकल कलकल।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महाविकल-बेकल,
इस मरोर से-इसी शोर से-
सघन घोर गुरु रोर से
मुझे-गगन का दिखा सघन वह छोर!
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर ! *

*अन्तिम पक्तियां निराला जी की कविता की हैं

उपन्यास अंश

हिन्दू

जीने की समृद्ध कबाड़

भालचन्द्र नेमाड़े

मूल मराठी से हिन्दी अनुवाद

गोरख थोरात

आडवा डोंगर ऽऽ तयाला माझा नमस्कारऽऽ

तार आया कि पिताजी मृत्युशैया पर हैं। हम चार-पाँच आदमी चेयरमैन जिब्स के ऑफिस में बैठे थे। अगले साल रपट प्रकाशित करने से पहले हमारी कमिटी की आखिरी बैठकें कहाँ ली जाएँ - न्यूयॉर्क या लन्दन, कराची या दिल्ली - पर चर्चा कर रहे थे। ब्रिटिश म्यूज़ियम और बीबीसी दोनों मिलकर इस उत्खनन पर एक डाक्यूमेण्टरी बनाने वाले थे। खण्डेराव और अली ये काम स्वीकार करें, काफ़ी पैसा, साथ ही युवा पुरातत्ववेत्ताओं के लिए विदेश में काम करने का दुर्लभ अवसर। मैं मन ही मन अपने पीएच.डी. के काम का हिसाब लगाकर खुश हो रहा था कि ढह गया। अचानक तिवारी और मिश्रा धम से अन्दर घुस आए, पीछे से सांखलिया सर भी आए और जिब्स के कानों में कुछ बोले। बाद में उस्मान भी आया। यह सारा इण्डियन-पाकी स्टाईल में घुस आना देखकर जिब्स का चेहरा कुछ नाराज़ नज़र आ रहा था। फिर उन्होंने मुझे ही बाहर जाने के लिए कह दिया। पीछे-पीछे सभी ऑफिस के बाहर आ गये। डाकिया बड़े-से अँगोछे से सिर के पीछे कालर तले गर्दन का पसीना पोंछता खड़ा था। मैंने तार लिया और दस्तखत करते-करते जैसे-तैसे पढ़ा। दिमाग में सारा संचित पुरातत्व मिट गया और ऐसा दृश्य कौंध गया कि मोरगाँव के हमारे घर में पिताजी को भूमि पर लिटाया गया है और अब मेरे अलावा बाकी सब उनके इर्दगिर्द इकट्ठा हुए हैं। जलील सर भी हाँफते हुए तम्बू से बाहर आ गये। मैं वहाँ की कैण्टीन के तम्बू से टिकते-टिकते ढह गया। उस्मान ने मुझे पीछे से पकड़कर खड़ा किया। किसी ने मेरे हाथ से तार निकाल लिया। कोई पानी लाया। भागादौड़ी। भगदड़। मैं अपने आप को सँभालता हुआ दिमाग को शान्त रखने का प्रयास कर रहा था। किंकर्तव्यविमूढ़। कुछ-कुछ लगता था कि ज़िन्दगी में कभी न कभी घटित होने वाला कुछ तो घट रहा है। तीन-चार आदमी मुझे खींचकर तम्बू में ले गये।

कैण्टीन वाला चाय लेकर आया। सांखलिया सर मेरे गाँव सम्पर्क करने के लिए मुझसे ट्रंक नम्बर ले गये। झल्लाकर और परेशानी से वे ट्रंक फोन पर चिल्ला-चिल्लाकर बोल रहे थे।

थोड़ी देर बाद वे फिर मेरे पास आये। खण्डेराव, सभी को यह निभाना ही पड़ता है। मेरे पिताजी भी इसी तरह ...तब हम नालन्दा में थे, ऐसे ही एक उत्खनन शिविर में थे। तब तो सफ़र के ऐसे साधन भी उपलब्ध नहीं थे। सौराष्ट्र में मेरे गाँव ऊँट से पहुँचने पर एक आदमी से मालूम हुआ कि पिताजी शान्त हो चुके हैं। खैर, यहाँ का हम सँभाल लेंगे। तुम पहले दिल्ली से भुसावल पहुँचो। रेल में काम करने वाले तुम्हारे जीजाजी से अभी ट्रंक पर बात हुई है। घर पहुँचने पर ख़बर करना। तिवारी और मिश्रा तुम्हारा सारा सामान डेक्कन कॉलेज पहुँचाएँगे। तुम चिन्ता मत करो। अली का भाई तुम्हारा सारा इन्तजाम कर रहा है। तुम तो इकलौते बेटे हो। हिन्दू रिवाज के मुताबिक पिताजी को तुम्हारी गोद मिलनी ही चाहिए, और अब मुखाग्नि भी तुम्हीं को देनी पड़ेगी। यहाँ से आज रात तक लाहौर पहुँचने का इन्तजाम हो रहा है। और कन्धा थपथपाकर वे बाहर चले गये। सभी अमरीकन और पाकिस्तानी मित्र एक-एक करके बैठकर चले गये। इसी दौरान जैतली और ढवले सर दोनों ने मेरा तम्बू में बिखरा पड़ा सारा सामान दो बड़ी-बड़ी सन्दूकों में भरकर बन्द करके रख दिया। जलील सर बीच में एक बार आकर कह गये, लाहौर-बाघा बोर्डर का क्लीयरेन्स हुआ ही समझो, अली का भाई फौज में आला अफ़सर है।

अली का और मेरा लारकाना से एक ट्रक पर सवार होकर लाहौर के लिए तुरन्त चल पड़ना तय हो रहा था। थोड़ा खाकर निकलो। एक अमरीकी डॉक्टर मित्र ने कहा, ऐसे समय शरीर को पानी की ज़्यादा ज़रूरत होती है, बड़ी-सी पानी की बोतल भर लो। निकलने तक ऐसा लगता रहा जैसे दिलवर के ढाबे की ओर पैदल जाते समय सामने से अचानक एक ट्रक तेज रोशनी फेंकता हुआ चला आ रहा है और दिशाशून्य हुए मस्तिष्क से हड़बड़ाकर खड़े रहने के अलावा और कोई आदेश देते नहीं बन रहा है। इस तरह बिना समारोह कैम्प से विदा लेना ...कैण्टीन के बच्चों को कुछ कपड़े भेंट देने थे, दिलवर के होटल में सबको आखरी बार सीने से लगाना था, सब रह गया। यहाँ के कैण्टीनवाले, सवारीवाले, मजदूर - सभी घरवालों जैसे बन गये थे। तीन महीनों में यहाँ का हर एक पत्थर जाना-पहचाना बन गया था। झाड़-झंखाड़, सीढ़ियाँ, खोदकर रखे आयतों के बीचवाले शॉर्टकट-और दूर से हमेशा पुकारता-सा लगता सिन्धु का किनारा। खैर छोड़ो।

भूख थी ही नहीं, लेकिन फिर भी वहाँ के लोगों ने एक पराठा, एक कटोरी दाल जबरदस्ती खिलायी सफ़र लम्बा है, प्रोफ़ेसरसाब, थोड़ा और -

बाहर जीप के इर्दगिर्द हमारे देश-विदेश के सभी सहकर्मी पेट पर हाथ रखे शोकदर्शक मुद्रा में खड़े थे। वस्तुतः ये पुरातत्व के लोग संसार में ज़मीन के नीचे कहाँ-कहाँ से मजार, ममियाँ, कंकाल खोदकर निकालनेवाले - इराक, पैलेस्टाइन, मिस्र, इथियोपिया - अपने एक युवा सहकर्मी के पिताजी के गुज़र जाने पर इतने बेचैन क्यों होते हैं ? शायद इसलिए कि मैं सबसे मिल-जुलकर रहता था, सभी के काम करता था। लेकिन इनके अलावा एक कारण और रहा होगा, हम सबको बेचैन करने वाला, हमारा आखरी पड़ाव : मृत्यु।

डंग डंग डंग डंग

डंग डंग दडंग डंग डंग

ड़फ की धीमी लय दिमाग में कहीं प्रतिध्वनित होती है। सभी के चेहरों पर कृतज्ञता का, अफ़सोस का मोरपंख अनुभव

करते-करते मैं आख़िरी बार हाथ हिलाता हूँ। जीप रफ़्तार पकड़ लेती है। ड्राइवर के पास बैठा अली पीछे मुड़कर मेरे हाथों पर अपना हाथ रखता है। सिगरेट देता है। फिर सुलगाकर भी वही देता है। पानी देता है। मैं काफ़ी सँभल जाता हूँ। ये क्या हुआ ?

लारकाना के व्यापारी गोदामों के आगे कतार में खड़े ट्रकों के सामने से गुज़रते-गुज़रते अन्तिम छोर पर रवानगी के लिए बिल्कुल तैयार खड़े ट्रक के आगे जीप झटके से रुक जाती है। अली और मैं खुले दरवाज़े से ड्राइवर के पासवाली सीट पर बैठ जाते हैं। पीछे आड़े बेंच पर सोया एक आदमी ड्राइवर से कहता है, चलो मुबारक। अली ने संक्षेप में हमारी जानकारी दी। रात को खाने के समय तक लाहौर पहुँच पाएँगे ?

बड़ी ऊँची-सी नाकवाला मुबारक ड्राइवर अच्छा तजुर्बेकार रहा होगा। जवाब देने की बजाय उसने पीछे सोये अपने साथी से पूछा, शरीफ, बिस्तर ले लिया ? हाँ, हाँ। अली का फिर वही सवाल। दुबारा ड्राइवर का जवाब न देकर सामने से आ रहे ताँगेवाले को सम्बोधित करना : अबे देखता नहीं क्या ? अब अली ने भी जिद पकड़ी। क्यों भाई मुबारक, मैं क्या पूछ रहा हूँ ? खाना खाने के वक्त... मुबारक ड्राइवर ने बाईं ओर अली की तरफ देखते-देखते समापन कर दिया : जब पहुँचेंगे तब खा लेना।

फिर अली से ज़्यादा देर तक जागना सम्भव नहीं हुआ। मुझसे ज़्यादा बातचीत करना भी उसे ठीक नहीं लग रहा था। धीरे-धीरे इंजन के भोर में ऊँघते-ऊँघते पैर पसारकर और गर्दन पीछे टिकाकर वह सो गया। हम दोनों का रात भर का जागना और चेयरमैन द्वारा फिर आज सुबह-सुबह मीटिंग रखने के कारण हम सो नहीं पाये थे। मेरी आँखें तो बन्द भी नहीं हो पा रही थीं, लग रहा था जैसे मस्तिष्क के अन्दर कुछ ऐंठन-सी आ गयी हो। मैंने ड्राइवर से पूछा, सिगरेट पीना चलेगा ? ऊँचे नाकवाले मुबारक ड्राइवर ने समकोण नज़रों से मेरे हाथ की सिगरेट की ओर बस देखा और बिना कुछ बोले फिर सामने काँच से आरपार देखता हुआ गाड़ी हाँकता रहा। मेरी ओर तो देखा भी नहीं। उससे मेरी पहचान करायी गयी थी। हिन्दू कहने से अभिव्यक्त होनेवाला तिरस्कार मुझे कुछ दिनों से यहाँ परिचित-सा हो गया था। हमारे यहाँ गाँव-गाँव में मुसलमान पड़ोसी होते हैं। क्या यह इधर के मुसलमानों को नहीं पता ? मैं चुपचाप गुस्सा पी जाता हूँ। सिगरेट पीते-पीते यह क्या हो रहा है ? क्या हुआ ? कैसे होगा ? इसके आगे क्या ... घर-बार, खेती, पीएच.डी. अनुसन्धान... मस्तिष्क इनमें से कुछ भी अन्दर लेने को तैयार नहीं था। बीच की भीषण स्थिति।

रास्ते में एक तिराहे पर मुबारक ने गाड़ी धीमी करके पीछे सो रहे आदमी से पूछा : शरीफ, आर्मी एरिया से लें लें ? दो-तीन घण्टे बचेंगे। शरीफ ने जवाब दिया, जुहर नमाज़ में तय करेंगे। वहीं पूछेंगे। चलने दो।

थोड़ी देर बाद सड़क के किनारे एक बड़ी मस्जिद के सामने उन्होंने ट्रक खड़ा किया। मेरी तरफ सामान की तरह नजर डालकर वे दोनों नमाज पढ़ने चले गये। अजान खत्म हुई। जल्दी-जल्दी में वजू करके अन्दर कतार में खड़े नमाजी। अपने और अल्लाह के बीच में किसी और का न होना, केवल आँखें बन्द कर प्रार्थना ... कितना धीरज बँधानेवाला ? हमें भी वहाँ खड़े रहकर आर्त स्वर में पुकारते आना चाहिए, बिसमिल्ला इर रहमाँ इर रहिम। या परवरदिगार, आप महाप्रतापी हैं, आपमें ही सामर्थ्य है। हम अपने आप छोटे-छोटे हो जाते हैं। सबकुछ ... इच्छा, आकांक्षा, दुःख, चिन्ता ... सबकुछ मामूली लगना, वह भी तब जब दिमाग पूरी तरह जम गया हो। अब ये दो दिन कैसे बीतेंगे ? लाहौर-अमृतसर-दिल्ली-भुसावल-मोरगाँव। खण्डेराव, अल्लाह को पुकारो : या मौला, मैं गुनहगार हूँ और आप उपकारी। अल्लाह के नाम से, जो असीम मेहरबान और दयावान है। जिसने चाँद और सूरज को एक कानून से बाँधा है। इस सारी व्यवस्था की प्रत्येक वस्तु नियत समय के अनुसार चलती रहती है...।

दोनों ड्राइवर नमाज पढ़कर दो-तीन नमाजियों से सलाह करते हुए आए। सतलुज में बाढ़ है। रास्ता बन्द होगा। ये पीछे उल्टा वापिस जाकर दूसरे रास्ते से मुलतान तक जाओ, आगे सीधा लाहौर ... ऐसा ही कुछ सोचकर वे गाड़ी में चढ़ गये। मैंने गर्दन झुकाकर आदाब किया, शरीफ ने केवल जवाब दिया। मुबारक ने फिर पूरी तरह से नजरअन्दाज़ किया। उसने अली के सोए शरीर की बगल में अपनी जगह ली और ट्रक को काफी देर तक पीछे ले जाकर दाहिनी ओर घुमाया। ऐसा पीछे-पीछे जाना मुझे कुछ अजीब लगा। पीछे कहाँ जा रहे हैं हम ? इतनी देर तक ? पिछले साल भी ऐसा ही, ऐसा ही कुछ हुआ था। ये क्या पीछे पड़ा है मेरे ?

डंग डंग डंग डंग

डंग डंग दडंग दडंग

मैसूर विश्वविद्यालय के गेस्ट हाऊस में था। अचानक ऐसा ही तार मिला ... भावडू चल बसा, तुरन्त निकलो। अकेला कर्ताधर्ता भाई चला गया। डेढ़-एक साल की छोटी-सी गौरैया और युवा सोना भाभी अब किसके सहारे ज़िन्दगी बिताएँगी ? अब पिताजी उस निर्दय खेती का अड़गोटा कहीं मेरे पाँव में तो नहीं फँसाएँगे ? अब मैं अकेला ही सुपुत्र बचा हूँ। भाई के जाने का दुःख अलग, ऊपर से यह जानलेवा चिन्ता। जल्दी घर पहुँचने का भरोसा नहीं था। गान्धार देश के लड़ाकू वृत्तिवाले आर्य - वांशिक मिश्रण - द्रविड़, मुण्डा, मंगोल, शक, मध्य एशिया : बी.ए. की परीक्षा का आख़िरी प्रश्न : वंश क्या है, विशद करते हुए आर्य और द्रविड़ का अन्तर समझाइए। मैसूर विश्वविद्यालय से सड़क तक आने में दो घण्टे लग गये। वहाँ किसी से भी साहसी निर्णय लेते नहीं बन रहा था और दूसरे का लिया निर्णय पसन्द नहीं आ रहा था। द्राविड़ी अधिक सन्तुलित, धीमे, दीर्घावधि के विचार रखनेवाले ... प्रोफेसर, सुबह क्यों नहीं निकल पड़ते ? अब रिक्शा कहाँ मिलेगा ? और बैंगलोर की रेलगाड़ी तो अब तक छूट भी चुकी होगी। वह तो बिल्कुल मिनट-सेकेण्ड के हिसाब से चलती है ... ऊपर से यह अतिरिक्त द्राविड़ी समय पालन। दोगुना किराया देकर भी टैक्सी नहीं मिलती। रात में रास्ता भी सुरक्षित नहीं है। एक्सीडेण्ट बहुत होते हैं मण्ड्या गाँव के मोड़ों पर। रात में बैंगलोर तक पहुँचकर भी आगे पुणे तक कहाँ गाड़ी मिलेगी ?

आखिर झुँझलाते हुए मैंने लाइब्रेरी में महीना भर खपकर जमा किये पीएच.डी. के नोट्स सन्दूक में भरकर उसे कन्धे पर उठाया और बाहर दो मील पैदल, रिक्शा से बस अड्डे तक। वहाँ से ऐसे ही किसी ट्रक से बैंगलोर। सौभाग्य से चेन्नई से देर से आयी ट्रेन स्टेशन पर ही खड़ी थी। घर आने तक भावडू की अरथी बाँधी जा रही थी। छोटी-सी गौरैया का भाभी से चिपक-चिपककर जबरदस्त आर्तनाद कोठी के बाहर भी सुनायी दे रहा था। ऐसा रुदन, जो हम जैसे केवल आँखों से रोनेवालों को दुःख के आविष्कार का, उसकी सही गहरायी का अनुभव करा रहा था। इस छोटी-सी बच्ची का दुःख कितना ऊपर तक पहुँच गया है। उसके मुकाबले हमारे जीने की तीव्रता कितनी नीचे है ? हमें उम्र के मुताबिक पूरे शरीर के साथ उफनकर रोना भी नहीं आता।

#

इसके विपरीत अब सिन्ध से इस तरफ के ज़्यादा आर्य, लोगों के यकीन के बल पर निकल पड़े हैं। समय पर लाहौर पहुँचेंगे ही। समय पर बॉडर क्रास करेंगे ही। पंजाबी आर्य ड्राइवर का अनुभव पीछे चण्डीगढ़ में काम आया, एक सेमिनार में गया था तब ... दिल्ली से बस द्वारा चण्डीगढ़ जाते समय अम्बाला में स्वादिष्ट लस्सी का हाथ भर लम्बाईवाला प्याला आधा फेंक देना ठीक नहीं लग रहा था। लम्बे सफ़र का अनुभव भी नहीं था। देर भी हो चुकी थी।

दौड़ते हुए गया, तो बस छूट चुकी थी। उसमें सूटकेस भी गया। कहाँ मिलेगा ? कहाँ ढूँढ़े ? संगोष्ठी के पहले सत्र में प्रस्तुत होनेवाला अपना बहुचर्चित शोध आलेख उसी में रखा था। छह महीने खपकर बनाया गया सिन्धु प्रदेश का नया क्रान्तिकारी मानचित्र। वह भी सूटकेस में छूट गया। साल भर का अनुसन्धान जाया हो गया। उसमें हम ठहरे मोरगाँव के अनाड़ी गँवार। दूसरी कॉपी बनायी तक नहीं। संकट की घड़ी। उन दिनों संगोष्ठी के लिए कितना उत्साह ! अब क्या करें ?

चण्डीगढ़ जानेवाली दूसरी एक बस निकलने की तैयारी में थी। ऐसी ही ऊँची नाकवाला एक ज़्यादा आर्य ड्राइवर। मेरा दुखड़ा सुनते ही अपने शरीर में क्षत्रीय वीरश्री जगाकर केवल इतना ही बोला, बैठो। बस को सरपट दौड़ाकर चण्डीगढ़ से काफ़ी पहले उसने पहलेवाली सूटकेस ले जा रही बस को पकड़ा, अपनी बस को उस बस के सामने ले जाकर झट से रोक दिया। कोलाहल। पीछे का ड्राइवर गालियाँ देते हुए नीचे उतरा। ये अपना जमाई सँभाल च्यूतिए, कहकर मुझे उतारकर वह चला भी गया। मैंने ऊपर चढ़कर देखा तो मेरा सूटकेस वहीं था। अन्दर का मौलिक अनुसन्धान भी वहीं था। मेरा यह शोधालेख बहुत चर्चित हुआ। लेकिन एक कसक रह गयी कि आख़िर हम मराठी ही - कम आर्य, ज़्यादा शक, मुण्डा, द्रविड़। उस उम्दा ज़्यादा साहसी आर्य बस ड्राइवर को पैसा, बक्शीश देना भूलकर मैं अन्दर सूटकेस को ही देखता रहा, जिसके भीतरवाले शोध आलेख से मैं सभी को ज्ञात हुआ। पच्चीस की उम्र में संसार के बड़े-बड़े अनुसन्धाताओं के साथ विचर सका। और वह आर्य ड्राइवर ?

उस छुट्टी में पिताजी झुँझलाकर कह रहे थे, छोड़ दो इन झमेलों को, हमारी कितनी खेती पड़ी है। मैं उनसे अकड़कर बोलता, उद्दण्डता से पेश आता। पिताजी के रहते मुझमें इतनी भी तमीज़ नहीं आयी कि प्रत्येक पीढ़ी की अपनी सीमाएँ होती हैं। मैं ही बुद्धू, मूर्ख। कितनी ही बार मैं पिताजी को समझने की कोशिश किये बिना अपना ही दुराग्रह चलाता रहता। खण्डेराव, तू ही निर्दय, दुष्ट ... वे उधर से बोलते, मैं इधर से बोलता। हमारे बीच क्या था ?

डंग डंग डंग डंग

दडंग डंग डंग दडंग डंग डंग

सुपड्या भैया बालों की लटें उड़ाता हुआ मातंग बस्ती से हमारी कोठी की तरफ डफली बजाता हुआ निकल पड़ा है। पीछे-पीछे मातंगमाई अम्बू कहती है, खण्डू आया नैं क्या रे, मेरा बछड़ाऽ

याद आया, सांखलिया सर का वर्णन ... पिताजी शान्त हो गये होंगे। मृत्यु के लिए नास्तिक जैन लोगों की खास अवधारणा ... शान्त होना, कितनी सही लागू होती है ? शान्त इतना कि किसी भी प्रकार का एहसास न रहे। ये सारी आवाजें - ज़मीन की, हवा की, पक्षियों की, प्राणियों की, पेड़ों की, यहाँ तक कि अपने हृदय की भी, किसी भी आवाज़ का न होना।

पिताजी सैकड़ों उलट-फेर करते थे, हजारों बातें करते थे, वे अब शान्त हो गये हैं। घर जल्दी पहुँचना होगा, खण्डेराव।

नौकरी के लिए इधर-उधर बाहर गये पन्द्रह-बीस चाचाओं, चचेरे भाइयों को हर साल फसल का पैसा बिना भूले मनीआर्डर किया जाता, उसका हिसाब। रोज़ की मज़दूरी का हिसाब। इसके अलावा पण्ढरपुर के विठ्ठल मन्दिर ट्रस्ट का हिसाब - एक पूरी भण्डारी ही इन हिसाबों की बहियों से भरी हुई थी। हरित क्रान्ति से आयी यह नेतागीरी। एक

ही पीढ़ी में कितने उलटफेर। स्वातन्त्र्य। राजनीति। अपने-अपने लोगों के लिए खपना। सत्ता का मोह त्यागकर पिताजी द्वारा अपनायी गयी मुफ़्त की मुखियागीरी। हमारे बचपन में अँग्रेजी राज में किसानों की क्या औकात थी ? अब दर्जनों सोसाइटियों के संचालक मण्डल, बैंकों के अध्यक्ष, विधायक-सांसद- नेतागीरी। पिताजी के बग़ैर कितने ही लोगों का पत्ता तक नहीं हिलता था। सौ लोगों का पेट पालनेवाले। सुबह से ही मिलने के लिए आनेवालों का ताँता - मज़दूर, दिहाड़ीदार, महीनादार, सालदार (सालाना मज़दूर), किरायेदार, पहरेदार, ट्रैक्टर ड्राइवर, पानी-इंजन के ड्राइवर, व्यापारी ... क्या ऐसा जानलेवा सामाजिक कारोबार होगा मुझसे ? कितनी भागादौड़ी ? न जाने कितने ही लोगों की मदद किया करते थे वे। रिश्ता जोड़नेवालों से लेकर तोड़नेवालों तक ... सभी पिताजी को अपने साथ ज़रूरी लगते थे, सहारे के लिए।

सार्वजनिक काम के सम्बन्ध में पिताजी का हर उपदेश आदमी कर्ता से शुरू होता था : खण्डू, आदमी जब एक का काम करने जाता है, तब उसे दूसरे का भी, यहाँ तक कि अपने दुश्मन का भी काम करना चाहिए, और आदमी को यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। इस कारण कहीं भी कोई बातचीत करनी हो, टण्टा-बखेड़ा, सौदा, खेत-घर खरीदना-बेचना, रिश्तेदारी-तलाक, भाई-भाइयों में बँटवारा - कोई भी समझौता हो, दोनों पक्षों के लोगों के साथ पिताजी ज़रूर होते थे।

किसी बैठक में यदि बात आगे नहीं बढ़ पा रही है या कोई ज़िद पर अड़ गया है और अब सुलह सम्भव नहीं है, ध्यान में आते ही पिताजी अचानक उठते, गमछा झटककर कन्धे पर डालते और बाहर सीढ़ियाँ उतरने लगते। इस बार भी ऐसा ही हुआ - पिताजी यह सारी जायदाद, संस्था, खेत-खलिहान, गोठ, घर-बार, सोना-चाँदी, धन-दौलत, स्कूल, मन्दिर, मृदंग - सब कुछ अचानक झटककर सीढ़ियाँ उतरकर चले गये। सर के शब्दों में शान्त हो गये। मानो चाटी पर अचानक थमी उंगलियाँ, धा धा तिरकिट धाऽ

खण्डू, यह दुनिया समुन्दर जैसी बहुत गहरी है। बहुत गहरायी में उतरनेवाला डूबता ही है। आदमी को चाहिए कि हमेशा उतने ही पानी में तैरे जितने में उसके पैर टिके। दोनों पैरों को झोंककर तो आदमी को कभी नहीं कूदना चाहिए। कभी-कभी पैरों तले की ज़मीन ही गायब हो जाती है। ज़िन्दगी-सा महत्त्वपूर्ण और कुछ भी नहीं होता है ... पिताजी हमेशा मुझे यही सुझाते रहते।

#

ट्रक के इंजन की एकरस आवाज़ के कारण हल्की-सी झपकी आ रही थी और एक जैसी आवाज़ें दरवाज़े से पिछली साँकल टकराने की - अस्पष्ट, जैसे ग़लत लेकिन फिर भी लय को सँभाल लेनेवाले मृदंग के ज़ोरदार बोल। मैं बी.ए. की पढ़ाई कर रहा हूँ। पड़ोस के विठ्ठल मन्दिर से मँजीरा बजानेवालों को मँजीरें बाँटें जाने की आवाज़ें। वीणा, मृदंग लगाये जा रहे हैं। गले में मँजीरा पहना बजनिया बाद में आनेवाले के गले में अपना मँजीरा डालकर हरि हरि कहते हुए अपने लिए दूसरा मँजीरा उठाता है। रूप पहाता लोचनी भजन से कीर्तन का प्रारम्भ, यानी ब्राह्मण कीर्तनिया महाराज आये होंगे। मृदंगिया विठ्ठलराव भगवान को दूर से प्रणाम करते हैं। लोई थापते हैं। सभी इकट्ठा हुए हैं। दिनभर खेत में झुक-झुककर काम करने के कारण माँ की पीठ अकड़ गयी है, वह खम्भे से टिक कर बैठी है। उससे चिपककर बिजा। बगल में दादी, उसके पास छबी और लाड़ली सुभी। अन्धी चाची छोटी शशि को थपकियाँ देती-देती ताल देती है। पीछे दीवार से ऊँघती गूँगी चाची। बुआ से चिपककर उसकी दोनों लड़कियाँ बायड़ी और तायड़ी - ये

सभी दिन भर काम की थकान से चूर और धूप से झुलसी सौ-एक स्त्रियों के बीच दिखायी देती हैं। धीरे-धीरे सभी बहनें अन्य बच्चों की तरह जो गोद, जो जगह मिली उसमें सिर रखकर सो जाती हैं। कीर्तनिया महाराज रेवा चाचा से पूछते हैं, आज कौन-सा अभंग सेवा में हाजिर करूँ बुवासाहब ? ऐसे भाग्य कईं लाहाता होईन भजन ले लीजिए। ठ्ठालविऽ ठ्ठालविऽ ठ्ठालविऽ ठ्ठालवी। रूपा काँग्रेस डोलते-डोलते तालियाँ बजाते हुए कहते हैं - मृदंग विठ्ठलराव का खास इलाका। उसके आगे नेतागीरी कुछ भी नहीं। अवघे देखे जन ब्रह्मरूप भजन पर मँजीरा बजानेवाले ऊँची छलाँगें लगा-लगाकर जयघोष करते हैं। मृदंग का ज़ोरदार ताल। बोला पुण्डलिक वरदे हरि विठ्ठल श्री ज्ञानदेव तुकाराम। कीर्तन समाप्त हुआ। सभी वारकरी एक-दूसरे के पैर छूते हैं और अपने-अपने घर चले जाते हैं और यह पक्का करके ही सोते हैं कि कल किस खेत में कौन-सा हल ले जाना है। मन्दिर सूना हो जाता है। अरे, पिताजी अकेले ही वहाँ मृदंग बजाते हुए खड़े हैं। धागे नती नक धिन धी ना धी धी ना धुमकिट धुमकिट तकिट तकांकिट। हमारे पहाड़ी खेत में पेड़-पेड़ पर मोर ट्यांहो ट्यांहो करके चिल्लाते हैं और डरावनी आवाज़ में पंख फड़फड़ाते हुए अपनी जगह बदलते हैं। टायर की ऐसी ही भर्रर्र की आवाज़ से मैं जाग जाता हूँ, फिर सो जाता हूँ।

पहाड़ीवाला खेत हमारे सभी पूर्वजों का पसीना बहा-बहाकर ही इतना उपजाऊ और काला बना है। हमारा बचपन भी यहीं बीता है। कहा जाता है, उस समय अँग्रेज़ सरकार ने किसान और मवेशी सभी की एक जैसी मर्दुमशुमारी की थी। अँग्रेज़ी राज में लाभ केवल शहरी जातियों के हुए। पिताजी की गोल काली टोपी। उसकी पीछे की सिलाई के छोर पर एक-दो आलपिन खोंसी रहती थीं। वे भी मेड इन इंग्लैण्ड। पैर में गड़ा काँटा निकालने के लिए, नाखून साफ़ करने के लिए, फफोला फोड़ने के लिए, कोंचने के लिए - एक दुर्लभ और मूल्यवान हथियार। कितना बुद्धिमान है अँग्रेज़ आदमी, इतनी सी बारीक नोक की आलपिन बनाता है। हमारे साले लुहार को तो बाँस की नोक की आरी भी ठीक से तेज़ करनी नहीं आती।

छोटी बहनों के साथ घर के सभी खेत में, कोई बाग में, कोई खलिहान के ढेर पर झाड़ू लगा रहा है, कोई बैलों की दौंरी के बाद भूसेवाला अनाज़ टोकरियों में भर रहा है। भावडू सलीके से बैलों की दौंरी चलाता है। ओसाना। पिताजी तिपाया पर खड़े। हवा का बहाव सुबह से रुका हुआ। दौंगरे की बरखा हुई तो ये भूसेवाले अनाज़ के ढेर ढँकेंगे कहाँ ? साल भर की मेहनत पर पानी फिर जाएगा। पिताजी झुँझला रहे हैं। तिपाया के नीचे खड़ा छोटा-सा मैं पिताजी की ओर ऊपर गुस्से से देखता हुआ टोकरियाँ भरकर रखता हूँ। उस दिन स्कूल का नागा करवाने की वजह से सनकी जैसा बर्ताव कर रहा हूँ। शरीर पर उड़नेवाली भूसे की धूल से खुजली हो रही है। भावडू को तो पिताजी कितना हाँकते थे, लेकिन वह विशाल हृदय था। खुशमिजाज़। ऋजु। किसी के बारे में कभी मन में मैल नहीं रखता। मैं ही ओछी मनोवृत्ति का हूँ। पिताजी से खुन्नस खाकर ही हाथ में टोकरी लेकर खड़ा रहता। अचानक हवा की कोई लहर आती और पिताजी जल्दी से टोकरी खाली करके नीचे फेंकते। तब तक मैं दूसरी टोकरी उनके पैरों के पास भरकर रखता, वे उठाते। हवा रुकी हुई देख मैं सामने के सेंहुड़ पर गिरगिट की ओर टकटकी बाँधे देखता रहता हूँ। टोकरी भरकर रखने के लिए बिजली-सी फुर्ती चाहिए। मुझमें वह नहीं है। मेरे दौड़ते जाने तक दूसरी टोकरी भी खाली हो जाती है और तीसरी तो अभी भरी भी नहीं है। सोने जैसी हवा जाया हो रही है, ए खण्डियाऽऽ, सऽऽट् मुँह पर। आँसुओं के कारण मुझे ठीक से दिखायी भी नहीं देता कि टोकरी कहाँ रखनी है। मैं अब तेज़ी से टोकरियाँ देता हूँ, लेकिन दिमाग में स्कूल, गुरुत्वाकर्षण, आज कौन-सी कविता याद करके आने के लिए कहा था ?

आए जदपि कष्टदशा अपार
न खोये धैर्य तदपि नरवर

यदि करें मशाल बलात् नीचे
ज्वाला फिर भी उछले ऊपर।

फिर से, ए खण्डियाऽऽ ध्यान कहाँ है तेरा ? सऽट - सऽट। फिसलकर मैं भूसे में औंधा गिरता हूँ। मुँह में भूसा। हमारा सालदार साण्डू और भावडू दौड़े चले आते हैं। मिट्टी में पड़ा अनाज़ फटक रही धनाबाय महारन मुझे अपने पास खींच लेती है। पौनी के लिए आकर खड़ी सोनूबाई चमारन, अम्बू मातंगमाई आपस में कहती हैं, कुर्मी की जाति ऐसी ही राच्छस होती है मैया। अरे कितना पीटेगा रे विठू बच्चे को ? इतनी-सी जान दोपहर से यहाँ खड़ी है। हमारे बच्चे नहीं करेंगे भैया ये सब। मैं सुबक-सुबककर धनाबाय के आँचल में मुँह ढाँपे रोता हूँ।

हवा की प्रतीक्षा करो, वर्षा की प्रतीक्षा करो, धूप की भी। साल भर ऐसा ही। यहीं अकरी के पीछे पटेला फेरो - पैर थरथराते हैं, लेकिन जल्दी करो, अन्धेरा होने से पहले...बुरा धन्धा। बैल, भैंस चारा-पानी तो हमेशा दिमाग में बसा, दिन में तीन बार। अध्ययन, पढ़ना-लिखना सँभालकर। हम पोखरे से एक के बाद एक डोलचे खींचते रहते हैं और मवेशी पीते रहते हैं। पानी पिलाते समय भैंस ने एक बार पैर कुचला, वह अब भी लाल-लाल हुआ जलता है। किससे कहें ? घर पर है कौन ? अन्धेरा होने पर सब आएँगे, और फिर पकाने की और खाने की हड़बड़ी। उल्टा मुझ पर ही दोष - क्यों रे, तेली से खली की भेली लाया था न ? भेली तोड़कर रखी है न ? चारा डाला था या नहीं ? जाओ, महारबाड़े में जाकर शान्ता मौसी से कहना कल दिहाड़ी से आना काम पर। आते समय बैलों के लिए नमक लेते आना, दुकान से पाँच किलो। बोरा ले जाओ साथ में। किसान के घर के बच्चे यानी घड़ी के छोटे-छोटे पहिए। निरन्तर बड़े पहियों द्वारा घुमाए जानेवाले। क्या साली किस्मत है। हररोज़ यही।

क्यों रे खण्डू, राशनकार्ड पर दस्तखत ले लाया ? तहसीलदार साहब थे न कचहरी में ? क्या कहा ? तूने बस पूछा ? उन्होंने मना किया और तू उल्टे पाँव वापिस लौट आया ? वाह रे वाह। ऐसे भी कहीं काम होते हैं ? बार-बार पूछना चाहिए, मिन्नत करनी चाहिए, दस्तखत दीजिए न दादाजी। साहब, चार मील पैदल चलकर आया हूँ। इस तरह खाली हाथ लौट आना ठीक नहीं। कल फिर से जाओ। ध्यान रखो, उल्टे पैर लौटकर नहीं आना। वहीं पर गिड़गिड़ाकर बैठे रहना। दस्तखत हर हाल लाना ही है। समझा ?

उपनिवेशजनित लाचारी। भो भो पंचम जार्ज भडुआऽ

इस तरह अँग्रेज़ी गुलामी के संस्कारों में पली-बढ़ी हमारी पीढ़ी। हम भी क्या झण्डे गाड़ेंगे ? बस भार ढोते रहना। पहाड़ी खेत में ढलान की मेंड़ पर उगी बड़ी ऊँची पवना घास। पिताजी पसीने से तर होकर भी लगातार कचर-कचर हँसिया चला रहे हैं। उनके पीछे-पीछे भावडू गुल्ले जमा कर रहा है। बहुत बड़ा गट्ठर बन गया है। पिताजी घास की ही रस्सी बनाते हैं और उससे घास के गट्ठर बनाकर मेरे सिर पर रख देते हैं। बोझ से डगमगाता मैं गिरने को होता हूँ। गर्दन में असहनीय दर्द। टूटने दो मेरी गर्दन की कील, बुदबुदाता हुआ रुआँसा होकर मैं सड़क पर लगभग दौड़ते हुए घर की ओर चल पड़ता हूँ। दूर क्षितिज पर नीले आसमान की रेखा पर नजरें जमाकर सिर का बोझ सँभालता हूँ। वहाँ तक फैली काली सूखी ज़मीन के साथ वह आसमानी नीली रेखा मेल खाती कभी नज़र नहीं आती। दोनों अलग-अलग थे।

खण्डेराव, आज भी वैसा ही होगा।

#

गाँव के हम तीस-चालीस बच्चे नदी के किनारे गुल्ली-डण्डा खेल रहे थे। नदी में छलाँग लगानेवाले कौड़िल्ले की ओर पल भर के लिए नज़र क्या गयी कि उधर सामने डण्डे से तेज़ छूटी गुल्ली सन्न से टकराती हुई एक आँख को अन्दर तक सुन्न कर गयी। किसी को मालूम न हो इस तरह चुपके से मैं घर आया। खेत से अभी तक कोई नहीं लौटा था। मैं धाबे पर गुदड़ी ओढ़कर सोया रहा। भयानक जलन। बुआ ने खाने के लिए उठाया। क्यों रे खण्डू, आँख कैसे फूल गयी ? लाल हो गयी है। लगातार पानी बह रहा है। खेत से घर लौटे सभी के लिए अब यह बड़ा झंझट, यानी समय की बरबादी - वैद्य, चिकित्सा, किसी एक का घर पर रुकना, डॉक्टर जिले के गाँव में, सब-के-सब लूटनेवाले यानी फीस, आने-जाने का किराया, ऊपर से एक दिन वहाँ किसी के घर पर रुकना, जाने के लिए सर्विस मोटर भी समय पर कहाँ होती है ? - पिताजी सटासट पीटते हुए कहते हैं, गुल्ली-डण्डा खेलने के लिए समय होता है, घर के काम नहीं होते इससे। सऽट, सऽट। बुआ, दादी के बीच-बचाव से मैं बच जाता हूँ।

हनुमान मन्दिर के चबूतरे पर गाँव के डींगमारे-शेखीबघारे कूटनीतिक लोगों की अकादमी हमेशा से लगती आयी है। खेती के सिवा दूसरी दुनिया से अनजान इन लोगों की अधूरी जानकारी भरी सलाह : अरे, आप जलगाँव जाएँगे तो एक नोट जाएगा ही, लेकिन साथ में तुम्हारी आँख भी गयी समझो। हमारे साढूजी का ऐसा ही हुआ था। आँखें फोड़ते हैं भई वो। दादी कहती है, यदि ऐसा है विठ्ठल, तो मत ले जा बेटा खण्डू को। यहीं पर हरीभू बैद करेगा इलाज। अच्छा हुआ सलाह मिल गयी। दूसरे दिन दादी छोड़ बाकी सब खेत में। हरीभू रोज़ सुबह आँखों में कदम्ब के छिलके का रस डालने के लिए कहता है। फिर सहजन की मूली के काढ़े से फूली हुई आँख की पलकों के बीच की गन्दगी रोज़ साफ़ करना, उस समय का मेरा रोना-चीखना। आठ दिन ऐसे ही बीते। फिर मुम्बई से मोटी जसोदी चाची आयी थी। मेरी हालत देखकर माँ से बोली, क्यों री चन्द्रभागा, पगला गयी हो क्या ? सारे समय बस काम काम। बच्चे की आँख चली जाएगी न ? फिर माँ की मिन्नत से पिताजी की दुबारा हनुमान मन्दिर के चबूतरे पर निर्बुद्ध गँवार किसानों की अकादमी में चर्चा। काहे जहर की परीक्षा ले रहे हो, रहने दो न, एक आँख तो रहेगी ही। फिर दो दिन बाद डाकिया खबर लाता है कि जिला लोकल बोर्ड की ओर से जलगाँव में मुफ्त नेत्रशिविर होनेवाला है। बड़े-बड़े डॉक्टर आनेवाले हैं, मुम्बई से। मोतियाबिन्द भी मुफ़्त में निकालेंगे।

मुफ्त की बात सुनकर पिताजी ने दो दिन के लिए खेती के काम रोककर अनिच्छा से ही जलगाँव जाने की तैयारी की। बिल्कुल तड़के रोने-धोने के साथ दादी का, बुआ का भगवान को साष्टांग प्रणाम, प्रसाद, सिर पर ममतामयी हाथ - सबकुछ होने के बाद एक हाथ में बड़ा-सा थैला पकड़कर नुक्कड़ के मोटर अड्डे तक, डेढ़-दो मील गुस्से से मुझे खींचते ले जानेवाले पिताजी। मोरगाँव पीछे छूटते ही पता नहीं कैसे उनमें अचानक बदलाव आ जाता है और वे माँ से ज़्यादा वत्सल, मृदु और भावुक होते उठते हैं। आँख पर रखने के लिए साथ लिया हल्दीवाला कपड़ा गुम हो जाने पर भी हमेशा की तरह पीटते नहीं। मुझे गमछा ओढ़ाते हैं। शहर के लोगों की तरह बातें करने लगते हैं। रेग्युलर, मैनर्स, स्टार्टिंग जैसे अँग्रेज़ी शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। अपने अधिकार के लिए झगड़ा करने लगते हैं। एक आने के आधे टिकिट के लिए मोटरवाले से झगड़ा करके, मेरा या किसी भी आदमी के उम्र का, कदकाठी से सम्बन्ध न होने का सिद्धान्त रखते हैं। उन दिनों गाँव में, घर में, जेब में पैसा कहीं भी नज़र नहीं आता था। होता ही नहीं था तो दिखेगा कैसे ? मैंचेस्टर की ओर जर्मनी के बम हमले के कारण कपास के व्यापारी ने साल भर पैसे ही नहीं दिये थे। 'चले जाओ' आन्दोलन में क्रान्तिकारियों ने सावदा के पास गाड़ी पलट दी थी। इस कारण खानदेश का कोई भी अनाज़ दिल्ली की ओर नहीं जा पा रहा था। जवार की दरें भी आधी। मूँगफली मिट्टी के मोल, क्योंकि दूसरे विश्वयुद्ध के

कारण तेल के लिए जहाज ही नहीं मिल पाते। वह गाँधी भी कुछ सूझने नहीं देता। सत्याग्रह ही करता है। कहा जाता है कि सुभाषचन्द्र बोस खदेड़ेंगे अँग्रेज़ों को, लेकिन गाँधी उसका भी विरोध करता है। हमारे मोरगाँव के महान नेता रूपा काँग्रेस सभा में बोले, किसान भाइयो, गाँधीजी पर भरोसा रखो। ऐसी यातनाएँ सहकर ही स्वतन्त्रता का दिव्य प्रभात आ सकता है। आप दुख सहेंगे, तो आपकी अगली पीढ़ी को स्वतन्त्रता का मूल्य मालूम होगा ...ठीक है भाई, सहेंगे।

जलगाँव जाते समय दो जगह गाड़ियाँ बदलकर मोटर में सवार प्रत्येक व्यक्ति को मेरी आँख दिखाते हुए पिताजी आजिजी से पूछते, भैया, ठीक तो हो जाएगी न आँख। खण्डू हाथ हटा, भाईसाहब को देखने दे... अरे अरे, आप कुर्मी लोग भी कैसे जंगली हैं। ये क्या कर दिया ? खैर, अच्छा है कि कम-से-कम आज तो आपने खेत का काम छोड़कर वक्त निकाला है। बगल में बैठा शिक्षित आदमी कहता है, साले गँवार कहीं के। जब तक ऐसे लोग हैं, भारत देश क्या खाक तरक्की करेगा ? पिताजी धोती का छोर सँभालते हुए मेरा ढाँढ़स बँधाते हैं, खण्डू आराम से उतरो ।

जलगाँव में उतरने पर चार घण्टे से रोक रखी प्यास मुझे कुछ सूझने नहीं दे रही थी। ...बाबूजी, पानी। पिताजी अनदेखा करते हैं। सड़क पर जो मिले उससे पूछते हैं, भैया, जिला लोकल बोर्ड का शिविर इधर कहाँ है ? मुफ्त नेत्रशिविर ? मैं फिर से गिड़गिड़ाकर : बाबूजी, पानी। ...पानी ? क्या यहाँ अपना घर है खण्डू? ये क्या कर रहे हो? पहले वहाँ जाकर नम्बर नहीं लगाएँगे ? आज ही नम्बर आये तो ठीक, वरना कहेंगे, कल आओ, दो दिन बाद देखेंगे। छीः, फिर हमें तुम्हारी मौसी के घर रुकना पड़ेगा। कंट्रोल के ज़माने में शहर में यों किसी के घर कैसे रुकेंगे ? ये देखो मिट्टी के तेल के लिए लाइन। लोग मक्का खा रहे हैं उबालकर। हमारे देहात में घर में ही कुठले भरे रहते हैं। यहाँ शहर में किसी पर दो दिन बोझ बनना क्या सही है ?

सिर से नाक तक पूरा गमछा लपेटकर हाथ से एक आँख बन्द करके मैं अपने तलुवों को देखते चल रहा हूँ। इधर से उधर, उधर से इधर, पता पूछते हुए, भैया, फकीरा हरि स्कूल कहाँ है?... बाबूजी, पानी ...

रुको, वहाँऽ होटल दिखायी दे रहा है, चलो। होटलवाला मुफ़्त में पानी देने को तैयार नहीं। पानी माँगने पर, चाय ? पूछकर लड़का आगे निकल जाता। आखिर आधी-आधी प्याली मीठी अमृततुल्य चाय। उन दिनों घरों में चाय बनती ही नहीं थी, इसलिए आज रोजाना दस-बीस कप पी जानेवाले मेरे लिए तब संवेदना की यह नयी खोज थी। आसपास बैठे सफ़ेदपोशों को बीवी-बच्चों के साथ चाय-बिस्कुट खाते और चूंई-चूंई करते बोतल तोड़कर हँसते-खेलते सोड़ा-लेमन पीते देखकर तय करता हूँ कि मैं भी शहरी ही बनूँगा। लेकिन अगर आँख ठीक नहीं हुई तो मुझे शहर में कैसे आने देंगे ? देहात में एक आँख, दोनों आँखों से अन्धे कई लोग हैं। यहाँ तो ऐसा कोई भी दिखायी नहीं देता। बल्कि कइयों के चश्मे गहनों की तरह सुन्दर। यह सब मैं एक आँख से चोरी-चोरी देखता रहता हूँ। उधर पिताजी गुस्ताख होटलवाले से पूछते हैं, क्यों भाई, वो मुफ़्त नेत्रशिविर कहाँ लगा है इधर ? जवाब, चल उठ, गँवार कहीं का, बाहर ग्राहक खड़े हैं। पिताजी इस अपमान को ऊपर-ही-ऊपर सहते हुए मुझसे कहते हैं, जल्दी करो खण्डू, कितनी देर हुई है, चलो।

सारा अपमान, गुस्सा पीकर मैं उसे अपने मन की बड़ी तिजोरी के एक चोरखाने में रख देता हूँ। आगे चलकर कई संगोष्ठियों, व्याख्यानों में इन्हीं चोरखानों को खोलकर उनमें बन्द अंगारों का उपयोग कर पाया हूँ।

पिताजी आगे। हवा से उड़नेवाली उनकी धोती, साफ धोकर भी पीली ही दिखनेवाली मंचेस्टर के लट्ठे की बनी कमीज़, वैसा ही मोटाझोटा गमछा, तेल और धूल से सना नया देशी जूते का जोड़ा, पीछे से मैं नंगे पैर। पिताजी द्वारा पकड़ा

हाथ छुड़वाकर नीचे ज़मीन पर फेंके गये सुन्दर-सुन्दर सिगरेट के पैकेट, माचिस की डिबिया, पत्रिकाओं की रंगीन स्त्रियों के कागज उठाने की कोशिश करता हूँ। झुकते ही झटके से कन्धे पर पिताजी का खुरदरा हाथ। चलो जल्दी, देखो अभी पहुँचते हैं।

एक स्कूल के सामने मण्डप तना हुआ, सामने जाँच के लिए आँखें दिखानेवालों की भीड़। इतनी सारी बाधाएँ पार करके भी यदि उत्तर महाराष्ट्र के हज़ारों देहातों से इतने लोग आँखें जाँचने के लिए आ सकते हैं, तो न आ सकनेवाले कितने होंगे ? छोटे बच्चों को गोदी में उठाकर घूमनेवाली औरतें, उनके आगे देहाती चमार के बनाये धूल उड़ाते मोटे भारी जूते खड़काते देहाती लोग डॉक्टर को ढूँढ रहे हैं। कतार कैसे बनानी है, किसे पता ? आधी खाकी चड्डी पहनी पुलिस लाठी दिखाकर सभी को एक के पीछे एक खड़ा करते फालतू घूमती है। पिताजी एक पुलिसवाले से पूछने गये, भैया, किस तम्बू में ऐसे घायलों को जाँचते हैं ? जवाब में पुलिस ने अपना डण्डा पिताजी के सीने से लगाया और ठेलते हुए उन्हें कतार में पीछे ले जाकर खड़ा कर दिया। हमेशा से पीछे हटने के आदी मेरे वारकरी पन्थीय किसान पिताजी उस पुलिस को फिर भी अच्छा-अच्छा कहते रहे। मैं भी उनका हाथ थामे पीछे-पीछे खिसकता हुआ सहमकर खड़ा रहता हूँ। दूसरा पुलिसवाला, ए गँवार कहाँ घुसता है ? केय करे छे ? पिताजी ने डरते-डरते फिर मुझे गमछा हटाने को कहा, आँख दिखाओ खण्डू। मैं एक आँख बन्द, दूसरी खोलकर दिखाता हूँ। इसके पीछे पुलिस की सहानुभूति पाना मात्र ही उद्देश्य था। शायद वह सफल हुआ था, क्योंकि उधर से एक खद्दरधारी स्वयंसेविका गुजराती लड़की लम्बे डग भरती हुई मेरे पास आकर बोली, अरे, ये तो मोतियाबिन्द की कतार है, उधर चलो बेटा। पहली बार यहाँ इन्सानियत का एहसास हुआ।

उधर काँग्रेस लोकल बोर्ड के लोग किसी से झगड़ रहे थे : समझ में नहीं आता ? कौन-सी कतार किसके लिए है, यह जिम्मेदारी किसकी ? सौ लोग धूप में खड़े हैं। तम्बू जैसे-जैसे क़रीब आता है, वैसे-वैसे मेरे प्रति पिताजी का प्यार खुलकर प्रकट होता जाता है। वे मुझे लेमनचूस की गोली खाने के लिए देते हैं। न जाने उन्होंने कब और कहाँ से खरीदी थी। थोड़ी देर बाद मेरे मुँह पर बँधे गमछे का त्रिकोण यूँ ही ठीक करते हैं। एक बार भर्राए हुए गले से कहते हैं, भूख लगी होगी न खण्डू ? थोड़ी देर सब्र करो। डॉक्टरों से मिलना भी तो बहुत जरूरी है न ? खाना तो क्या रोज़ ही खाते हैं। तुम्हारे जेलवाले चाचा, वो तो चार-चार दिनों तक खाना नहीं खाते थे। घर पर मत कहना, चाची रोयेगी तुम्हारी।

हुना चाचा, तुम्हें मारा सो मारा, लेकिन आजादी भी तो नहीं मिली। जाया हो गयी तुम्हारी देशभक्ति, तुम्हारी भूख-हड़तालें। आज़ादी पाने के रास्ते अलग हो सकते हैं, यही तुम्हारी समझ में नहीं आया था। मैं बेचैन हुआ।

आख़िरकार तम्बू में घुस गये। एक स्वयंसेविका नाम, पता, आँख पर कब और क्या लगा सब लिख लेती है और तुरन्त अन्दर भेजती है। छोटी उम्र का एक डॉक्टर मुझे लिटाता है। मैं डरकर मना करता हूँ। यह सोचकर कि शायद यहाँ आँखें फोड़ते हैं, मैं चीखता हूँ। पिताजी अपनी पूरी ताकत से मुझे पकड़ते हुए लिटाते हैं। मैं लुहार की धौंकनी की तरह फुसफुसाता हूँ। पिताजी इतिहास बयान करते हैं। क्या ? पन्द्रह दिन ? फिर आपने क्या किया ? बाप हैं आप न उसके ? फिर ? तुरन्त डॉक्टर के पास ले जाना चाहिए था। लगता है बच्चे की नजर कमजोर हो जाएगी। कम-से-कम अब तो सावधानी बरतिए। एक तैलिया कागज़ पर छुरी से लकीर भर मरहम मिल गया। रोज़ सोते समय लगाइए ...डॉक्टर साहब, ठीक तो हो जाएगी न ? ... अब भगवान पर भरोसा रखिए। चलिए बाहर।

बगीचे में पानी के नल के पास हम बाप-बेटा बैठते हैं। सुबह तड़के उठकर माँ की बनाई बेसन की रोटी, हरी प्याज,

बीती शाम बुआ द्वारा लायी अमियाँ, मेथी की ताज़ा फुनगियाँ, निःशब्द पेटभर खाना। आखरी रोटी बचती है। पिताजी रफ़्तार धीमी करके मेरे आखरी कौर की राह देखते हैं। फिर पूरा चीथड़ा साफ़ करके झटककर उठते हैं। लम्बे डग भरते हुए हम उस कम्पाउण्ड में आ जाते हैं, जहाँ से सर्विस मोटरें चलती हैं। कोई आदमी पत्थर पर बैठा सुबह का मुफ़्त मिला अखबार पढ़कर सुना रहा है। उसे घेरकर अपने-अपने गाँव लौटनेवाले बीस-पच्चीस देहाती लोग सुनते हैं। कोई तहसीलदार की कचहरी में दिन भर खड़े रहकर भी काम न होने से मायूस लौटा, कोई कलेक्टर ऑफिस के बाबू द्वारा अपमानित हुआ, कोई पाँचवीं बार दी गयी कोर्ट की तारीख फिर आगे खिसक जाने से गुस्सा पीकर क्षुब्ध हुआ - सभी थके-हारे यहीं आँखें फाड़े खड़े हैं। इतिहास बदल रहा है और हम इस वक़्त ज़िन्दा हैं, इस एहसास से अभिभूत। हमारे ये क्लेश समाप्त हो रहे हैं, कम-से-कम इस तरह के क्लेश समाप्त हो रहे हैं, इस खुशी में चर्चाएँ-समाचार सुनते खड़े हैं।

गाँधी भी तो कह रहा है न कि गोरों को खदेड़े बिना अब हम पीछे नहीं हटेंगे ...छोड़ो जी ये बातें। उधर सुभाषबाबू आजाद हिन्द सेना लेकर आ रहे हैं - सीधा दिल्ली पर हमला। फिर पीछे से बड़ी जापानी सेना। उनकी तो एक ही तोप से बीस-बीस गोले बरसते हैं एक के बाद एक - धड़ाम, धड़ाम। और जापानी हवाई जहाज ? ऊपर से अचानक दस-दस, बारह-बारह के झुण्ड से ऐऽसे आते रहते हैं, ऐऽसे नीचे की ओर छलाँग लगाते हुए धाड़ धाड़ धाड़ बम बरसाते हैं, फिर ऐऽसे ऊपर गायब। फिर तुरन्त दूसरा झुण्ड। ...वाह भई वाह। ऐसा करघा चलाकर और बुनकर की तरह तकली घुमाने से अँग्रेज़ थोड़े ही जाएगा ? ..और नहीं तो क्या वो तुम्हारे सुभाषबाबू से डरेगा ? अरे छोड़ो यारऽ, छह सालों से अँग्रेज़ लड़ रहे हैं दुनिया में बीस-पच्चीस जगहों पर। चौदह-पन्द्रह साल के बच्चे भर्ती कर रहे हैं। लेकिन यदि हार गये न जापानी, तो दुबारा अँग्रेज़ डेढ़-सौ साल तक हमारे सीने पर भैनचोद। ...अपने गाँधीजी देखो, अहिंसा का ऐसा झापड़ लगाएँगे कि कुछ समझ भी नहीं पाएँगे अँग्रेज़। अपने नन्दुरबार में एक चौदह साल का लड़का पुलिस के सामने वन्दे मातरम कहता हुआ तिरंगा लेकर आगे गया था। गाण्ड फट गयी थी, हाँ ...किसकी ? . ..किसकी यानी ? दारोगा की, लेकिन फिर भी गोली दाग ही दी लड़के को। ...मर गया बच्चा। ...लेकिन भैया अमर तो हो गया न। बन्दूक तो क्या हिजड़ा भी चला लेगा, लेकिन ये सीने पर गोली खाना मर्द का ही काम है। लेकिन क्यों भाई, बन्दूक तो हमारे ही लोग चलाते हैं न ? ...सही है। हमारे खिरोदा के धनाजी नाना दारोगा थे। फेंक दिया पट्टा और ड्रेस गोरे साहब के मुँह पर, इस्तीफा देकर। अब बड़ा सत्याग्रह किया। ...ऐसा ? सभी से कहाँ ऐसा करते बनता है ?

अब पिताजी से रहा नहीं जाता। वे बताते हैं, मेरे छोटे भाई को भी ऐसे ही मार डाला जी जेल में।

सभी लोग इस मटमैले किसान की ओर आश्चर्य से देखते हैं। कौन हैं आप ? किस गाँव से ? अरे वाह भई वाह, शहीद हुना कुण्डलीक के सगे भाई हैं आप ? क्या बात है, इसे कहते हैं मोरगाँव का पट्ठा। तुम्हारा एक भाई गया, ठीक है, लेकिन तुम्हारा यह बच्चा तो आज़ादी में जिएगा।

मैं आसमान में उड़ने लगता हूँ। कब मिलनेवाली है आजादी ? क्या वादा किया है ? ये हरामखोर अँग्रेज़ बनिए जब तक यहाँ से नहीं जाते, तब तक हमारे किसानों के दिन नहीं फिरेंगे।

सर्विस मोटर आती है। उसमें तीन गुना लोग जानवरों की तरह ठूँस दिए जाते हैं। ...अगर कोई बेटिकट निकला, तो बीच रास्ते में उतार देंगे हाँ, तापी पर, हाँ। चलो मजीदभाई, भगाओ गाड़ी।

ये गाड़ी भी सिर्फ़ मुख्य सड़क तक ही है। यानी फिर तहसील के गाँव तक पैदल और फिर वहाँ प्रतीक्षा। रात में सर्विस मोटर कभी होती है, कभी नहीं। नहीं होगी तो जाएँगे पैदल, क्यों खण्डू ? यहाँ जलगाँव में रात बिताने की बजाय पैदल जाकर घर पर ही सोने में क्या बुराई है ? सुबह पाँत लगा सकते हैं। मैं गर्दन हिलाता हूँ। गाँव का एक आदमी पिताजी से कहता है, अरे लेकिन जंगली जानवर - यदि वहाँ तुम्हें साँप ने काटा तो मर ही गये समझो। शहर में दवादारू होती है। उस रास्ते से गुज़रते समय हरसाल कम-से-कम चार-पाँच लोग तो मर ही जाते हैं साँप के काटने से।

आगे मेरे सोने से लेकर घर आने तक क्या हुआ, कुछ भी पता नहीं चला। पिताजी रात को मुख्य सड़क से मुझे कन्धे पर उठाकर लाये थे। श्मशान की ओर ही जा रहे हैं।

अब भी नींद में वे मुझे उसी ओर ले जा रहे हैं।

#

ऐसा लगता है, जैसे कोई लगातार पुकार रहा है और मेरे मस्तिष्क की पर्तों में छिपी नींद मुझे बार-बार सुलाती जा रही है। मैं ब्रह्मपुत्र का विस्तीर्ण पाट तैरकर उस ओर जा रहा हूँ और सामने कामाक्षी का टीला लगातार दूर-दूर ही जा रहा है। या यह माण्डवी का पाट है और मैं काबो की ओर लहरों पर तैरता जा रहा हूँ ? मण्डी को मोरगाँव में झेंडी के घर में अचानक हड़प्पा की रोजेटा शिला मिल गयी है। और सांखलिया सर कुएँ की भाँति गहरे खुदे एक गड्ढे में झाँककर नीचे मुझसे, जहाँ मैं तल खोद रहा हूँ, पूछते हैं, खण्डेराव, मटका ...मटका। मैं खोदता हुआ चिल्लाता हूँ, मटका है वहाँ कंकाल भी होना चाहिए, सर। ठहरिए।

असल में कहना यह चाहिए था कि जहाँ कंकाल है, वहाँ मटका होना ही चाहिए। मस्तिष्क में मृत्यु का जबरदस्त एहसास होने पर ही मटके की खोज हुई होगी, क्या ऐसा प्रबन्ध में लिखें ? संवेदनाओं के इतिहास में मटका एक महत्त्वपूर्ण चरण है। लगभग पचास हज़ार साल पुराना। जिस प्रकार इस कंकाल की खोपड़ी में सम्पूर्ण युग का, स्थल का, काल का सन्दर्भ खुदा रहता है, वैसे ही यह मटका, एक प्रतीक है। समाप्त हुई एक ज़िन्दगी का सार। सार ? हाँ हाँ। मटके में क्या सार होता है ? वही तो, मटके का केवल आकार होता है, अन्दर कुछ भी नहीं। सारहीन आकार। यानी ज़िन्दगी। इस कंकाल को ईमानदारी से भूमि पर समान्तर लेटकर समाप्त होना पड़ा। उसके पूर्व की ज़िन्दगी यानी केवल शून्य। ज़िन्दापन के मस्तिष्क का विराट, असीम शून्य क्या यही है ? यह सब केवल आकार है। मात्र शून्य मटका। फिरवला घट। फोडिला चरणी। महावाक्य ध्वनी। बोंब झाली. घट मठ जाले। आकाशाचे पोटी... हाँ खाइयो मत फरेबे हस्ती। हरचन्द कहें के है नहीं है। होना भी नहीं और न होना भी नहीं। तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि ज़िन्दगी कृतार्थ हुई। ज़िन्दगी भर बिना कुछ किये-धन-दौलत, पद, बड़ाई, यश, कीर्ति बिना कुछ कमाये प्रत्येक जिंदगी कृतार्थ हो ही जाती है

इस कंकाल के पास बीस किलो भारी बड़ी-सी चकमाक पृथ्वी के जन्म से लेकर, चार-पाँच अरब सालों से यहाँ सिन्धु तट पर पड़ी हुई थी। यही है असल में होना। पण्ढरपुर के विट्ठल की मूर्ति डेढ़ हज़ार सालों से वहीं पर खड़ी है। वह विशाल पीपल का पेड़ चार हज़ार सालों पूर्व के सिन्धु पाट के ऊपर टीले पर खड़ा है। प्रत्येक पीपल की आयु एक हज़ार साल भी मानकर चलें तो इस पीपल का चौथा पूर्वज सिन्धु संस्कृति में मौजूद होगा। यह कंकाल यों ही पड़ा है। भूर्भूव स्वः ये शब्द कितने युगों से इसके-उसके मुँह से जूठे होकर भी आज ज्यों-के-त्यों कायम हैं। जैसे प्राकृतिक सुन्दर स्थल का ऊबाऊपन देर से समझ में आता है, वैसे ही ज़िन्दगी का यह खोखलापन भी। इन बड़ी-बड़ी

सूर्यमालाओं की गति में किसी भी विश्व के किसी भी काले अन्तरिक्ष में हमारा होना न होना बन जाता है।

मोरगाँव के धनजी बोवा का मटका...

#

उसी समय अली ने मुझे जगा दिया है। अँधेरा होने से पहले की अजीब बेला। ड्राइवर लोग ट्रक को एक बड़े नहर के किनारे खड़ा करके नीचे के ढाबे पर खाना खाने गये थे। अली को काफी देर तक लगातार सिगरेट पीकर अकेले समय काटना पड़ा था। इससे वह बहुत ही परेशान लग रहा था। बेचारे पर सुबह से ही मुझे वक़्त पर बॉर्डर तक पहुँचाने का काफ़ी दबाव था। और मेरा इस कदर इतनी देर सो जाना अशोभनीय था। शर्म महसूस हुई।

मैंने कहा, एक मज़ेदार किस्सा याद आया, यारू, तुम्हें तो बताना ही चाहिए। अली मुझसे सिगरेट देते-देते बोला, कैसा ? हॉ हॉ हॉ, अरे दिल्ली की हमारी पुरातत्व परिषद के वार्षिक अधिवेशन में आरम्भ में तीन मिनट खड़े होकर दिवंगत सभासदों को श्रद्धांजलि अर्पित करने का प्रस्ताव - सचिव महोदय मृतकों की बड़ी लम्बी सूची पढ़ते हैं। और मुझे अपना ही नाम उसमें सुनायी दिया। सच्ची, मेरा पूरा नाम। वहम कहें तो नाम छपा हुआ था। फिर उसमें संशोधन के लिए खड़े होकर समय बरबाद क्यों करें, इसलिए सभी के साथ मैं भी चुपचाप तीन मिनट खड़ा रहा। सोचा, क्या फ़र्क पड़ता है। हॉ हॉ हॉ।

अली भी दिल से हँस दिया, बाद में उन्हें यह ग़लती सुधारनी ही पड़ेगी।... गलती ? यानी मेरे ज़िन्दा होने की ? या उनकी, मेरा नाम उस सूची में डालने की ? हॉ हॉ हॉ हॉ। अली का तनाव कम होने से अच्छा लगा। हरियाली भरा पंजाब कभी का शुरू हो चुका था। घण्टे भर में लाहौर आ जाएगा। सुबह सरहद पार करके हिन्दुस्तान में - यानी आज के हिन्दुस्तान में। कल गाँव। फिर अगले दिन, अगले साल - घर की प्रापर्टी ? अपना पीएच.डी. ?

यारू, हमें भूतकाल कल्पना से चितारना पड़ता है और भविष्य तो याद करना पड़ता है।

ज़ोर से हँसकर अली ने कहा, मैं इसी विचार पर अमल करके याद कर रहा था कि आनेवाले पाँच सालों में क्या-क्या करना है। हॉ हॉ। हमारा नया वाईस चान्सलर अभी-अभी अमरीका से आया है, उसने विश्वविद्यालय के सभी विभागों को आनेवाले पाँच सालों का कैलेण्डर तैयार करने को कहा - परीक्षा कब लेनी है, रिजल्ट कब घोषित करने हैं, कौन-सा सेमिनार कब और कहाँ लेना है। हॉ हॉ हॉ और इसका अपना भूतकाल कल्पना करके, यानी इसके पूर्वज असल में हैदराबाद, दक्खन की ओर कुतुबशाही घराने के। लेकिन यह अपने पूर्वज ईरानी नस्ल के लागों को मानता है, माँ की ओर से।

यारू, हमने मोहेनजो-दड़ो में अपने पूर्वज कभी नहीं ढूँढे। पूर्वज यानी कहाँ तक पीछे जाना चाहिए ? हमारे महाराष्ट्र में शिवाजी तक पीछे जाते हैं। ब्राह्मण पुजारी तो बिना किसी सम्बन्ध के भृगु और कौशिक, वशिष्ठ और परशुराम जैसे पराये आर्यों को पूर्वज मानते हैं। यानी उनसे पूर्व पूर्वज नहीं थे ? यानी ओरांगउटांग और चिम्पान्ज़ी और गोरिल्ला जैसे अपने असली पूर्वजों पर किसी को भी गर्व नहीं महसूस होता।

संत तुकाराम द्वारा वर्णित अपनी ही अन्तिम संस्कार विधि : मृतक के चारों ओर घुमाकर घट को चरणों पर तोड़ दिया। फिर महावाक्य ध्वनि की पुकार हुई और घट आकाश के पेट में विलीन हो गया।।

#

हमारा ट्रक एक बड़ी नहर के पुल से लाहौर के इलाके में घुस गया, तब रात के नौ बज चुके थे। फिर भी सड़क पर भीड़, चौराहे-चौराहे पर गाड़ियों की कतारें, पुलिसवालों की सीटियाँ, सभी ओर भोंपू बजानेवाले और गालियाँ बकनेवाले ड्राइवर और अनुशासनहीनता। ऐसा लग रहा था कि कहीं हम दिल्ली में तो नहीं घुस रहे हैं। लाहौर के उस पार पाकिस्तान पुरातत्व के गेस्ट हाऊस में जाने के लिए एक घण्टा और लगेगा, इसलिए अली बेचैन हो गया था। उसे तुरन्त अपने भाई के पास मिलिटरी हेडक्वार्टर्स में जाकर मिलिटरी की जीप प्राप्त करनी थी। बॉर्डर पर दिखाने के लिए खास पास और चिट्ठी तो तैयार ही होगी। लेकिन हाल में चीन-पाकिस्तान में सीमा को लेकर समझौता हुआ था और उन्होंने कश्मीर को आपस में बाँट लिया था। इस कारण आजकल हिन्दुस्तान-पाकिस्तान के बीच युद्ध का माहौल था। इस वजह से अली के भाई ने चुपके से अली को सुझाया था कि मिलिटरी की गाड़ी से ही अन्दर तक सहजता से पहुँचा जा सकता है। हमारा ड्राइवर कोशिश कर ही रहा था। मेहराबी दरवाज़े, भग्न तट, सफ़ेद गुम्बज़ों की मस्ज़िदें, एक के बाद एक पंजाबी हवेलियों की गलियाँ। सड़क पर बड़े-बड़े कड़ाहों में उबलता दूधिया हलुवा। पकौड़े। लस्सी के बड़े-बड़े प्याले पीते-पीते गप्पें लड़ाते और आवाजाही को देखते खड़े लोग, बहुत बड़ा प्लाइवुड का तख्ता अपनी पुरानी साइकिल के पैडल पर टिकाकर एक हाथ से हैंडल धकेलनेवाला सरदारजी, उधर ढीले कपड़े पहने कन्धे पर लम्बे-लम्बे ॲल्युमिनियम के पाइप तेजी से ढोनेवाले बहुत-से आत्ममग्न मज़दूर, सड़क पर कपड़ों की, बर्तनों की दूकानें। बेफ़िक्री से चलती भीड़। सड़क-सड़क पर खुशनुमा जल्दबाजी। बीच में ही पोलियो के कारण एक पैर के सहारे उचक-उचककर चलनेवाला और खुश दिखता बूटपालिशवाला लड़का, साइकिल के पिछले कैरियर पर आरे को आड़ा बाँधकर हथियारों का लम्बा थैला हैण्डल पर लटकाये और एक हाथ से घनी भीड़ में बीड़ी पीता खामोशी से घर लौट रहा बढ़ई, खड़खड़ करती अपनी धकेलगाड़ी को यातायात के गुस्सैल पुलिसवाले के सामने से दौड़ाता हुआ और उसकी ओर देखकर दाँत निपोरता जा रहा ठेलेवाला। ट्रक रुकते-रुकते आगे सरकता रहा।

अली की इच्छा थी कि खाने के समय तक हम लाहौर पहुँचे ताकि उसके घर जा सकें। हमारे घर - ग़रीबखाने पर कब आना होगा ? ...यारू, आऊँगा, आऊँगा। अरे मुझे तो ये मेरा अपना ही गाँव लगता है। अली बीच-बीच में हाथ हिलाकर कहता है, यहाँ माधोलाल हुसेन की दरगाह है। क्या है वहाँ ? वो दोनों सूफ़ियों की एक ही दरगाह है - एक हिन्दू, एक मुसलमान। गुरू नानक असल में सूफ़ी परम्परा के ही हैं, लेकिन मुगलों के औपनिवेशिक साम्राज्यवादी नीति के कारण उन्होंने रजपूत हिन्दुओं का हाथ पकड़ा और सिक्ख, जो असल में मुसलमानों का ही अंश थे, के साथ जानी दुश्मनी। इसी कारण आगे चलकर इस उपमहाद्वीप में यह सवाल हल कभी नहीं हुआ। ...यारू, मैं तुम्हारे विश्लेषण से सहमत हूँ। ...इधर यहाँ रणजीतसिंह की समाधि है, लाहौर सिक्खों की राजधानी थी। आज भी उर्दू के कारण पंजाबी-सिन्धी के साथ सभी भाषाओं का सत्यानाश हो गया है। पूरे पाकिस्तान में तो उर्दू का बोलबाला है। इस औपनिवेशिक मुगलिया उर्दू के कारण बलूची, पश्तू तो भाड़ में ही गयीं। रास्ते में जमात-ए-इस्लामी के पोस्टर, पताका, झण्डे और सभी ओर हिन्दुस्तान मुर्दाबाद की तख्तियाँ लटकी हुईं। अनारकली बाज़ार इधर। ...हम उनको देखते हैं हसरत भरी नज़र से ...वहाँ से आगे माल बाजार। इनमें से कम-से-कम अस्सी प्रतिशत प्रापर्टी तो सिक्खों और हिन्दुओं की थी। सभी लाला मालदार, अमीर व्यापारी थे। ये हिन्दू लोग उधर के पंजाबियों के जरिए पूरे हिन्दुस्तान भर के ग़रीब मुसलमानों का शोषण करते थे। इस वजह से कह सकते हैं कि यहाँ की ग़रीब मुसलमान जनता ने प्रतिशोध ले ही लिया बँटवारे के दौरान।

दोनों ड्राइवर भी अब इन बातों में खुलकर हिस्सा लेने लगे। शुरू में बँटवारे की मज़ाकिया बातें। बाद में राष्ट्रीय खिल्ली : वो गुरुदासपुर है न, उधर हमारे नानाजान की भौत इस्टेट थी। बँटवारा होगा यह तो तय हो गया था। लेकिन ये गुरुदासपुर सीधा बॉर्डर पर आता था। ऊपर से आधे मुसलमान और आधे हिन्दू-सिक्ख। अब यह हिन्दुस्तान में जाएगा या पाकिस्तान में आएगा ? उल्टी-सीधी खबरें आ रही थीं। एक दिन जैसे ही ऐलान हुआ कि गुरुदासपुर पाकिस्तान में आया, वैसे ही सारे सिक्ख और हिन्दू उधर हिन्दुस्तान की ओर दौड़ने लगे। धूम, लूटमार। बाद में ऐसा चक्का घूमा कि उसका हिन्दुस्तान में जाना तय हुआ, माँ की च्यूत, फिर अपने लोग रातोंरात सारी प्रॉपर्टी छोड़कर इधर निकल आये। हॉ हॉ हॉ। खाली हो गया पूरा गुरुदासपुर, माँ की च्यूत। बस अछूत लोग दोनों समय वहाँ रह गये थे, वे सब मालामाल हो गये, दोनों ओर की लावारिस इस्टेट हथियाकर। हॉ हॉ हॉ।

मुबारक गर्दन उठाकर पीछे से बोल रहा था, सिक्ख लोग बहुत गड़बड़ी करने लगे थे। तारासिंग तो बीच असेम्बली में कृपाण निकालता और मुसलमानों को चिढ़ाता : पंजाब हमारा है, हो जाने दो अभी सामना, आओ सामने। उस समय हमारे दादा पटियाला में मुस्लिम लीग की सभा में दहाड़े थे, अरे ये हिन्दू सिक्खड़ा अपनी इतनी-सी छुरी की धमकी देकर आज़ाद पाकिस्तान बनने नहीं दे रहा है क्यों ? एक बार इनको दिखायी देगी कि इस्लाम की तलवार कितनी लम्बी होती है। ऐसा बोले थे वो बीच सिक्खों की बस्ती में।

अली ने मुबारक ड्राइवर को चुप कराकर विषय बदलवाया और ट्रक को किले पर बादशाही मस्जिद की ओर से लेने को कहा। ऊँचे टीले पर पुराने सुन्दर गुम्बजाकार महल में गेस्ट हाऊस। अली ने भड़भड़ाते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर खानसामा को उठाया। शायद उसे समझाया कि हम आज रात में ही कमरा खाली कर देंगे। फिर मेरा बक्सा वहाँ के चपरासी के हाथ में देकर मुझे ऊपर जाकर आराम करने, जल्दी खाना खाने को भी कहा। वह ट्रक से ही गाँव में और वहाँ से कैम्प में भाई के पास जाकर मिलिटरी की जीप ले आएगा, तभी सुबह चार-पाँच बजे के आसपास बाघा बॉर्डर पहुँचना सम्भव हो पाएगा। उसके घर जाना भी सम्भव नहीं हुआ, इसके लिए फिर से अफ़सोस जताकर वह ट्रक से नीचे निकल गया। साथ ही चिन्ता के सुर में तैयार रहने के लिए भी कह गया।

#

सुबह से दबाये रखा अकेलापन अब अचानक हावी हो उठा। ऊपर सौ-एक सीढ़ियाँ चढ़कर फिर दूसरी मंजिल पर। सीढ़ियों पर पाकिस्तान के दर्शनीय स्थलों के चित्रों को देखते-देखते, चपरासी द्वारा दिखाये गये दोनों ओर के प्रशस्त गैलरीवाले लगभग बीस फीट ऊँची छत के कमरे में जैसे-तैसे प्रवेश किया और पानी पीते-पीते ही मुझ पर उदासी का दौरा पड़ा। थकावट और कल रात से सो न पाने के कारण लेटने की इच्छा हो रही थी। गेस्ट हाऊस के बगलवाले कमरे से कानों से टकराकर कोलाहल पैदा करनेवाली द्रुत स्वर की कुछ-कुछ परिचित-सी सितार की धुन रेडियो पर बज रही थी। राग भूप। भीषण गर्मी। दोनों ओर की गैलरियों के बीच विस्तृत फैला लाहौर। दीवार पर पाकिस्तान टूरिजम का बड़ा-सा मानचित्र। लाहौर के आसपास फैले इलाके के मोटे अक्षरों में लिखे गये दर्शनीय स्थल। दाहिनी ओर मोटी तिरछी लाल रेखा - इण्डिया। सीमा से उधर का हिस्सा पूरा कोरा। मैं बेचैन होकर भारतीय पंजाब के उस कोरे हिस्से को बार-बार देखता हूँ। लाहौर के पास ही मरहट्टा माधोजी सिन्दिया दी छाँवणी है। मैं और बेचैन होता हूँ। फिर जल रही अपनी आँखों को बन्द करके लेट जाता हूँ। उसी समय अचानक पूरे लाहौर शहर की बिजली चली गयी। मामला क्या होगा ? कहीं युद्ध के ब्लैक आऊट की तैयारी तो नहीं ? आज अखबार में सभी ओर कश्मीर-अमरिकन सहायता-टैंक, युद्ध के ही समाचार। हिन्दुस्तान-रूस-परमाणु बम-पूर्व पाकिस्तान-अन्तर्राष्ट्रीय

सीमारेखा का भंग। गन्दी बात। वहाँ अन्धेरे में और गर्मी में और रुकना असम्भव था, इसलिए मैं पीछे की गैलरी से अन्धेरे में दूर तक फैले अतिप्राचीन शहर लाहौर को देखता रहा।

बाद में ध्यान गया कि गैलरी के ऊपर के गुम्बजाकार ऊँचे मीनार पर जाने के लिए वहीं से सीढ़ियाँ हैं। ऊपर हवा की ठण्डी लहरियाँ अनुभव हो रही थीं। गुम्बज की चारों दिशाओं से खुले प्रशस्त गोल चबूतरे से पूरा गोलाकार आकाश लाखों सितारों की जगमगाहट से अद्‌भुत लग रहा था। चित्रा नक्षत्र की कन्या और सिंह राशियाँ भावडू की बतायी तरकीब से एक साथ पहचान पाया। पश्चिम की शर्मिष्ठा झुकी हुई और सप्तर्षि सिर पर। गुम्बज के कारण मुलायम हुई हवा की ठण्डी लहरियों के सौम्य स्पर्श से मैं वहीं पर लेट गया। फिर ऊपर आकाश के तारों को देखने की इच्छा हुई। क्यों खण्डेराव, तुम कहाँ आकर फँस गये हो ? कहाँ जा रहे हो ? तुमने क्या तय किया था और अचानक ये क्या हुआ। कहाँ मोरगाँव। बॉर्डर पर कुछ झमेला तो खड़ा नहीं होगा ? अमृतसर से भुसावल के लिए ठेठ गाड़ी तो मिलेगी न ? उसके बाद ठीक से सोच सकेंगे। ऊपर सुन्दर-सी बाँकी रेखा में चढ़ता गया गुम्बज का आकार और क्षितिज तक तारों से जगमगाता गोलाकार दिखता शून्य नीला आकाश। नीचे सारा अँधेरा। आँखों में न समानेवाला विशाल शून्य। मस्तिष्क की पर्तों में छिपी नींद अब स्याही की भाँति फैलने लगी। ऊपर का गोलाकार शून्य धीरे-धीरे धनजी बोवा के मटके जैसा छोटा-छोटा होकर सिर पर गच से बैठ गया। धनजी बोवा का मटका।

#

नौवीं-दसवीं कक्षा में पढ़ते समय हम तीन-चार मित्र तहसील के गाँव रात नौ से बारह का सिनेमा शो देखने चोरी-चोरी जाया करते थे। पैदल। लौटते समय अँधेरे में ऐसे ही तारों के आकाश के नीचे गाँव के बाहर संगमस्थल पर मरघट के पासवाले खेत के पास आने पर गर्दन नीचे झुकाये सीधा आगे देखते-देखते नदी पार कर गाँव में चले आना। सारे गाँववालों ने कह रखा था, बच्चो, कभी ज़रा भी इधर-उधर देखोगे तो श्मशानजोगी का वो नंगा भूत दिखायी देता है। जो हमारे मन के मायाजाल से न जाने कैसे देखनेवाले पर सवार होता है। जैसे, धनजी बोवा का मटका। घने अँधेरे में - बालू भाग, मधू तेज़ भाग, रघु आया क्या रे ऽ, इस तरह सभी के होने की तसल्ली करके हम सब पसीना-पसीना होकर नदी लाँघते।

धनजी अपनी जवानी में अत्यन्त ग़रीब मेहनतकश बारानी किसान था। उसकी लाड़ली जवान पत्नी और गौरैया-से दो बच्चे पैसों के अभाव में दवादारू के बिना तड़प-तड़प कर मर गये। तब से विदीर्ण हृदय धनजी की समझ में आया कि ज़िन्दगी का सार पैसों में ही है। बाद में अकेला बचा धनजी पैसों के लिए ऐसा पागल हुआ कि रात-दिन काम और काम, और मिले हुए पैसे जमा करके रखना - बस यही करता रहा। खुर्दे का कलदार, पाई-पाई से पैसा, पैसों से अधेला, अधेलों से आना, आनों से चवन्नी, चवन्नियों से अधेली और अधेलियों का कलदार बनाना। कलदार बनने पर वह उस रात दरवाज़े-खिड़कियाँ बन्द करके पहले से जमा कलदार रुपए निकाल कर उन्हीं को बार-बार बजाता रहता और इन पैसों के नादब्रह्म में तल्लीन हो जाने पर ही सो जाता। लोग कहते हैं, शुरू के कई साल तो वह अपने पास के केवल दो ही रुपए बारी-बारी से रात भर बजाता रहता था। निष्ठुर दुनिया में सन्तोष देनेवाला लक्ष्मी का नृत्य। छन-छन कलदार चाँदी की आवाज़ यानी पूरे संसार पर हुकूमत कर पाने का आत्मविश्वास। यह भरोसा ही गरीब आदमी का मनबहलाव है। यही हरिनाम, यही स्वर्ग, यही पुण्य। अपनी ज़िन्दगी का क्षण-क्षण कड़ी धूप, सर्द हवाओं से भिड़ाकर, बदन को पसीने में डुबोकर कण-कण से पाये धन का समापन ऐसा मन्त्रमुग्ध करनेवाला, खनखनाता, जगमगाता, जिसे सुनकर, स्पर्शकर, देखकर वह सच में सन्तुष्ट हो जाता। छन-छन का यह ध्वनि-संकेत

संसार की सारी मदिरा मदिराक्षियाँ, सुख-सुविधाएँ देनेवाला और मरते जीवों को बचानेवाला होता है ... यही उसकी ज़िन्दगी का सूत्र बन गया था।

एक दिन देर रात खेत से घर लौटते समय मरघट में जलती चिता के पास जटाएँ खोले बैठा एक अघोरी नंगा श्मशान जोगी, भुजा में केवल डोरा बँधा, एक मटके में छन-छन करके रुपए भरता उसे दिखाई दिया। यह रुपयों की ही छनकार है, उसके तजुर्बेकार कानों ने पहचान लिया। बड़े कुतूहल से डग भरता हुआ धनजी उसकी ओर मुड़ा और हौले से चिता के पीछे दूर बबूल के झुरमुटे की आड़ में चुपचाप दुबककर उकड़ूँ बैठा रहा। न जाने जोगी यह कैसे जान गया, तुरन्त चिता की राख से इस मटके का मुँह बन्द करके पीछे जहाँ धनजी छिपकर बैठा था उस ओर मुड़कर 'यह सँभाल' का संकेत करके मटका उसकी ओर लुढ़काकर अँधेरे में अदृश्य हो गया। मटका लुढ़कता हुआ सीधे धनजी के पैरों के पास आया। कहते हैं, यह श्मशान जोगी कुछ दिन पहले ही हमारे गाँव में मरा पाया गया था और हिन्दुओं ने उसके शव को अपने श्मशान में जलाने से मना किया था। आगे आठ दिनों तक वह शव वहीं पड़ा रहा और फिर अपने आप गायब हुआ। छनछनाता हुआ मटका और हर्षवायु ... दोनों को दृढ़ता से सँभाले होश खोया धनजी घर पर दौड़ता हुआ आया। हमेशा की तरह उसने चूल्हा जलाया और दलिया पकाकर भोजन किया। फिर दरवाज़े-खिड़कियाँ बन्द करके कई सालों से बड़ी मेहनत से जमा किए रुपए इस मटके के रुपयों में मिलाकर बजाने का मन बनाते हुए मटके की राख निकालकर उसने अन्दर हाथ डाला। लेकिन आश्चर्य, रुपये हाथ नहीं आ रहे थे। मटके में हाथ घुमाया, इतना भारी छनछनाने वाला यह मटका अन्दर से ऐसा खोखला कैसे ? उसका कुहनी तक हाथ अन्दर गया, बाद में पूरी भुजा भी अन्दर चली गयी, कन्धे तक हाथ गया फिर भी खोखला। इतना-सा दो बित्ते भर का मटका लेकिन कन्धे तक हाथ अन्दर डालकर भी उसका तल नहीं मिल रहा है ? वह पसीना-पसीना हो गया। फिर उसने अपने जमा रुपयों में से एक सिक्का उसमें डालकर देखा तो वह सिक्का टण-टण करके टकराता हुआ किसी गहरे कुएँ की भाँति काफ़ी देर तक ऊपर गूँजता हुआ नीचे-नीचे गिरता ही जाता रहा। जैसे सालोंसाल। बचे हुए बाकी सभी रुपए अन्दर डालकर उनकी मधुर प्रतिध्वनि सुनते हुए उसके ध्यान में आया कि इस मटके के भीतर का अन्तरिक्ष इस दुनिया का न होकर किसी और ही दुनिया का है। इस अद्‌भुत एहसास से उसमें कम्प छूटा और मटके में सिर धँसा-धँसाकर वह अन्दर के अन्तरिक्ष में आँखें फाड़-फाड़कर उसकी अनन्त काल तक की सतह को देखता रहा। हमेशा के लिए। यही अन्त।

दूसरे दिन पड़ोसियों को शक हुआ और उन्होंने दरवाज़ा तोड़कर अन्दर देखा। उन्हें दिखायी दिया ... मटके में पूरा मुँह फँसने से दम घुटने के कारण मरा पड़ा धनजी।

मटके के अन्दर उसकी विस्फारित आँखों ने क्या देखा होगा ? अन्तरिक्ष। बिना रूप रंग स्वाद स्पर्श के इस आकाश की भाँति भ्रामक आकार का अनन्त अन्तरिक्ष। पैसा जीने का साधन बनने से पूर्व के आदिम मानव के मस्तिष्क का शून्य। करोड़ों साल पहले महासागर की तलहटी में बार-बार उबलते और ठण्डे होते अद्‌भुत वातावरण में रासायनिक बदलाव होते-होते तैयार हुए डीएनए आरएनए प्राणिसृष्टि का आरम्भ। ज़िन्दगी की सतह।

#

खण्डेराव, इस आकाश के शून्य में तुम भी तो ऐसे ही मुँह धँसाकर देख रहे हो। यह वही मटका है ... चमकीले तारों से भरे असीम अन्तरिक्ष का। अभी सभी ओर अँधेरा ही है। नीचे से किसी के पुकारने की आवाजें आती हैं। ऊपर

वृश्चिक के तारे काफ़ी ऊपर तक आ गये हैं। शर्मिष्ठा गायब हो गयी है और सप्तर्षि क्षितिज के पास औंधे हुए हैं। भावडू और मैं खलिहान की रखवाली करने जाते थे। दो गुदड़ियाँ ओढ़कर भी ठण्ड में कँपकँपाते और ऊपर फैले आकाश के गुम्बज तले इसी तरह तारे देखते-देखते सो जाते थे। भावडू काफ़ी तारों की जानकारी रखता था। वह बड़े उत्साह से मुझे दिखाता रहता। मेरे सो जाने पर भी उसका अपने आप से वार्तालाप जारी रहता।

अली, खानसामा और नौकर मुझे ढूँढ़ते हैं। अँधेरे में उनकी टॉर्च नज़र आती है। मैं उसी दिशा में सीढ़ियों से उतरता हूँ। मेरे लिये लाकर रखी गयी भोजन की थाली भी अन्धेरे में ज्यों-की-त्यों पड़ी थी। मेरे दिखाई न देने पर अली बहुत ही घबरा गया। शीघ्रता से निकलना ज़रूरी था। मिलिटरी पोशाक पहने ड्राइवर ने जूते ठोंककर सैल्यूट किया और जीप तूफ़ानी रफ़्तार से बाघा बॉडर की ओर निकल पड़ी। मैं अली को दिल से शुक्रिया कहने का अवसर तलाश रहा था। क्योंकि उसके भाई के कारण ही मेरा अमृतसर पहुँचना सम्भव हो रहा था। दिलवर के लिए भी पैगाम देना ज़रूरी था। लेकिन जीप की रफ़्तार और आवाज़ में यह सम्भव नहीं हो रहा था।

उसी समय बॉर्डर की झकाझक चौकी में लाल-हरे दीये चमक उठे। सड़क के आसपास बहनेवाली नदी जैसी विशाल नहर में पीले दीये उभरे। हमारी जीप को सैल्यूट ठोकनेवाले सेना की वर्दी में त्रिकोणी हाथ। एक आड़े फाटक के पास जीप रुकी। हमारा ड्राइवर मुस्तैदी से अली के पासवाले दस्तावेज़ लेकर अन्दर गया। अब मैं अली से बात करनेवाला ही था कि कान के पर्दे फाड़नेवाला जंगी हवाई जहाजों का बड़ा-सा बेड़ा एक के पीछे एक जाता रहा। सारा माहौल थर्रा उठा। इतने में ड्राइवर लौट आया और जीप को बड़े शोर से शुरू करके खड्खड् कर हमें अगली चौकी तक पहुँचा दिया। जीप का दरवाजा खुलते ही अली ने मेरा बक्सा उतार लिया। दोनों एक-दूसरे के सीने से लगे। फिर हममें इतना ही संवाद हुआ : मैंने कहा, अली --। वह बोला, खण्डेराव --। बस्स। खुदा हाफ़िज़। खुदा हाफ़िज़। जीप वैसी ही उल्टी तेज़ी से पीछे लौट गयी। यह हमारी आखरी मुलाक़ात थी। तीन महीनों में एक भाई जैसे समविचारी सान्निध्य का समापन। भूतकाल के विशाल हिन्दुस्तान से हम भविष्यत्काल में एक-दूसरे पर भौंकनेवाले लड़ाईखोर राष्ट्रों के शत्रु नागरिक बने। कँटीले तार। पहरे के टॉवर। तेज़ रोशनी के पीछे स्टेनगन धारी यूनिफार्म। दोस्त, दोष हमारी ग्रहदशा में होता है।

भारतीय गणराज्य के सभी नागरिकों के लिए निवेदन

देवनागरी लिपि। सरदारजी, पगड़ियाँ, साफ़े, चाय की केतली और प्याले लेकर घूमनेवाले छोटे-छोटे बच्चे, कानों पर पाँच-सात भाषाएँ, अशोक स्तम्भ। तिरंगा, वेलकम, वेलकम - जैसे मज़ाकिया ढंग से कागज़ात जाँचनेवाला आतिथ्यशील कश्मीरी आदमी, सीमा के इस ओर भी वैसे ही दीये। वैसे ही वर्दीधारी सैनिक। वैसी ही पंजाबी गर्मी। वैसे ही दिखनेवाले लोग। राष्ट्रीय गाली भी वही तेरी माँ की। मेरे साथ सौ-एक गुजराती मछुआरे भीड़ करके खड़े थे, जो मानवाधिकार आयोग की दस साल की मशक्कत के बाद पाकिस्तानी जेलों से कोर्ट द्वारा रिहा किये गये थे। इन सबके बदन पर पाकिस्तानी जेल की ढीली-ढाली पठानी पोशाकें, इतनी ढीलीं कि उनमें छोटी कदकाठी के काठियावाड़ी लोग ढूँढ़ने पड़ते थे। अपनी युवावस्था में ही स्वदेश लौट रहे हैं, इस पर अभी तक उन्हें यकीन होता नज़र नहीं आ रहा था। दोनों देशों में किसी की समझ में न आनेवाली बारह समुद्री मीलों के विभाजन की स्वातन्त्र्योत्तर सीमारेखा लाँघकर ये उत्साही लोग मछलियों का शिकार करते-करते अन्दर गये और केवल लँगोट के साथ बरामद हो गये। तेरह साल तक जेल में। जब पकड़े गये तब इनमें से कुछ तो पन्द्रह-सोलह साल के भी नहीं थे। जासूसी के इल्जाम में कैद किये गये। गन्दी बात। भारतीय जेलों में भी उस ओर के ऐसे ही मछुआरे कैद होंगे। गन्दी

बात। आते समय एक उद्दण्ड जवान लड़का भारतीय सैनिकों को भी पाकिस्तानी समझकर गालियाँ देता हुआ धक्का-मुक्की कर रहा था। क्या यह जासूसी कर सकता है ? जासूसी ऐसा भयानक मामला है कि इसे सभ्य इन्सान ही कर सकते हैं। गाँव के लोग लेने आएँगे, इस उम्मीद से कुछ पंजाबी कैदी शाम से खड़े थे। लेकिन कोई भी लेने नहीं आया था। मेरा नाम अधिकृत सूची में न होने के कारण पंजाबी अफ़सर ने मुझे बाहर रुकने के लिए कहा।

मेरा पासपोर्ट तो ठीक ही है। क्या ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि विदेश से हम खुद को अपने ही देश में ग़ैरकानूनी तरीके से घुसाएँ ? कोई इस तरह ज़बरदस्ती दूसरे देश का हो सकता है ? हम जिस देश के नागरिक कहलाते हैं, उसी में हमें क्यों नहीं आने देंगे ? अपना वतन अपना देश तो होता ही है, लेकिन ये अपने देश पर थोपा गया राष्ट्र भी होता है, जो हमारे और हमारे देश के बीच झण्डा फहराकर टाँग अड़ाता है। मैं आँखें मूँदकर अगली यात्रा की योजना बनाता रहा। यहाँ तक तो आसानी से आना हुआ, लेकिन इसके आगे ? कल रात इस समय मैं क्या-क्या मनसूबे बना रहा था ? और आज ये क्या हुआ ? पीएच.डी. के साथ अगला सबकुछ सम्भव-असम्भव पर निर्भर। अब घर की खेती कौन सँभालेगा ?

अपने पूर्वजों से चले आ रहे सिलसिले के तहत लाहौर के हजरत मियाँ पीर दरगाह में मन्नत माँगकर लौटा एक पंजाबी हिन्दू व्यापारी कह रहा था कि अमृतसर के लिए हर घण्टे यहीं बाहर से सरकारी बस छूटती है। अमृतसर-अम्बाला-दिल्ली-वहाँ से भुसावल जानेवाली शाम की कोई भी गाड़ी - कल सुबह इस समय तक ग्वालियर। दोपहर में भोपाल। शाम को खण्डवा, कल रात भुसावल। दो दिन दो रातें। उसमें भी हमेशा की तरह आठ-आठ दस-दस घण्टे देरी से चलनेवाली गाड़ियाँ।

रामा रे रामाऽ जी रे त्त जि र जी जी जी जी जीऽ

नागरिकता की खातिर तकलीफ़ें सहकर आये और बस में सवार उन श्रमजीवी वर्ग के लोगों में हम दो-तीन ही बूर्ज्वा थे। मैं तो फौजी अफ़सर की पहचान से आराम से आधे घण्टे में सरहद लाँघनेवाला बुद्धिजीवी प्रोफ़ेसर। उपमहाद्वीप के भ्रष्टाचार का आदर्श नमूना। इससे मायूस होकर मैं बस की आखिरी कतार के कोने में अपना बक्सा पैर के नीचे रखकर बैठा था। एक ठेलेवाला सिक्ख स्टेनलेस स्टील की बटलोई और दस-बीस काँच के गिलास उँगलियों में फँसाकर क्येरी शरबत, क्येरी शरबत चिल्लाता हुआ बस में चढ़ा। मेरे साथ चौकी से आये एक पंजाबी हिन्दू व्यापारी ने खुद तो शरबत लिया ही, साथ ही एक नोट पेशगी देकर बस में सवार सभी को एक-एक प्याला देने का आदेश दिया। पाकिस्तान से आने के कारण उसमें राष्ट्रीय भाईचारे की भावना का ज्वार उमड़ आया था।

अमृतसर रेलवे स्टेशन पर बस के आते ही अखबार बेचनेवाले सभी लड़कों ने भारत-पाकिस्तान युद्ध के समाचारों की ज़ोर-ज़ोर से चीख-पुकार करके भीड़ बढ़ा दी। वरना उनके इतने अखबार नहीं बिकते। गन्दी बात।

#

फिलहाल तो अमृतसर-जालन्धर होकर दिल्ली का टिकट लीजिए और वहाँ दिल्ली में ही भुसावल की सीट मिल जाए तो देखिए, यहाँ नहीं। इण्डियन रेल। हमेशा का यह डर भी था ही कि खड़े-खड़े भी जा सकेंगे या नहीं, इसीलिए मैंने टिकट खिड़की में बैठे सफ़ेद दाढ़ीवाले से पूछा कि क्या दूसरा भी कोई रास्ता है ? वह शान्ति से बोला, दूसरा रास्ता ? है न - बरथ पर सो जाने का। बस्स। टिकट चेकर आएगा, तो बेटा उसको पाँच रुपया दे देना। जाओ। आधे घण्टे के बाद गड्डी एक पर आएगी।

बक्सा लेकर मैं स्टेशन के बाहर मस्का-रोटी के होटल में घुस गया। दीवार पर बीच में गुरू दसमेस और चारों ओर क़रीब पन्द्रह सन्तों के नाम, सुन्दर गुरूमुखी में छपे। उनमें एक गुरू नामदेवजी। वाहे गुरू। ठ्ठालवि ठ्ठालवि ठ्ठालवि ठ्ठालवि। कीर्तन, मृदंग, धुमकिट तकतक। पिताजी की उत्कट याद। उस ग्लानि के समय इधर पंजाब में इस्लाम के अखाड़े में उतरकर आज तक कैलेण्डर पर अपना स्थान अबाध रखनेवाले नामदेवजी। काहेकू कीजे ध्यान जपना। जो मन नहि सुध अपना। धुमकिट तकतक ठ्ठालवि ठ्ठालवि। स्टेशन में आकर अँधेरे में ही गाड़ी के सामान की एक बर्थ पर थोड़ी देर पहले के सफ़ेद दाढ़ीवाले को याद करके तानकर लेट गया। चलो शुरूआत तो हुई। फिर लेटे-लेटे लगा जैसे मैं परीक्षा के अन्तिम प्रश्न का उत्तर जल्दबाजी में लिख रहा हूँ। समय समाप्त हो चुका है, प्रश्नपत्र अभी आधा भी हल नहीं हुआ है, सारे उत्तर पता होने के बावजूद। शायद किसी एक प्रश्न ने बहुत ज़्यादा समय ले लिया। प्रत्येक सेकेण्ड युग जैसा बीत रहा है।

फिर गाड़ी के अन्दर दिये जल उठे। जालन्धर जानेवाले लोग एक-एक कर आकर बैठ गये। मेरी ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया। गाड़ी शुरू हुई। पुल के नीचे जगमगाती रोशनी से भरे चौक में ब्राँज़ से बना किसी का भव्य अश्वारूढ़ पुतला। एकदम ऊँचा। हाथ की तलवार भी ब्राँज़ से बनी। उसे ऊँचा तानकर हमेशा भीड़ भरे चौक की आवाज़ाही देखते-देखते कितना उकता जाता होगा बेचारा ? खण्डू, ज़्यादा होशियारी मत दिखाओ। पिताजी का कठोर स्वर। मैं कभी भी, कहीं भी अपना मौलिक निरीक्षण बताने के लिए हरदम तैयार रहता। इस पर पिताजी का आदेश -ज़्यादा होशियारी दिखाना बन्द करो, खण्डू। उनकी धारणा थी कि हमारा व्यक्तित्व आम लोगों से अलग नहीं होना चाहिए। मेरे मुँह पर हमेशा यह मुसका बाँधने के कारण हिम्मत पस्त होती। लगता, पिताजी की ही वजह से मैं पिछड़ रहा हूँ। धूप के दिनों में ठण्डे पानी से नहाते वक़्त चेहरे पर साबुन मलकर अचानक उठते समय सिर पर ठस्स से लगनेवाली नल की टोंटी। खण्डेराव, यदि ऐसा अंकुश नहीं होता तो धृष्टता में तू कितना बहक गया होता ? संयम की महिमा पिताजी ने ही तुझे समझायी थी। लेकिन अन्त तक तू उनकी महिमा को समझ नहीं पाया। निरीक्षण करना ठीक है, लेकिन उसे तुरन्त बताएँ क्यों ? क्या यही होशियारी का तरीका है ? हे तलवारधारी पुतले, इस खण्डेराव को क्षमा कर दो।

इस डिब्बे में बिल्कुल ही शोर नहीं था, फिर ध्यान में आया कि यहाँ के सारे पंखे चोरी हो गये हैं। चलो अब दिल्ली तक ऐसे ही बॉयलर में। आँखें मूँद-मूँदकर गाड़ी की आवाज़ में अपने आप झपकी आने लगी।

#

मैं बाघा बॉर्डर के राजमार्ग में एक मोड़ पर आधे पाकिस्तान और आधे हिन्दुस्तान के बीच में फर्लांग भर लम्बी चारपाई बिछाकर सोया हुआ हूँ। बिल्कुल अन्तरराष्ट्रीय सीमा पर। लोग कहते हैं, सोने दो जी बेचारे को, ऐसे ही थका होगा इतने हज़ारों वर्षों का इतिहास पढ़-पढ़कर। सोने दो - यह डिब्बे के कुछ आदमियों ने कहा, या मैंने ही खुद से कहा ? ऐसी ही तपती थी गोठ की चारे की कोठी। गेहूँ के भूसे की मीठी गन्ध। बचपन में एक बार मैं इस कोठी में ऊपर के खपरैल से छनकर आते प्रकाश किरणों में नाचनेवाले धूल के चाँदी जैसे करोड़ों कण देखते-देखते फँस गया था। अन्दर कोई दिखा नहीं, इसलिए साण्डू बाहर से ताला लगाकर चला गया। ऊपर से अलग-अलग कोणों से आतीं प्रकाश किरण, बाकी सभी ओर अँधेरा। उस धुँधली अँधेरी और निर्जन कोठी में प्रकाश किरणों से प्रकाशित धूलिकण बड़ी तेज़ी से ऊपर-नीचे नाच रहे थे। वह एक अलग ही तान थी, पकड़ में न आनेवाली। निरन्तर बदलते हजारों आकारोंवाली। फिर कोने में रखे बबूल के जलावन के नीचे से गुच्छेदार दुमवाले और लाल-लाल ओंठ दिखाते नेवले

के फुर्तीले शावक एक-एक करके बाहर आये। मैं डर के मारे वैसा ही खड़ा। शावक भी मुझे खम्बा समझकर बेखौफ़ होकर खेलते रहे। यह जलावन के नीचे की जगह सालोंसाल उन्हीं की थी। अभी भी है। वे शावक अभी भी दो पैरों पर खड़े होकर अपनी लाल-लाल आँखों से मेरी ओर टकटकी लगाकर देखेंगे।

रामा रे रामाऽ जी रे त्त जि र जी जी जी जी जीऽ

#

...भगवान नहीं हैं ऐसा पढ़ा है मैंने एक अख़बार में। ...अँग्रेज़ी पेपर में ? ... पाटील से कुबूल करवा लो। खालीपिली इधर की टोपी उधर करता है वह। ... सुधाकर क्या अभी भी ज्योति के पास ही हैं ? ... वैशाली कुछ और भी करती है ? ...आप क्षत्रिय हैं क्या ? क्या विनोबा अभी ज़िन्दा हैं ? ...तुम्हारे भाषा में वो ज्ञानपीठ मिला था वो-क्या उसका नाम-बहोत बड़ा राईटर है-मुझे भले यह मालूम न हो, तुम्हें तो पता होना चाहिए ना।

इतने में उधर से खंजड़ी पर तार सुर में दिल के अरमाँ आँसुओं में बह गयेऽ गाना गाते-गाते एक आदमी आता है। खण्डेराव, इसे एक रुपया दे दो। वैसे भी डिब्बे में कौन ऐसा गाना सुनाएगा ?... मतलब, आपको लड़का, लड़की कुछ हुआ ही नहीं ? क्यों ? ...फ्रिज में चूहा घुस गया, बन्द कर दिया सालेकू। मर जाएगा क्या ? या खराब करेगा सब चीज़ें ?...तुम्हारे जोरू को कॅन्सल बीमारी हुआ है ?

बाहर समाज में, परिवार में कहीं भी न मिलनेवाली बेनामी गोपनीयता और निजी आविष्कार, ईमानदार प्रश्न और ईमानदार उत्तर। दुख हलका करना और कहीं न मिलनेवाला विश्वसनीय सहारा। एक-दूसरे के स्वायत्त अस्तित्त्व की रक्षा करनेवाला भ्रातृभाव। एक बोहरा स्त्री बड़ी-सी टोकरी ढँकने जैसा पूरा काला बुर्का ओढ़कर बैठी थी, जिससे डिब्बे के एकात्म भाव में कुछ बिगाड़-सा आ गया था। उसके पति के द्वारा भोजन का डिब्बा निकालते ही उसने झट से चेहरे पर लटकनेवाला जाली का ढक्कन उलटा कर अपने सुन्दर नाकनक्श से डिब्बे के भीतर का धार्मिक-सामाजिक वातावरण काफी सुहाना बना दिया। एक आदमी बोहरा से गुजराती में पूछता है, क्यों जी, तमारो अमदाबादे जामा मशीदमां तरक्की मदरसा चाले छे के ? तमे जाणो छो ?...हाँ जी, चलता है। ...वहाँ कुराण के सिवा और क्या-क्या पढ़ाते हैं ? जवाब : फतराँ।

एक-एक फेरीवाला अपना हुनर दिखाता हुआ आगे बढ़ता है। चना बेचनेवाला पीछे आ रहे चाटवाले से आधा डिब्बा आगे है, तो चाटवाला अपने पीछे से आ रहे उँगली भर प्लास्टिक की नली को सन्तरे में घुमाकर बिना मेहनत के गिलास भर रस निकालकर दिखानेवाले के लिए जगह बनाता हुआ आगे बढ़ता है। एक तम्बाकू का व्यापारी बगल में बैठे एक खद्दरधारी को सत्य, अहिंसा पर दार्शनिक उपदेश दे रहा था, तो वह खद्दरधारी आदमी उसे यह समझा रहा था कि नौ बाइ छह के पार्सल की बजाय ग्यारह बाइ तीन के पार्सल चार-सौ किलोमीटर तक रेल से भेजने पर सौ रुपए सस्ता कैसे पड़ते हैं। कुम्भमेला से लौट रहे मराठी लोग मराठी में हिन्दी बोल रहे थे और यह बता रहे थे कि सुमारे अकरा लोक गटांगळया खाके कैसे बुडून मरे, और यूपी के मुम्बईवाले हिन्दी में मराठी बोल रहे थे। वृन्दावन-मथुरा के बीच कहीं एक स्टेशन से सटे देरासर के सामनेवाले मैदान में हज़ारों कबूतर दाना चुगते दिखायी दिये। उनके हज़ारों पोज़-कम-अधिक ऊँचाईवाली पूँछें, अलग-अलग कोनों की चोंच, सीने के मेहराब, मज़बूत गर्दन-उनकी हरकतें दिमाग में इतनी पक्की बैठ गयी हैं कि बाद में घण्टा भर आँखों के सामने अन्य कुछ भी बिम्बित नहीं हो रहा था।

मज़ाकिया तबीयत का एक आदमी बिना वजह अपना चेहरा हँसमुख बनाकर सभी के साथ ऊबानेवाला लगाव बढ़ा रहा था - शायद उसे पता नहीं था कि आम ज़िन्दगी का यह सद्‌गुण यात्रा में दुर्गुण बन जाता है, बहुत-से उद्‌गार सूचक चिह्न लगानेवाले ललित गद्य लेखक जैसा। सारंगी के बक्से को अपने बच्चे की तरह गोद में सँभाले महफ़िल के लिए भोपाल जा रहे अपने बगलवाले उस्ताद से वह कहता है, इसको पीछे लगाके लेट जाइए। ...क्यों ? ...नहीं तो गाड़ी लेट हो जाएँगी। हॉ हॉ हॉऽ

सारंगीवाला दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बोला, मज़ाक की बात अलग। यह साज, बस यही मेरी दौलत बची है समझो।

एक आदमी ने चाट खत्म करके हाथ की पुड़िया के कागज़ को सीधा करके पढ़ा। उसमें बड़े अक्षरों में लिखा था - कश्मीर सीमा पर गोलाबारी। समाचार देखकर ऊपर से हाथ भर गर्दन लम्बी करके पढ़नेवाले आदमी ने उससे वह कागज़ माँगा। चाट खानेवाला बोला, आज का नहीं है। माँगनेवाला बोला, चलेगा, क्या फ़रक पड़ता है ?

मेरे पास खड़ा एक सरकारी कर्मचारी आगरा के पास कल होनेवाले यू.पी. विधानसभा के उपचुनाव के लिए मतगणना अधिकारी का असिस्टेण्ट बनकर जा रहा था। वहाँ कत्ल, मारामारी, आगजनी जैसी डरावनी घटनाएँ घटती रहती थीं। फिर भी यह आदमी पटसन की दो लम्बे फीतेवाली थैली में कपड़े ठूँसकर शान्ति से ड्यूटी पर जा रहा था। पहले उसने हथेली पर तम्बाकू रगड़ी और संसार के सबसे बड़े जनतन्त्र का रक्षक बनकर निर्भयता से पटसन की थैलियों के साथ वहाँ के स्टेशन पर उतरा। जाते समय उसने बड़े प्यार से मुझे अपनी हथेली की चुटकी भर तम्बाकू देनी चाही। मैंने आदर से झुककर मना किया। इस पर वह हिन्दी में बोला, अरे फिर क्या होगा भैया तुम्हारा इस दुनिया में ? मैं जेब से सिगरेट दिखाता हुआ बोला, ये है ना भैया।

एक आदमी सांसद का अटेडेण्ट बनकर सांसद के बगैर उनके पास पर सफ़र कर रहा था। टीसी ने उससे पूछकर बस इतना ही कहा, वा भई वा।

जमाई के घर गये थे ? फिर लड़की-पोते खुश हुए होंगे। ...और क्या-क्या किया ? ...मीटर की मरम्मत कर आया। अब कभी दस-बारह के ऊपर रीडिंग नहीं आएगा। ...ऐसा ? दिल्ली में इन दिनों एसी लगाये बगैर काम नहीं चलता। रिटायरमेण्ट से पहले मीटर की मरम्मत करना ही अपना जॉब था। ...ऐसा टेलिफोन का भी कर सकते हैं क्या ? ...क्यों नहीं होगा ? सब कुछ फास्ट या स्लो हो सकता है। अक्षय टेलिफोन। कितना भी घुमाव, बिल मिनिमम। हॉ हॉ हॉ। ...क्यों बेटी, बच्चा क्यों रो रहा है ? क्या नाम है इसका ? ...मायकेल। ...ऑ ? मायकेल ? ये तो ख़िसमसवाली बात हो गयी। ...अंकल जी, कुछ फ़रक नहीं पड़ता, सिर्फ़ दिल साफ़ होना चाहिए। और कुछ नहीं।

नारीमुक्ति से सम्बद्ध लगनेवाली एक छैल-छबीली युवती नाविक दल से स्वेच्छावकाश ग्रहण करनेवाले अधिकारी से कह रही थी, नाटे वामन का एक पैर आकाश में - सैटेलाइट ट्रान्समीटर, दूसरा पृथ्वी पर - बस सभी ओर टीवी ही टीवी, और तीसरा पैर हमारे सिर पर - पाताल में दफ़न करेगा। हॉ हॉ हॉ। ...वही तो कह रहा हूँ। हर काम की अलग व्यवस्था चाहिए। जब अपराध को खोजनेवाले अलग होते हैं, अपराधियों को सजा देनेवाले अलग होते हैं...तो फिर अपराध करनेवाले अलग नहीं होने चाहिए ? या वो भी ये ही ?

आप क्या करते हैं ? ...पीएच.डी.।... किस विषय पर ? ...आर्कियॉलॉजी। ... यानी ? ...पुरातत्व, ज़मीन खोदकर गड़े मुर्दे बाहर निकालना। ...आगे क्या स्कोप होता है ? यानी नौकरियाँ ? ...कहीं भी जंगल में या मन्दिर में

पहरेदार। या फिर म्यूज़ियम में झाड़ू लगाना। ... मजाक कर रहे हैं भैया आप। ...अरे भाई, एक बार आपकी ज़िन्दगी को ज्ञानप्राप्ति की दीमक लग गयी न - जैसी रेशमी कपड़े लगती है - फिर ज़िन्दगी उसी में तबाह हो जाती है। लेकिन किसी-न-किसी को ज्ञान का छोर भी तो सँभालना चाहिए न ? ...सही है सर, सही कहा आपने, सॉरी। ...अरे सॉरीफिरी किसलिए ? इस उम्र में जायज सवाल किया है आपने। नौकरी महत्त्वपूर्ण होती है। ...मैं आई.ए.एस. दे रहा था। हमारे सर कहते हैं, इम्तिहान में कौन-से सवाल पूछे जाएँगे, यह सबसे अहम होता है। उसके बाद ही जवाब को महत्त्व देना चाहिए। ...यानी ? ...यानी असल पढ़ाई इस बात की करनी है कि कौन-से प्रश्न आ सकते हैं। ... इसी कारण हमारे यहाँ की ज्ञान की परम्परा नष्ट हो गयी, कहो अपने सर से।

इण्टेरियर डिज़ाइनिंग क्या होता है ? अच्छा। अच्छा। मुम्बई में दहिसर की तरफ एक फ्लैट लेना है मुझको, अन्दर से इण्टेरियर चाहे जैसा हो, बाहर से खुलापन कितना है यही इम्पारटेण्ट होता है। हमने इस्टेट एजेण्ट को बोला है, अल्ला, भगवान - भेनचोद कुछ भी नहीं माँगता आसपास। कितना कोलाहल, लाऊडस्पीकर आरतियाँ - साला नींद हराम कर देते हैं ये मशीदवाले मन्दिरवाले।

अरे भाई, तुम्हारे ध्यान में ही नहीं आ रहा तो मैं भी क्या करूँ ?...आप ही हमें ठीक से समझा नहीं रहे हैं तो समझेंगे कैसे ? ऑ ? ...देखिए, अगर कोई बात आठ आने ही मेरी समझ में आयी है तो मैं तुम्हें सोलह आने कैसे समझाऊँगा ? या ये चाहते हो कि उसमें अपनी ओर से झूठ जोड़कर समझाऊँ ? किसी ने सोलह आने बात कही, इसका मतलब यह नहीं है भाई कि उसे वह पूरा समझ गया। ...ठीक है बाबा। आप जो कहेंगे वही सोलह आने सच।

मेरा ये दाईं ओर का नथुना साला जब देखो तब बन्द हो जाता है। सायनस का मामला होगा। केवल बाईं ओर की साँस चलती रहती है। इससे होता ये है कि साइकिल चलाते वक़्त हैण्डल दाहिनी ओर मुड़ जाता है, अपने आप। ... सँभालना भैया, तुम मोटरगाड़ी मत चलाना, एक्सीडेण्ट करोगे। एक्युपंक्चर करके देख लो। ...किया है जी वो भी। तलुवे के बीच टेढ़े भाग के पास केन्द्र होता है, वो तो घुटने की बीमारी में भी होता है, ऐसा दूसरा डॉक्टर कहता है। मेरे तो घुटनों में भी दर्द है। ...चाहे ये हो चाहे वो, लेकिन कुछ तो ठीक होना चाहिए।

अब आप ही कहते हैं कि जवाहरलाल नेहरू का वो विचार बहुत पिछड़ा हुआ है। लेकिन अगर किसी और ने यही विचार पहले ही रखा होता तो क्या नेहरू ने उससे आगे का कोई नया विचार नहीं ढूँढा होता ? प्रगत विचार पिछड़े विचार से पहले कैसे आ सकता है ? पहले पिछड़ा विचार ही प्रगत बनकर आता रहता है। ...अच्छा, ये बात है।

अब ये देखिए, हम दाईं ओर जा रहे हैं न, उसकी बाईं ओर मध्य प्रदेश है और दाईं ओर भी मध्य प्रदेश ही है। बीच में चम्बल का यह संकरा क्षेत्र केवल यू.पी. में पड़ता है। ...यानी कहीं डकैतों की सुविधा के लिए तो ऐसा नहीं किया है ? ...हॉ हॉ हॉ। बिल्कुल सही। इधर डाका डालकर आराम से उधर सीमा पार भाग जाना। पुलिस अपनी-अपनी सीमा तक पीछा करने का नाटक करती है। प्रकृति, पर्यावरण भी डकैतों के पक्ष में - नदियाँ, नाले, कगार, झाड़-झंखाड़। उनकी डोंगियाँ छिपी रखी रहती हैं किनारों पर। पाँच मिनट में यू.पी. में। अब एम.पी. पुलिस के पास कहाँ से आएँगी डोंगियाँ ? ये लोग तेज़ घोड़ों पर चलती रेलगाड़ी से सटकर आते हैं और डिब्बे से लटककर अन्दर घुसते ही लूटपाट। बाहर गोलाबारी की आवाज़ सुनते ही दुबारा घोड़ों पर। उनके घोड़े भी डिब्बे से सटकर ही दौड़ते रहते हैं। हमारा एक सहपाठी साथी डाकू बन गया है। ...क्यों ? ...अब अपनी-अपनी पसन्द। ...आपके इस धन्धे से तो अच्छा ही धन्धा चुना है उसने। हॉ हॉ हॉ। हू हू हू।

प्राइमरी स्कूल का एक टीचर अपनी दिवंगत माँ की अन्तिम इच्छा पूरी करने की खातिर पन्द्रह-बीस दिनों से उनकी अस्थियाँ देश की सभी पवित्र नदियों में बहाते-बहाते अब नर्मदा की ओर निकल पड़ा था। अब उनकी पवित्र आत्मा को वाकई शान्ति मिल रही होगी, इस कृतकृत्य घमण्ड में वह अपनी वीरता का बखान कर रहा था। तभी एक आदमी ने पूछा, क्यों मास्टरजी, अभी तो स्कूल शुरू हो रहा है और आपने छुट्टी ले ली ?

छुट्टी ? ये कॉलेज या विश्वविद्यालय थोड़े ही है शहर का ? एक टीचरवाला सरकारी स्कूल है, वो भी आदिवासियों के दस-बारह पाड़ों से मिलकर बना हुआ, पालपुर में। ... पालपुर ? वो शेर लाकर छोड़ दिये थे, वो पालपुर ? ... हाँ वही। गिरनार की ओर उनकी संख्या ज्यादा बढ़ने के कारण दस-बारह शेर छोड़ दिये थे। उस साल कुनो नदी के किनारे के सात-आठ देहात उजाड़ दिये रातोंरात और यहाँ बसा दिये - प्रत्येक कुटुम्ब को छत्तीस हज़ार नकद। इसके अलावा छह बीघा बंजर ज़मीन भी मिल गयी। तभी स्वास्थ्य केंद्र और मेरा स्कूल शुरू हुआ। उसके उद्घाटन के बाद मन्त्री, कलेक्टर किसी ने मुँह तक नहीं दिखाया है। अब मुझे बताइए, छुट्टी किससे माँगे और कौन किसे दे ? ... अरे लेकिन उधर स्कूल शुरू और आप महीना भर इधर ? ...अजीऽ आकर तो देखो उधर मिस्टर। फटेगी आपकी। ये पालपुर यानी माधोसिंग, पुतलीबाई, मोहर डाकू - अरे, सुनकर ही फट गयी आप की तो। ...बाप रे। ...ये तुम्हारा ग्वालियर या भोपाल थोड़े ही है ? रेलवे स्टेशन से पाँच घँटे बस से - वो भी बस उसी दिन छूटी तो। जंगल का रास्ता शेरों और भेड़ियों से भरा। तीन-सौ रुपए माँगते हैं मामूली-सा कहीं तबादला करवाने के लिए। यानी हमारी चार महीनों की तनख्वाह। फिर लाईट, नल, सिनेमा और बाज़ार की सुविधावाले मामूली तहसील के गाँव के लिए कितना लेते होंगे, उनका पी.ए. ही जाने। ...अच्छा है न मास्टरजी, यहाँ काम भी तो कुछ नहीं होगा। ...वाह भैया, अजी कितने काम गिनाएँ - स्कूल के ज़मीन की पुताई-सफाई तो छोड़ ही दो। मलेरिया के चार्ट भरो, शीतला माता का रोगी दिखाओ और हज़ार रुपए पाओ के बोर्ड बनाओ। पोलियो के लोग आते हैं, उनके लिए दौड़धूप, मर्दुमशुमारी के स्तम्भ, छब्बीस जनवरी का झण्डावन्दन हर साल, पन्द्रह अगस्त की प्रभात फेरी, भेनचोद वो भी हर साल। बुखार किसे आता है, रिपोर्ट करो। पूरी बस्ती में मैं अकेला ही हूँ जो पता ठीक से लिख सकता है। इसका पत्र लिख दो, उसका पत्र पढ़ दो। हर सोमवार को डाकिये के आते ही दिन भर यही। मुफ्त में पत्र लिखने का काम। लिखवानेवाली बुढ़िया फ़कत् इतना कहती है, बेटे को बताओ कि मैं मर रही हूँ। फिर मैं इसका अनुवाद करके लिखता हूँ - दुष्ट, नौ महीनों तक कोख में बोझ ढोने का ये फल - लोग चिलम पीते रहते हैं मेरी झोपड़ी में हमेशा। मैं ऐसा ही मरता-खपता रहता हूँ। और पढ़ाना मतलब एक ही छप्पर के नीचे पहली से चौथी कक्षा। सबकुछ - मालवा, मध्य प्रदेश, भारत का भूगोल, इतिहास प्रसिद्ध स्थल, जवाहरलाल नेहरू, गणित, अ आ इ ई। माखनलाल चतुर्वेदी की चाह नहीं मैं सुरबाला के। चन्द्रग्रहण, शिवाजी - न जाने क्या-क्या पढ़ाते हैं ? जो कुछ मैं जानता हूँ, वह सबकुछ। और ऊपर से आप छुट्टी की बात करते हैं ?

सही है पण्डितजी, आप जैसों के कारण ही देश में शिक्षा की थोड़ी-बहुत उन्नति हो रही है। शहर के वो अँग्रेज़ी स्कूल और यूनिवर्सिटियाँ, मेडिकल इंजीनियरिंग से क्या फ़ायदा हम गरीबों को। ...उसमें भी हर साल मध्य प्रदेश आदिवासी लोकमंच की सरकारी नौटंकी। हर साल होती ही है ज़िले के गाँव में। माननीय निदेशकों की आज्ञा का पालन तो करना ही पड़ता है : आठ-दस साल के पन्द्रह-बीस बच्चे ले आओ मुरैना, मन्त्री के सामने नाच के लिए। बच्चों के माँ-बाप के पैर पकड़ने पड़ते हैं। शहर का नाम लेते ही उन्हें लगता है, कहीं लड़कियों को बेचने तो नहीं ले जा रहा ये मास्टर। फिर वहाँ बच्चों की सुविधाओं का ध्यान रखो। खुद रसोई बनानी पड़ती है। पैसा भी पर हेड सैंतीस रुपया और वो भी कभी समय पर नहीं - शिक्षा विभाग सचिव क्रीड़ा और संस्कृति विभाग की ओर उँगली

निर्देश करता है। और आगे वो अर्थ विभाग की ओर। ऐसा है।

क्यों मास्टरजी, आप कहते हैं कि आपके जंगल में शेर छोड़े गये थे, क्या वे अभी भी हैं या आ गयी आफत उनपर भी ? ...कहते तो हैं कि वो हैं करके। क्या किसी ने देखा भी है उन्हें ? कहते हैं, इधर के हिरन उनको पसन्द नहीं थे। गुजराती थे न वो, तो उनके लिए एक-दो बोटियाँ तोड़कर डाली गयी थी। बाद में खाने लगे। मैं भी तो जब वहाँ गया तब सहिजन की पत्तियों की सब्ज़ी खाकर रोज़ उल्टी कर देता था। अब खाता हूँ। ... अच्छा, उनका क्या हुआ जो करोड़ों रुपए खर्च हुए, पैंसठ-सत्तर करोड़ ? ...तरक्की शेरों की हो या न हो, लेकिन वन विभाग के लोगों की तो हुई ही होगी।

जवान लड़कों की एक टोली दिल्ली से लेकर दरवाज़े के पास खड़ी थी। अब खड़े-खड़े वे सभी उकता गये थे। उनमें से एक ने जम्हाई लेते-लेते डिब्बे में बैठे सभी की ओर नज़र घुमायी और चिल्लाया, अरे उठो भी यार कोई। दूसरा बोला, एक बार तो नीचे उतरो यार। हॉ हॉ। मानो कसम खाके बैठे हैं, न उतरने की, हॉ हॉ हॉ। बैठा हुआ एक आदमी बोला, कहाँ से आ रहे हो ? ...आप कहाँ से आ रहे हैं ? ...प्रयागजी से। ...तो हम दिल्लीजी से आ रहे हैं। हॉ हॉ हॉ। और मुम्बईजी को जा रहे हैं। हॉ हॉ हॉ।

दोनों ओर ऊँची चट्टानोंवाले दर्रों के बीच गोल-गोल मोड़ों से होकर गाड़ी घाटी के माथे पर आते ही सामने से सीटियाँ, तेज़ रोशनीवाले टॉर्च, कोलाहल। अचानक ब्रेक लगने से गाड़ी रुक गयी। डिब्बे का एक-एक आदमी खिड़की से बाहर चाँदनी में झाँककर देखने लगा कि हुआ क्या है। असल में सभी डर ही गये थे। क्यों जी, डाकुओं का इलाका तो चला गया न ? ...अरे भई, तुम्हारा क्लासमेट डाकू तो नहीं आया ? हँसी। ...अँधेरे में पहचानेगा या नहीं तुम्हें ? हँसी। बाहर दूधिया चाँदनी। दरवाज़े में खड़े उकताये लड़के शोर मचाते-मचाते नीचे उतरे और इंजन तक पैदल जाकर लौट आये। मालूम हुआ कि आगे ढलान पर बड़ी-सी चट्टान गिरी है और आगे और दो गाड़ियाँ फँसी हुई हैं। चट्टान हटाने का काम दोपहर से चल रहा है। ...कब खत्म होगा ? ...अब ये हम कैसे बताएँ ? अच्छा हुआ, सुबह निकलते तो यहाँ उतनी देर तक ज़्यादा रुकना पड़ता। अब ?

फिर एक-एक करके सभी बाहर चाँदनी में चहलकदमी के लिए नीचे उतर गये। गाड़ी बहुत ऊँचे शिखर के ठीक कन्धे पर ही रुकी होने के कारण नीचे पूरी गोलाकार वन की शोभा, दर्रे, घाटियाँ। दूऽर पर जो पानी चमक रहा है न, वह है चम्बल। देखो कैसी साँप की तरह चल रही है। घास का मैदान। सृष्टि का ऐसा अनुपम सौन्दर्य लगभग सभी को ज़िन्दगी में पहली बार देखने को मिल रहा था। क्यों कुलू और मनाली और कश्मीर की गप्पें हाँकते हैं लोग ? ये देखो, ओ हो हो हो। हमारे देश में क्या नहीं है बोलो। पृथ्वी के इस अद्‌भुत प्राकृतिक दृश्य पर आकाशीय चन्द्रमण्डल के अनन्त सितारों ने मायावी मोहिनी डाल रखी थी। ...जवाब नहीं, थोड़ी देर पहले मुम्बई दहिसर में फ्लैट लेने की बात करनेवाला सज्जन ऊपर-नीचे दाएँ-बाएँ पूरी गर्दन घुमाकर दिल से बोल उठा, जवाब नहीं, क्या इण्टेरियर बनाया है ऊपरवाले ने।

#

इंजन का भोंपू बजते ही सृष्टि सौन्दर्य से उकताये लोग फटाफट ऊपर चढ़ आये। सभी ने यह देखकर तसल्ली कर ली कि नाविक दल से स्वेच्छावकाश ग्रहण करनेवाला अधिकारी और नारीमुक्ति से सम्बन्धित छैल-छबीली युवती लौटे हैं या नहीं। इंजन की फुसफुसाहट बढ़ गयी। गाड़ी तेज़ी से ग्वालियर स्टेशन में घुसी। पूरा डिब्बा खाली हो गया।

मिलिटरी के दो-दो लोगों ने लोहे के भारी बक्सों को मिलकर उठाया और गाड़ी खाली करके चले गये। पहले से हुई देरी के कारण एक के पीछे एक आती पहली दो-तीन गाड़ियाँ भुसावल तक के सभी स्टेशनों की भीड़ ले जा रही थीं, इस कारण हमारी गाड़ी शान्ति से खाली ही चल रही थी। सुबह की सुन्दर शीतल हवा में मैं बर्थ पर लेट गया। कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। डिब्बा भी पूरा खामोश। न जाने कितने घण्टे सोया।

खण्डेराव, सो-सोकर तुम्हारे दिमाग का पत्थर कब निकलेगा ? जब से तार मिला है, सफ़र की धुन में तू ये पहाड़ लाँघने का मुख्य काम अलग ही रखे जा रहा है। अरे अरे, जिन्दगी का इतना कठिन गणित हल करने की तुम्हारी इच्छा ही नहीं हो रही है ? गाँव पहुँचने पर देखेंगे, ऐसा भी कहीं होता है भैया। दो वह्राड़ी स्त्रियाँ अपनी मीठी आवाज में कुम्हारिन जैसी मराठी बोल रही थीं। इस कारण सुन्दर-से सपने मँड़रा रहे थे : हमारे गाँव का भोजू कुम्हार हूबहू मोहेनजो-दड़ो जैसी मिट्टी की बैलगाड़ियाँ आँच में पकाकर आँगन में लाकर रख देता था। ये कई बड़े-बड़े मेहराबी कोष्ठक, उनके अन्दर के चौकोनी कोष्ठक, फिर उनके अन्दर के कई गोल कोष्ठक, एक-दूसरे में फँसे आँकड़े - पहला मेहराबी कोष्ठक तो हल करो। असल में, बीच के ये जो गोल कोष्ठक हैं न, वे ही इस गणित की मुख्य कुंजी है। सोओ मत, उठो, सोचो।

फिर वो सींगों जैसे गोल कोष्ठक बड़े-बड़े होते गये और हमारी उज्या गाय के बछड़े - मुत्या और मोत्या - के सींग आगे आये। बचपन से ही उन्हें भिड़ने का बड़ा चाव और सींग भी ऐसे गोल कि जैसे कोष्ठक। एक-दूसरे पर फूत्कार कर दौड़ते-दौड़ते आना और सिर से सिर भिड़ाकर ऐसी ठेलाठेली कि सींग एक-दूसरे में फँसे ही फँसे। भावडू, तुम उस मुत्या को पकड़ो। खण्डू, मोत्या को कसके पकड़ो। सँभलकर, सींग लगेगा आँखों में, हाँऽ खींचो। खलिहान में डण्ठलवाले अनाज के अटाले की आड़ से ठेलाठेली, भागादौड़ी। सींग भी खुल नहीं रहे हैं, इसलिए दोनों बछड़े जोश में आकर कुछ ज़्यादा ही गुस्सा हुए हैं। हमने उन्हें बगल में दबाये रखा है। वरना बिना वजह सींग तुड़वाएँगे। सारे शरीर में थर्राहट महसूस हो रही है। साण्डू को बुलाओ।

खण्डेराव, अब इस संकट में तूने ऐसे ही अपने सींग फँसा लिये हैं। देखें क्या होता है, पीछे हटना नहीं। इतने सालों तक तू पिताजी को आँखें दिखाता था, बेवकूफ। असल में प्रॉब्लेम यही था। तू इन सब बौद्धिकों को - शिक्षा, विश्वविद्यालय, पीएच.डी., किताबें, लेख, शोधकार्य, सांस्कृतिक झमेले - अपने सींगों की भाँति तोड़ डाल। और किसान बनकर खेती-बाड़ी, घर-बार, कोल्हू, स्कूल, नेतागीरी, देहात की राजनीति, लोकसेवा, विठ्ठल विठ्ठल, श्री ज्ञानदेव तुकाराम ये सब सँभालेगा ?

खण्डेराव, कगार पर खड़े रहने के अवसर ज़िन्दगी में ज़्यादा नहीं आते। तू घर जाएगा, कगार से छलाँग लगाने का तेरी ज़िन्दगी का यह पहला और शायद आखिरी अवसर होगा। अब तू ही घर का इकलौता वारिस है। छलाँग लगाने से पहले ठीक से देख ले। सन्तुलन बना, वरना छलाँग लगाने से पहले ही तू ढह जाएगा। खण्डू दोनों पैर उठाकर तो आदमी को कभी नहीं कूदना चाहिए। चित्त में जहाँ विचार उत्पन्न होते हैं, वहीं क्षोभ भी उत्पन्न होता है। इसीलिए अक्षोभकारी विचारों को आने दे। खण्डेराव, ध्यान कर, समाधि लगा। गहरे चिन्तन में इस तरह बार-बार घुसना यानी किसी अज्ञात का ऋण उतारने का मामला। ऐसी ही मग्नता की दशा में सच्ची संवेदनाएँ सामने आती हैं। पहले के और बाद के सन्ध्यालोक में उनके घूँघट से ढँके अधूरे चेहरे भयानक दिखने दे। वे बुरे नहीं हैं। उनका पीहर नभोमण्डल में कहीं ईथर के ऊपर कृष्ण द्रव्य में होता है। संवेदनाओं वाले हमारे सभी के मस्तिष्क में जागृतावस्था में कहीं कोई अज्ञान काम करता रहता है। चींटियाँ वल्मीक के बाहर कहाँ हमेशा दिखायी देती हैं ? लेकिन भीतर उनका

कितना बड़ा साम्राज्य छाया होता है ? लेकिन ये किसे दिखायी देता है कि उन सभी की सीधी एकाग्र जिद्दी हरकतों पर कहीं किसी अन्धी निष्ठा का अदृश्य नियन्त्रण होता है ? तेरी संवेदनाओं का यह विशाल वल्मीक भूमि में कितना गहरा है, यह जान लो। गुजरा हुआ वक्त हमें अक्सर भावुक बना देता है, है न ? खण्डेराव, यही है वह अन्दर का वल्मीक। ये ही हैं तेरी जागृतावस्था की तस्वीरों के भयानक काले-सफ़ेद निगेटिव। हमारी जागृतावस्था में टूटनेवाले जीने के इस केन्द्रियत्व की कसर हम नींद में निकाल लेते हैं। मानो प्लास्टर में दोनों पैर रखे हों। उन्हें सभी पहलुओं से जान लो। मोरगाँव के कौए, चिड़ियाँ, कबूतर, भारद्वाज, मैना, नेवले, कुत्ते, गऊएँ, भैंस, तोतों के झुण्ड, पहाड़ी खेत के मोरों के झुण्ड, सियार, बन्दर। मरी हुईं किन्तु एहसास में ज़िन्दा दादियाँ, दादा, चाचा, बहनें, भावडू और अब पिताजी भी।

मन्द्र सप्तक से मध्य सप्तक में पैठनेवाले सुर। खण्डू, दुर्भाग्य कैसा होता है देखो, मनुष्य की एक ही ज़िन्दगी होती है। फिर ? फिर यह केन्द्र तो कम-से-कम बदल डालो। नया केन्द, नई परिधि। मोरगाँव के केन्द्र से तुम चाहे जितना दूर जाओ, केवल त्रिजीवा बढ़ेगी। इसीलिए निर्णय कर लो, यह विश्व ही मेरा घर है। मोरगाँव छोड़ दो। देश छोड़ दो।

यह एक विचार सिर उठा ही रहा था कि तभी दूसरा विचार उसे नीचे डुबोता हुआ ऊपर आता है : खण्डेराव, यह घर-बार, भूमि, खेती-बाड़ी केवल इतनी ही तेरी विरासत नहीं है। बीते दस हज़ार सालों की कृषि संस्कृति से निरन्तर रिसती हुई तुझ तक आयी है यह विरासत। इसे छिपकली की पूँछ की तरह झटके से यूँ तोड़कर तू आगे नहीं बढ़ सकता। तोड़ना सम्भव भी नहीं। औद्योगिक व्यापारीय महानगर के लोगों के उन्मूलित भूतखाने में पैठना बहुत ज़्यादा कठिन नहीं है। लाखों लोग यही करते रहते हैं। लेकिन खण्डेराव, तुम इतने मामूली नहीं हो। घर का आँगन और दरवाज़े पर पीपल - यही तो तुम्हारी पहचान है। जहाँ ये चीज़ें नहीं हैं, ऐसा माहौल तुम्हें जँचेगा ? धूप, वर्षा, चाँदनी, भूमि, घास, पशु-पक्षी, जानवर, पेड़, झंखाड़, लोकगीत, दन्तकथा, मुहावरे आदि से विहीन जगमगाता बाँझ परिवेश तुम्हें रुचेगा ? भटको मत। अपने पैर सुरक्षित रखो। सभी रास्ते हमारे पैरों को निगलने की ही प्रतीक्षा करते रहते हैं - हवाई, समुद्री, रेल, राजमार्ग, सड़कें, यन्त्रों के द्वारा शाम तक कहाँ से कहाँ ले जाकर उलीचनेवाले लन्दन, न्यूयॉर्क, चाँद पर भी। लेकिन तुम्हें बचाएगी तुम्हारी अपनी पगडण्डी। वह तुम्हें छोड़कर कभी नहीं जाएगी। क्योंकि तू ही उसे बना रहा है। उसी को थाम। जैसे जहाज से छूटा पंछी फिर जहाज पर लौट आता है, जैसे तूफ़ानी वर्षा में भी चींटी अपने पूर्वजों के वल्मीक की ओर शीघ्रता से दौड़ती हुई लौट आती है।

खण्डू, निडर होकर जीने के इस कोलाहल का हिस्सा बन जा। जीना एक प्रक्रिया है, उसमें हिस्सा लेना ही सच होता है। यह अच्छा है या बुरा, बाद में तय होता है। अडंगा भारती भावडू को हनुमान जी के चबूतरे पर योगासन सिखाते हुए बार-बार कहते : ध्यान में भावनाओं को कठोर बनाकर उन्हें नष्ट करना चाहिए। मुक्त होना चाहिए। अक्षोभकारी विचार करना चाहिए। अक्षोभकारी यानी सन्तोषजनक नहीं। जैसे हुना चाचा ने अँग्रेज़ों के विरोध में आतंकवादी बनकर अपना ही घर ध्वस्त कर डाला, चाची की गृहस्थी को अन्धा बना दिया, यह क्षोभकारी। लेकिन उन्होंने जिस नैतिक भूमिका से यह बलिदान किया - वह अक्षोभकारी। इसके विपरीत हमारे सातवें पूर्वज नागोराव - परदादा के पिता के परदादा स्वराज्य की देशमुखी छोड़कर अँग्रेज़ों से जा मिले और खानदेश में होलकर का शासन समाप्त होकर कम्पनी सरकार का हुक्म लागू हुआ। यह हरामखोरी क्षोभकारी। लेकिन ऐसा धोखा हमारे पूर्वज नागोराव ने जिस नैतिक भूमिका से किया होगा, वह अक्षोभकारी। क्या है वह भूमिका ? इससे भी ज़्यादा अच्छी तरह से सोच ले कि झेंडी की परदादी की माँ का अपनी सुकुमार लड़की के साथ पूरे गाँव की रक्षा की खातिर पिण्डारियों की छावनी में जाने के लिए तैयार होना, इसके लिए कितने बड़े नैतिक साहस की ज़रूरत पड़ी होगी ?

तुन तुन तुन तुन ढमाक ढमाक। खण्डू भाग, दौड़, भिकरा गोंधली वारूबाई का पवाड़ा गा रहा है। मढ़ी की

ओर। ढमाक ढमाक ढम ढम ढमाक
अजी आई वारूबाई, किया उसने पक्का विचार
आँखों से आँसुओं की धार ऽऽ हो जीऽजीऽजीऽजीऽ
और रो रहा है सारा मोरगाँव हो ऽऽ जी जी जी जी
तुन तुन तुन तुन तुन तुन तुन तुन

संत एकनाथ केभभारूड़ की आरम्भिक पंक्तियाँ

मोक्ष

कुमार शहानी

तुम इतनी दूर हो
कि दूर होती जाती हो,
इससे परे, उससे परे,
समय से भी,
क्या कोई देश है ऐसा
जहाँ मेरी चिता जले
या दो दीवारों बीच
यूँ ही मेरी दिगम्बरता को
भित्तियों से ढँककर
हमेशा के लिए दफ़्नाते जाएँ, थय्यम, और
एक शान्ति ठहर जाए...

वांग वेई की कविताएँ

मूल चीनी से अनुवाद- बी.आर. दीपक

वांग वेई (७००-७६१) चीन के महानतम कवियों में से एक हैं। वांग वेई कवि ही नहीं, उम्दा चित्रकार और संगीतकार भी थे। उनकी कविताओं में एक बहुत ही ज्वलन्त, नाजुकता, जीवन्तता और ताज़गी महसूस होती है। उन्होंने कई प्रकार की काव्य शैलियों की रचना की और कई विषयों पर कविताएँ लिखी हैं। उनका नाम हमेशा ली सिन, काव शी, छन सन और वांग छांगलिन के साथ लिया जाता है, चारों ही कवियों को चीन में फ्रण्टियर कवियों की श्रेणी में रखा गया है। वांग वेई को मंग हावरान के साथ देहाती कविता का प्रतिनिधि भी माना जाता है। इसके अतिरिक्त वांग ने बौद्ध कविताएँ भी लिखी हैं, इसी के चलते उन्हें 'बौद्ध कवि' भी कहा जाता है।

प्राचीन फ्रण्टियर कविताओं की कृतियों में एक पंक्ति में सात शब्द होते हैं, सबसे अच्छी देहाती कविताओं की प्रत्येक पंक्ति में पाँच शब्दों की आठ लाइनें मानी जाती हैं। लेकिन वांग वेई की अधिकांश लोकप्रिय कविताओं में चार ही पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में पाँच शब्द। 'विदाई', 'घर की याद', 'पर्वत पर शरद ऋतु की एक शाम', 'वन आश्रम', नौवें महीने के नवें दिन प्रियजनों की याद में', 'मित्र की आन शी' को रवानगी', 'निपट वीराने में' इत्यादि उनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

वांग वेई ने बाल्यकाल में ही अपने पिता को खो दिया था। उनकी माँ एक धार्मिक स्वभाव की थीं। वे बौद्ध धर्म में विश्वास रखती थी। इन दोनों ही पहलुओं ने वांग पर काफी प्रभाव छोड़ा था। मात्र २१ वर्ष की आयु में वांग ने राष्ट्रव्यापी इम्पीरियल परीक्षा पास की और राज भवन में संगीत अधिकारी का पद प्राप्त किया। लेकिन शीघ्र ही उन्हें एक निजी पार्टी में 'पीला शेर नृत्य' प्रोत्साहित करने के आरोप में पदावनत कर दिया गया। उस समय 'पीला शेर नृत्य' केवल सम्राट के सामने ही प्रस्तुत किया जाता था। आन लू शान के विद्रोह (७५५) के दौरान वांग को जेल जाना पड़ा। शीघ्र ही लू शान ने उसे सरकारी पद पर नियुक्त होने के लिए मजबूर कर दिया और जेल से रिहा कर दिया। विद्रोह दमन के उपरांत, थांग वंश फिर से बहाल हुआ लेकिन वांग वेई को विद्रोहियों का पद स्वीकार करने के आरोप में फिर जेल भेजा गया। एक साल जेल में बिताने के बाद ही सम्राट सु चुंग ने उसे रिहा कर दिया और सारे आरोप खारिज कर दिए। यही नहीं, वांग को उप प्रधानमन्त्री के पद पर भी नियुक्त कर दिया गया।

लेकिन ये वांग के जीवन के आखिरी दिन थे और उन्हें सांसारिक प्रश्नों में कोई खास रुचि नहीं रह गयी थी। इसके बाद वांग वेई ने अपना अधिकांश जीवनकाल एक साधु की भाँति निभाया। १८ वर्ष की आयु में ही उन्होंने पद से इस्तीफा देकर छीशांग नामक स्थान पर एकान्तवास धारण कर लिया था। फिर उन्होंने चुन्नान पर्वतों में और अन्त में वांग छवान पर्वतों में जीवन बिताया, आन लू शान ने उन्हें इसी स्थान से बन्दी बनाया था। वृद्धावस्था में वे शहर में रहने लगे जहाँ वे कई भिक्षुओं के साथ समय व्यतीत करते और पूजा-पाठ करते।

एक साधु के रूप में वांग वेई अक्सर पहाड़ों का रुख करते या मन्दिरों की सैर करते। वांग गाँव वापिस जाने के लिए तरसते और इन्सानों की दुनिया से बहुत दूर जाने की इच्छा प्रकट करते। उन्हें अपने सरकारी जीवन पर शर्म महसूस होने लगी और सोचते रहते कि उन्हें बौद्ध सिद्धान्तों का और अच्छी तरह से अध्ययन करना चाहिए था। उनका मानना था कि बौद्ध धर्म ही शारीरिक और मानसिक यातना से छुटकारा दिला सकता है। अपनी कविताओं में, वांग वेई ने यह भी उल्लेख किया है कि वे प्रसिद्ध भिक्षुओं की जीवन कहानियाँ पढ़ने का आनन्द लेते थे।

वांग वेई एक बहुत ही विशेष और सफल कवि माने जाते हैं, उन्होंने कविता में संगीत और कला को स्वाभाविक रूप से कविता की रचना में संयोजित किया, इसीलिए उनकी कविता में सौन्दर्य, संगीत और भाषा की कलात्मक छवि दिखाई देती है। हालाँकि, कवि सांसारिक जीवन से दूर रहने लगे थे, इसी कारण उनकी कविताओं में सामाजिक विरोधाभास कुछ खास प्रकट नहीं होते।

विदाई

इन पर्वतों[२] पर तुम से विदा लेता हूँ
साँझ ढले सारे किवाड़ बन्द कर लेता हूँ
अगले वसन्त में फिर आयेगी हरियाली
क्या अगले वसन्त में लौट आओगे तुम भी ?

घर की याद

दक्षिण चीन में पैदा होते हैं लाल राजमाश,
वसन्त के आने पर उग आती हैं नयी बेलें।
आशा है इस बार तुम ढेर के ढेर बटोरोगे,
चीज़ ही कुछ ऐसी है याद दिलाती है घर
की।

पर्वत पर शरद ऋतु की एक शाम

शान्त पर्वत बारिश के बाद, और भी उजला,
ढलती शरद का यह मौसम, और भी सुहावना।
चमकता चाँद, देवदारों के बीच, शान्त-सुखद,
साफ झरना, चट्टानों के ऊपर, मन्द गुनगुनाहट।
बाँसों के बीच, घर लौटती धोबिन की खिलखिलाहट,
कमल-पत्तों के बीच, मछली नौका की सरसराहट।
वसन्त की सुगन्ध, बह जाने दो समय की धारा में,
शरद है मनमोहक, मुझे ठहर जाने दो यहीं पर।

वन आश्रम

सुनसान पर्वत, इन्सान की परछाई तक नहीं,
उनका कोलाहल, गूँजता है कानों में, अभी भी।
घने जंगल में, ढलते सूरज की किरनें छिटकी हैं
और उस काई पर, जो लुभाती है मेरा मन।

नौवें महीने के नवें दिन प्रियजनों की याद

अजनबी शहर में अजनबी मेहमान,
ये उत्सव और घर-प्रियजनों की याद।
दूर ज़रूर, लेकिन ऊँचाइयों पर आपके पदचिह्न हैं पास[३],
जब चूय्यी घास[४] लगाओगे, मेरी कमी तो महसूस होगी।

मित्र की आन शी[५] को रवानगी

वेई शहर[६], सुबह की हल्की बारिश के बाद धूलमुक्त,
विश्रामगृह के बाहर के विलों वृक्ष भी नहाये हुए।
गुज़ारिश करूँगा, एक जाम और हो जाये,
यांग क्वांन दर्रे[७] के उस पार मुश्किल से मिलेगा कोई अपना।

निपट वीराने में

अकेला निपट वीरान बाँस के झुण्ड में,
वीणा बजाता हूँ और गीत गुनगुनाता हूँ।
मेरी परछाई तक की किसी को भनक नहीं
अगर साथ है कोई तो है आकाश में चमकता चन्द्रमा ।

---

१. शिनच्यांग प्रान्त का कुछ क्षेत्र, थांग काल में आन शी में पश्चिमी चीन की सीमान्त कमान होती थी।
२. कविता में पहाड़ों का प्रयोग लान थ्येन पर्वतों के लिए किया गया है जहाँ वांग वेई ने अपने जीवन के अन्तिम दिन बिताये थे।
३. नौंवें मास के नवें दिन चीन में एक महोत्सव होता है, उस दिन लोग पर्वत पर चढ़ते हैं और चूय्यी नामक घास लगाते हैं।
४. एक तरह की घास, ऐसा माना जाता है कि इसको लगाने से बुराई से बचा जा सकता है।
५. शिनच्यांग प्रान्त का कुछ क्षेत्र, थांग काल में आन शी में पश्चिमी चीन की सीमान्त कमान होती थी।
६. चीन का श्येन यांग शेहर जो शान्शी प्रान्त में स्थित है।
७. यांग क्वान दर्रा चीन के कांसू प्रान्त में है।

सात कविताएँ

निकोलाई जबोलोत्स्की
रूसी से अनुवाद-वरयाम सिंह

घोड़े का चेहरा

जानवरों को नींद नहीं आती।
रात के अन्धकार में पत्थर की दीवार की तरह
खड़े रहते हैं वे दुनिया के ऊपर।
चिकने सींगों से भूसे के बीच
आवाज़ करता है गाय का सिर।

गालों की युगों पुरानी हड्डी को खिसकाकर
सिकोड़ दिया है पथरीले माथे ने
और अब तुतलाती आँखें
घूम नहीं पा रही हैं जुलाई के महीने में।

घोड़े का मुँह समझदार है और सुन्दर
उसे सुनायी देती हैं पत्तियों की बातें।
सावधान ! वह समझता है पशुओं की चीखें,
पूरे जंगल में कोयल की आवाज़।

सब कुछ जानता है वह, पर किसे सुनाये
चमत्कार जो देखे हैं उसने।
गहरी है रात। साँवले क्षितिज पर
प्रकट हो रहे हैं तारों के हार।
और घोड़ा खड़ा है
योद्धा की तरह पहरा दे रहा है
उसके हलके बालों से खेल रही है हवा
और आँखें जल रही है जैसे दो-दो विशाल दुनिया

सम्राटों के नीले वस्त्र की तरह
चमक रही है उसकी गर्वीली ग्रीवा।
सम्भव होता यदि मनुष्य के लिए देख पाना
घोड़े का जादुई चेहरा
निकाल फेंकता अपनी कमज़ोर जीभ
और भेंट कर देता उसे घोड़े को,
जीभ पाने का सच्चा पात्र है जादुई घोड़ा !
हमें सुनायी देते शब्द
सेबों की तरह बड़े-बड़े
दूध या शहद की तरह घने।

ऐसे शब्द जो चुभते हैं लपटों की तरह,
झोंपड़ी में रोशनी की तरह
दिखाते हैं झोंपड़ी की ग़रीबी और कृपणता।
ऐसे शब्द जो कभी नहीं मरते
जिनके गीत हम गाते आ रहे हैं आज तक।

लो, खाली हो गया है अस्तबल
बिखर गये हैं पेड़ भी
कंजूस सुबह ने कपड़े पहनाये हैं पहाड़ों को,
काम करने के लिए खोल दिये हैं खेत।
धीरे-धीरे घोड़ा खींच रहा है बोझ
वफ़ादार आँखों से देख रहा है
रुके हुए रहस्य भरे संसार की ओर।

मक्खियों की रानी

पंख झाड़ रहा है बूढ़ा मुर्ग़ा
सब ओर छा रही है रात।
तारों की तरह मक्खियों की रानी
उड़ रही है दलदल के ऊपर।

थरथरा रहे हैं पंख उसके,
नग्न है शरीर का ढाँचा
सीने पर अंकित हैं जादुई चिह्न
दो पारदर्शी परों के बीच
जैसे अज्ञात क़ब्रों के निशान।

अजीब-सी काई पनपती है दलदल में
कई-कई पतली गुलाबी टाँगे लिये।
पूरी तरह पारदर्शी, ज़रा-सी ज़िन्दा
झेलती हैं घास की नफ़रत।

दूर दूर वीरान भूभागों को
आबाद करती है अनाथ वनस्पति।
यहाँ आमन्त्रित करती है वह
मक्खी को जो अपने में पूरा ऑर्केस्ट्रा होती है।
मक्खी दस्तक देती है परों से,
अपने पूरे वजूद से
फैला कर छाती की मांसपेशियाँ
उतरती है दलदल में गीले पत्थर पर।

सपनों के सताये हुए तुम
जानते हो यदि शब्द एलोइम
इस अजीब-सी मक्खी को डाल दो डिब्बे में,
डिब्बे को लेकर खेत पर से जाओ
ध्यान देना संकेतों पर -

यदि मक्खी ज़रा आवाज़ करे
समझना पैरों के नीचे ताँबा है,
जिस ओर मूँछें हिलाये
समझना उधर चाँदी है,
यदि सिकोड़ दे अपने पंख
समझना यहाँ सोना है।

धीरे-धीरे क़दम रख रही है रात,
फैल रही है पॉपलर पेड़ों की महक।
मेरा मन भी सुस्ताने लगा है
चीड़ और खेतों के बीच।
सो रहे हैं संतप्त दलदल
हिल रही हैं घास की जड़ें।
पहाड़ी की तरफ़ मुँह किये
कोई रो रहा है क़ब्रिस्तान में
रो रहा है ज़ोर-ज़ोर से,
आकाश से गिर रहे हैं तारें,
दूर से पुकार रही है काई-
ओ मक्खी, तू कहाँ है ?

कल, मौत के बारे सोचते हुए

कल, मौत के बारे सोचते हुए
अचानक निष्ठुर हो गया मेरा हृदय।
दिन कुछ उदासी भरा था। युगों पुरानी प्रकृति
जंगल के अन्धकार में से देख रही थी मेरी तरफ़।

बिछोह का असहनीय दुःख चीर रहा था मेरा हृदय
और तभी सुनायी दिये मुझे
साँझ की घास के गीत, पानी का वार्तालाप
और पत्थरों की मरी हुई चीखें।

और मैं, जीवित, सैर कर रहा था खेतों पर
बिना डरे मैंने प्रवेश किया जंगल में,
मृतकों के विचार पारदर्शी मीनारों की तरह
चारों ओर से उठ रहे थे आकाश तक।

पत्तियों के ऊपर से सुनायी दी पूश्किन की आवाज़।
खलेब्निकोव के पक्षी गा रहे थे नदी के पास।
एक पत्थर से मुलाक़ात हुई। खड़ा था वह एक ही जगह
उस पर दिखायी देने लगा मुझे स्कोवोरोदा का चेहरा।

सारे वजूदों और सब लोगों ने
सँभाल कर रखा था वह चिरन्तन जीवन।
और मैं पुत्र नहीं था प्रकृति का
बल्कि उसका विचार था, विवेक या अस्थिर-सा।

हाथियों की लड़ाई

ओ शब्दों के योद्धा !
वक़्त आ गया है कि तुम्हारी तलवारें
रात में गीत सुनायें।

संज्ञाओं के कमज़ोर शरीर पर
झपट रहे हैं विशेषणों के घोड़े।
काले रंग के घुड़सवार
पीछा कर रहे हैं क्रियाओं की सेना का
और विस्मयबोधक शब्दों का गोला-बारूद
फट रहा है सिरों के ऊपर
जैसे सिग्नल देने वाले रॉकेट।

शब्दों का युद्ध ! अर्थों का घमासान !
वाक्यों की मीनार पर-लूटमार।
चेतना के यूरोप में
विद्रोह की आग में
शत्रुओं की तोपों की परवाह किये बिना
टूटे अक्षरों से निशाना साधते
अवचेतन के जुझारू हाथी
निकल आये हैं बाहर।
क़दमताल कर रहे हैं जैसे भीमकाय शिशु।

लो देखो-जन्म से ही भूखे
वे भाग रहे हैं रहस्यभरी दरारों की तरफ़
मानव-शरीर को दाँतों में दबाये
खुश खड़े हैं अपने पिछले पाँवों पर।
अवचेतन के हाथी !
पाताल लोक के जुझारू जानवर !
आनन्दविभोर स्वरों के स्वागत कर रहे हैं
लूटमार से प्राप्त हर चीज़ का।

छोटी-छोटी आँखें हाथियों की
भरी हैं हँसी और खुशी से,
कितने खिलौने ! कितने पटाख़े !
चुप पड़ गई हैं तोपें खून का स्वाद चख़ कर
वाक्यशास्त्र बना रहा है दूसरी ही तरह के घर
बेढंगे-से सौन्दर्य में खड़ा है संसार।

फेंक दिये गये हैं पेड़ों के पुराने नियम,
युद्ध ने उन्हें मोड़ दिया है नयी जगह की तरफ़।
वे बातें कर रहे हैं, लेख लिख रहे हैं
सारा संसार भर गया है बेढंगे अर्थ से।
भेड़िये ने घायल थोबड़े की जगह
बना डाला है चेहरा मनुष्य का,
निकाली बाँसुरी उसने,
गाने लगा शब्दों के बिना
युद्ध के हाथियों का पहला गीत।

कविता युद्ध हार चुकी थी
खड़ी थी तार-तार हुआ मुकुट पहने।
ध्वस्त हो गई थीं पुरानी मीनारें,
आँकड़े चमक रहे थे जैसे तारामण्डल।
विशुद्ध विवेक द्वारा परखी चमक रही थी तलवारें।
आगे क्या हुआ ?
युक्तियाँ युद्ध हार गईं
जीत हुई परिहास की !

बहुत बड़े कष्ट में है कविता
तोड़ रही है अपने विक्षिप्त हाथ
फटकार सुना रही है पूरे संसार को-
अपने को ही काट डालना चाहती है
कभी पागलों की तरह हँसती है
कभी लेट जाती है धूप में।
बहुत-से दुःख हैं कविता के।

पर यह हुआ कैसे ?
कैसे पराजित हुआ प्राचीन गढ़ ?
सारा संसार कविता का अभ्यस्त था
सब कुछ वह समझता था साफ़-साफ़।
पंक्तिबद्ध खड़े थे खूंख़ार सैनिक
तोपों की संख्या लिखी जा रही थी
और ध्वजाओं पर अंकित शब्द 'बुद्धि'
सिर हिला रहा था सबकी तरफ़ !
और तभी आ टपका कहीं से हाथी -
उलट-पलट दिया उसने सब कुछ !

कविता सोचने लगी ध्यान से
ग़ौर से देखती रही नये रूपों की चाल-ढाल।
उसकी समझ में आने लगता है
कि बेढंगेपन का भी अपना सौन्दर्य होता है।
समझ आता है पाताल लोक के परित्यक्त हाथी का सौन्दर्य।

युद्ध समाप्त हो गया है।
पृथ्वी की वनस्पतियाँ उग आई हैं धूल में
और बुद्धि के हाथों पालतू बना हाथी
केक खा रहा है, चाय पी रहा है।

प्रकृति में तलाश नहीं सामंजस्य की

मैं कोई सामंजस्य नहीं, ढूँढ रहा प्रकृति में
किसी तरह का विवेकसम्मत समानुपात
देखने को नहीं मिला है मुझे
निर्मल आकाश या चट्टानों के गर्भ में।

कितना दुराग्रही है यह गहन संसार !
हताशा से भरे हवाओं के संगीत में
हृदय को सुनायी नहीं देती सुसंगत ध्वनियाँ
आत्मा को अनुभव नहीं होते सुगठित स्वर।
पर पतझर के सूर्यास्त के शान्त क्षणों में
जब चुप पड़ जाती है हवा दूर कहीं
जब क्षीण आभा के आलिंगन में
अर्द्धरात्रि उतर आती है नदी की ओर,

जब दुर्दांत क्रिया-कलापों और
निरर्थक बोझिल श्रम से थककर

थकावट की सहमी उद्विग्न अर्द्धनिद्रा में
चुप पड़ने लगता है साँवला जल।

जब अन्तर्विरोधों के विराट संसार का
जी भर जाता है निष्फल खेल से
तब जैसे पानी की अथाह गहराइयों में से
मानव पीड़ा का मूर्तरूप उठता है मेरे सामने।

और इस क्षण संतप्त प्रकृति
लेटी होती है कठिनाई से साँस लेती हुई
उसे पसन्द नहीं होती हिंस्र स्वच्छन्दता
जहाँ कोई अन्तर नहीं अच्छे और बुरे में।

उसे सपनों में दिखता है टरबाईन का चमकता सिर
और विवेकपूर्ण श्रम की लयात्मक ध्वनियाँ,
चिमनियों का गाना और बाँधों की लाली
और बिजली के करंट से भरे तार।

इस तरह अपनी चारपाई पर सोते हुए
विक्षिप्त लेकिन स्नेहिल माँ
छिपाती है अपने में एक सुन्दर संसार
बेटे के साथ मिलकर सूर्य को देखने के लिए।

लेवेन्गुक' के जादुई उपकरण से

लेवेन्गुक के जादुई उपकरण से
पानी की मात्र एक बूँद पर
जीवन के आश्चर्यजनक चिन्ह देखे हैं हमारे विज्ञान ने।

अनन्त सूत्र में एक कड़ी-
जन्मों और मरणों का यह राज्य
कितना लघु है, और कितना नगण्य है
सबके लिए एक समान असीम हैं जगहें
चाहे कोई जीवाणु हो, मनुष्य हो या ग्रह।

उसके साझे प्रयासों से
कृतिकापुंज की जलती हैं ज्वालाएँ
निर्बाध उड़ते हैं धूमकेतु
और अधिक वेग से-आकाशगंगाएँ।

और इस नज़दीक के ब्रह्माण्ड में,
कमरे में पाइप के शीशे के नीचे
वही, चीज़ों का न बदलता हुआ प्रवाह,
नियति की वही अज्ञात इच्छाएँ।

मुझे सुनायी देता है तारों का साँस लेना,
सुनायी देती है जैविक पदार्थ की वाणी,
निर्माण का तेज़ शोर
जिससे परिचित हैं हम सभी।

बदसूरत लड़की

खेल रहे दूसरे बच्चों के बीच
मेंढक-जैसी लग रही है यह लड़की
घटिया-सी कमीज़ निक्कर के अन्दर
बिखरे हुए लाल भूरे रंग के घुँघराले बाल

तीखा और बदसूरत नाक-नक़्श।
उसकी उम्र के दो बच्चों को
उनके पिताओं ने ख़रीद दी हैं साइकिलें।
भोजन की जल्दी नहीं आज उन्हें
आँगन में साइकिल चलाते भूल गये वे लड़की को
पर वह भाग रही है उनके पीछे।
चुरायी खुशी जैसे अपनी हो
समा नहीं पा रही है उसके हृदय में।
मस्त है लड़की, हँस रही है
पूरी तरह जीवन-लय की लपेट में।

ईर्ष्या तनिक भी नहीं, न कोई बुरे इरादे।
उनसे अभी बहुत दूर है यह प्राणी।
सब कुछ नया-नया है उसके लिए
दूसरों के लिए जो निष्प्राण है, उसके लिए जीवित है।
यह देखते हुए इच्छा नहीं यह सोचने की
कि एक दिन आयेगा जब यह लड़की रोयेगी
देखेगी डरते हुए कि दूसरी सहेलियों के बीच
वह कुछ नहीं, बस बदसूरत लड़की है।

मन चाहता है विश्वास करना
कि हृदय कोई खिलौना नहीं
तोड़ा नहीं जा सकता एक झटके में।

मन चाहता है विश्वास करना
कि यह निष्कलुष ज्वाला जो जल रही है उसके भीतर
अपने ऊपर ले लेगी उसकी सारी पीड़ाओं को
पिघला देगी भारी-से-भारी पत्थर।
भले ही सुन्दर नहीं उसके नाक-नक़्श
पर ऐसा कुछ नहीं जो न खींचे कल्पनाओं को।

उसके हृदय का शिशु सुलभ सौन्दर्य
दिखायी दे रहा है उसकी हर मुद्रा में
और यदि यह दिख रहा है तो इसके अतिरिक्त
सौन्दर्य और होता क्या है,
क्यों देवत्व प्रदान किया जाता है उसे ?
सौन्दर्य बर्तन है क्या जिसमें केवल रिक्तता है
या बर्तन में प्रज्ज्वलित आग है सौन्दर्य ?

दस कविताएँ

प्रकाश

घड़े में नींद

नींद से लबलब
भरा हुआ था घड़ा देह का
देह धीरे शिथिल होती थी
नींद में शीतल सुवास उठता था
नींद गहराकर ध्यान होती थी
नींद का पानी भरे घड़े में ठहरा हुआ था
उसके भीतर होश की ज्योति खिली हुई थी।

फूल देखा

दिखते हुए फूल को मैं सोचना शुरू करता था
फूल थोड़ा दूर होता था
फूल को सोचते हुए मैं वहाँ पहुँच जाता था
जहाँ फूल बहुत दूर होता था
मैंने एक फूल को देखा
और सोचना बन्द कर दिया।

यद्यपि मैं था

मैं उसके सामने नहीं झुका
वह होता तो झुकने का प्रश्न था
और झुकता तो उसके बल के कारण
उसके होने के ज़ोर से झुकता
मैं उसके आगे नहीं झुका
वह था-
इसलिए नहीं की प्रार्थना,
वह नहीं था-
फिर भी करता था प्रार्थना,
यूँ ही झुकता हर बार
प्रार्थना के साथ, प्रार्थना के सामने
कोई कहीं था या नहीं कौन जाने,
यद्यपि मैं था
अतः प्रार्थना में मैं हर कहीं झुकता था
हर बार!

जल का जल

भीगकर जल जल होता जाता था
जल उस पर धार-धार बरसता
वह भीगकर घुलता जाता था
वह जल में डूबता था
जल का एक सरोवर उठता था
जब सरोवर में केवल सरोवर रह जाता था
जल सरोवर को उत्सुक देखता था
उसे जल में कुछ विस्मय नज़र आता था
झिझकते हुए वह जल को छूता था
सरोवर मुखौटा हटाकर ज़ोर से ठहाके लगाता था
लजाकर मुस्कुराता हुआ जल
हथेलियों से मुँह छिपा लेता था!

पेड़

हँसते हुए हरितवर्ण परदे पर मैं कान धरता था
यद्यपि वह हिलता था
अतः मैं हिलते हुए हरितवर्ण पर कान धरता था
यद्यपि वह हँसता था
अतः मैं हँसते हुए हरितवर्ण पर कान धरता था

यद्यपि हरितवर्ण हँसते हुए हिलता था
अतः मैं हँसने और हिलने पर कान धरता था
हँसना गूँजता था और हिलना उसे सँभाले रखता था
हिलने में सँभली हुई गूँज पर मैं कान धरता था

हरितवर्ण गूँज कानों से टकराकर
अस्थियों में उतरती थी
अस्थियों का एक हरा पेड़ होता था
पेड़ में अनेक शाखाएँ
पेड़ की हरित अस्थि-शाखाओं के साथ
खड़ी देह हरा पेड़ थी

पेड़ पर नीला आकाश झुकता था
मैं झुके आकाश पर कान धरता था!

दरवाज़ा

वहाँ अन्धकार में एक दरवाज़ा हुआ करता था
दरवाज़े पर निरन्तर ठक्-ठक् होती थी!
भीतर नींद के आकाश में
अँधेरे की मह-मह खुशबू थी
खुशबू से बोझिल उठती थी हवा की साँस
क्षितिज के विस्तार से झरकर
अँधेरा प्यास-सा गहराता था
अँधेरे की रूह गूँजती थी
अँधेरे की काया में!
नींद में तिल-तिल गलता था अँधेरा
टप्-टप् गिरता था नींद की जिह्वा पर!
अँधेरे का रस पीती नींद
के दरवाज़े पर ठक्-ठक्
दस्तक देता था अँधेरा
बन्द सन्नाटे में डूबा था दरवाजा
नींद के भीतर कोई बार-बार चौंककर उठता था!

नर्तक का नाच

नर्तक नाचते हुए रुका
नाच अधूरा था
अधूरे नाच को नाचते हुए नर्तक रुका
दर्शक देखते थे
उसने नाच को बाहर किया, फिर नाचा

वह नाचा, नाचकर जाने कब अपने-आप रुका
उसे रुकने का पता नहीं था, बस वह रुका
रुककर उसने देखा-
उसका नाच उसको घेरकर नाचता था
नाच के केन्द्र में निर्वाक् खड़ा
वह अपना नाच देखता था!

प्रस्फुटित

खिलकर श्वेत पुष्प-सा प्रस्फुटित होता था
पुष्प को खिसका कर बाहर आता था
श्वेत पुष्प को भेद देता था
दृष्टि को घेर दृश्य पर छा जाता था
दृश्य में श्वेत अकेला रंग-दृश्य था
रंग-दृश्य को द्रष्टा देखता रहता था
दिखता दृश्य एक शाम
द्रष्टा की नींद में घुल जाता था
नींद में अन्धकार की काली नदी बहती थी
दृश्य का श्वेत जल उसमें लहर-सा उठता-गिरता था!

रात का फूल

वहाँ रात के उत्कर्ष में
मैंने उसके फूल तोड़े
फूल का करूँ क्या ?
दुविधा से रात की नदी फूटती
फूल रात का
नदी में विसर्जित कर देता था
एक नक्षत्र के आलोक में
दृश्य दीखता-
नदी में विसर्जित करते
पुष्प-सा, मैं विसर्जित होता था
मैं नदी में डूबता
जल के भीतर रात का आकाश चमकता
फूटता वहाँ से रोशनी का दरिया
उमड़ती रोशनी मूसलाधार
जल-भीतर मैं डूबता,
ऊपर भीगता बादलों की बारिश में
जल और प्यास अँजुरि भर-भर पीता था
रात की रोशनी का उफनता दरिया
रात की देह में बहता था!

प्रार्थना

प्रार्थना थोड़ी ज़्यादा थी
करने वाला थोड़ा कम
करने वाला और भी कम-कम होता जाता था
कर्ता झुककर आकाश-समक्ष
मौन होता था
भरता था आकाश-कलश प्रार्थना से,
कर्ता चुकता था
आकाश-कलश में डूबकर
अधिक हो जाता था
डबडब प्रार्थना से उज्ज्वल आकाश
पुष्प-सा फूटता था
सुगन्ध-सा बिखर जाता था
प्रार्थना बहुत ज़्यादा थी
करने वाला नहीं था!

देश के अभिधान

विश्वम्भरशरण पाठक

स्वतन्त्रता के बाद आशा की जाती थी कि भारतवर्ष का इतिहास भारतीयों की दृष्टि से लिखा जाएगा। भारतीय कहने से केवल भारतीय मनुष्य ही नहीं वाचित होते, केवल उनके भाग-विभाग ही नहीं वाचित होते, उससे उन सभी भौगोलिक क्षेत्रगत, दूरवर्ती और मध्यवर्ती, अन्यान्य धार्मिक मान्यताओं वाले समुदायों को भी समझा जाता है जो उस राष्ट्र में, उसकी भौगोलिक परिधि में बसे होते हैं और अपने को उस राष्ट्र का अंग समझते हैं।

भारतीयों की दृष्टि से भारतवर्ष का इतिहास लिखने के कुछ प्रयत्न स्वाधीनता के पहले भी हुए थे। ये प्रयत्न विशेष भारतीय इतिहासकारों द्वारा निजी रूप में किये गये थे। ऐसे इतिहास लेखन के उदाहरण जयचन्द्र विद्यालंकार, रमाशंकर त्रिपाठी, वासुदेव शरण अग्रवाल, राजबली पाण्डे, नीलकण्ठ शास्त्री, गुलाम यजदानी, मो. हबीब और अहमद हसन दानी आदि के इतिहासग्रन्थ हैं। स्वाधीनता के बाद भारतीय इतिहास-लेखन का सामूहिक प्रयत्न शुरू करने का श्रेय कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को है। उनके द्वारा निर्देशित और रमेश चन्द्र मजूमदार तथा ए.डी. पुसालकर द्वारा सम्पादित और भारतीय विद्या भवन द्वारा १२ खण्डों में प्रकाशित भारतवर्ष का इतिहास ऐसा पहला बड़ा प्रयत्न था। भारतीय इतिहास कांग्रेस ने भी एक इतिहास का आयोजन किया था जिसके विभिन्न खण्डों के सम्पादक भी नियुक्त कर दिये गये थे। हर खण्ड में कई इतिहासकार उस काल विशेष की प्रवृत्तियों पर अलग-अलग लेख लिखने वाले थे जैसा कि भारतीय विद्याभवन के इतिहास में भी किया गया था। भारतीय इतिहास कांग्रेस वाले प्रायोजन के एक-दो भाग ही प्रकाशित हो सके जिनमें से एक भाग नीलकण्ठ शास्त्री ने सम्पादित किया था और दूसरा भाग मो. हबीब ने प्रकाशित किया था।

इधर कुछ अन्य आयोजन भी हुए हैं जिसमें इरफान हबीब के प्रधानसम्पादकत्व में और अलीगढ़ हिस्टोरियन सोसायटी द्वारा प्रायोजित 'ए पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' है जिसके ९-१० खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। यह इतिहास काफी संक्षिप्त है और पूरी तरह मार्क्सवादी दृष्टि से लिखा जा रहा है। इसका हर खण्ड अलग-अलग इतिहासकार लिखते हैं जो प्रायः मार्क्सवादी होते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तरकाल के भारतीय इतिहासकारों में विश्वम्भर शरण पाठक का अनूठा स्थान है। उन्होंने अपने सारे इतिहासग्रन्थ संस्कृत साहित्य के एतद्कालीन ग्रन्थों अथवा प्राचीन अभिलेखों के आधार पर लिखे। माना जाता रहा है कि इतिहास के सभी स्रोतों में पुरातात्त्विक स्रोत सबसे अधिक प्रामाणिक होते हैं। प्राचीन अभिलेख भी पुरातात्त्विक प्रमाण हैं। शैव और स्मार्त धर्मों के मन्दिरों को बनवाने वाले वहाँ 'देशकाल कीर्तन' के अलावा कभी-कभी अपने धर्म की बातें भी शिलालेखों में उत्कीर्ण करवाते थे। ऐसे शिलालेख मन्दिरों के साथ अभी भी बचे हुए हैं। प्रो. पाठक ने इनका अध्ययन बहुत पहले शुरू कर दिया था। उनका काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से किया गया पहला शोधकार्य शैव धर्म पर था जो पूरी तरह अभिलेखों पर आधारित था।

प्रो. पाठक की अन्य कृतियों की चर्चा करने के पहले हमें उनके जीवन के विषय में भी अपनी जिज्ञासा शान्त कर लेनी चाहिए। विश्वम्भर शरण पाठक का जन्म १९२६ ई. में मध्य प्रदेश के होशंगाबाद नगर में हुआ था। होशंगाबाद नर्मदा के सुरम्य तट पर बसा हुआ प्राचीन नगर है। कई तरफ से चीड़ के वनों से घिरे हुए इस नगर में जितना मनुष्यों का आवास है उतना ही शान्ति का भी। कालिदास के मेघदूत में विरही यक्ष ने मेघ से विन्ध्य की पहाड़ियों में अठखेली करती, बहती हुई नर्मदा पर दृष्टि डालने के लिए कहा था।

विश्वम्भर शरण जी के पिता नगर के श्रेष्ठ वकील थे। बाद में वकालत छोड़ कर वे राज्य शासन के बड़े पदों पर चले गये। मूलतः वे आध्यात्मिक प्रकृति के विद्वान व्यक्ति थे। उनका लिखा श्रीमद्भगवद्गीता का हिन्दी भाष्य भी प्रकाशित हुआ था।

विश्वम्भर शरण की आरम्भिक शिक्षा होशंगाबाद के राजकीय उच्चविद्यालय में हुई थी। यहाँ से उन्होंने १९४४ में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास की और उन्हें जिले में सर्वाधिक अंक पाने के कारण राजकीय छात्रवृत्ति भी मिली। उन्हें 'मिलर' पदक भी मिला। आगे की पढ़ाई के लिए वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चले गये और वहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में दाखिल हुए। उस समय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति स्वयं महामना मदनमोहन मालवीय थे। उपकुलपति का पद प्रो. सर्वपल्ली राधाकृष्णण सँभाल रहे थे। उस समय काशी में महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय पण्डित दामोदर शास्त्री, महामहोपाध्याय पण्डित महादेव शास्त्री जैसे मूर्धन्य विद्वान विराजमान थे। विश्वम्भर शरण जी ने अपनी एक संस्कृत रचना में लिखा है- 'काशी-वल्लभ-पाद-पल्लव तले नितम् नवीनम् वयः।'

विश्वम्भर शरण जी ने सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज से इण्टरमीडिएट की परीक्षा १९४४ में उत्तीर्ण की। इस परीक्षा में भी उन्हें विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में सर्वाधिक अंक मिले। १९४८ में बी.ए. की परीक्षा में भी उन्हें प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान मिला। एम.ए. में उन्होंने प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति विषय चुना। उस समय काशी विश्वविद्यालय में इससे सम्बन्धित विभागों में प्रो. अनन्त सदाशिव अलतेकर, प्रो. रमेशचन्द्र मजूमदार, प्रो. रमाशंकर त्रिपाठी, प्रो. राजबली पाण्डे, प्रो. वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रो. हरिदास भट्टाचार्य, प्रो. टी.आर.वी. मूर्ति, प्रो. पी.एल. वैद्य, प्रो. सूर्यकान्त शास्त्री और आचार्य बलदेव उपाध्याय जैसे लोग अध्यापन कर रहे थे। विश्वम्भर शरण जी को इन सभी विद्वानों के चरणों में बैठ कर अध्ययन करने का सौभाग्य मिला। अभी वह एम.ए. के प्रथम वर्ष में ही थे कि प्रो. अलतेकर ने उन्हें इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो. गोवर्धन राय शर्मा द्वारा की जा रही 'कौशाम्बी' की खुदाई में भाग लेने के लिए भेजा। इससे उन्हें विद्यार्थी जीवनकाल में ही पुरातत्व में अन्तर्दृष्टि और खुदाई का अनुभव प्राप्त हुआ।

विश्वम्भर शरण जी ने एम.ए. की परीक्षा १९५० में उत्तीर्ण की। इस बार भी वे प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर रहे। उनको मिले अंकों से एक 'रिकॉर्ड' कायम हो गया। वे मध्य प्रदेश के ही अहमद हसन दानी (अब पाकिस्तान में निवास कर रहे और इस सम्बन्ध में एक आधिकारिक पुस्तक के लेखक) द्वारा स्थापित पिछले रिकॉर्ड को तोड़ दिया। पाठक जी का रिकॉर्ड सम्भवतः अभी तक नहीं टूटा है। अहमद हसन दानी भी भारतीय पुरालिपि शास्त्र के बड़े विशेषज्ञ और सुयोग्य इतिहासकार हैं। वे विभाजन के बाद पाकिस्तान ले गये और वहाँ पुरातत्व विभाग के बड़े-बड़े पदों पर रहे। उनके द्वारा अंग्रेजी में लिखित 'इण्डियन एपिग्रैफी' (भारतीय पुरालिपि शास्त्र) पिछले ५० वर्षों से इस विषय के विद्यार्थियों का सर्वमान्य ग्रन्थ बना हुआ है।

विश्वम्भर शरण जी १९५० में प्रो. रमेश चन्द्र मजूमदार के शोध सहायक नियुक्त हुए। प्रो. मजूमदार कुछ ही समय बाद नागपुर विश्वविद्यालय चले गये। विश्वम्भर शरण पाठक भी १९५३ में भारतवर्ष की केन्द्रीय सरकार के शिक्षा मंत्रालय में शिक्षा अधिकारी बन कर दिल्ली चले गये। उन्होंने एक वर्ष बाद ही यह पद छोड़ दिया और हिन्दू विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग में व्याख्याता चुने जाकर वापस आ गये।

विश्वम्भर शरण जी ने मध्यकालीन उत्तर भारत के प्रमुख ब्राह्मण सम्प्रदायों का अध्ययन शुरू किया। इस विषय पर उनका शोधग्रन्थ ६००-१२०० ई. की काल सीमा में सीमित था। उनका यह प्रबन्ध १९५६ में पी.एच.डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत किया गया। इस शोधग्रन्थ के दो अध्याय 'शैव कल्ट्स इन नार्दन इण्डिया' शीर्षक से पुस्तक रूप में छपे। इस पुस्तक के विषय में महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज का कहना था कि- 'यह शिलालेखों के आधार पर लिखी गयी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक है। लेकिन यह उत्तम पुस्तक नहीं है... (इसके लेखक) वस्तुनिष्ठता और नये-नये तथ्य ढूँढने के चक्कर में कुछ अधिक ही पड़ गये हैं। इसके कारण वे अपने विषय को व्यापक दायरे में नहीं देख पाये। देशकाल सिद्धान्त के प्रतिदर्श पर आधारित इस पुस्तक में तथ्यों का प्रभावोत्पादक संकलन है लेकिन उनकी व्याख्या करने में कोताही बरती गयी है।'

बाद में विश्वम्भर शरण पाठक के शोध ग्रन्थ के दो अन्य अध्याय संशोधित करके 'स्मार्त रेलिजस ट्रेडीशन्स' शीर्षक से १९८७ में प्रकाशित हुए। इसमें संगृहीत शिलालेखों की व्याख्या करके तत्कालीन धार्मिक स्थिति के विषय में निष्कर्षों पर पहुँचा गया था।

१९५८ में विश्वम्भर शरण पाठक की नियुक्ति सागर विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर पद पर हो गयी। एक वर्ष बाद वे ब्रिटिश काउंसिल की छात्रवृत्ति पर 'स्कूल ऑफ ओरियेण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज' में शोध करने के लिए लन्दन चले गये। यहाँ उन्हें प्रोफेसर ए.एल.बाशम के अधीन काम करने का अवसर मिला। यहाँ प्रो.पाठक की का दूसरा शोध कार्य सम्पन्न हुआ।

इस कार्य का प्रतिफल था - 'एन्शिएण्ट हिस्टोरिएन्स ऑफ इण्डिया।' यह तत्कालीन संस्कृत साहित्य की कृतियों पर आधारित अनूठा इतिहासग्रन्थ है। पिछले ५० वर्षों में कोई भी दूसरा इतिहास ग्रन्थ इसका स्थान नहीं ले पाया है। एक ओर तो इसके हर वाक्य से संस्कृत काव्यों की सुवास उठती है। इसमें कालिदास की बिम्ब माला बिखरी पड़ी है। इसकी शैली काव्य ग्रन्थों से अठखेली करती चलती है। प्रो. जॉन स्पेलमॉन ने ठीक ही कहा है- 'डॉ. पाठक अपने तर्क को सर्वमान्यतः पुष्ट कर देते हैं कि यदि हमें संस्कृत ग्रन्थों की ऐतिहासिक परम्परा को अपने इतिहास का आधार बनाना है तो हमें इन ग्रन्थों के लेखक जिसे इतिहास मानते रहे हैं उसके अन्तर्निहित खाके को स्वीकार करना पड़ेगा।'

डॉ. विश्वम्भर शरण पाठक १९६३ में काशी हिन्दी विश्वविद्यालय में 'रीडर' नियुक्त होकर पुनः काशी आ गये। यहाँ से वह छह महीने के लिए मैक्सिको भी गये थे। १९६५ में उन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग की अध्यक्षता ग्रहण कर ली। गोरखपुर में रहते हुए प्रो. पाठक ने शोधकर्ताओं की दो पीढ़ियों के शोध कार्य का मार्गदर्शन किया। उनके कार्यकाल में गोरखपुर में प्राचीन भारत के कई इतिहासकारों ने ख्याति प्राप्त की जिनमें प्रो. दयानाथ त्रिपाठी, प्रो. शिवाजी सिंह, प्रो. एस.आर. गोयल, प्रो. शैलनाथ चतुर्वेदी, डॉ. जयमल राय, डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र और प्रो. प्रेम सागर चतुर्वेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रो. पाठक अवकाश ग्रहण करने के बाद भी अपने शोध कार्य में संलग्न रहे और अन्य शोधकर्ताओं की भी सहायता करते रहे। अन्तिम दिनों में वेद और अवेस्ता तथा कुशाणकालीन भारत उनके शोध के मुख्य विषय थे। इस दिशा में उन्होंने उनकी अनेक मौलिक उद्भावनाएँ हैं। अभी तक ये पुस्तक रूप में प्रकाशित होने की प्रतीक्षा कर रही हैं।

प्रो. पाठक निजी जीवन में अत्यन्त सरल, उदार और पूर्णतः आध्यात्मिक व्यक्ति थे। वे साहित्य के गम्भीर अध्येता और कवि हृदय थे। उनकी एक हिन्दी कविता भी साथ में प्रकाशित की जा रही है।

हिन्दी के पाठक प्रो. विश्वम्भर शरण पाठक की कृतियों से परिचित नहीं हैं। उन्हें उनके महत्व का भी कोई ज्ञान नहीं है। इसलिए 'समास' में उनके विषय में यह परिचय देना पड़ रहा है।

विश्वम्भर शरण पाठक ने अपने जीवन के अन्तिम वर्ष में वयोवृद्ध हिन्दी विद्वान श्रीनारायण चतुर्वेदी द्वारा लखनऊ में स्थापित 'हिन्दी वाङ्मय निधि' के लिए 'देश के अभिधान/भारत-हिन्दु-इण्डिया की निरुक्ति' विरचित की थी। इसका प्रथम संस्करण तभी 'हिन्दी वाङ्मय निधि' ने लखनऊ से प्रकाशित किया था। इसके महत्व को देखते हुए 'समास' इसे अपने पृष्ठों में पुनः प्रकाशित कर रहा है। इन्हें पढ़ कर हम इनके लेखक की भावप्रवणता, उनका देशप्रेम और एक महान गद्य लेखक की भाषा के सौष्ठव से गहरायी तक प्रभावित ही नहीं होंगे, हमारे हृदय में राष्ट्र भावना का संचार भी होगा।

-कमलेश

किसी भी नाम से वस्तु का बोध ही नहीं होता अपितु नाम में उसका इतिहास भी छिपा होता है। देश के नाम में उस देश के इतिहास का सूक्ष्म रूप प्रतिबिम्बित होता है।

हमारे देश के नाम - भारत, हिन्दु, इण्डिया - तीन-चार सहस्र वर्षों के इतिहास का वहन करते हैं। इन नामों के साथ विभिन्न भाव-धाराएँ तथा संस्कृति-परम्पराएँ सम्बद्ध हैं। इन नामों की निरुक्ति और विवेचन भारतीय इतिहास के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर विश्वम्भरशरण पाठक की लेखनी से पुस्तकाकार रूप में पहली बार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। साथ ही मातृभूमि की विशिष्ट भारतीय अवधारणा, 'वर्ष' शब्द का अर्थ, भारतीय-भाषा, ब्रह्मी, आर्य-वाक्, म्लेच्छ भाषा जैसे आनुषंगिक विषयों की चर्चा भी पुस्तक में की गयी है।

मातृभूमि : भारती-संतति

देश के साथ रागमयी एकात्मता उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रमुख आधार बनी। देश की मातृमयी कल्पना इस रागात्मक सम्बन्ध का आलम्बन थी। इस अभिनव देश-धर्म ने संस्कृति को एक नवीन और रुचिर आयाम दिया; साहित्य, कला एवं दर्शन को एक नूतन आभा से उद्भासित किया; राजनीति, समाज-दर्शन एवं इतिहास को एक नवीन दिशा दी। यह सच है कि अब राष्ट्रीयता की इस प्रवृत्ति का सूर्य अस्ताचल की ओर ढल रहा है; फिर भी यह सांध्यराग संस्कृति के कुछ पक्षों को कुछ दूर तक अब भी अनुरंजित करता दिखायी देता है।

इतिहास के इस नये पृष्ठ में नूतनता के स्वर थे, साथ ही साथ इसमें भारतीय संस्कृति की परम्परा के अक्षर भी थे- ताल और लय के सदृश सम्वाद करते हुए। यूरोपीय संस्कृति के प्रसंग में विकसित नेशनलिज्म इस युग में भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में परिभाषित हुआ। अरविन्द घोष ने देश-भक्ति अथवा राष्ट्रीयता की परिभाषा राष्ट्र के साथ व्यक्ति की एकात्मता के सन्दर्भ में दी। इसमें उन्होंने वैधानिकता को जिसकी आधुनिक राजनीतिशास्त्र में प्रमुखता है, प्राधान्य न देकर भावनात्मक आधार को चुना और इस प्रकार सम्भवतः अनजाने उस सूत्र को पकड़ लिया जिसकी अनिरुद्ध परम्परा प्राचीनकाल तक जाती है। अष्टाध्यायी (४.३.८५) में जनपद और उसके निवासियों के सम्बन्ध को 'भक्ति' शब्द से निर्दिष्ट किया है। 'भक्ति' का यहाँ अर्थ उपासना नहीं है। भजू, विभाजन करना, धातु से व्युत्पन्न भक्ति का अर्थ है भाग अथवा अंश। पाणिनीय व्याख्या है 'सोऽस्येति' अर्थात् जो इसका है, और प्रस्तुत प्रसंग में 'इसका' अथवा 'अस्य' का अर्थ 'स्व-स्वामि-सम्बन्ध' को अतिक्रान्त करता हुआ एकात्मता संवलित स्वकीयता के भाव को बतलाता है। इस स्व-कीयता में दो व्यक्ति अथवा व्यक्ति एवं पदार्थ पारस्परिक रीति से ऐसा अपनापन स्थापित करते हैं कि वे अर्धनारीश्वर के समान अथवा जलराशि एवं लहरों के सदृश दो होते हुए भी एक ही व्यक्तित्व का संयोजन करते हैं। अष्टाध्यायी के इस अधिकारिक सूत्र (४.३.८५) 'भक्ति' के अन्तर्गत जनपद-भक्ति भी है जिससे पांचाल, आंगक आदि शब्द व्युत्पन्न होते हैं। इस एकात्मता-परक भक्ति के दर्शन ऋग्वेद में भी मिलते हैं-

विभक्तासि चित्रभानो सिन्धोरूर्मा उपाक आ (१.२७.६) - तुम हमारे विशिष्ट भक्त हो, अंश हो, जैसे नदी की लहरें।

पुरातन अतीत इस प्रकार नवीन वेष में उपस्थित हुआ। देश-भक्ति की पुनः एक नवीन दिशा थी- भारत-माता की मूर्ति। यहाँ भी पुरातन और नवीन तत्त्वों का संगम था। मातृभूमि की कल्पना पुरानी थी, भारत-माता की धारणा नवीन।

मातृभूमि की अवधारणा के सूत्र का विस्तार ऋग्वेद तक जाता है, जहाँ (५.५८.६) अज्येष्ठ, अकनिष्ठ और अमध्यम, अर्थात् सब प्रकार से समान मनुष्यों (मरुतों?) को भूमि के पुत्र (पृश्नि-मातरः) कहा गया। सूत्र का विशाल वितान निस्सन्देह अथर्ववेद में मिलता है। बारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त के सभी ६३ मन्त्र मातृभूमि के सम्बन्ध में हैं। इनमें मातृभूमि की आध्यात्मिक एवं भौतिक व्याख्या की गयी, उसका सांस्कृतिक पक्ष भी स्पष्ट किया गया।

मातृभूमि का, पृथ्वी का, वह अधिदैविक स्वरूप, जो आदिवराह की कथा और विग्रह से सम्बद्ध है, अथर्ववेद में सर्वप्रथम दिखायी देता है-

यार्णवे सलिलमग्रे आसीद्
यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः
तस्या हृदयं परमे व्योमन्
सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधात्तमे।। (१२-१८)

अनेक धर्मों के मानने वाले तथा विविध भाषाओं के बोलने वाले जनों के समुदाय को निवास-स्थल के समान धारण करने वाली पृथ्वी का भौतिक-सांस्कृतिक पक्ष भी है।

जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथ्वीं यथौकसम्। (१२.१.४५)

अतीत के व्यक्तित्वों की गौरव-गाथा से भावित मातृभूमि का यह चित्र दर्शनीय हैः-

जहाँ अश्विनीकुमारों ने वास-स्थलों का निर्माण किया, जहाँ विष्णु ने पराक्रम दिखलाया, जिसे शचीपति इन्द्र ने शत्रुरहित किया, वह भूमि माता के समान मुझको दुग्ध दे-

यामश्विनावभिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे।
इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।। (१२.१.१०)

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२-१-१२)- मातृभूमि की यह अवधारणा भारतीय है। अन्य भारोपीय देशों में यह उपलब्ध नहीं। यूनानी-रोमी संस्कृति में देश को पेत्रिस् पेत्रा, पेत्रि, पैतृक अथवा पितृभूमि कहा गया, जिसका जर्मन और आंग्ल परम्परा में 'वटरलैण्ड', 'फादरलैण्ड' के रूप से अनुरणन मिलता है। यहाँ पितृभूमि का अर्थ केवल पितरों का स्थान मात्र है। 'पितृभूमि' की वैसी अधिदैविक धारणा नहीं मिलती है, जैसी ' मातृभूमि' के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति में मिलती है। ईरानी परम्परा के ज़म्यात यश्त में भूमि के अधिदैवत का उल्लेख है किन्तु इसमें भी 'हरइति बर्श्' तथा अन्य पर्वतों एवं 'ख्वरॅनो' राजशक्ति के सन्दर्भ में ही ज़म्यात् का वर्णन है, स्वतन्त्र रीति से नहीं। मातृभूमि की परिकल्पना केवल भारतीय साहित्य एवं संस्कृति में ही उपलब्ध होती है।

भारती-सन्तति

विदेशियों ने भौगोलिक दृष्टि से परिभाषित कर मातृभूमि को सिन्धु नदी के नाम पर हिन्दु-इन्दोस्-इण्डिया-इन्तु के नाम से पुकारा। भारतीयों के लिए मातृभूमि की एकता का आधार-मनु, आर्य और भरत की परम्पराएँ थीं। अथर्ववेद के मातृभूमि सूक्त में कहा गया हैः -

तवेमे पृथिवि पंचमानवा येभ्यो ज्योतिस्मृतं
मर्तेभ्य उद्यन्-सूर्यो रधिमभिरातनोति ।। (१२-१-१५)

'पृथिवि, ये तुम्हारे वे पंचमानव हैं जिनके लिए उदित होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से अमर-ज्योति का विस्तार करता है।' पंचमानव में पंच शब्द 'सम्पूर्ण' का अर्थ वहन करता है और मानवाः 'मनु की सन्ततियों का'। मानव्यो हि प्रजाः (तै.सं. ५-१-५६) मनुजों, मनुषों, मानुषों, मनुष्यों और मानवों का पिता मनु था-

यामथर्वा मनुष्पिता दाप्यङ्धियमयत्नतः ऋग्वेद (१-८०-१६)
मनु ने जनसमुदाय के लिए अग्नि-चर्या प्रवर्तित की-
नि त्वामग्ने मनुर्दधे ज्योतिर्जनाय शश्वते। (१-३६-१६)

मनु शब्द के रूपान्तर अनेक भारोपीय भाषाओं में बिखरे हैं। आंग्लभाषाओं का 'मेन', प्राचीन जर्मनीय भाषाओं का 'मेन्नुस', गॉथिक 'मेन्न' इस शब्द के विभिन्न रूप हैं। मनुसँ-चिथ्र (अवेस्ता), मनुसँ-चिहर (पहलवी) मनुपुत्र शब्द ईरानी साहित्यिक परम्परा में मनु की स्मृति का साक्ष्य वहन करते हैं। मन् धातु मननशीलता की ओर संकेत करती है तो लैटिन सगोत्र मेनस् (हस्त) मानव के हस्तकौशल की ओर इंगित करता है। लैटिन, गॉथिक और केल्टिक भाषा, परम्पराओं में मनु के सगोत्र शब्द 'मानव' का अभिधान है और ईरानी मनुसँ-चिथ्र में मनु के पूर्वपुरुष होने की स्मृति है, तो भारतीय साहित्य में मनु को न केवल संस्कृति के मूल तत्त्वों के उपन्यास का श्रेय दिया गया, अपितु उसमें मनु से मानवी सृष्टि के विस्तार का इतिहास भी वर्णित किया गया। मातृभूमि और मानवी प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध ने देश की अवधारणा का प्राथमिक कलेवर बनाया।

'मानुषी विशः' का ऋग्वेद में अनेकशः प्रयोग है। भारोपीय भाषाओं में विश् और उसके सगोत्रों की दो अर्थ-परम्पराएँ हैं। प्रथम, यूनानी (व+) ओइकोस्, लैटिन विकुश् प्राचीन स्लाव विसि और गॉथिक वेइह्स जो गृहग्राम-नगर वाची है और दूसरी लिथुआनी वेस्, आवेस्तिक वीसो और वैदिक विश् जो जनसमुदाय-वाची हैं। देश के संगठन में आर्य-भाषाओं के विश्-वीसा का वैसा ही महत्त्व है जैसा रोमन-देश के लिए ट्राइबस का और जर्मन-भाषी देशों के लिए टेओटा (टोटल-सम्पूर्ण जनसमुदाय) का; मातृभूमि की अवधारणा के साथ मनु से उत्पन्न प्रजाओं के विश की संगति ने देश के स्वरूप का विधान किया।

यह मानुषी विश्-मनु की सन्तति-समूह-वैदिक साहित्य में 'आर्य-विश्' के नाम से भी पुकारा गया। 'मनुनां प्रजाः' ही 'आरी विशः' है। 'आर्य-धाम' का भी उल्लेख ऋग्वेद (९-६३-१४) में है। धाम समवेत रीति से संवास-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था का द्योतन करता है। 'आर्य-धाम' के रूप 'अइर्यनम् वअेजो' और 'आर्यावर्त' में दिखायी देते हैं। वेंदिदाद के प्रथम फ्रकर्त में जिन सोलह देशों का उल्लेख है उनमें अइर्यनम् वअेजो प्रथम और सर्वप्रमुख है। अहुर मज्दा के आदेश से यिम वीवङ्हत (वैदिक यमवैवस्वत) ने इसमें एक 'वर' का निर्माण किया जिसमें उसने सब मनुष्यों, प्राणियों और पादपों को संकलित किया। अइर्यनम् वअेजो का उल्लेख होम यश्त में भी है। यह सन्दिग्ध है कि 'अइर्यनम् वअेजो' कोई निश्चित पार्थिव-स्थल था अथवा आर्यों के आदि देश की स्मृति की कोई पौराणिक परिकल्पना।

मानवी सन्तति का स्थान अवान्तरकाल में भारती-सन्तति ग्रहण करती है। पुराणों में भारतवर्ष को भारती-सन्तति के आधार पर ही परिभाषित किया गया-भारती यत्र सन्ततिः। भरतस्य पुत्राः (३-५४-२४) भरतस्य सूनवः (२-३६-२) भारताः (३-२३-२) भारतं जनं (३-५३-१२) आदि ऋग्वेदीय उल्लेख पूर्ववैदिककाल में भारती-सन्तति की सूचना देते हैं। मनु के सदृश भारत-जन भी अग्निचर्या से विशेष रूप से सम्बद्ध थे। ऋग्वेद में यह कहा गया कि 'भारत-वंशियों के लिए दीप्यमान शुचि अग्नि प्रकाशित होती है (५-११-१); अग्नि का नाम ही भारत पड़ गया था- आग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः (६-१६-१८)। भरत-वंशीय देवश्रवा और देववात अग्निचर्या के लिए प्रसिद्ध थे (३.२३.२,३)।

२

हिन्दू अभिधान का इतिहास

यहाँ यह स्पष्ट कर दें कि भारतवर्ष नाम भारतीयों ने स्वयं अपने लिए स्वीकृत किया, जबकि हिन्दू-इण्डिया-इन्तु अभिधान विदेशियों द्वारा दिया गया, और यह नाम सदियों के पश्चात् भारतीयों ने अपनाया। दूसरा तथ्य भी इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण है कि भारत शब्द के साथ विविध प्रकार के रागात्मक सम्बन्ध और सांस्कृतिक संयोग काल के प्रवाह में विकसित हुए, ऐसे भाव हिन्दू शब्द के साथ नहीं दिखायी देते। इतिहास साक्षी है।

हिन्दू शब्द में स्वयं पूर्वमध्यकालीन प्रतिरक्षात्मक प्रवृत्ति का स्वरूप अन्तर्निहित है। वैदेशिक होते हुए भी इस शब्द को भारतीयों ने तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी में आगे अभिधान के रूप में स्वीकृत किया। दक्षिण में विजयनगर-नरेश कृष्णदेव राय के १४५० शक सम्वत् के कांचीपुर ताम्रशासन में राजविरुदावली का अंश है ''हिन्दू-राय-सुरत्राणो''। उत्तर में भी चौदहवीं शती की लोक भाषाओं में इसका प्रयोग मिलता है। इसी काल में संकलित ''पैगलम्'' नामक अपभ्रंश के पिंगल-ग्रन्थ में झुल्लण छन्द के उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य किसी ग्रन्थ से उद्धृत किया गया है-

सहस मअमत्त गअ लाख लख पक्खरिअ, साहि दुई साजि खेलंत गिंदू।
कोप्पि पिअ जाहि तह थप्पि जसु विमल महि, जिणइणहि कोवि तुलुक हिन्दू।। (१.१५७)

तुलुक (तुरुष्क) और हिन्दू का यह द्वन्द्व ही अन्ततः कारण बना कि हिन्दू शब्द भारत में भारतीयों ने स्वीकार कर लिया। जब विदेशी तुरुष्क भारत में बस गये तो अपनी अस्मिता की पृथक् अभिव्यक्ति के लिए प्राचीन निवासियों ने इस शब्द को मान्यता दे दी। इसके पश्चात् ''हिन्दू पद पादशाही'' में और ''राखी हिन्दुआनी हिन्दुआन को तिलक'' में हिन्दू शब्द ने क्रमशः महत्ता धारण कर ली।

चौदहवीं शती के पूर्व ''हिन्दू'' शब्द भारतीय साहित्य में विरल है। इसका एकाकी प्रयोग जैन-ग्रन्थों में कालकाचार्य कथानक के प्रसंग में मिलता है। कालकाचार्य-कथा के अनेक संस्करण प्रचलित हुए जो नवमदशम् शती के जैन-ग्रन्थों में समाहित हो गये। इस कालक-कथा-परम्परा का सतर्क विवेचन अनेक विद्वानों ने, विशेषतः नार्मन ब्राउन ने, अपनी पुस्तक ''स्टोरी ऑफ़ कालक'' में किया। इस कालकाचार्य कथानक का एक संस्करण हाल में प्रकाशित निशीथ-सूत्र भाष्य में मिला। इस ग्रन्थ की भाषा अर्धमागधी है और तिथि छठीं शती के करीब होगी।

निशीथ-सूत्र-भाष्य के अनुसार कालकाचार्य गर्दभिल्ल के द्वारा शासित उज्जयिनी नगरी में एक प्रसिद्ध ज्योतिषी था। उसकी युवती एवं रूपवती बहिन को गर्द्दभिल्ल ने अपने अन्तःपुर में बलात् ग्रहीत किया। कालकाचार्य ने गर्द्दभिल्ल को उज्जयिनी के राज्य से उन्मूलित करने की शपथ ली और 'पारसकुल' गया, जहाँ 'साहाणुसाही' से आतंकित एक साही शासक को 'हिन्दुग-देस' पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया-

''भावेउं सो कालगज्जो पारस-कुलं गतो। साहिणा भणियं-परमसामिणा रूट्ठेण एत्थ अच्छिउंण तरई। कालगज्जेण भणिय-एहि हिन्दूगदेसं वच्चामो। रण्णा पडिस्सुयम्।''

(१०.२८६०)

साही ने कहा ''परमस्वामी के रुष्ट होने पर अस्तित्त्व सम्भव नहीं।'' कालकाचार्य ने कहा, ''चलिए, हिन्दुगदेस चलें। राजा ने स्वीकार कर लिया।''

यद्यपि ''निशीथ-सूत्र-भाष्य'' परवर्ती है किन्तु कालक-कथानक का मूल प्राचीन लगता है। समकालीन सासानी वंश का प्रसिद्ध राज-विरुद तो ''मल्कान ए मल्का एइरान वा अनीरान'' था। हखामनी शासकों के विरुद्ध 'क्षायाथ्य क्षायथ्यनां'' से प्रसूत ''शाहानशाह'' तथा उसके पहल्वी, सोग्धी और बाख्त्री रूप शाओ नानो शाओ, षहानुषाही आदि षष्ठ शती तक निःशेष हो चुके थे। और अपवाद-स्वरूप यत्र-तत्र सासानी काल में मिलते हैं। अतः साहाणुसाही विरुद इस कालक-कथानक को सासानी युग से पहले ले जाता है। कतिपय विद्वान तो इस कथा की संगति ईसा पूर्व प्रथम शती के काल में बैठाते हैं। जो कुछ हो, निशीथ-सूत्र का साक्ष्य वैदेशिक सन्दर्भ में ही व्याख्यात हो सकेगा और केवल इतना सूचित कर सकेगा कि षष्ठ शती अथवा इसके पूर्व से भारतवासियों को यह ज्ञान था कि पारसीक पहल्व उन्हें ''हिन्दू ''नाम से जानते हैं।

पारसीक परम्परा

हिन्दू शब्द की यह पारसीक परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। मँहर यश्त् १०४ में हिन्दवो का एक सन्दर्भ है। चार श्वेत अश्वों के रथ पर आरूढ़ मिथ्र ने दइवों का उस सम्पूर्ण क्षेत्र में विनाश किया जिसका निर्देश निम्नोक्त है।

यतचित् उषस्तइरे हिंद्वो आगॅ उर्वयेइते यतचित् दओषतइरे निघ्ने।

''जिसकी पूर्व हिन्दव सीमा-निर्माण करता है, जो पश्चिम (हिन्दव) के अन्तर्गत है।''

इसी प्रकार ''तिश्तर यश्त्'' ३२ में कहा गया है-

''उस हिंदव् पइति गरोइत्
यो हिश्तइसे मइधीम ज्रयङ्हो वोउरुकषहे।

''वोउरुकष समुद्र के मध्य में हिँदवत् पर्वत स्थित है।'' यहाँ भी हिँदवत् का प्रयोग सीमावर्ती अथवा ''सीमा-विधान करने वाले'' अर्थ में ही प्रतीत होता है। प्रो. हेनिंग और प्रो. थीमे ने इन दोनों प्रसंगों में प्राकृतिक सीमा के अर्थ में ही ''हिन्दव'' शब्द को परिग्रहीत भी किया है। इनका विचार है कि सिन्धु-हिन्दु शब्द सही सिध् = अपवारणे से व्युत्पन्न है; सिन्धु-हिन्दु वह प्राकृतिक सीमा है जो बाह्य व्यक्ति को प्रवेश करने से रोकती है, अपवारित करती है। सर हेरोल्ड बेली ने इस पर आगे विचार किया और शतपथ ब्राह्मण १३.२.२.६ का उद्धरण दिया-

''तस्माद् उत्सेधं प्रजा भयेऽभिसंश्रयन्ति''

''इसलिए जनभय के उत्पन्न होने पर उत्सेध (ऊँचाई, पर्वत) का आश्रय लेते हैं।'' उन्होंने अवेस्ता के ''उस-हिन्दव'' और उसके पलवी रूपान्तर ''उस-इन्दुं'' के पर्वतवाची होने की ओर इशारा भी किया। उनके अनुसार सिध् धातु न केवल अपवारण का अर्थ वहन करती है अपितु उत्सेध (ऊँचाई) का भाव भी उसमें समाविष्ट है; सिन्धु जो अवान्तर काल में नदी के लिए प्रयुक्त हुआ तो इसलिए कि नदी के कगार ऊँचे होते हैं। किन्तु सिध् धातु में निहित अपवारण

ऊँचाई अथवा पर्वत के द्वारा भी हो सकता और नदी के द्वारा भी साधारण रीति से हो सकता है; उदाहरणार्थ निम्नोक्त ऋचा द्रष्टव्य है-

सुपर्णा एक आसते मध्ये आरोधने दिवः।
ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो।।

(ऋकक्-१.१०५.११)

यहाँ ''आरोधन'' ''यह्वती अपः'' और ''सेधन्ति'' के साथ-साथ प्रयोग व्यंजक तो हैं ही, ''महान् जलराशि में तैरते हुए वृक (एक जाति विशेष के व्यक्ति)'' का मार्ग में अपवारण भी विचारणीय है।

अतः सिन्धु-हिन्दु का प्राथमिक अर्थ है वह प्राकृतिक सीमा जो जनसंनिवेश में बाहरी व्यक्ति का प्रवेश रोकती है। यह प्राकृतिक सीमा पर्वतमयी भी हो सकती है, नदी के द्वारा भी निर्मित हो सकती है। इसके अनन्तर ''हिन्दू'' का जो अर्थ विकसित हुआ वह ''वेन्दिदाद'' में दिखायी देता है।

पंचदसॅम् असङ्हॉम्च षोइथ्रनांम च बहिश्तं फ्राथवॅरॅम्
अजॅम् यो अहुरो मज्दो यो हफ्त हेंदु। (फ़र्कर्त १.१८)

''मैं अहुर मज़्दा हूँ उसने देशों और क्षेत्रों में वरिष्ठ जिस पंचदश (क्षेत्र) का निर्माण किया वह हफ्त हिन्दु है।''

''षोइथ्रनां (क्षेत्राणां) बहिश्त'' से तो स्पष्ट है कि ''हिन्दु'' शब्द यहाँ क्षेत्रवाची है, जन-संनिवेश का अर्थ रखता है, किन्तु प्रश्न है कि ये हफ्त, सप्त क्यों कहे गये। पहलवी वेन्दिदाद का उत्तर है कि- **उत् स हफत हिन्दूकानीह एत कु सर - ख्वताय हफ्त अस्त और ये हफ्त हिन्दूकानीह इसलिए हैं कि वहाँ सात प्रमुख ख्वताय (स्वतव, शासक) हैं।''** पुनः सुमेरी अभिलेखों में ''बाद इमीन'' सात शहरों, ऊँचाई पर स्थित सात जन-संनिवेशों की चर्चा है जो सुमेर और फारस के भी आगे स्थित हैं। सर हेरोल्ड बेली का प्रास्ताविक कथन है कि सम्भवतः भारतेरानी काल में आर्यों ने सात शहरों की अवधारणा सुमेर-संस्कृति से ली और उसे हफ्त हिन्दु और सप्त सिन्धु में परिणत कर ली। यह सत्य प्रतीत होता है कि सुमेर के ''बाद इमीन'' की चर्चा ऋग्वेद में है और अनेकशः है। इन्द्र ने पुरुकुत्स राजा के लिए ''सप्तपुरों'' का ध्वंस किया।

सप्त यत्पुरः शर्म शारदीर्दर्द। (१.१७४२)
इन्द्रः पुरः सहसा सप्त दर्दः। (७.१८.१३)
त्वं हत्यदिन्द्र सप्त युध्यत्पुरो वज्रिन्पुरुकुत्साय दर्द। (१.६३.७)
सप्त यत्पुरः शर्म शारदोर्ध्वन्दासी पुरुकुत्साय शिक्षन्। (६.२०.१०)

इसलिए इन्द्र को न केवल पुरन्दर कहा गया अपितु ''सप्तहा'' भी-

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः। (१०.४६.८)

यह सप्त-पुर-भेदन पूर्वी ईरान और मध्य एशिया में हुआ होगा जहाँ सुमेरी अभिलेख सात शहरों की भौगोलिक स्थिति का निर्देश करते हैं। परन्तु ''सप्त-सिन्धु'' का सप्त तो आर्यों की सात शाखाओं की ओर इंगित करता हुआ

दिखायी देता है जिनकी परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कहा जाता है कि ''मानव''-जाति के जनक ने सात होताओं के द्वारा प्राथम ''होत्र'' सम्पन्न किया-

येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः
समिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः। (ऋक् १०.६३.७)
सनातन अग्नि ने सात होताओं को प्रकाशित किया-
प्र सप्त होता सनकादरोचत। (ऋ. ३.२९.१४)

इसलिए अग्नि को सप्त-मानुष कहते हैं-

यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु। (ऋ.८.३९.८)

''जो अग्नि सप्त-मानुषों की है और जो सभी सिन्धुओं में स्थित है।'' विश्वेषु सर्वेषु सिन्धुषु के साथ-साथ ''सप्त-मानुष'' आर्यों के सप्तविध जन-संनिवेश अथवा शाखाओं की ओर इंगित करता है। 'सभी सिन्धुओं' का अर्थ ऋग्वेद ४.७.५ से और भी स्पष्ट हो जाता है जहाँ ''मानुष्क होता'' के ''सप्त-धामभिः यजिष्ठं'' सातों प्रकाशमान जन-संनिवेशों के द्वारा पूजित अग्नि के ज्ञान का उल्लेख है। ''सप्त-सिन्धु'' के साथ सम्बद्ध है ''सप्त-मर्यादा''। मर्यादा का अर्थ सीमा है। भाषा-शास्त्री ''मरी-आदा'' में यूनानी ''मर-मेड'' के ''मर'' का सगोत्र ''मरी'' का अर्थ समुद्र अथवा जलाशय करते हैं, और इस प्रकार मर्यादा प्रारम्भ में जन-संनिवेश की समुद्र-नदी निर्मित प्राकृतिक सीमा थी। अवान्तर काल में जन-संनिवेश के अन्त में सीमान्त द्योतक स्तम्भ स्थापित कर मर्यादा का बोध कहा गया कि ''क्रान्तदर्शी ऋषियों ने ''सप्त-मर्यादा'' स्थापित की, तथा जनस्थली के पास जहाँ से विभिन्न पथ जाते हैं वहाँ ''स्कम्भ'' स्थापित किया।'' इस प्रकार आर्यों के सप्त धाम थे, सप्त शाखाएँ थीं और सप्त मर्यादाएँ थीं। इनका सम्बन्ध सप्त-सिन्धु सात जन-संनिवेशों से दिखायी देता है।

ऋग्वेद में ''सिन्धु'' प्रधानतः नदीवाची है, किन्तु कुछ सन्दर्भ क्षेत्र का भी द्योतन करते हैं। उदाहरणार्थ-

न यस्य खाद्यावापृथिवी अनुव्यचो
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः (१.५२.१४)

''दिव्यलोक और पृथिवी में जिसके व्यच, शासकीय प्रभाव (तुलनीय भरतानां व्यष्टि; श. ब्रा. १३.५४.११) का अन्त नहीं और न उसके सिन्धु-क्षेत्रों (रजसः) का।'' इसी प्रकार ऋग्वेद (१.१२६.१) में ''सिन्धावधि क्षियतो भाव्यस्य'' सिन्धु (क्षेत्र) में रहने वाले भाव्य का उल्लेख है। सप्त-सिन्धु का सन्दर्भ प्रायः सात नदियों के लिए है, किन्तु कुछ उल्लेख सप्त जन-संनिवेश का भी अर्थ वहन करते हैं-

मुचद्यो वार्यात्सप्तसिन्धुषु (८.२४.२७)

अथर्ववेद में सप्त-सिन्धु से आर्य-संस्कृति का सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र द्योतित होता है-

यावती द्यावा-पृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम्।। (४.६.२)

तथा--

यावती द्यावा-पृथिवी यावच्च सप्त सिन्धवो वितस्थिरे।
तावन्तमिन्द्र ते ग्रहमूर्जा गृहणाम्यक्षितं मयि।। (वाजसनेयि संहिता ३८.२६)

(हे इन्द्र, अन्न के सहित तुम्हारे अनुपक्षीण चषक को जहाँ तक आकाश-पृथ्वी फैले हैं- जहाँ तक सप्तसिन्धु प्रदेश फैले हैं, वहाँ तक मैं ग्रहण करता हूँ।)

हखामनी वंश के दारायवहुष महान् (५२१-४८६) ईसा पूर्व के पर्सपोलिस, नक्शेरुस्तम और सूसा के अभिलेखों में हखामनी शासन के अन्तर्गत देशों की गणना में ''हिन्दू'' का उल्लेख सुग्ध, बाख्त्री गान्धार के साथ किया गया है जिससे स्पष्ट है कि यहाँ ''हिन्दु'' शब्द सिन्ध प्रदेश का वाचक शब्द है। अर्तक्षयार्ष प्रथम अथवा द्वितीय के अभिलेख में प्रयुक्त ''इयं हिन्दुय'' (यह हिन्दु है) से ज्ञात होता है कि ''हिन्दु'' शब्द न केवल देशवाची था अपितु सिन्धु-देश निवासी का भी अभिधान करता था।

पहलवी में ''हिन्दु'' शब्द का अर्थ अधिक विकसित है। वहाँ यह सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा भारतवासियों का अभिधान बन गया था। शापुर प्रथम के पैगुली अभिलेख में किरमान, शकस्तान, तुग्रान के साथ-साथ हिन्दुस्तान का उल्लेख है। प्रदेश के अर्थ के साथ ही साथ पहलवी में हिन्दु शब्द भारतवासियों के लिए भी प्रयुक्त है। फारसी में ''हिन्दु'' शब्द भारतवासी के अर्थ के अतिरिक्त अन्य अनेक अर्थ में प्रचलित हो गया। हाफ़िज के प्रसिद्ध शेर की पंक्ति है-''बखाले हिन्दुआं बख्शं समरकन्द ओ बोखारा'' जहाँ ''हिन्दुआं खाल'' का अर्थ 'काली चमड़ी बराबर तिल है। हिन्दुओं की श्यामता ने हिन्दु शब्द का अर्थ ही कृष्ण कर दिया। किन्तु हिन्द का पुराना रूप भी सुरक्षित रहा। फिरदौसी के शाहनामा में है।

फरसाद नज़दीक-ए-दानाए हिन्द।
ब अस्प व दीनार ओ चीन-इ-परिन्द।।

पारसीकों से ''हिन्दु'' शब्द अरबी लेखकों ने लिया। अरबों का तत्कालीन भारत से अधिक परिचय था। अतः उन्होंने हिन्दु शब्द को सिन्द से पृथक् किया और बृहत्तर भारत के अर्थ में इस शब्द को प्रयुक्त किया। उन्होंने राष्ट्रकूट नरेशों के विषय में लिखते हुए सिन्द और हिन्द राजाओं का उल्लेख किया। इसी प्रकार इब्न कुतैव (८८९ई.) अपने ग्रन्थ अल मारिफ़ में अली इमाम के पुत्र हुसेन इमाम के सम्बन्ध में एक जनश्रुति का उल्लेख करता है कि सुलाफ़ अथवा गज़ाल नाम की सिन्धी, सिन्ध प्रदेश की कन्या से उनका विवाह हुआ था। इब्नख़ोर्दाद (८४४-८४८ई.) ने कम्बुज-कम्बोडिया-कम्पूचिया देश के निवासियों को हिन्दु नाम से अभिहित करते हुए लिखा है कि वे शराब नहीं पीते।

चीनी परम्परा

सिन्धु-हिन्दु शब्द की परम्परा चीनी साहित्य में भी उपलब्ध होती है। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में चीनी राजदूत चांग चियेन के बाख्त्री देश के यात्रा-विवरण में भारत को ''शेन्-तु'' नाम से पुकारा गया।

पुनः कूचा देश के इतिहास के सन्दर्भ में ''शेन्-तु'' का एक मनोरंजक उल्लेख है। प्रथम शती ईसवी में कूचा के आधिपत्य को लेकर चीनी और हिउंग-नू में विवाद चलता था। कूचा के निवासियों ने चीन के बादशाह के द्वारा प्रतिष्ठित राजा को सिंहासन से हटाकर ''शेन्-तू'' को प्रतिष्ठित किया। यह स्पष्टतः कहा गया कि ''शेन्-तु'' यद्यपि कूचा निवासी था तथापि भारतीय था। यहाँ ''शेन्-तु'' व्यक्तिवाची नाम नहीं है किन्तु ''सिन्धु प्रदेश-वासी'' का अर्थ वहन करता है।

चीनी इतिहास के हान् काल में शेन्-तु अथवा सियेन-तु का ही प्रयोग होता रहा। उसके बाद तियेन-चु शब्द का प्रचलन हुआ। इस शब्द के प्रारम्भिक प्रयोग के विषय में कुछ भ्रन्तियाँ थीं- कभी-कभी कोरिया और तिब्बत के लिए भी इसका प्रयोग हुआ, किन्तु हान् काल के पश्चात् और तांग काल के पूर्व तक अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तथा कपिशा से सिंघल देश के अन्तरालवर्ती भूभाग के लिए तियसेन्-चु शब्द का अनेकशः प्रयोग चीनी साहित्य में उपलब्ध होता है। तांग काल में एक नवीन आख्या इन्तु अथवा इन्दु चीनी साहित्य में दिखायी दी जो प्राचीन संज्ञा तियेन-चु के साथ ही साथ प्रचलित हो गयी।

श्वान्च्वांग ने भी भारतवर्ष के लिए इसी शब्द का प्रयोग किया है। उसका कथन है, ''हम देखते हैं कि विभिन्न व्यक्तियों ने तियेन्-चु (भारत) के नामों में भ्रान्ति उत्पन्न कर दी। पुरातन नाम शेन्-तु और हियेन्-तु थे, किन्तु अब हमें इसका शुद्ध उच्चारण यिन्-तु ही रखना चाहिए।'' उसने तथा दूसरे चीनी लेखकों ने इन्-तु का अर्थ चन्द्र बतलाया है। स्पष्ट है कि उन्होंने भ्रान्तिवश इन्तु और इन्दु को समीकृत कर दिया था।

तियेन् -चु शब्द का मौलिक अर्थ निस्सन्दिग्ध रूप से ज्ञात नहीं किन्तु शेन्-तु, हियेन्-तु ओर इन्-तु के सिन्धु और हिन्दु के चीनी रूपान्तर सिन्धु शब्द का रूपान्तर होने में सन्देह नहीं। शेन्-तु ईसा पूर्व द्वितीय शती से प्रचलित हुआ। ईसा पश्चात् तृतीय शताब्दी से तियेन्-चु अभिधान मिलता है। सातवीं सदी से हिन्दू का चीनी रूप प्रचलित हुआ। ये शब्द चीनियों को चीन के पार्श्ववर्ती मध्य एशिया के देशों चीनी तुर्किस्तान, बख्त्र, सुग्ध आदि से उपलब्ध हुए। हियेन्-तु का रूप ईरानी हिन्दू के माध्यम से और इन्-तु का परिवर्तन यूनानी इन्दोस् के द्वारा सहज समझा जा सकता है। किन्तु सिन्धु शब्द से शेन्-तु का निर्माण भारत के लिए सिन्धु शब्द के प्रचलन की अपेक्षा रखता है तथा यह परम्परा ''हिन्दु'' शब्द से प्राचीनतर है। ऋग्वेदीय प्रदेशवाची शब्द सिन्धु का प्रचलन बख्त्र, कूचा आदि मध्य एशिया के प्रदेशों में प्रचलित रहा होगा, जिसका रूपान्तर ''शेन्-तु'' है। यहाँ उल्लेखनीय है कि असीरी राजा सेनाकेरिब (७०४-६८१ ई.पूर्व.) ने अपने प्रासाद के स्तम्भों के लिये जिस लकड़ी का प्रयोग किया, उसे असीरी अभिलेखों में 'सि-इन-द-अ' (सिन्द) शब्द से अभिहित किया गया। हर्ज़फ़ेल्ड (दी पर्शियन एम्पायर पृ.७०) इस सिन्द का अर्थ सिन्धु प्रदेश से निर्यात इमारती लकड़ी करते हैं। यदि हर्ज़फ़ेल्ड का मत सही है तो ईसापूर्व आठवीं शती में 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग पश्चिम एशिया में सिन्धु क्षेत्र के लिये हो रहा था।

यूरोपीय परम्परा : इण्डिया

पारसी शब्द ''हिन्दुय'', ''हेन्दवा'' ने यूनानी-रोमन परम्परा के ''इन्दिआ'' का सूत्रपात किया जिससे आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में ''इन्द'' और ''इण्डिया'' का प्रवेश हुआ। हेरोडोटस ने ईसा पूर्व पाँचवीं शती में अपने ग्रन्थ

''स्तोरिया'' में दारा महान् के द्वारा शासित प्रदेशों का विवरण दिया है। इस प्रसंग में वह ''इन्दिया'' का उल्लेख करता है जो दारा के प्रशासित राज्यों में सर्वाधिक वैभव-सम्पन्न था और कर के रूप में ३६० टेलेण्ट सुवर्ण-धूलि देता था। निश्चय ही ''इन्दिया'' यहाँ सिन्धु प्रदेश का वाची है किन्तु हेरोडोटस अपनी ''स्तोरिया'' के तीसरे खण्ड में ''इन्दिया'' शब्द को विस्तृत अर्थ में प्रयुक्त करता है। उसके अनुसार ''इन्दिया'' में अनेक जनजातियाँ और भाषाएँ हैं तथा यह देश पूर्व दिशा का अन्तिम जन-सन्निवेश-युक्त भू-भाग है।

यूनानी लेखकों ने विशेषतः प्लिनी, स्ट्रेबो और टॉलेमी ने ''इन्दिया'' की सीमारेखाओं को निर्दिष्ट किया है। टॉलेमी के भूगोल-विषयक पुस्तक के अष्टम खण्ड में वर्णित इन्दिया पश्चिम में पेरोपनिसदाई, अराकोशिया और जेड्रोसिया से पूर्व में गंगा नदी से, उत्तर में इमाओस पर्वत से जिसके बाह्यवर्ती क्षेत्र सोगडियाई और शकाई थे, एवं दक्षिण में हिन्द महासागर से आवृत्त था। यूनानी भाषा का यह शब्द लैटिन भाषा में भी स्वीकृत हो गया जहाँ से वह अन्य यूरोपीय भाषाओं से संक्रान्त हुआ। सोलहवीं शती में ''ईस्ट इण्डीज'', 'इण्डोनेशिया'' आदि शब्द भी इसी स्रोत से आये। इस प्रकार प्राचीन यूरोपीय देशों, फारस और चीन ने भारत को सिन्धु, हिन्दु और उसके रूपान्तरित नामों से अभिहित किया।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि चीन में शेन्-तु, हियेन्-तु और इन्-तु के अतिरिक्त भारत के लिए दो नाम और मिलते हैं- इन्द्रवर्धन और आर्यदेश। यह भी ध्यान देने की बात है कि दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में भारत के लिए हिन्दु शब्द अथवा इसका रूपान्तर नहीं मिलता। इन देशों में आर्यदेश की आख्या ही भारतवर्ष के लिए मिलती है। कम्बुज में प्रचलित जनश्रुति है कि आर्यदेश के राजा कम्बु स्वायम्भुव ने कम्बुज देश एवं राज्य की प्रतिष्ठा की। जयवर्म-परमेश्वर के अंगकोरवाट अभिलेख में सर्वज्ञ मुनि को ''आर्यदेश'' से विनिर्गत बताया गया है-

शर्व्व (प्रियो) ऽभवद् विप्रस्सर्वागमविशारदः।
सर्वलोकार्थकृन्नाम्नां सर्व्वज्ञमुनिरीरितः।। ७।।
चतुर्व्वेदनिधेर्यस्यस चतुराननमाबभौ।
चतुर्म्मुखस्येव भृशन्चतुर्व्वेदस्स (मूर्तिकः)।। ८।।
आर्यदेशे समुत्पन्नश्शिवाराधनतत्परः ।
यो योगेनागतः कम्बुदेशेऽस्मिन्नि {...}।। ६ ।।

जम्बुद्वीप

बौद्ध, जैन और पौराणिक परम्पराओं में इस देश के अभिधान के लिए जम्बुद्वीप की चर्चा मिलती है, सिंहल में भारत के लिए जम्बुद्वीप शब्द का ही व्यवहार होता था और पालि साहित्य में जम्बुद्वीप में ''चतुरासीति आवास-सहस्सानि'' अथवा ''इद्धी चैव भविस्सति फीतो च, कुक्कुट-सम्पातिका गाम-निगम-राजधानियों'' आदि। इसकी भौगोलिक सीमाएँ अस्पष्ट हैं। जम्बूद्वीप के पंचविध विभाजन हैं। मध्यप्रदेश, उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम भू-भाग। किन्तु जम्बूद्वीप का सम्बन्ध चक्रवर्ती की अवधारणा से दिखायी देता है - ''जम्बूद्वीपे ...केतुमतिया राजधानिया संखो नाम राजा उपजिस्सति चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा।'' एक बात और-जम्बूद्वीप के वर्णन में एक आदर्शपरक हार्दिकता दिखायी देती है; यहाँ कर्म-फल के उपजीवी मनुष्य हैं; भोजन की विपुल सामग्री है; आवास विशाल हैं; जम्बूद्वीप

सर्वश्रेष्ठ भू-भाग है। जैसे समुद्दवणिजजातक में-

कसन्ति वपन्ति ते जना
मनुजा कम्पफलूपजीविनो।
नयिमस्स दीपकस्य भागिनो
जम्बूद्वीप इदमेव नो वरं।
पहूतभक्ख बहुअन्नमानं
पवत्थ आवासमिमं उत्तारं
न वो भयं पटिपस्सामि किंचि
आपुत्तपुत्तेहि पमोदथव्हो।।

चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा अशोक के काल में इस जम्बूद्वीप की धारणा का प्रतिफलन होता है। अशोक साधारणतः ज्ञात विश्व को दो भागों में ही विभाजित करता है- विजित और अन्त। उसका राज्य-क्षेत्र, विजित भाग है और उसके अतिरिक्त ''अन्त'' ''प्रत्यन्त'' है-- ''सर्वत विजितम्हि... एवं पि पचन्तेसु'' (द्वितीय शिलाभिलेख) ; अथवा ''इध च सबेसु च अतेसु अषषु पि योजन-शतेषु यत्र अन्तियोको नाम योनरजं परं च तेन चतुरे रजनि तुरमये नम अन्तिकिनि नम, मक नम अलिकसुदरो नम'' (त्रयोदश शिलाभिलेख)। किन्तु एक स्थल पर पालि-साहित्य के धम्मिको धम्मराजा चक्कवत्ती की भावना से प्रेरित होकर कहता है-

''सातिरेके तु खो संवछरं यं मया संघं उपीयते बाढ़ं च मे पकन्ते। इमिना चु कालेन अमिसा समाना मुनिसा जन्बुदीपसि मिसा देवेहि''- इन ढाई वर्षों में जब से मैंने बौद्ध-संघ में प्रवेश किया, बड़ा प्रयास किया। इस काल में जम्बूद्वीप में देव अमिश्र थे, उनको मैंने मिश्र किया- मनुष्यों को देवों के साथ सम्बद्ध किया।

इस प्रकार मौर्यकाल में जो भारत एक भौगोलिक इकाई बन रहा था उसमें सांस्कृतिक एकात्मकता का स्वर गुंजित हुआ। इसी मौर्यकालीन सांस्कृतिक भौगोलिक इकाई का नाम जम्बूद्वीप हुआ किन्तु इस बौद्ध जम्बूद्वीप के मानचित्र में ''भारत'' के लिए कोई स्थान नहीं। पालि में ''भारत'' केवल भारतवंशीय का अर्थ वहन करता है, भू-भाग का नहीं। सत्तिगुम्ब जातक में उत्तर पांचाल का राजा तथा सोणानन्द जातक में मनोज ''भारह'' (भरतवंशीय) हैं।

३
भारतवर्ष :
भारत अभिधान का इतिवृत्त

जैन और पौराणिक परम्परा में जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतखण्ड, भारतवर्ष का समायोजन है। जैन-ग्रन्थों में कल्पसूत्र, ओवाइयसुत्त, उवासगदसाओ, निरायावलिआओ, णायधम्मकहा और विशेषतः जम्बूद्वीप पण्णत्ति में जम्बूद्वीप का उल्लेख मिलता है। इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत सात वर्षों में एक भारतवर्ष है। जैन परम्परा के भारत की सीमा विस्तृत थी। इसमें दक्षिणापथ समाविष्ट था। दसवैकालिक सुत्त में उल्लिखित है- 'जहा निसन्ते तवणिच्चमाली पभासइ केवलं भारतंहि'। आचारांगसुत्त और णायधम्मकहा में ''दहिणाद्धे भारहे'' का उल्लेख है। निरयावलिआओ में ''तेण कालेण

जम्बूदीपे भारहे वासे चम्पा नाम नगरी होत्थ'', अंगदेश को भारतवर्ष के अन्तर्गत बताया गया। इस प्रकार तृतीय-चतुर्थ शती से भारत का हिमाचल से कुमारी द्वीप तक के भूभाग का मानचित्र बनता दिखायी देता है। इस तथ्य से सुसंगत है जैन राजा खारवेल के ईसा पूर्व के प्रथम शती के हाथीगुम्फा अभिलेख में भारतवर्ष का उल्लेख। उसने अपने दशमराज्यवर्ष में जिस भारतवर्ष के लिए प्रस्थान किया वह उत्तरापथ, पृथूदक-पिहोआ से उत्तर का क्षेत्र तथा अंग-मगध से भिन्न, केवल कुरुपांचाल तथा आधुनिक उत्तर प्रदेश का भूभाग प्रतीत होता है। किन्तु तृतीय-चतुर्थ ईसवी शती में भारत का मानचित्र विशाल हो जाता है और सम्पूर्ण हिन्दुस्तान का वाचक बन जाता है।

महाभारत एवं विविध पुराणों में जम्बूद्वीप और भारत का विशद वर्णन है। हमारी दृष्टि में जम्बूद्वीप का विवरण कल्पनाप्रसूत है किन्तु भारत के उल्लेखों में न केवल भौगोलिक स्पष्टता है अपितु उसके साथ सांस्कृतिक एकता और भावात्मक एकात्मता दिखायी देती है। भारत की सीमा के सम्बन्ध में निम्नोक्त श्लोक वायु, विष्णु मत्स्य, मार्कण्डेय आदि अनेक पुराणों में किंचित परिवर्तन के साथ मिलता है-

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद्भारतं नाम भारतीय यत्र सन्ततिः।।

भूभाग की यह सीमा कौटिल्य के द्वारा वर्णित चक्रवर्ती-क्षेत्र की ही है, जिस प्रकार मौर्यकाल में जम्बूद्वीप चक्रवर्ती क्षेत्र था उसी प्रकार तृतीय-चतुर्थ शती से भारत-भूमि ही चक्रवर्ती-क्षेत्र की मर्यादा बन गयी। इस भौगोलिक क्षेत्र में एक सांस्कृतिक इकाई दिखायी देती है। शबर स्वामी का कथन है '' प्रसिद्धश्च स्थाल्यां चरु शब्द आ हिमवत आ कुमारीभ्यः'' (१०.१.३५ पर भाष्य)। यहाँ हिमवान् और कुमारी द्वीप में आयत भूभाग से तात्पर्य भारतवर्ष से ही है क्योंकि वायुपुराण में भारत की यही सीमा-रेखा दी गयी- ''आयतो ह्या कुमारिक्यादंगगाप्रभवाच्च है। इस दृष्टि से शबरस्वामी के कथन का तात्पर्य है कि भारत में संस्कृत भाषा के शब्द चरु आदि देश के विभिन्न भागों में प्रसिद्ध थे और इस प्रकार विभिन्न भागों में संस्कृत भाषा का ज्ञान न होने से भारत में भाषात्मक एकता थी। इसी प्रकार पुराण, दार्शनिक और आचार-परक एकता के विषय में भी इंगित करते हैं। विविध पुराणों में भारत-भूमि को ही कर्मभूमि के रूप से स्वीकार किया गया-

कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम्।। २ ।।
न खल्वन्यत्र मर्त्यानां कर्मभूमौ विधीयते ।। ५ ।। (विष्णुपुराण २.३)

इसका उल्लेख भागवत, ब्रह्म आदि पुराणों में भी है।

दूसरी बात जो विशेष रूप से ध्यान देने की है वह है इन पौराणिकों और महाभारत के आख्यानकारों द्वारा इतिहास के माध्यम से भावात्मक एकता की प्रतिष्ठा। महाभारत (भीष्मपर्व) के निम्नोक्त श्लोक इस सम्बन्ध में उद्धरणीय हैं-

अत्र ते कीर्त्तयिष्यामि वर्ष भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रदेवस्य मनोर्वेवस्वतस्य च।। ५ ।।
पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ।। ६ ।।

अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम् ।। ७ ।।

अतीत के महापुरुषों इन्द्र, वैवस्वत, मनु, वैन्य, पृथु, इक्ष्वाकु आदि की स्मृतियों की परम्परा से भारत के भूभाग को अभिषिक्त कर भारत की उसके निवासियों के साथ एकात्मकता की भावना विकसित की गयी। इस प्रकार भारत का एक आदर्श देदीप्यमान चित्र उपस्थित हुआ-

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमि भागो।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।। (विष्णुपुराण २.४.२४)

भावों की तरलता से स्निग्ध तथा स्पष्ट भौगोलिक मर्यादाओं से युक्त भारत का यह चित्र तीसरी-चौथी सदी में उभरा होगा। हाथीगुम्फा अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईसवी पूर्व की प्रथम सदी में भारतवर्ष कुरु-पांचाल और उसके प्रतिवेशी प्रदेश का वाचक था। पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध अथवा छठीं शती के पूर्वार्द्ध में रचित बृहत्संहिता में उसका विस्तृत स्वरूप उद्‌भिन्न होता है। अतः इस अन्तराल में भारत के स्वरूप में विकास हुआ। पुराणों के भारत-विषयक भूगोल के अंशों में एक असामान्य साम्य दिखायी देता है जिससे ज्ञात होता है कि भारत का भूगोल उस मूल ''भुवनकोश'' का अंश था जिससे विभिन्न पुराणों ने सामग्री ग्रहण की। जिस प्रकार पुराणों में वंश-वर्णन ईसा पश्चात् चतुर्थ शती में सम्पादित हुआ, उसी प्रकार भारत-विषयक भुवनकोश भी पुराणों में इसी काल में संकलित हुआ होगा। इसका समर्थन जैन साहित्य से होता है। चौथी-पाँचवीं शती से अनेक ग्रन्थ ''जम्बुद्दीवे भारहे वासे'' का उल्लेख करते हैं।

यह प्रश्न कि भारत की यह अवधारणा चतुर्थ शती के लगभग कैसे विकसित हुई, भारतीय इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण है। इसके अन्वेषण के लिए दो प्रमुख सूत्र हैं- पुराणों के भुवनकोश का विश्लेषण और भरत-क्षेत्र से भारतवर्ष में परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन।

पुराणों में भारत नाम के सम्बन्ध में तीन मान्यताएँ हैं। प्रथम, यह कि ऋषभ के पुत्र भरत से यह देश भारत कहलाया; दूसरे, दौष्यन्ति भरत के कारण भारत को यह अभिधान मिला; तीसरा, मनु को प्रजाभरण के कारण भरत नाम दिया गया और मानवीय-सन्तति के प्रसार क्षेत्र को भारत नाम दिया गया। तीसरी मान्यता विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं किन्तु प्रथम दो का विश्लेषण आवश्यक है।

ऋषभ-पुत्र भरत : भारत

विष्णुपुराण के अनुसार प्रियव्रत के पौत्र और जम्बूद्वीप के अधीश्वर आग्नीध्र के पुत्र नाभि के समय इस देश का नाम ''हिमवर्ष'' अथवा ''हैमवत वर्ष'' था, किन्तु नाभि के पौत्र और ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर इसका अभिधान भारत पड़ा। यह परम्परा अनेक पुराणों में मिलती है। भागवत (७.५.३) का कथन है कि इस देश का नाम पहले अजनाभ था; ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर इसको भारत कहने लगे- ''अजनाभ नामैतद्वर्षं भारतमिति यत आरभ्य

व्यपदिशन्ति।'' इसका समर्थन मार्कण्डेय और वायुपुराण भी करते हैं। जैन परम्परा में इस मान्यता की स्वीकृति है। आदितीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र और शिष्य भरत के कारण यह देश भारत कहलाया । सभी पुराण - विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड, भागवत, मार्कण्डेय, गरुण आदि ऋषभपुत्र भरत के नाम को ही भारत-अभिधान का जनक मानते हैं। स्पष्ट अनुमान है कि चतुर्थ शती के क़रीब जो भुवनकोश संकलित हुआ उसमें यह मान्यता सन्निविष्ट रही होगी, तभी इन विभिन्न पुराणों में इसका उल्लेख है। यही प्रधान पौराणिक मान्यता है।

दौष्यन्ति भरत : भारत

दूसरी परम्परा वायुपुराण (२.३७.१३०) में मिलती है जिसमें दुष्यन्त और शकुन्तला पुत्र भरत को भारतवर्ष के नामकरण का श्रेय दिया गया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि वायुपुराण के भुवनकोश के सन्दर्भ में तो ऋषभपुत्र भरत की मान्यता का ही उल्लेख करता है। स्पष्ट है कि दौष्यन्ति भरत की मान्यता की परम्परा पुराणों के विकास की प्रक्रिया में अवान्तरकाल में जुड़ी। यह मान्यता प्रमुख पौराणिक परम्परा से भिन्न थी। वायुपुराण (२.३७.१३०) में इसका समायोजन हुआ।

पुराणों के भुवनकोश के संकलन से पूर्व ऋषभपुत्र भरत और भारत की परम्परा कब से प्रवहमान रही इसका स्पष्ट साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। इस परम्परा से वैदिक और बौद्ध साहित्य अनभिज्ञ प्रतीत होते हैं। इनमें भारत शब्द का अर्थ उस भरत-वंश की सन्तति है जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में है तथा जिनका कीर्तन भारत-महाभारत में हुआ। इसलिए डॉ. हेमचन्द्र राय चौधरी का यह मत भी विचारणीय है कि इस देश का नाम वेदों और महाभारत में संकीर्तित भरत जन के नाम पर पड़ा।

भरत-जन,भारत व भारती

वैदिक साहित्य में भरत-जन का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। उनके नाम पर अग्नि का नाम भारत हुआ। भारती देवी उनसे सम्बद्ध थीं। ऋग्वेद के ऋषि देवश्रवा और देवरात भारत थे। ऋग्वेद (३.५३.१२) में भारत जनों का उल्लेख मिलता है-

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम।

इस भारत जन की स्थिति उत्तर वैदिककाल में भी मिलती है। तैत्तिरीय संहिता (१८.१०.२०) में भरत-जन अपने राजा को जानराज्यपद पर अभिषिक्त करते थे।

''महते क्षत्राय, महते अधिपत्याय महते जान-राज्यायैष वो भरतानां राजा''

उत्तर वैदिककाल में भरत-जन में अनेक प्रसिद्ध राजा हुए। उन्होंने भरत-क्षेत्र का विस्तार किया।

ब्राह्मण साहित्य में भरत-वंश के प्रतापी चक्रवर्ती सम्राटों के विषय में सूचनाएँ हैं। शतपथ ब्राह्मण में (१३.५.४.२१) दौष्यन्ति भरत के लिए कहा गया कि उसने यज्ञ किया और इस कार्य से उसने उस व्यष्टि को प्राप्त किया जो भरत-वंश की है।

''तेन ह तेन भरतो दौष्यन्तिरीजे तेनेष्ट्वामां व्यष्टिम्व्यानशे येऽयम्भरतानाम्।''
इसके पश्चात् शतपथ ब्राह्मण में कुछ गाथाओं का उद्धरण है–
अष्टाविंशतिम्भरतो दौष्यन्तिर्यमुनामनु।
गंगायां वृत्रघ्ने बध्नात्पंचाशतं हयान्।।
शकुन्तलानामित्यप्सरा भरतं दधे।
पुरः सहस्रानिन्द्रायाश्वमेध्यान्य
आहारद्विजित्य पृथ्वीं सर्वामिति ।। १३ ।।
महद्भ्यः भरतस्य न पूर्व्वेनापरे जनः।
दिवम्मर्त्य इव बाहुभ्यान्नोदापुः पंचमानवाः ।। १४।।

''दौष्यन्ति भरत ने वृत्रघ्न इन्द्र के लिए अट्ठाइस घोड़े यमुना तट पर और पचपन घोड़े गंगातट पर बाँधे।''

''नाडपिति में अप्सरा शकुन्तला ने भरत को गर्भ में धारण किया। भरत ने सम्पूर्ण पृथ्वी को विजित करके इन्द्र के लिए सहस्र अश्वमेघ का यजन किया।''

''भरत के समान महत्त्व न तो पूर्वकाल के किसी व्यक्ति ने प्राप्त किया और न अवान्तर काल में। पंचजन उसके महत्त्व को वैसे ही नहीं प्राप्त कर सके जैसे मानव अपने हाथों से आकाश को नहीं छू पाता है।''

ऐसी गाथाएँ ऐतरेय ब्राह्मण (८.२३) में भी मिलती हैं।
हिरण्येन परीवृतान कृष्णान्शुक्लदतो मृगान्।
मण्डारे भरतोऽददाच्छतं बद्धानि सप्त च।।
भरतस्यैष दौष्यन्तेरग्निः साचीगुणे चितः।
यष्मिन् सहस्रं ब्राह्मण बद्धशो गा विभेजिरे।।
त्रायस्त्रिच्छतं राजाऽश्वान् बद्धवाऽयं मेध्यान्।
दौष्यन्ति रत्यगाद्रज्ञो मायां मायावत्तरः।।

''भरत ने मण्णार नामक स्थान में सुवर्ण अलंकारों से युक्त काले रंग के सफ़ेद दाँतों वाले हाथियों (मृगों) के एक सौ सात वृन्दों को दिया। साचीगुण नामक स्थान में दुष्यन्त के पुत्र भरत ने अग्नि-चयन किया जिसमें एक हज़ार ब्राह्मणों ने वृन्दों में गायें बाँट ली।

दुष्यन्त के अत्यन्त मायावी पुत्र राजा (भरत ने) यज्ञ के तैंतीस अश्वों को बाँधकर (अपने शत्रु) राजाओं की माया को अतिक्रान्त कर दिया।''

इस परम्परा का अनुगुंजन महाभारत (आदि पर्व, अध्याय ७४) में है। शकुन्तला और दुष्यन्त के आख्यान में सार्वभौम प्रतापवान् चक्रवर्ती राजा दौष्यन्ति भरत का वर्णन है। इस प्रसंग में कहा गया है कि–

भरताद् भारती-कीर्ति-र्येनेदं भारतं कुलम्
अपरे च ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुतः ।। २ ।।

''दौष्यन्ति भरत के कारण ही कीर्तिमय आख्यानों को भारत कहा गया, उन्हीं के नाम के आधार पर भारत-कुल

प्रख्यात है। इस वंश में पहले और बाद में जो हुए वे इन्हीं के नाम से भारत के अभिधान से विश्रुत हुए।''

वैदिक साहित्य के समष्टिगत अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रतापी भरत-जन की वैदिक काल में स्थिति थी। काल-क्रम में इस वंश के चक्रवर्ती राजा दौष्यन्ति भरत की उत्पत्ति हुई। भरत-वंश के कारण दौष्यन्ति को भरत कहा गया। महाभारत का साक्ष्य बताया है कि दौष्यन्ति भरत के कारण वंश का नाम भरत हुआ और वंशज भारत कहलाये।

इसी प्रक्रिया में, जिस प्रकार भारत-जन की उत्पत्ति दौष्यन्ति भरत से बतायी गयी उसी प्रकार भारतवर्ष किंवा भारत-क्षेत्र जो भारत जन से सम्बद्ध था, काल के प्रवाह में दौष्यन्ति भरत के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। यही परम्परा हमको वायुपुराण में मिलती है।

उत्तर-वैदिककाल में भरत-वंशियों का क्षेत्र हस्तिनापुर से काशी तक विस्तृत था। शतपथ ब्राह्मण (११.५.४.२१) में भरतवंशी काशी पर आक्रमण करते हैं और गंगा-यमुना के तट पर यज्ञ करते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण (८.४) में कुरु-पांचाल मध्यम दिशा में अभिषिक्त होते हैं।

इस प्रकार हस्तिनापुर से काशी तक का क्षेत्र भारत क्षेत्र दिखायी देता है। इसमें राजनीतिक एकता के साथ भाषागत, जन-सम्बद्ध तथा अग्निचर्या की एकात्मता थी जिसने भारत की अवधारणा का सूत्रपात किया। भरत-जन अथवा भारत का वैदिक काल में सर्वाधिक महत्त्व है; भारतीय राष्ट्र के व्यक्तित्त्व के निर्माण में तथा भारतीय संस्कृति के मौलिक आधार में इसका योगदान अत्यन्त विशिष्ट है। दाशराज्ञ युद्ध के ऐतिहासिक परिपार्श्व के विवेचन में भरतवंशीय सम्राटों के सन्दर्भों को तो स्पष्ट किया ही गया, कुरु-पांचालों के प्रसंग में भी इनके योग का भी आकलन किया गया किन्तु खेद है कि राष्ट्रीय व्यक्तित्त्व के उन्मेष में अथवा राष्ट्रीय संस्कृति की एक विशिष्ट धारा के उद्‌भव के सम्बन्ध में भारत-जन पर्याप्त समीक्षा के विषय नहीं बन सके। अतः भारत-जन और भारत व्यष्टि के वैदिक साक्ष्य का अनुशीलन किंचित् विस्तार से अपेक्षित है।

जन-व्यवस्था ने सर्वप्रथम मानवों में वर्ग-बद्धता को प्रारम्भ किया। जन-व्यवस्था भारोपीय है। यूनानी 'गेनोस, लातीनी 'जीन्स', पारसीक 'जन', आवेस्तिक 'जन्तु' और भारतीय 'जन' सगोत्र शब्द हैं। 'जन' का प्राथमिक अर्थ मानव-समुदाय है। यूनानी काव्यों में उल्लिखित 'एन्थ्रोपिनॉन गेनॉस', सिसरो की रचना (देफिनिक्स ५.२३.२४) में उसका समानान्तर 'जीन्स ह्यूमेना', दारा यवौष के नक्शे रुस्तम 'अ' (व १०-११) में दह्यूनां वीस्पजनानां और ऋग्वेद (१-४५-१) में 'मनुजातं जनं समानार्थक हैं और सम्बद्ध मनुष्यों के समूह का द्योतन करते हैं। कालान्तर में गेनोस और जीन्स में अन्तर्विभाजन हुआ। इन विभिन्न परम्पराओं में कतिपय समानताएँ हैं जो अनुमानतः भारोपीय जन-व्यवस्थाओं की विशेषताएँ रही होंगी। अवान्तर काल में यूनानी, लातीनी और भारतीय जनों में विविधता प्राप्त होती है जो पश्चाद्वर्ती विकास का परिणाम प्रतीत होता है।

भरत-जन में भी अनेक प्रारम्भिक विशेषताएँ अक्षुण्ण प्रतीत होती हैं। मानव-समाज के वर्गीकरण की प्रक्रिया में जिस प्रकार जीन्स, क्यूरिया और ट्राइबस (रोम) अथवा गेनोस, फ्रात्रिया और फूले (यूनानी) अथवा जन्तु, वीस्प और दख्यु (पारसीक) के त्रिविध विभाजन के अंग जन से सम्बद्ध संस्थाएँ बन गयीं थीं, वैसा जन के साथ नहीं हुआ था। 'विश'

और 'ग्राम' जन की प्रकृति का कुछ परिवर्तन अवश्य कर रहे थे।

भारत-जन की अन्य विशेषताओं का वृतान्त देने के पूर्व आदिमकालीन-जन की भरत-जन में सुरक्षित दो विशेषताओं का और उल्लेख कर दिया जाये। प्रथम है जन के अन्तर्गत व्यक्ति के विभिन्न नामों की परम्परा, और दूसरी जन की अपनी विशिष्ट संस्कृति। लैटिन भाषा के 'जींस' के समान भारतीय जनों के व्यक्तियों के भी त्रिविध नाम हुआ करते थे। ईसा की प्रथम शती में क्विष्टिलियेनस का कथन है कि प्रत्येक रोमन नागरिक के तीन नाम होते थे; जन-नाम (नोमेन जेण्टाइल), जो एक जींस का दूसरे जींस से विभेद करता था, दूसरा सहनाम (काग्नोमेन) जो जन के अन्तर्गत एक वंश का दूसरे वंश से अन्तर प्रदर्शित करता था और तीसरा प्रांनाम (प्रेइ-नोमेन) जो व्यक्तिगत नाम था और वंश एक व्यक्ति की दूसरे से विभिन्नता व्यक्त करता था । जैसे क्विष्टस तूलियस सिसरो अभिधान में तीन शब्द हैं, इनमें तूलियस तो नोमेन जेण्टाइल है, सिसरो काग्नोमेन और क्विण्टस व्यक्तिनाम।

भरत-जन में भी त्रिविध नामों की परम्परा उपलब्ध होती है जैसे

शतानीकः समन्तासुमेध्य सात्राजितो हयम्।
आदत्त यज्ञंकाशीनाम्भरतः सत्वतामिति ।।

श.ब्रा. ११-४-२१

'शतानीक सात्राजित भरत' में शतानीक व्यक्तिगत नाम, सात्राजित पैतृक नाम (सत्राजित का पुत्र) और भरत जन का नाम था। प्रायः लघु सन्दर्भों में जन-नाम का उल्लेख न होकर पैतृक और व्यक्तिगत नाम का सन्दर्भ रहता था। इस सन्दर्भ में 'जन' का मूल अर्थ विचारणीय है।

जन नाम प्रजनन से सम्बद्ध है। भारोपीय गेनू धातु-संस्कृत जनू जनने से व्युत्पन्न है; जन, प्रजा, (संस्कृत) फ्रजेन्ति (अवेस्ता) प्रो जेनीस (लातीनी) का समुदाय जन, जेन्ति, जीस है। जन नाम का आधार जन के प्रवर्तक जनक का नाम था। भरत-जन अथवा भारत-जन का प्रवर्तक भरत था। भरत की अनेक व्युत्पत्तियाँ दी गयीं। 'देवेभ्यो हव्यम्भरति तस्मादग्निर्भरतः' (श.ब्र. १-४-२-२)।'' ''देवों के लिए हवि धारण करने के कारण अग्नि ही भरत है।'' प्रजा प्राणो भूत्वा विभर्ति तस्मादाहभारतेति (श.ब्रा. १-४-२-२)। ''प्राण बन कर प्रजा को धारण करता है अतः भारत है।''

यज्ञद्वारेण सम्भरति (स्कन्द स्वामी), पुष्यन्ते दक्षिणाभिः (निघण्टु ३.१८ पर देवराजयज्वा)।

भरत शब्द की निरुक्ति

'भरत' शब्द के अनेक अर्थ भी किये गये। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण ने अग्नि अथवा वायु को भरत की संज्ञा दी। निरुक्तकार (८.१३) भरतः आदित्यः अर्थ करते हैं। निघण्टुकार भारत का अर्थ ऋत्विक् करते हैं। प्राचीन भाष्यकार तथा लुड्विग ओल्डेनवर्ग आदि (ऋ. ५-५४-१४) इसका अर्थ योद्धा करते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत नाम इतना प्राचीन था कि वह अनेक निर्वचन पद्धतियों के स्तरों से आवृत्त हो गया था; ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका स्पष्ट अर्थ नहीं दिया जा सका।

इतना तो स्पष्ट है कि यह शब्द संस्कृत भू-भरणे धातु से व्युत्पन्न है। बरो (संस्कृत लैंग्वेज पृ. १६७) का यह कथन भी उचित प्रतीत होता है कि भृ धातु में 'क्त' प्रत्यय से पूर्वकालिक कृदन्त में दो रूपों का निर्माण होता है भृत और भरत। भृत रूप प्राचीन काल से छान्दस्-लौकिक संस्कृत भाषा में व्यवहृत रहा किन्तु 'भरत' रूप अत्यन्त प्राचीन है और अवान्तरकाल में इसका प्रयोग नहीं मिलता है।

भारोपीय भेर/रो धातु के भृ (संस्कृत), फेरो (लातीनी) फेरी (यूनानी) बर (प्राचीन पारसीक) रूप मिलते हैं। एमिल बांवेनिस्त ने (इण्डो-यूरोपियन लेंग्वेजेज पृ. १२-१३) इस धातु की विभिन्न अर्थ-परम्पराओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्राचीन पारसीक परम्परा में बर का अर्थ 'उठाना, आदर करना' है तथा संज्ञा के रूप में 'बार' का अर्थ सवारी करना - अस बार - अश्ववाह होता है। 'बर' का पूर्वकालिक कृदन्त 'वर्त' का अर्थ 'आदृत' है। दारायवौष के बहिस्तून स्तम्भ अभिलेख प्रथम पार्श्व की २१-२२ वीं पंक्ति है--

'इमा दह्यव मर्तिय ह्य आगरिय आह अवं उबर्तम्'

'इन देशों में (दह्याव) जो मनुष्य (मर्तिय) अग्रिय (राजभक्त) है, वह विशेष आदृत होगा।' उबर्तम् (विशेष आदृत) का संस्कृत रूप सुभृत है जो ऋग्वेद में बहुधा प्रयुक्त है। उदाहरणार्थ वृहस्पतिं यः सुभृतं विभर्ति वल्गूयते वन्दये पूर्वभाजम (ऋ. ४.५०.७) जो वृहस्पति को विशेष आदृत रूप से धारण करता है, स्तुति करता है, नमस्कार करता है, और सर्वश्रेष्ठ मानता है। यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि भरत जन की यज्ञाधिष्ठात्री 'होत्रा भारती' के प्रसंग में 'सुभृत' का ऐसा ही प्रयोग मिलता है-

त्वमग्ने अदितिर्देव त्वंदाशुये होत्रा भारती वर्धसे गिरा । ऋ. २.१.११
त्वमग्ने सुभृत उत्तं वयस्तव स्पाहे वर्ण आ संदशि श्रियः । ऋ. २.१.११

हे अग्नि तुम विशेष आदरणीय हो, उत्तम हो, हे अग्निदेव, तुम अदिति हो; तुम वाणी से होत्रा भारती का वर्धन करते हो; हे अग्नि, तुम अत्यन्त आदरणीय, उत्तम हो; तुम्हारे स्पृहणीय वर्ण में सुदर्शन श्री है।''

अवेस्ता में अइबी-बइरिश्तॅम् (यश्न ५.१.१ संस्कृत 'अभिभरिष्ठ') में बइरिश्तॅम् का अर्थ बार्थोलोमी ने 'सर्वश्रेष्ठ' किया है। भरत का सदृश व्याकरण-रूप और सदृश-अर्थ लैटिन के फेरो धातु के fors, forte, fortulious, fortuna में उपलब्ध होता है। 'फोर्स फॉरचूना' रोम की प्रसिद्ध भाग्यदेवी थी। रोमन सम्राट सर्वियस तूलियन ने टाइवर नदी के तट पर उसके मन्दिर का निर्माण कराया था। इन शब्दों में भी फेरो (सं.भृ) के साथ 'क्त' प्रत्यय लगा है अतः forte और fortuna भी भरत के सगोत्र शब्द हैं।

अतः भृत के दूसरे रूप भरत का अर्थ उच्च, आदरणीय प्रतीत होता है। यह एक व्यक्तिगत नाम था जिसके आधार पर जन की संज्ञा भरत अथवा भारत हुई। भरत की स्थिति भारतीय इतिहास के पुरातनतम काल में हुई होगी; इनका उल्लेख मनु के साथ ही हुआ। इनको दैवी नर कहा गया-

आसद्या बर्हि भरतस्यसूनकः पोत्रादा सोमं पिबता दिवोनरः। ऋग्वेद २.३६.२

'दैवीनर भरत की सन्तति बर्हि पर बैठ कर पुरोहित के इस यज्ञ में सोम-पान करे'

इस पुरातनता का प्रमाण यह भी है कि वैदिक वाङ्मय में मनु के अतिरिक्त केवल भरत को ही प्रजापति पद की प्रतिष्ठा मिली-

''प्रजापतिर्वै भरतः स हीदं सर्व बिभर्ति बियत्सूर्यो न रोचते बृहद्भा इति''
श. ब्रा. ६.५.१.६

''भरत निस्सन्देह प्रजापति हैं। वह सबका पोषण करता है। सूर्य के समान उनका प्रकाश ज्योतिष्मान् है।''

प्रजापतित्त्व के सन्दर्भ में ही भरत को प्रजा का प्राण कहा गया-

''इमा प्रजाः प्राणो भूत्वा विभर्ति तस्माद्वेवाह भारत इति''
श.ब्रा. १.४.२.२

भरत की आदिम प्राचीनता का समर्थन पुनः निगद-वचन अथवा प्रवर-मन्त्रों से होता है। सामधेनी मन्त्रों से यज्ञ की अग्नि का प्रज्ज्वलन होता है, तत्पश्चात् अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह होता (याजक) के पूर्वजों पर कृपा करे। इस प्रवर-मन्त्र का प्रारम्भ भरत के आह्वान से होता है।

'अग्ने महा असि ब्राह्मण भारतेति।
ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारत इत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भरतोऽग्निरित्याहु'
(१.४.२.२)

'हे अग्नि तुम महान् हो। हे ब्राह्मण, हे भारत'-क्योंकि अग्नि निश्चय ही ब्रह्म है इसलिए कहा गया 'हे ब्राह्मण'। ऋषि अग्नि का सम्बोधन करता है, हे भरत, क्योंकि वह अग्नि देवों के लिए हवि का आहरण करता है। इतिहास ऋषि-गण कहते हैं कि अग्नि भारत है।

इसके पश्चात् आर्षेयं प्रवृणीतेपूर्वज ऋषियों का होता वरण करता है। विभिन्न वंशों के ऋषियों के वरण करने के पूर्व भारत अथवा भरत अग्नि का वरण भरत के ऐसे पूर्वतम् पूर्वज होने का स्पष्ट साक्ष्य है जिसके पश्चात् विविध आर्षेय परम्पराओं का प्रवर्तन हुआ।

भरतवंशीय अग्नि-चर्या की परम्परा

यहाँ प्रसंगतः केवल भरत-वंशी अग्निचर्या की धारा का संक्षेप में विवरण है। शतपथ ब्राह्मण अनेक स्थलों पर अग्नि-चर्या के सम्बन्ध में मनु एवं भरत दो ही जन-प्रर्वतकों का उल्लेख करता है- **स एनानुन विद्वाननुष्ठया यक्षदित्याह। मनुष्वद्भरतवदिति (१.५.१.६.-७)।**

''अग्नि ने कहा कि उचित विधि से (देवों की) वह उपासना करे जो (उपासना विधि का) ज्ञाता है। वह उसी प्रकार करे जैसे मनु ने की थी, जैसे भरत ने की थी।''

पुनः कथन है-

मनुर्हवा अग्रे यज्ञेनेजे तदनुकृत्येमाः प्रजा यजन्ते तस्मादाह मनुष्वादिति मनोर्यज्ञ इत्युवा आहुस्तस्माद्वेवाह मनुष्यदिति। भरतवदिति एष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद्भरतः। (श.ब्रा.१.५.१.८)

'मनु ने ही प्राचीन काल में यज्ञ के माध्यम से उपासना की, उसका ही अनुकरण कर उनकी सन्तति यज्ञ करती है। इसलिए कहा जाता है 'मनु के समान' अथवा 'मनु के यज्ञ में' अथवा 'मनु के समान' 'भरत के समान', क्योंकि भरत ही देवों को हव्य देता है। अतः भरत ही अग्नि है, इसलिए वह भारत है।'' ये साक्ष्य इस तथ्य की स्पष्ट सम्भावना व्यक्त करते हैं कि भारतीय आर्यों के आदिम काल में भरत नामक व्यक्ति था जिसके आधार पर भरत-जन अथवा भारत का अभिधान प्रारम्भ होता है। जो प्रजापति के रूप से ख्यात हुआ जो प्रजा का प्राण था। इसके नाम पर भरत-जन की व्युत्पत्ति हुई होगी जो आर्षेय परम्परा के प्रवर्तन के पूर्व विद्यमान रहा।

प्राचीनता के स्तरों से आच्छादित होने के कारण ही पार्जीटर ने (ऐंशियेण्ट हिस्टॉरिकल ट्रेडीशन्स पृ. १३१) भारतवर्ष नाम के प्रदाता को मिथकीय भरत कहा।

किन्तु वैदिक साहित्य में भरत-जन के विविध उल्लेख, भारती देवी के अस्तित्त्व का साक्ष्य, भारती वाक्, भारत अग्नि के सन्दर्भों के प्रमाण इसकी पुरातन ऐतिहासिकता सम्भावित करते हैं।

इस भरत-जन की कतिपय विशेषताएँ यत्र-तत्र विकीर्ण हैं। सर्वप्रथम भारत के नाम पर अग्नि की आख्या भारत वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है। भरत का अग्नि-चर्या से विशेष सम्बन्ध था। एक प्रसिद्ध ऋचा (ऋ.५.११.१) है-

जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः सुविताय नव्यसे। घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः।

''जन-कल्याण के लिए सुदक्ष अग्नि उत्पन्न हुई। घृत-मुख नभस्पर्शी महान् ज्योतिष्मती अग्नि भरतवंशियों के लिए विशेष दीप्ति से युक्त है।

भरत-वंश की अग्नि भारत नाम से विख्यात थी-
आग्निरगामि भारतो वृत्रहा पुरुचेतनः।
दिवोवासस्य सत्पत्ति।। ६.१६.६
उदग्रे भारत द्युमदजस्रेण दविद्युतत् । ६.१६.४५
तस्मा अग्निर्भारतः। ४.२५.४
दैव्य अग्निः (श.ब्र. ६.८.१.१४)

भरतवंशियों की यह अग्नि विशिष्ट थी। शतपथ ब्राह्मण में (१.४.२.१.) इसको 'ब्राह्मण भारत' अग्नि का अभिधान दिया गया-

ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणेति भारतेति।

देवश्रवा और देववात नामक दो भारत-ऋषियों का उल्लेख ऋग्वेद में (३.२३.२/३) मिलता है जो क्रमशः ३.२३ और १०.२३ के ऋषि हैं। देववात ने आपया, दृष्द्वती और सरस्वती नदी के तटों पर अग्नि-चर्या की थी (३.२३. २-३)। ऐसा प्रतीत होता है कि भरत-जन की भारत अग्नि के अतिरिक्त जन के अन्तर्गत विशिष्ट वंशों की भी अग्नि

हुआ करती थी। ऋग्वेद (३.२३.३) में देववात अग्नि का उल्लेख है **'अग्नि स्तुहि दैववातम्'।**

राजसूय यज्ञ के अन्तर्गत रथविमोचनीय आहुति के सन्दर्भ में भरत वंशियों की आसन्दी की चर्चा है- तस्मा आसन्दीमाहरन्ति। सैषा खादिरी। वितृष्णा भवति येयं वघ्न्यर्व्यूता भरतानाम् (श.ब्रा.५.४.४.१) ''इसलिये वे आसन्दी लाते हैं। यह खदिर वृक्ष के लकड़ी की बनती थी और क्षिद्र युक्त होती थी तथा भरतों की (आसन्दियों के समान) चमड़े की बद्धियों से बाँधी जाती है (रस्सी से नहीं)।''

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण (२.२५) में सोम-पान के सम्बन्ध में आख्यायिका आती है। सोम-पान पहले कौन करे इसको निश्चित करने के लिए इन्द्र, मित्रावरुण, अश्विनद्वय और वायु बाजी लगाकर दौड़े। इन्द्र यह सोचकर कि मैं वायु से भी पहले पहुँच जाँऊ, इस तेजी से दौड़े कि वायु के पास ही गिर गये। वायु और इन्द्र दोनों जीत गये किन्तु इन्द्र गिर पड़े थे। अतः एन्द्रबायव-ग्रह (इन्द्र-वायु का सोमपान घट) में केवल चतुर्थांश इन्द्र को मिला। आख्यायिका में निष्कर्ष के रूप से कहा गया है कि-

तस्माद्वाप्येतर्हि भरताः सत्वतां विर्ति प्रयन्ति तुरीये हैव संग्रहीतारो वदन्ते अमुनैवानु कारोन यदनसारथिरेव भूत्वोद जयत्। २.२५

''इसलिए भरतवंशियों ने जब सात्वतों के धन का अपहरण किया था तो सारथियों ने इसी कृत्य के आधार पर चतुर्थांश माँगा।''

भारती-भाषा, ब्रह्मी एवं आर्य-वाक्

भरतवंशीय यज्ञ- सम्पादन का मूर्तिकरण ही भारती देवी के रूप में हो गया। प्रारम्भ में यह अभिधान 'होत्रा भारती' के रूप में उल्लिखित हुआ-

शुचिर्देवेष्वर्पिता होत्रा मरुत्सु भारती (१.१४२.६)
होत्रा भारती वर्ध गिरा। (२.१.११)
अवन्त्वस्मान्होत्रा भारती दक्षिणाभिः। (३.६२.३)

होत्रा भारती के अतिरिक्त भारती का भी वैदिक वाङ्मय में उल्लेख मिलता है। यथार्थतः होत्रा भारती का तो पूर्व वैदिक काल में ही तिरोधान हो जाता है, किन्तु भारतीय देवी का वितान सहस्राब्दियों तक फैला रहा। यह भारती भी भारत जन से सम्बद्ध थी। यह भरत-जन की भाषा की अधिष्ठात्री थी।

साक्ष्य से यह अनुमान लगता है कि पूर्ववैदिक काल में त्रिविध वैदिक उप-भाषाएँ थीं- ऐल, सारस्वत और भारती। ऐल और भारत तो ऐल और एअल भरत-जन की और सारस्वत सरस्वती प्रदेश की उपभाषा प्रतीत होती है। इला, सरस्वती और भारतीय को अनेकशः वाग्देवियों के रूप से आह्वान किया गया -

आ भारती भारतीभिः सजोषा इला देवैर्मनुष्येभिरग्नि सरस्वती सारस्वतेभिर्वाक् तिस्रो देवि बर्हिरेदं सदन्तु।। -ऋ. ३.४.८; ७-२८

''भारतीय समुदाय के साथ भारती (वाक्) आवे, देवों और मनुष्यों के साथ इला आवे और अग्नि आवे; सारस्वतों के साथ सरस्वती (माध्यमिका वाक्) आवे। तीनों वाग्देवियाँ आवैं और कुश के ऊपर आसन ग्रहण करें।''

भारती के साथ वाक् का सम्बन्ध अनेक स्थलों पर व्यक्त किया गया। ''देव्या होतारा प्रथमा'' ''सुदाचाभिमाना'' (१०.११०.७) के पश्चात् ' आनो यज्ञो भारती तूयम्' (१०.११०.८) भारती का आह्वान किया गया। भाष्यकार भारती को भरतस्य आदित्यस्य सम्बन्धिनी द्युस्थाना वाक् (१.४२.६ पर सायण भाष्य) को व्याख्यात करते हैं। तीन 'ब्राह्मी' वाक् के ऋग्वेद में अनेक उल्लेख हैं।

तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः।
हरिरेति कनिक्रदत ।। ४
अभि ब्रह्मीरनूषत मह्वि तस्या मातरः ।
मर्मृज्यन्ते दिवः शिशुम् ।। ५ ऋ. ९.३४
प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः । ऋ ९.५०.२

ऊपर 'ब्रह्मी' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस पर अन्यत्र विवेचन किया गया है और भाष्यकारों एवं आधुनिक भाषा शास्त्रियों के विभिन्न मतों के विश्लेषण के पश्चात् यह निष्कर्ष अवश्यम्भावी निकला कि ब्रह्मी और इसका पश्चाद्वर्तीरूप ब्राह्मी का अर्थ वैदिक भाषा ही है।

महाभारत के वन पर्व में ययाति का आख्यान है। ययाति-आख्यान से हमारे निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है। यहाँ देवयानी व ययाति का संवाद ध्यान देने योग्य है। देवयानी प्रश्न करती है-'' आपका रूप और वेष राजा की तरह है और ब्राह्मी भाषा बोलते हैं। कृपया हमें सच-सच बतायें कि आप कौन हैं, कहाँ से आये हैं तथा किसके पुत्र हैं?'' ययाति का उत्तर था - ''राजा हूँ, राज-पुत्र हूँ और ययाति नाम से प्रसिद्ध हूँ-

राजाहं राजपुत्रश्च ययातिरिति विश्रुतः।
ब्रह्मचर्येषा वेदो मे कृत्स्न श्रुतिपथ गतः ।।

महाभारत के इस आख्यान में 'ब्राह्मी वाक्' की चर्चा है।

अमरकोष (६.१.१) में भारती को ही ब्राह्मी भाषा कहा गया- ब्राह्मी तु भारती भाषा। अवान्तरकालीन परम्पराओं में 'ब्रह्मी' को भरत से सम्बद्ध किया गया। जैन ग्रन्थ आदि पुराण तथा कल्पसूत्र के भाष्यकार ऋषभ की पुत्री तथा भरत की ब्राह्मी नाम की बहन से ब्राह्मी भाषा एवं अक्षर-लेखन-प्रक्रिया का सम्बन्ध जोड़ते हैं।

भरत को आदित्य (निरुक्ति ८.१३) और भारतीय को सौरी, सूर्यदेश की भाषा कहा गया। इस प्रसंग में बृहद्देवता का ससर्परी आख्यान मनोरंजक है। 'ससर्परी के सन्दर्भ ऋग्वेद (३.५३/१५-१६) में भी हैं, तथा ससर्परी वाक् की कथा के सूत्र कौषीतकी (४.८) और ताण्ड्य ब्राह्मण (४.३.७) में मिलते हैं किन्तु स्पष्ट आख्यान बृहद्देवता (४/११२-११४) में है।

इस गाथा के अनुसार भरत-वंशीय समुदाय की सन्तति सौदास ने एक महायज्ञ किया। इस यज्ञ में वसिष्ठ-पुत्र शक्ति ने अपनी मन्त्र-शक्ति से गाथि-पुत्र विश्वामित्र को संज्ञाहीन कर दिया। विश्वामित्र की चेतना ससर्परी वाक् के माध्यम से आयी। जमदग्नियों ने इस कार्य के लिए ब्राह्मी अथवा सौरी नाम की ससर्परी वाक् का आह्वान किया फलस्वरूप वह

सूर्य-देश से भूमण्डल पर प्रकट हुई और उसने विश्वामित्र की चेतन-हीनता दूर कर दी।

सौदासस्य महायज्ञे शक्तिना गाथिसूनवे।
निगृहीतं बलाच्चैव सोऽवसीद द्विचेतनः ।।
तस्मै ब्राह्मीं तु सौरीं वा नाम्ना वाचं ससर्परीम्
सूर्यक्षयादिहाहृत्य ददुस्ते जमदग्नयः
कुशिकानां ततः सा वागमितं तां पाहनत्।।

अतः निष्कर्ष है कि भरत-जन की एक उपभाषा भारती थी; अन्ततः भारती का अर्थ-विकास हुआ और वैदिक भाषा अथवा ब्राह्मी का ही नाम कालप्रवाह में भारती पड़ गया।

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है विशेषतः भाषा-वैज्ञानिकों और भारतीय पुरावृत्त के प्राचीनतम काल में भाषा-सम्बद्ध एकात्मता के प्रसार में रुचि रखने वाले इतिहासकारों के लिए कि यह ब्राह्मी-भारती भाषा ही अन्ततः ' आर्यभाषा' बन गयी। इस सम्बन्ध में प्रमाण ऐतरेय आरण्यक में उपलब्ध है। उपर्युक्त ग्रन्थ में भाषा सम्बन्धी दो उल्लेख हैं प्रथमतः प्रथम आरण्यक के पंचम अध्याय में-

द्विवीव द्यामधि नः श्रोमतं द्या इति (ऋ. ७.२४.५)
यत्र ह क्व च ब्रह्मण्या वागुद्यते तद्हास्य कीर्तिर्भवति। १.५.२

दिव्यलोक में स्थित ज्योति हमें यश दे-जहाँ भी यह वैदिक (ब्राह्मण) वाक् उच्चरित होती है, वह उसकी (पाठकर्ता की) कीर्ति होती है।''

' ब्राह्मण्या' का अर्थ निश्चय ही ब्राह्मी है और सायण ने इसका अर्थ 'वेद सम्बन्धी वाक्य' किया है।

एक समानान्तर सन्दर्भ तृतीय आरण्यक में है- यहाँ दैवी वीणा को ब्राह्मी वाक् का प्रतीक मानकर कहा गया।

अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्।...ऋग्वेदस्य रूपं स्पर्शा यजुर्वेदस्योष्माणः सामवेदस्य स्वराः।
....सयो हैतां दैवीं वीणां वेद श्रुतवदनो भवित भूमि प्रास्य कीर्तिर्भवति यत्र क्वचार्या वाचो भाषन्ते। ३.२.५

''अब यह सम्पूर्ण भाषा का उपनिषद् है।....ऋग्वेद रूप है, यजुर्वेद ऊष्मा (श,ष स और ह) है, सामवेद स्वर है तो जहाँ भी आर्यभाषा बोली जाती है वहाँ उसकी कीर्ति होती है।''

यही प्रसंग शांखायन आरण्यक (८-६) में है।

स य एवमेतां दैवी वीणां वेद श्रुतवदनतमो भवति भूमि प्रास्य कीर्तिर्भवति।
शुश्रूषन्ते हास्य पर्षत्यु भाष्यमाणस्येदमस्तु यदयं ईहते यत्रार्या वाग् वदन्ति विदुरेनमत्र।

प्रसंग तथा कथन की समानान्तरता- 'ब्रह्मण्या वागुद्यते तद् हास्य कीर्तिर्भवति (ऐ.आ. प्रथम अध्याय) और कीर्तिर्भवति क्व च आर्या भाषा भाषान्ते (ऐ.आ. तृतीय अध्याय) और शुश्रूषन्ते हास्य पर्यत्सु..... तत्र आर्या वाग् वदन्ति' निश्चय ही ब्राह्मण्य ब्राह्मी तथा आर्या-भाषा आर्या वाग् की एकात्मता का शक्तिपूर्ण प्रमाण है।

म्लेच्छ भाषा

उपसंहार के रूप में आर्यभाषा तथा म्लेच्छ-भाषा के द्वन्द्व के सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। भारतेरानी स्कन्ध आर्यों के नाम से अभिहित था। आर्य शब्द के ईरानी रूप अवेस्ता और हखामनीष अभिलेखों में उपलब्ध होते हैं। आर्य शब्द का अर्थ-विकास अन्यत्र विवेचित किया गया है। अर-अरि-अर्य-आर्य के अर्थों के विभिन्न चरणों का क्रम स्थल संकोच के कारण यहाँ विस्तार से स्थिर नहीं किया जा सकता है। सारांश में हल-बोधक अर से व्युत्पन्न अरि एवं अर्य शब्द स्वामित्व को अभिहित करते हैं। बाद में आर्य शब्द उदात्त-गुण-सम्पन्नता का अर्थ द्योतन करने लगा। ब्राह्मी-वाक् अथवा भारतीय भाषा भी आर्यभाषा का द्योतन करती थी और इस रूप में म्लेच्छ-भाषा से पृथक्कृत थी। म्लेच्छों की भाषा का सर्वप्रथम उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है -

तां देवाः। असुरेभ्योऽन्तरायंस्तां स्वीकृत्याग्नावेव परिगृह्य सर्व्वहुतमर्जहुवुः।
तेऽसुरा आत्तवचसो हेलवो हेलवो इति वदन्तः पराबभूवुः। ३-२-१-२३

''देवों ने उन असुरों से उसे (वाक्) अलग कर दिया; तथा (वाक् को) अपनी बनाकर (स्वीकृत्य) अग्नि से घेर कर सर्वहुत का होम किया ..... वाक् से च्युत होकर 'हेलव' कहते हुए असुर हार गये।''

तत्रैवमपि वाचं उपजिज्ञास्यां सम्लेच्छस्तम्पन्न ब्राह्मणो म्लेच्छेदसूर्या हैषा वाक् ३-२-१-२४

इस प्रकार की उपजिज्ञासा भाषा में वे बोले। इसलिए ब्राह्मणों को म्लेच्छ के समान भाषण नहीं करना चाहिए। यह (अशुद्ध) वाग् आसुरी है।

यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि देवों ने असुरों से वाक् को स्वीकार किया, किन्तु असुरों की उपजिज्ञासा (सन्दिग्ध) वाक्य को परिष्कृत कर ब्रह्मी के रूप में परिणत किया। 'हेलवः हेलवः सम्भवतः हेऽरयः हेऽरयः का ही सम्भावित रूप है। अतः इस आख्यायिका से म्लेच्छ भाषा वैदिक ब्रह्मी भाषा से भिन्न किन्तु आर्यस्कन्ध की ही भाषा प्रतीत होती है।

लीमेंस ने अपनी पुस्तक ('फारेन ट्रेट' पृ. १६४) में सुमेरी और अक्कादी अभिलेखों में उल्लिखित मेलुह्हा से म्लेच्छ शब्द के समीकरण की सम्भावना व्यक्त कर म्लेच्छ-समस्या को एक नया आयाम दे दिया। जॉन हेंसमेन ने (बुलेटिन ऑफ़ दी ओरियण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज़, ज़िल्द २६, खण्ड ३ पृ. ५५४-५८७) में इस सिद्धान्त को अग्रसर किया। सर हेरोल्ड बेली ने भी इस विषय में अपने कुछ भाषा-शास्त्रीय विचार उपस्थित किये।

मेलुह्हा के उल्लेख, सारगन (२३७०-२३१६ ईसवी पूर्व) के काल से मिलना प्रारम्भ होते हैं जिनमें प्रमुखतः सुमेर से तेलमुन (दिलमुन, आधुनिक वहरेन) के माध्यम से मगन और मेलुह्हा से व्यापार का सन्दर्भ है। मगन को हखामनीष अभिलेख तक आधुनिक मकरान से समीकृत कर हेंसमेन ने मेलुह्हा की पहचान वलोचिस्तान से की है। उनके अनुसार मेलुह्हा सेंधव घाटी सभ्यता का पश्चिमी वाणिज्य का क्षेत्र था। मेलुह्हा का अपरवर्ती रूपी बलुहहू की कल्पना कर उसको 'बलोचिस्तान के 'बलोच' का पूर्ववर्ती रूप उन्होंने माना है। इस सन्दर्भ में म्लेच्छ शब्द का साक्ष्य दिया गया।

सर हेरोल्ड बेली ने इस सिद्धान्त में अनेक शंकाएँ व्यक्त की हैं। प्रमुख आपत्ति है कि बलोच का उल्लेख बलोषँ (अरबी) और ब्लोज (ईरानी) सर्वप्रथम ईसा की दशमशती से ही उपलब्ध होता है। यदि यह ईरानी शब्द नहीं है तो यह बतलाना आवश्यक है कि ईरानी-भाषा की एक विभाषा का प्रयोग करने वाले बलोचियों ने क्यों इतर भाषा के शब्द को अपने अभिधान के रूप से परिगृहीत कर अपने लिए स्वीकार किया। उन्होंने यह भी परिकल्पना की है कि बलोचिस्तान के लिए प्रयुक्त यूनानी नाम गेड्रोसिया का ईरानी गद्रवती होगा, तथा इससे गद्रवती-अद्रवती-बलउत-बलोच की सिद्धि हो सकती है। अपनी इस परिकल्पना पर वह स्वयं सन्देह करते हैं।

इस प्रसंग में उन्होंने म्लेच्छ की भी चर्चा की किन्तु इसकी स्पष्ट और निश्चित व्युत्पत्ति में कोई निश्चित आधार उन्होंने नहीं दिया।

इसमें तो सन्देह नहीं कि सुमेरी अभिलेखों में उल्लिखित मेलुह्हा का कुछ स्थलों पर मकरान के पार्श्ववर्ती क्षेत्र अर्थात भारतवर्ष के पश्चिमी भाग के लिए प्रयोग हुआ। यह सम्भावना भी सर्वथा तिरस्कृत की जा सकती है कि ईरानी भाषा में जहाँ 'दृ' ध्वनि 'स' में तथा 'म' ध्वनि 'ब' में परिवर्तित हो सकती हे मेलुह्हा का 'बलउष' रूप हो जावे। यह वही रूप है जो अरबों ने प्रयुक्त किया और अनुमानतः उन्होंने ईरानियों से लिया होगा।

म्लेच्छति, म्लेच्छ शब्दों की निश्चित व्युत्पत्ति अभी तक नहीं दी गयी। अनेक सम्भावनाएँ इस विषय में की गयी हैं। बहुत पहले प्रवर्तित पिसानी के मत का मैं यहाँ उल्लेख करना चाहूँगा। उनके अनुसार blaisos लातीनी blaesus जिनके अर्थ 'हकलाई हुई अस्फुट वाणी है' म्लेच्छ शब्द के सगोत्र हैं। संस्कृत 'म्ल' यूनानी-लातीनी 'ब्ल' में परवर्तित होता है, जैसे मूर्धा का ब्लीथोस्। 'म्लेच्छ' के 'च्छ' के विषय में कथन है कि संस्कृत में श्य, ष्य का 'च्छ' रूप मिलता है जैसे कश्यप = कच्छप, तुष्य = तुच्छ। इसी प्रकार म्लेच्छ का यदि 'म्लेश्य' पूर्ववर्ती रूप हो तो यूनानी-लातीनी ब्लेइसास और ब्लीसस रूप की सगोत्रता सम्भावित की जा सकती है। काश्मीरी में इसी अर्थ में 'ब्रयूच' शब्द मिलता है (टर्नर, ए कम्पेरेटिव स्टडी ऑफ इण्डो-आर्यन लैंग्वेजेज़ १०३८४ म्रेच्छति) इस म्लेक्ष्य-म्लेक्ष से ब्लउष बलोच शब्द भी व्युत्पन्न हो सकेगा और इस प्रकार म्लेच्छ, मेलुह्हा और बलोच शब्दों के समीकरण में विचार हो सकेगा। यदि मेलुह्हा का म्लेच्छ के साथ समीकरण स्वीकार किया जाय तो यह सम्भावना बढ़ जाती है कि बलोचिस्तान की आदिम संस्कृति उन भारोपीय भाषियों की संस्कृति थी जो ऋग्वेद के पूर्व यहाँ बस गये थे।

क्रमशः अन्य उपभाषाओं को, म्लेच्छ आदि भाषाओं को अधरीकृत कर भारती भाषा इस क्षेत्र की प्रामाणिक भाषा बन गयी।

भाषागत एकता के साथ भारतीय एकात्मता की सिद्धि

भाषागत एकता के साथ भारतीय एकात्मता की सिद्धि के अनेक कारण थे। सर्वाधिक प्रमुख कारण था भरत और पूरुजनों का कुरुधारा में निमज्जन।

पूरु वंश की प्राचीनता के अनुमान के अनेक आधार हैं। प्रथमतः दस्युओं के विनाश में पुरुओं का विशेष योगदान था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाएँ (१.५६.६.;१.१३६.४;१.१७४.२;४.२१.१०;४.३८.१ आदि) इसके दस्यु-विध्वंस का

उल्लेख करती हैं। दस्युओं के सप्तपुरों का विदारण पूरुवंशीय पुरुकुत्स का कृत्य था; इसका उल्लेख भी ऋग्वेद (१.१७.४२;७.१८.३;१.६३.७;६.२०.१०) में अनेकशः हुआ है। पुरुकुत्स के पुत्र का अभिधान दस्युओं को त्रास देने वाला त्रसद्दस्यु भी इसी तथ्य का साक्ष्य वहन करता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य जनों के सन्दर्भ में दास-दस्यु-संघर्ष का उल्लेख मात्र प्रासंगिक तथा विरल है किन्तु पूरु तथा भरतजन के साथ इसका सन्दर्भ विशेष और बहुल है।

दूसरा तथ्य जो पूरुओं की प्राचीनता की ओर इंगित करता है, वह है पूरुओं को दस्यु और पणियों के समान ही मृध्रवाच कहा जाना- 'पूरुं बिदथे मृध्रवाचम्' ऋ. ७.१८.१३)। मृध्रवाच की व्याख्या बाद में की जा रही है; यहाँ तो केवल पूरु और दस्युओं के विशेष सम्पर्क का द्योतन करना ही उद्देश्य है। प्रसंगात् दृष्टव्य है कि पूरु-पुरु शब्दों के विभिन्न भारोपीय रूप ऋग्वेद की भाषा में विविध विभाषाओं को बतलाते हैं। हिलेब्रान्त का यह कथन कि मृध्रवाच शब्द ऋग्वेदीय भाषा में विभाषागत अन्तर, बोलियों में भेद का द्योतक है, अंशतः ठीक प्रतीत होता है।

पुरु-पूरु जिससे व्युत्पन्न हुआ है उस भारोपीय धातु प्लृ की दो परम्पराएँ हैं- पहली 'ल' ध्वनि जो यूनानी पोलुस, गॉथिक फिलु आदि में तथा 'र' ध्वनि जो नूजी लेख के पुरुष, आवेस्तिक पोउर हाखामनीषी परु तथा वैदिक पुरु-पूरु, पुरुष-पूरुष, में दिखायी देती है। पश्चाद्वर्ती वैदिक भाषा में पुनः 'ल' ध्वनि है जो भारोपीय 'ल' ध्वनि का पुनरुत्थान न होकर भारत में देशी प्रक्रिया है- जैसे पुलुकाम में पुल (ऋ. १.१७१.५) तथा पूरु-जन की अग्नि एक विशिष्ट परम्परा थी जो सम्भवतः मानवेतर थी, किन्तु अत्यन्त प्राचीन थी। पूरु और पुरु शब्द अभिन्न प्रतीत होते हैं, इनमें विभाषा-गत भेद प्रतीत होता है।

वैदिक पूरु आवेस्तिक पोउरु, हरवामनी अभिलेखों का परु तथा पश्चाद्वर्ती पुल शब्द प्लृ धातु से व्युत्पन्न होकर 'सम्पूर्ण' अर्थ को वहन करता है। वैदिक साहित्य में पूरु शब्द अनेकशः सम्पूर्ण जन-समाज का बोधक है। निरुक्तकार (७.२३) ऋग्वेद (१.५१.६) 'पूरवो वृत्रहणं सचन्ते' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं- ''पूरवः पूरयितव्याः मनुष्याः।'' ईरानी परम्परा में यह शब्द जन-समूह वाची है।

ये अेषु असु पइरी पोउरब्यों इथ्येजो यश्न३४-८

'जिनके मध्य (पइरी) सभी मनुष्यों के लिए आशंका है'।

पोउरु शब्द अनेक प्राचीन ईरानी व्यक्तियों के नामों में सन्निहित है। जरथुस्त्र के पिता का नाम पोउरुषश्प और सबसे छोटी दुहिता का अभिधान पोउरु चिश्ता था।

ऋग्वेद में पुरु और पूरु दोनों सम्बद्ध शब्द हैं, किन्तु इन दोनों के शब्दों के अर्थों में अन्तर है। पूरु शब्द पोउरु के समान ही समूह-वाची है, जबकि पुरु शब्द विशिष्ट जन का बोधक है। एक ही शब्द के विभिन्न रूप विभाषागत अन्तर द्योतित करते हैं।

पुलुष- प्राचीन योग्य (श. ब्रा. १०.६.१.५१ अथ होवाच पौलुषि प्राचीन योग्यम्) यह पश्चातद्वर्ती 'ल' ध्वनि तो पूर्वी भाषाओं प्राकृत-पालि के प्रभाव से आयी है; द्रष्टव्य है अशोक के अभिलेखों में पुलिसा।

इस प्रसंग से अधिक महत्त्वपूर्ण है अवेस्ता, प्राचीन पारसीक और वैदिक भाषा में ऋ का सम्प्रसारण। अवेस्ता एवम् प्राचीन पारसीक भाषा में यह 'अर' तथा वैदिक में इर उर के रूप में होता है, जैसे अवेस्ता तरो वैदिक तिरः; अवेस्ता सरः; वैदिक शिरः; अवेस्ता परः; वैदिक पुरः। (ब्रुगमन कम्पेरेटिव ग्रामर १, पृष्ठ २३०; बरो, संस्कृत, पृष्ट ८७)।

किन्तु इसमें भी एक रूपता नहीं। पुरु के दो रूप अवेस्ता में मिलते हैं, एक तो साधारण नियम के अनुकूल 'पर ओ' जैसे हॉस पर ओश् (यश्न ५१.३)' 'पुरु (बहुल) सम्पति का स्वामी' इसका हाखामनीषी प्राचीन पारसीक रूप परु है- जैसे क्षयार्ष का पर्सेपोलिस 'व' अभिलेख १५वीं पंक्ति में परु-जनानाम्। अवेस्ता में पुरु का दूसरा रूप 'पोउरु' है जो अनेक स्थलों पर उक्त है- पोउरुषष्यो मॉम् तूइर्यो मश्यो' (होम यश्त १३)। जरथुस्त्र के पिता पोउरुषष्प चतुर्थ मनुष्य थे जिन्होंने सोम की अर्चा की, जरथुस्त्र की कनिष्ठ कन्या का नाम पोउरुचिश्ता था (यश्न ५३.३)। इसकी समानता वैदिक गुरु और आवेस्तिक गोउरु से की जा सकती है किन्तु प्राचीन पारसीक भाषा में ये अन्तर नहीं दिखायी देते हैं- वैदिक पुरु प्राचीन पारसीक पुरु, वैदिक पुराण प्राचीन पारसीक परन आदि। प्राचीन पारसीक भाषा जिसमें हरवामनीष सम्राटों के अभिलेख मिलते हैं, पश्चिमी ईरान में बोली जाती थी तथा अवेस्ता की गाथा बाख्त्री प्रदेश की भाषा थी।

पुरु-पूरु, पुरुष, पोउरु-परओ रूपात्मक भेद थे जो सीमित रूप में ही अवेस्ता और वैदिक भाषाओं में मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना कि बोलियों के ये भेद भारतेरानी काल की विरासत है समुचित नहीं होगा; प्रथमतः इसलिये कि प्राचीन पारसीक भाषा में भेद नहीं मिलते हैं और दूसरे बाख्त्री के पार्श्ववर्ती प्रदेशों से पुरुओं का सम्बन्ध था और ये रूपान्तर पश्चाद्वर्ती सम्पर्क के कारण हो सकता है। पश्तो-भाषी पक्थ के साथ पुरुवंशीय सम्राट् त्रसद्दस्यु का उल्लेख मिलता है- त्रासदस्यावि यथा पक्थे (ऋ. ८.४६.१०)। जैसे बाद में विमर्श होगा; पूरु-वंश का एक केन्द्र पश्चिमोत्तर भारत में गान्धार के समीप था। अतः पुरु-पूरु में रूपात्मक भेद पूरु बाख्त्री दस्युओं के सम्पर्क से हुआ होगा, इसकी सम्भावना की जा सकती है। इसी दिशा की ओर इंगित करता है यह तथ्य कि शतपथ ब्राह्मण ६.८.१. १४ में पूरू को असुर-राक्षस कहा गया- पुरुर्ह नामासुर-राक्षस मास। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि महाभारत में पूरु को असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा का पुत्र बताया गया है।

इस सन्दर्भ में उपर्युक्त 'पूरुं विदधे मृध्रवाचं' की व्याख्या अपेक्षित है। मृध्र शब्द की दो अर्थ-परम्परायँ हैं- प्रथमतः मृध्र का अर्थ है 'मृदु' और 'मृध्रवाच;' मृदुलवचन का बोधक है। ऋग्वेद १.१७४.३ में 'दनो विश इन्द्र मृध्रवाच;' में यास्क ने (६.३१) उचित ही मृध्रवाचः का अर्थ मृदुवाचः किया। यास्क का यह अर्थ यूनानी-लातीनी अर्थ-परम्परा द्वारा समर्थित है। यूनानी मल्थाकोस्' लातीनी 'मोलिस', प्राचीन फ्रीजियन 'मिल्दे', प्राचीन स्लाव 'म्लदु' और आंग्ल 'माइल्ड' शब्द मृदुलता, कोमलता वाची है और वे शब्द इसी अर्थ-परम्परा का वहन करते हैं।

मृध्र की दूसरी अर्थ-परम्परा भी है। स्कन्दस्वामी एवं सायण आदि भाष्यकार इस शब्द को हिंसार्थक बतलाते हैं। ऋग्वेद में क्रिया और संज्ञा रूपों में मृध्र का यह अर्थ मिलता भी है। किन्तु 'हिंसा' का यहाँ अत्यन्त व्यापक अर्थ है। इस अर्थ के परिवेश में अनवधानता, प्रमाद, सुस्ती, कर्म-च्युति, अशुद्धि और शत्रुता समाहित है। उदाहरणार्थ इन्द्र और अग्नि को सोम-पान के प्रसंग में 'अमर्धन्त' (ऋ. ३.२६.४) कहा गया। 'अमर्धन्ती' धेनु हमारे पास आयें (ऋ. ५.४३.६) यहाँ 'अमर्धन्त' का स्पष्टतः अर्थ है 'सावधान, प्रमाद-रहित। 'मृध्र का प्रयोग 'दुरित' (पापी) के साथ भी उपलब्ध है-

'पुराग्ने दुरितेभ्यः पुरा मृध्रेभ्यः कवेः। प्रण आयुर्वस्ते तिर।ऋ. ८.४४.३०
'हे कवि अग्नि, पापियों के परे, मृध्रों के परे हम लोगों को ले जाओ।'

मृध्रवाच विशेषण सामान्यतः दस्युओं तथा पणियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। सारांश में जिसके प्रति प्रमाद-युक्त, पाप-पूर्ण होने की भावना थी वे मृध्र थे।

इसका समर्थन अवेस्ता के साक्ष्य से होता है। मृध् धातु का मरॅद आवेस्तिक रूप का प्रयोग यश्नों में है। महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि यह धातु प्राचीन अवेस्ता में 'धार्मिक साहित्य एवं कृति-परम्परा के विद्वेषियों के प्रसंग में ही प्रयुक्त हुई- उदाहरणार्थ ३२.६

दुश्- सस्तिश् स्रवो मोरॅउदत् ह्वे ज्यातॅउश् सेंड्हनाइश् स्रतूम्। युश्शास्ता (दुष्ट आचार्य) श्रुति (स्रवो = श्रु-श्रवणे) का मर्धन, विकृत करता है। वह अपने शासनों (संह = शंस = उपदेश) में जीवन के कर्तव्य (ख्रतु = क्रतु) को विकृत करता है।

पुनः इसी प्रसंग में यश्न ३२.१० में ह्वे माना स्रवाओ मोरॅदॅत्।

ऐसा व्यक्ति (ना=नर) श्रुतियों (स्रवा) का हनन करता है, विकृत करता है।

यश्न ५१.१२ और ५१.१३ में और अधिक स्पष्ट है-
नोइत् ता ईम् ख्नाउश् व अेप्यो कॅवीनो ५१.१२

''मुझे यह कवियों की विप्रता (वअेप्यो ✓ विप् =वेपने) संतोषप्रद नहीं है।'' पुनः कारण बतलाया गया-

ता द्रॅग्वतो मरॅदइती। दअेना अॅरॅजाउश हइथीम्। 'वे द्रुजों के लिए दअेना (धर्मविधि) ऋजुता तथा सत्यता (हइथी) का मर्धन करते हैं; विकृत करते हैं।

अतः अवेस्ता में मृध् मरॅद का प्रयोग ईरानी श्रुति-परम्परा में विकार विशेषतः प्राचीन कवियों के द्वारा विकृत के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ। यह अर्थ ऋग्वेद के अधिसंख्य सन्दर्भों में सुसंगत है। समष्टि में, आवेस्तिक परम्परा जरथ्रुस्त्र से भिन्न धर्म -सम्प्रदाय के आचार्यों के द्वारा दिये गये उपदेशों को 'मृध्र' मानती है, उसी प्रकार ऋग्वेद में मृध्र प्राचीन भारतीय आर्य-परम्परा से भिन्न समुदाय को इस विशेषण से बोधित करती है।

हिलेब्राण्ट की यह मान्यता भी इस अर्थ से सुसंगत है कि मृध्रवाच ऋग्वेदीय भाषा के अन्तर्गत उपभाषाओं के विभेद का द्योतन करता है।

फेमो=वाच; तथा भारोपीय ग्लध मूर्धा (स) यूनानी में ब्लॉथ हो जाता है जैसे ब्लाथरोस =ऊँचा उठा हुआ। ब्लॉथ का रूपान्तर ब्लास है।

इस सन्दर्भ में वाकरनागेल का यह मत विचारणीय है कि मृध्र वाच शब्द यूनानी-लातीनी परम्परा के ब्लासफेमी का न केवल अर्थतः समानान्तर शब्द है अपितु व्युत्पत्ति के माध्यम से वह सम्बद्ध भी है। भारोपीय म्लध् का संस्कृत मृध्

और यूनान में अनेक रूपों में एक ब्लथ होता है। उदाहरणार्थ संस्कृत मूर्धा का यूनानी सगोत्र है ब्लाथरोस, ऊँचा उठा हुआ (ब्रुगमान, २,२४२)। भारोपीय द्ध्र् का यूनानी रूप 'स' भी होता है भारोपीय म्लाद् से व्युत्पन्न संस्कृत मर्दकृत मर्दति का यूनानी रूप है मस्सो-पीसना, कूटना (द्रष्टव्य बक, पृ. १०६६) फेमी का अर्थ 'बोली, कथन'। इस प्रकार ब्लासफेमी शब्द मृध्रवाच का यूनानी रूप है।

पूरु-वंश के दो प्रमुख केन्द्र थे- प्रथम, गान्धार के पार्श्व में सुषोमा सिन्धु तटवर्ती काश्मीर का पहाड़ी क्षेत्र तथा दूसरा सरस्वती-तट पर। सुषोमा नदी के तट पर पूरु-जन के मध्य सोम का अभिषव होता था- सोमः पुरुषु सूयते (८.६४.१०) सुषोमा के तट का यह अधिकप्रिय सोम मोदकारी है- सुषायामधिप्रियः (८.६४.११)। नदी-सूक्त (ऋ. १०.७५.५) में गंगा पूर्व दिशा की प्रथम नदी है ओर सुषोमा पश्चिम दिशा की अन्तिम नदी। वितस्ता (झेलम) के पश्चात् सुषोमा का परिगणन है। सुषोमा नाम और सोम-प्रसंग में इसके उल्लेख से सहज अनुमान है कि सोम इसके तटवर्ती क्षेत्र में बहुलता से होता था। ऋग्वेद में सोम को मूजवत से सम्बद्ध किया गया- सोमस्येव मौजवतस्य (६०-३४-६)। मूजवत का अथर्ववेद में वल्हीक (वख्त्र) और गान्धार के साथ उल्लेख किया गया- तस्मन् मूजवतो गच्छ वल्हिकान् व परस्नराम् (५-२२-७)।

'हे ज्वर तुम मूजवत् प्रदेश में अथवा उसके आगे वल्हीक प्रदेश में जाओ' तथा गन्धारिभ्यो मूजव इयो (५-२२-१४)। सोम के उत्पन्न होने का क्षेत्र वाल्हीक के पूर्व तथा गन्धार के समीप मूजवत क्षेत्र था और इसी का निकटवर्ती सुषोमा का स्थल होगा।

साक्ष्य के इस परिपार्श्व में सुषोमा नदी की पहचान मेगास्थने के भौगोलिक विवरण में उल्लिखित सोआनोस् (पाठान्तर सोआमोस) से समुचित प्रतीत होती है। मेगास्थने के साक्ष्य के आधार पर एरियन का कथन है कि सोआनोस् (सोआमोस्) के पहाड़ी क्षेत्र से प्रवाहित होकर सिन्धु नदी में मिलती है (मदूमदार, दी क्लेसिकल एकाउन्ट पृ. २१८)।

इस प्रसंग में निम्नोक्त ऋचा विचारणीय है-
त्वशियाविश आयन्नसि की रसमना-जहतीभोअनानि।
वैश्वानर पूखे शोशुचानः पुरोयदानेदरयत्नदीदेः ।। ७.५.३।।

'हे वैश्वानर अग्नि, पुराकाल में जब पूरु के लिये जाज्वल्यमान होकर ध्वंस करते हुए उसे जलाया तब असिक्नी-विश (चिनाव का तटवर्ती जनसमूह) भोजन का परित्याग कर भाग गया।'

यह अन्यत्र कहा गया है कि पूरुवंशीय पुरुकुत्स ने दस्युओं के सात पुरों को विदीर्ण कया। सम्भवतः प्रस्तुत ऋचा दस्युओं के चिनाव तट के एक पुरु के ध्वंस की चर्चा करती है। इतना तो निष्कर्ष निकाला ही जा सकता है कि पूरुवों का प्रभाव सुषोमातट से चिनाव के तीर तक था। यह सन्दर्भ पुरु-वंश का यूनानी इतिहासकारों के वृतान्त को विशेष अर्थवान बना देता है। उनके अनुसार पोरस का राज्य झेलम और चिनाव के पूर्वीतट पर शासन करता था। प्रमाणों का यह संकलन सम्मिलित रीति से इस क्षेत्र में सहस्राब्दियों तक विस्तृत पुरुवंश के प्रभाव का द्योतन करते हैं।

पुरु-वंश का दूसरा केन्द्र सरस्वती-तट पर था। एक ऋचा स्पष्टतः इसका उल्लेख करती है-

'वृहदु गायिषे क्वोडसुर्या नदीनाम्।
सरस्वती भिन्यहया सुवृक्तिभिः स्तौमेर्वे सिष्टरोदसी।।"

हे वसिष्ठ, नदियों में असुर्या (बलवती) सरस्वती का महान स्रोत्रों से गान करते हो। पृथ्वी ओर द्युलोक दोनों में स्थित सरस्वती का महान् स्रोत्रों से पूजन करो।'

उभे यत्ते महिना शुभ्रे अन्धसी अधिक्षियन्ती पूरवः ।। ७.९६.८।।
'हे शुभ्र सरस्वती, तुम्हारी महिमा (तटो!) पर है (जहाँ) पुरु-जन निवास करते हैं।'

प्रस्तुत प्रसंग में उक्त सरस्वती नदी की पहचान एक समस्या है। सरस्वती एक ऋचा में सरयु और सिन्धु के साथ उक्त है-

सरस्वती सरयुः सिन्धु रुर्मिभियतो महीरवसा यन्तु व क्षणीः। ऋ.१०.६४.९

महान, ऊर्मियों से युक्त सरस्वती, सरयु और सिन्धु नदियाँ रक्षणार्थ (हमारे यज्ञ में) आयें। सरयु अन्य ऋचा में रसा अनितभा, कुभा क्रुमु तथा सिन्धु के साथ उल्लिखित है -

मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्वा सिन्धुनिरीरमत्।
मा व परिष्ठात्सरयुः पुरीणिण्यस्मे इत्सुम्नमस्तुवः ।। ५.५३.९।।

'हे मरुगण, रसा, अनितमा, कुभा क्रुमु सिन्धु रोके नहीं। ककड़ों से युक्त सरयु भी अवरुद्ध न करे। आपके द्वारा प्रदत्तसुख हमको प्राप्त हो।'

यह सरयु निश्चय ही अवेस्ता की हरोयू यूनानी लेखकों की 'एरिया' तथा आधुनिक हरीरुद है। रसा इसी प्रकार वेंदिदाद में प्रयुक्त 'रहा', कुभा-काबुल क्रुमु-कुर्रम नदियाँ हैं अतः असन्दिग्ध रीति से अवेस्ता हरख्वइती और दारायवौष के अभिलेखों की हरउवती यूनानी लेखकों की अरा कोशिय (अरगन्दाब नदी) तथा इस सन्दर्भ में प्रयुक्त सरस्वती अभिन्न है। किन्तु सरस्वती का उल्लेख आपया और दृषद्वती के साथ भी है- दृषद्वत्यां मानुषे आप यायां सरस्वत्याम् (३.२३.४)। दृषद्वती सम्भवतः कुरुक्षेत्र के पास बहने वाली छितांग नदी है और आपगा थानेश्वर की समीपवर्ती चितांग की सहायक नदी ओधवती नदी है। इसलिये सरस्वती की पहचान शिवालिक पहाड़ियों से निकलकर घग्गर से मिलने वाली नदी से की जानी चाहिए। इस प्रकार ऋग्वेद में दो नदियाँ एक अरोकोशिया और उत्तरी कुरुक्षेत्र की समीपवर्ती सरस्वती के अभिधान से ज्ञात थी। अतः ऋग्वेद- ७.९६.१.२ में वह उल्लिखित सरस्वती कौन-सी है जिसके तट पर पूरुओं का निवास था? मेक्समूलर, कीथ तथा मेकडोनेल कुरुक्षेत्र-ब्रह्मावर्त की सरस्वती के साथ इसकी पहचान करते हैं। हिलेब्राण्ट का मत है कि पूरुओं का प्राथमिक निवास अराकोशिया सरस्वती के तट पर था, अवान्तर काल में वे ब्रह्मावर्त-प्रदेश की सरस्वती तट पर निवास करने लगे।

भरत, पुरु और कुरु जनों के सम्बन्धों में प्राप्त ऋग्वेदीय सन्दर्भ कुरुक्षेत्र-ब्रह्मावर्त भी सरस्वती स्थल को पूरु-वंशीय निवास केन्द्र के रूप में स्पष्टतः इंगित करते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में भरत-वंश की व्यष्टि का उल्लेख है- व्यष्टि व्यानशे येऽयं भरतानां (१३-५-४-११)। वअेजो, व्यच, रजः और व्यष्टि देश के उस स्वरूप को अभिहित करते हैं जिसमें स्थायी निवास नहीं था किन्तु एक सीमित क्षेत्र में संचार होता था। वअेज (अवेस्ता), विज-वेग (वैदिक) विग्रु (लिथुआनी), विकेस (लैटिन) सगोत्र शब्द हैं; भारोपीय धातु उअइक्-उआइग् संस्कृत √विज् = भयचलनयोः, यूनानी एइको से व्युत्पन्न शब्दों के अर्थ हैं इतस्ततः संचलन अथवा उद्वेग। अथर्ववेद (१२-६३-३७) में या सर्प विजमाना विमृग्वरी और शतपथ ब्राह्मण (७-१-१-१४) के ऊर्ध्वः समुद्रः विजते में यही अर्थ अभिप्रेत है। अइर्यनम् वअेज वह क्षेत्र था जिसमें आर्यों का संचार था।

व्यच का भी ऐसा ही अर्थ है। ऋग्वेद में इसके अनेक प्रयोग हैं- उरुव्यच, विश्वव्यच; व्यचिष्ट, व्यचस्वन्त आदि। इसके सगोत्र शब्द सुग्धी, पहलवी और फारसी में मिलते हैं (डब्ल्यू.बी हेनिंग , बुलेटिन ऑफ दी स्कूल ऑफ ओरियण्टल एण्ड अफ्रिकन स्टडीज ११, पृष्ठ. ४६८)। लैटिन विंकिरे =उद्घाटन करना इसी वर्ग का है। मुक्त-क्षेत्र से आवृतनिवास में परिवर्तन की प्रक्रिया इन शब्दों में सन्निहित है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'व्यच' का अर्थ संचार-क्षेत्र अथवा अस्थायी निवासमय संचार-क्षेत्र प्रतीत होता है। व्यचिष्ठ अर्थात् श्रेष्ठतम व्यच के सन्दर्भ में 'स्वराज्य' का निम्नोक्त उल्लेख महत्त्वपूर्ण है-

व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये (ऋ. ५-६६-६)

लोकवाची रजस् (टी. बरो, बुलेटिन आफ दी स्कूल ऑफ ओरियण्टल स्टडीज १२, पृ. ६४५) और व्यष्टि भी इसी संवास-प्रक्रिया से सम्बद्ध शब्द हैं। व्यष्टि भी अस्थायी निवासों से युक्त संचार-क्षेत्र था। शतपथ ब्राह्मण (१०.२.४.८) में 'इमां जितिं जयति इमां व्यष्टिं व्यश्नुते' से सूचित होता है कि संचार करने वाला जनसंचरण-भूमि पर अपना स्वत्व मानता था। भरत-व्यष्टि (श.व्रा.१३.५.११) का अर्थ है भरतों के अधिकार में स्थित भरतों की संचारभूमि।

यही भरत व्यष्टि क्रमशः भारतवर्ष के अभिधान में परिणत हो गयी-लोकोऽयं भारतं वर्षम्।

'वर्ष' शब्द का निर्वचन

देशवाची वर्ष शब्द की व्युत्पत्ति तथा निरुक्ति स्पष्ट नहीं। इसका √वृष्= सेचने से कोई सम्बन्ध नहीं। पाणिनीय सूत्र ६.४.१५७' वर्षिष्ठ' की सिद्धि के लिए 'वृद्ध' के स्थान पर 'वर्ष' के आदेश का विधान करना है, जिससे इसका संकेत मिलता है कि 'वर्ष' शब्द 'वृद्ध' का समानार्थक है। किन्तु सम्भावना इस बात की है कि यह भारोपीय धातु उएर्-स (वाल्देपोकॉर्नी, वोर्टरबुक डेर इण्डोजर्मनिशेन स्प्राखेन, पृ. ११५१-५२) से व्युत्पन्न है। संस्कृत के धातुपाठों में इसका रूप परिगणित नहीं है। लिथुआनी विर्सस् (श्रेष्ठ), लैटिन वेरुसा (उन्नत एवं श्रेष्ठ), स्लावे व्रीचु (हिरिन) इसके सगोत्र हैं। इसका प्राथमिक अर्थ उन्नत, ऊँचा है, और अवान्तरकाल में श्रेष्ठ अर्थ विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य में वर्ष शब्द का विरल प्रयोग है, किन्तु इसके तारतमिक रूप वर्षीय और वर्षिष्ठ अनेकशः प्रयुक्त हैं। एक सन्दिग्ध प्रयोग वाजसनेयी संहिता (६.११=३.८.१४) में वर्षों वषीयसि यज्ञपति धाः मिलता है। भाष्यकार महीधर वर्ष के दो अर्थ करते हैं- 'वर्षो वर्षप्रसव, वर्षु वर्षादुत्पन्नं तत्सम्बोधनं, तथा विस्तीर्ण।' शतपथ ब्राह्मण के अँग्रेजी अनुवादक जुलियस एगलिंग उपर्युक्त प्रसंग में 'महान्' अर्थ करते हैं, किन्तु यह सन्देहास्पद है।

सम्बद्ध शब्द वर्ष्म का अर्थ समुच्छित प्रदेश है- दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये, १०.६३.४ 'ज्योतिरथ सूर्य देवलोक के 'समुच्छ्रित देश' में कल्याण के लिए स्थित हैं, वरिमाणं पृथिव्या वर्ष्माणं दिवो अकृणोदय सः ६.४७.४ 'उसने पृथिवी की विशालता देवलोक की उच्चता निर्मित की।' इसी तरह उच्चतम वर्ष-वर्षिष्ठ-भी समुन्नत स्थल का वाची है- 'वर्षिष्ठे अधि सान वि (६.३१.५) और वर्षिष्ठे मूर्धन्नस्थात (६.४५.३१)। सारांश में, यद्यपि ऋग्वेद में वर्ष शब्द का उल्लेख नहीं है, तथापि वर्ष्म, वर्षीय और वर्षिष्ठ का साक्ष्य वर्ष के 'समुच्छ्रित प्रदेश' के अर्थ को प्रमाणित करते हैं। इस अर्थ का समर्थन पुराणों से भी होता है, जो सात वर्ष- पर्वतों के आधार पर सप्त वर्ष-द्वीपों का उल्लेख करते हैं--

तस्यापि मेरुर्मैत्रेय मध्ये कनकपर्वतः ।। ७।।
हिमवान् हेमकूटश्च निषधश्चास्य दक्षिणे
नीलः श्वेतंच शृंगी च उतरे वर्शपर्वताः ।। १० ।। (विष्णु पुराण २.२)

यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब पुराण इन वर्ष पर्वतों को मर्यादा-पर्वत (विष्णु पुराण २.२.४०) और मर्यादा-शैल बाह्यतः (वही २.२.३६) कहते हैं। भागवत का कथन है कि नव-वर्षाणि मर्यादागिरिभः सुविभक्तानि भवन्ति (५.१६.६)। अतः पर्वतों की मर्यादा से घिरे भू-भाग को वर्ष कहते थे। पुराणों ने जम्बूद्वीप के नववर्षों में भारतवर्ष की परिगणना की है।

भरत-जन की संचार-भूमि अथवा व्यष्टि की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ साक्ष्य ऋग्वेद में सुरक्षित हैं। तृतीय मण्डल में विपाशा (व्यास) और शुतुद्री (सतलज) के सन्दर्भ में भरत-ग्राम के सन्तरण का उल्लेख है (३.३३.१;११)। इसी प्रकार दृषद्वती, आपया और सरस्वती के तट पर भारत अग्नि की उपासना का प्रसंग है (३.२३.४)। उत्तर में व्यास और दक्षिण में सरस्वती की सीमाओं में आबद्ध ऋग्वेद-कालीन भरत-व्यष्टि थी। उत्तर-वैदिक काल में इसका प्रसार पूर्व में काशी तक हो गया था। यह भरत-व्यष्टि ही भारतवर्ष में परिणत हुई।

ईसा की प्रथम सहस्राब्दि के प्रारम्भ में भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटित होती है। भरत और पूरुजन क्रमशः कुरु-पंचालजनों की धारा में निमज्जित हो जाते हैं। ओल्डेनबर्ग ने बहुत पहले इस तथ्य की ओर इंगित किया था। उत्तर वैदिक कालीन साहित्य इस निमज्जन का साक्षी है (द्रष्टव्य, कीथ एण्ड मैक डोनेल, वैदिक इण्डेक्स, जिल्द २, पृ. ६६)। महाभारत का प्रमाण इसकी पुष्टि करता है। उसके अनुसार कुरु-वंश भरत-जन की शाखा है।

पूरुवंश की सारस्वत शाखा भी कुरुपांचालों में निमज्जित हुई। महाभारत का साक्ष्य तो इस विषय में है ही, वैदिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं। कुरु श्रवण को त्रासदस्यव कहा गया- कुरुश्रवणमावृणि राजानं त्रासदस्य-वम् (अ.१०.३३.४)। इस त्रिपथगा में इक्ष्वाकुओं का भी योगदान था।

उत्तर वैदिक काल के उत्तरार्ध में भरतजन का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं दिखायी देता; किन्तु पूर्वोक्त जनों में समाहित होकर उसका विस्तार हुआ। यह घटना उत्तर वैदिक काल में ईसा की प्रथम सहस्राब्दि में घटित हुई और इसने भारत-वर्ष का शुभारम्भ किया। इसमें तीन परिणाम हुए- (१) भारती-ब्राह्मी भाषा जो सम्प्रति छांदस् अथवा वैदिक भाषा के नाम से जानी जाती है, आर्यों की प्रमुख भाषा बन जाती है, (२) भारतअग्निचर्या मानव, ऐल, शर्यात, त्रासदस्यव अग्नि-चर्याओं को विलीन कर प्रमुख अग्नि चर्या बन गयी तथा (३) भरतजन के उत्तराधिकारी के रूप से

कुरुपांचालों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सत्ता के केन्द्र के रूप में उत्थान हुआ। इसमें भाषात्मक, जातीय तथा अग्निचर्यापरक एकात्मता थी।

'भारतवर्ष' का अवान्तर विकास

भारतवर्ष की अवधारणा का द्वितीय चरण मौर्य-काल से प्रारम्भ होता है। इस समय देश का प्रधान अभिधान जम्बुद्वीप था जिसका उल्लेख मौर्य अभिलेखों में हुआ। भारतवर्ष इसके अन्तर्गत एक छोटा भू-भाग था- दिल्ली से काशी तक। यह एक मनोरंजक तथ्य है कि ब्राह्मण साहित्य में उल्लिखित 'भरत-व्यष्टि' और सारबेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में प्रयुक्त 'भरधवस' (भारतवर्ष) की सीमाएँ समान हैं।

विकास के तृतीय चरण में भरत-क्षेत्र हिमालय से दक्षिण जलनिधि तक फैले हुए भूभाग भारत के रूप में परिणत हो गया। ईसा पश्चात् तृतीय सदी में प्रवर्तमान गुप्तकाल में ही 'उत्तरं यत्समुद्रस्य, हिमाद्रेश्चैव दक्षिण' की सीमा का निर्धारण हुआ, और 'अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्' का भावनात्मक चित्र उपस्थित हुआ। औलिकर नरेश प्रकाशधर्मा के रिस्थलपुर अभिलेख में इसी अर्थ में प्रकाशधर्मा को लक्ष्म भारतवर्षस्य-सम्पूर्ण भारत वर्ष के वैभव के विरुद से सम्मानित किया। कलचुरि-नरेश रत्नदेव द्वितीय के कलचुरि-सम्वत् ८८० के सरखो (बिलासपुर, मध्य प्रदेश) में प्राप्त अभिलेख में भी यही धारणा है-

इलावर्तादि वर्षाणां मध्ये भारतमुत्तमम्।
मध्यदेशास्तु तत्रापि शोणभद्रोऽस्तियत्र सः ।।

इस प्रकार भावना-संवलित आसेतु-हिमालय भारत की इस मूर्ति का आविर्भाव सूत-मागध तथा भृग्वंगिरा-वंशीय इतिहासकारों के मध्य ईसा पश्चात् तृतीय शती और पंचम शती के अन्तराल में हुआ। इस मन्दाकिनी में राजनीतिज्ञों के चक्रवर्ती-क्षेत्र और सूतों के वंश-वर्णन की धाराएँ निमंजित थीं।

हिन्दु और भारत शब्दों के अर्थ और अवधारणाओं के विकास का यह सर्वेक्षण उनके सांस्कृतिक-ऐतिहासिक आयामों को समझने के लिए किया गया। इसमें राष्ट्रीयता के राजनीतिक तत्त्व का आयाम उठाया नहीं जा सका- यद्यपि मातृभूमि से राष्ट्र (अथर्ववेद १२-१८), व्यच के साथ स्वराज्य (ऋ.५-६६-६) और जन के सन्दर्भ में राज्य (तै.सं. १८-१०-२८) की ओर ऊपर इशारा किया गया है; इस विषय में स्पष्ट और विपुल साक्ष्य हैं जिनका पुनः आकलन अभीष्ट है। १८वीं-१९वीं सदी के यूरोप में विकसित 'नेशन' की अवधारणा का प्रतिफलन प्राचीन भारत में खोजना अनैतिहासिक है, किन्तु राज्य एवं राष्ट्रीयता के विविध तत्त्वों के बीज स्पष्ट और दृढ़ रूप में वैदिककाल से ही दिखायी देने लगते हैं और उनके विकासशील ऐतिह्य का साक्ष्य भी उपलब्ध है।

४
भारत : धूला मन्दिर

देशगत प्रेम के ये बीज भारत में १९वीं और २०वीं शती के पूर्वार्ध में विकसित और पुष्पित हुए। विदेशी शासन ने एक चुनौती दी थी। नैसर्गिक प्रत्युत्तर के रूप में राष्ट्रीयता का गौरवशाली विकास हुआ जिसमें पारम्परिक दर्शन की धारा

अन्तःसलिला के रूप में प्रवाहित हो रही थी। स्वदेश-दर्शन और देशात्मबोध ने, जिसमें देश के साथ एकात्मता की अनुभूति, देश के प्रसंग में अपनी अस्मिता की पहिचान की धारणा निहित थी, भारत के सम्पूर्ण क्षेत्रों और रूपों को शक्तिशाली ढँग से झकझोर दिया था। देश की सम्पूर्ण चेतना राष्ट्रीयता के स्वर से गुंजित हो रही थी। विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक, रवीन्द्र, इक़बाल का समवेत- संगीत भारत-माता की भावमयी आरती उतार रहा था। विवेकानन्द का प्रबोधन था-

नये सिरे से आरम्भ करो
अपनी जननी-जन्मभूमि से ही
जहाँ विशाल मेघराशि से बद्धकटि,
हिमशिखर तुममें नवशक्ति का संचार कर
चमत्कारों को क्षमता देता है,
जहाँ शैलबाला उमा, कोमल और पावन
विराजती हैं
जो सभी प्राणियों की शक्ति और जीवन हैं
जिनकी कृपा से सत्य के द्वार खुलते हैं
जो अजस्र शक्ति की स्रोत हैं।

हिम-किरीटिनी भारत-माता की उपासना, भाव-भरित राष्ट्रीयता, सर्वातिशायी कर्तव्य और सर्वोत्कृष्ट दर्शन के रूप में भारतीय चेतना ने स्वीकार की। गोपालकृष्ण गोखले ने कांग्रेस के वाराणसी अधिवेशन में इस स्वदेश-प्रेम की मार्मिक व्याख्या की-

''स्वदेश का भाव मानवता के हृदय को प्रेरणा देने वाला एक अत्यन्त भव्य भाव है। मातृभूमि के प्रति भक्ति, जो 'स्वदेशी' के अन्दर समाविष्ट उच्चतम भावना है, इतनी उदात्त और पवित्र है और उसका प्रभाव इतना परिपूर्ण होता है कि उसके चिन्तन मात्र से रोमांच आने लगता है और उसका वास्तविक स्पर्श तो मनुष्य को उसके संकुचित दायरे से निकाल कर 'विराट्' के साथ एकाकार कर देता है। मानव के अहं को चीर कर उसे व्यापक समष्टि के साथ एकाकार होने की जो भावना है उसी को दिशा देकर राष्ट्रीयता की प्रेरणा विकसित होती है। देश की ऐतिहासिक धारणा, सांस्कृतिक परम्परा और अतीत के स्वर्णिम गौरव की अनुभूमि इस भावना को परिपुष्ट करती है।"

इस प्रसंग में देश केवल एक भौगोलिक-राजनीतिक इकाई नहीं है अपितु उसका एक अखण्ड ऐतिहासिक और निरवच्छिन्न सांस्कृतिक आयाम है, जो उसे एक विशिष्ट अस्मिता देता है, जो उसकी पहचान बनता है। दुर्भाग्यवश स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् देशात्मबोध की राष्ट्रीयता विघटनकारी तत्त्वों के उभरने पर विसंगत होकर धीरे-धीरे शक्तिहीन होकर विलुप्त होने लगी। राष्ट्रीय ढाँचे में राष्ट्र के एकात्मरूप के विकास करने में राजनीतिक नेताओं से चूक हो गयी। विशेष रूप से एक ऐसा राजनीतिक दर्शन प्रस्तुत करने में वे असमर्थ रहे जो जन-जन में राष्ट्र के प्रति अपनत्व की भावना भर देता, राष्ट्र के विभिन्न अंगों में सम्बन्ध सूत्रों को दृढ़ करता, एकात्म सामूहिक चेतना के साथ

समान सुख-दुःख की अनुभूति, समान चिन्ताएँ, समान आकांक्षाएँ और उन पर आधृत कर्तव्यबोध को जाग्रत करता। संविधान राष्ट्रीय आकांक्षाओं से अधिकार ग्रहण करता है और सरकार उससे अस्तित्त्व प्राप्त करती है। सत्ताधारी राजनेता का प्रथम करणीय दायित्त्व है कि वह परिपोषक नीतियों के माध्यम से राष्ट्र-चेतना और उसकी एक-सूत्रता को दृढ़ बनाये। राजनीतिक चिन्तक का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह बदले हुए परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता का परिपूर्ण दर्शन विकसित करे और इस प्रकार स्वाधीनता-संग्राम के युग की उस एकान्विति प्रक्रिया को विच्छिन्न न करे जिसने भारत को राष्ट्रीय सज्जा से भूषित किया। नयी माँगें, नये मूल्य , आर्थिक विकास, सामाजिक परिवर्तन इस एकात्म-बोध के प्रसंग में ही अर्थवान हो सकते हैं।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् की अर्धशती में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक पक्ष की उपेक्षा की गयी और राजनीतिक-भौगोलिक आयाम को ही प्रमुख चिन्तनीय विषय बना लिया गया। अब भाषा, सम्प्रदाय, जातीयता के आधार पर अलग राजनीतिक स्वायत्तता की माँग बढ़ती जा रही है। इसमें अलगाववादी प्रवृत्तियाँ पनपी हैं। आज हमारे राष्ट्रीय चिन्तन में यह एक दर्दनाक विषय है कि इस गम्भीर स्थिति को उन राजनीतिशास्त्रज्ञों द्वारा एक औपचारिक रूप दिया जा रहा है जो भारत को एक राष्ट्र न मानकर अनेक ऐसी राष्ट्रीयताओं का समूह मानते हैं जिनके हितों में मूलभूत प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष है तथा समान हित केवल सतही है।

इस प्रकार राष्ट्रीयता की अवधारणा ही बदल गयी। जहाँ स्वाधीनतापूर्व युग में सांस्कृतिक-ऐतिहासिक एकता का प्रभाव लोक-मानस के माध्यम से पुनर्निर्माण में निर्णायक था, और समान सुख-दुःख की चेतना राष्ट्रीयता का आधार थी, वहीं अब भाषा, मजहब, जाति के स्वार्थी प्रतिद्वन्द्वी ही राष्ट्रीयता के प्रमुख तत्त्व बन गये।

इस पर जितना भी आग्रह किया जाय कम है कि जितना हम स्वार्थ-संघर्षों को राजनीतिक महिमा देंगे उतना ही पृथक्तावादी ताकतों को प्रोत्साहन मिलेगा। इसके विपरीत जितना अधिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक एकता का आग्रह होगा, उतनी ही देश को जोड़ने की प्रक्रिया प्रबल होगी। राजनीतिक एकता शरीर है, सांस्कृतिक निरवच्छिन्न प्रवाह और ऐतिहासिक अखण्डता इस दैहिक ढाँचे को अनुप्राणित करनेवाली जीवनी-शक्ति है। उसी के द्वारा राष्ट्र की विशिष्ट पहचान होती है, उसका अभिधान सार्थक होता है- समान उत्तराधिकार से प्राप्त ऐसे स्वत्व की उपलब्धि होती है जो उसके व्यक्तित्त्व को परिभाषित करने वाला विशिष्ट लक्षण बन जाती है। राजनीतिक-भौगोलिक साँचा राष्ट्र तथा संविधान के प्रति भक्ति-भाव जाग्रत करता है और परदेश के प्रति लगाव को रोकता है। सांस्कृतिक एकता से नागरिकता का आन्तरिक ऐक्य निर्मित होता है जिसके बिना राजनीतिक बन्धन रेत के घरौंदे के समान निर्जीव तथा क्षण-भंगुर होता है। देश की राष्ट्रीयता में राजनीतिक और सांस्कृतिक पक्षों को समन्वित करना एक अनिवार्यता है। राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, चन्द्रगुप्त मौर्य और समुद्रगुप्त, नानक और कबीर, अकबर और बहादुरशाह जफ़र, दारा शिकोह और सरमद, गाँधी और नेहरू, सबने हमारे देश के मानस पर राष्ट्रीय चेतना का प्रभाव डाला है जो कमोवेश सभी भारतीयों के मन में ज्ञात अथवा अवज्ञात रूप से है। राम को अस्वीकार करना अखण्ड ऐतिहासिकता को तिरस्कृत करना है। अकबर को इनकार करना अखण्ड चेतना को खण्डित करना है। इन सबको मानना होगा। उन्हें राष्ट्रीय धारा में समन्वित करना होगा। इसका अर्थ सभी मजहबों की आधारभूत एकता का प्रतिपादन नहीं। यह केवल ऐतिहासिक ढाँचे में राष्ट्रीयता के अभिव्यक्त करने का माध्यम है।

अफ़सोस है कि आज भारत-माता-मन्दिर में भारत-माता की मूर्ति ही नहीं है; गर्भगृह में राजनीतिक सत्ता की लोलुपता आसीन है। इस प्रसंग में याद आता है रवीन्द्रनाथ ठाकुर का 'धूला मन्दिर'-

''अरे ! यहाँ भजन, पूजन, साधना, आराधना सभी तो हो रहा है। रुद्धद्वार देवालय में कौन उपासना कर रहा है, किसकी साधना हो रही है? द्वार खोल कर देखता हूँ तो पाता हूँ कि आसन पर देवता की मूर्ति ही नहीं है। केवल पुजारियों का आक्रोशमय गर्जन-तर्जन ही सत्ता के ताण्डव नृत्य के साथ गूँज रहा है।''

भारत-संकीर्तन

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षे भारत भारतम् ।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।।
पृथोस्तु राजन् वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः ।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च ।।
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च ।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा ।।
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गोधेश्चैव महात्मनः ।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च ।।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम् ।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारतभारतम् ।।
यथागुणबलं चापि त्रिवर्गस्य महाफलम् ।
दुह्येत् धेनु : कामधुग् भूमिः सम्यगनुष्ठिता ।।

भारत ! अब मैं यहाँ आपसे उस भारतवर्ष का वर्णन करूँगा, जो इन्द्रदेव और वैवस्वत मनु का प्रिय देश है।।

राजन् ! दुर्धर्ष महाराज ! वेननन्दन पृथु, महात्मा इक्ष्वाकु, ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द, उशीनर-पुत्र शिबि, ऋषभ्ज्ञ, इलानन्दन पुरूरवा, राजा नृग, कुशिक, महात्मा गाधि, सोमक, दिलीप तथा अन्य जो महाबली क्षत्रिय नरेश हुए हैं, उन सभी को भारतवर्ष बहुत प्रिय रहा है।। अपने गुण और बल के अनुसार यदि अच्छी तरह इस भूमि का पालन किया जाय, तो यह कामनाओं की पूर्ति करने वाली कामधेनु बनकर धर्म, अर्थ और काम तीनों के महान् फल की प्राप्ति कराती है ।।

महाभारत, भीष्मपर्व

हिन्द महासागर में समुद्री वाणिज्य

अशीन दास गुप्त

बाँग्ला से अनुवाद
रामशंकर द्विवेदी

बाँग्ला भाषा में इतिहास विषय पर काम करने वालों में एक नाम है प्रो. अशीन दास गुप्त (१९३२-१९९८) का। इनका मुख्य लक्ष्य अध्यापन और इतिहास विषयक गवेषणा करना रहा है। इन्होंने प्रेसीडेन्सी कॉलेज कलकत्ता, कलकत्ता विश्वविद्यालय, विश्व भारती (शान्ति निकेतन) के अतिरिक्त विदेशों में सेण्ट एण्टिनीज कॉलेज, ऑक्सफोर्ड, हाईडेलवर्ग विश्वविद्यालय, वर्जीनिया विश्वविद्यालय में इतिहास पढ़ाया है।

भारतीय इतिहासविदों को पता है कि अशीन दास गुप्त की गवेषणा का मुख्य केन्द्र समुद्र और समुद्री तटों से होने वाला भारत का व्यापार और वाणिज्य रहा है। इनके मुख्य ग्रंथ हैं Malabar in Asian trade – 1740-1800 (Cambridge, 1967); Indian Merchants and the decline of Surat, 1700-1750 (Steiner, Wiesbaden, 1979)। प्रो. माइकेल पियर्सन के संयुक्त सम्पादन में इन्होंने India and the Indian ocean, 1500-1800 (Oxford University Press, Calcutta 1987) पर भी काम किया है। इनका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भारत सागर में भारत का कितना व्यवसाय होता रहा है और आजकल हो रहा है इस प्रश्न पर आने के पहले यह विचारणीय है कि भारत सागर पर भारत का कितना अधिकार है?आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि भारत सागर पर भारत का कोई विशेष अधिकार नहीं है। इस सागर के किनारे-किनारे जितने देश पड़ते हैं, उनका इस सागर पर जितना अधिकार है, उतना ही अधिकार भारत वर्ष, पाकिस्तान और बाँग्ला देश का है। किसी विशेष अधिकार का प्रश्न यहाँ उठता नहीं है। एक ज़माना ऐसा था जब तोप छोड़ने पर उसका गोला तीन मील तक चला जाता था। सागर

तट पर इन तीन मीलों को छोड़कर फिर विदेशी जहाज समुद्र में पड़े रहते थे। इस हिसाब से एक सीमारेखा बन जाती थी। इस सीमा में उस तट पर बसे देश का कानून लागू होता था। आजकल इस सीमा के बाहर भी एक सीमा बन गयी है, वह सीमा कितनी दूरी तक जाएगी यह निर्भर करता है अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौते पर। शायद तीन मील की सीमा पार कर समुद्र के नीचे अगर पैट्रोल मिल जाए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है लेकिन हमारा 'बोम्बे हाई' तट से लगा हुआ ही है।

आर्थिक सीमा का विस्तार बारह मील तक होता है। इस सीमा में तटवर्ती देश को मछली पकड़ने का अधिकार भी बना रहता है। इस कारण से भारत वर्ष बीच-बीच में विदेशी जहाजों को रोक लेता है। इस प्रसंग में भारत वर्ष का यह कार्य कोई अनोखा नहीं है। अन्य सब देश भी जो करते हैं, भारत वर्ष भी वही कर रहा है। यह सभी लोग जानते हैं कि देश के चारों ओर के समुद्र पर उस देश का यह विशेष अधिकार रहता ही है। लेकिन इसके अलावा भी भारतवर्ष का भारत सागर के साथ एक विशेष सम्बन्ध है। भारत वर्ष के नाविक और वणिक अनेक शताब्दियों से भारतीय सागर के विभिन्न बन्दरगाहों पर अपना व्यापार करते रहे हैं। भारत ने अपने धर्म, अपनी संस्कृति और कुछ राजपुरुषों को भी बीच-बीच में बाहर भेजा था। लेकिन वाणिज्य का बन्धन ही सबसे अधिक बना रहा है। भारत वर्ष के समुद्री तटों पर इस वाणिज्य के कारण ही विभिन्न बन्दरगाहों का निर्माण हुआ है। इसलिए इन तटों के इतिहास को ही जानने की ज़रूरत है।

लेकिन इन तटबन्धों के इतिहास को जानने में कुछ असुविधा है। पहली अड़चन तो यही है कि उपकूल का विस्तार कहाँ तक है, इसका निर्णय करना असम्भव है। समुद्र तट उपकूल है, इसे सभी जानते हैं लेकिन वहाँ भी अनेक किसान खेती करते हैं, जिनके साथ समुद्र का कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अनेक नौकरीपेशा, मध्यम वर्ग के लोग छुट्टियाँ बिताने समुद्र तट पर जाते हैं। वे सभी होते तो भारत के ही हैं, लेकिन उस तटबन्ध के व्यक्ति नहीं होते हैं। फिर देखिए, अगर हम समुद्री वाणिज्य की खोज करें, तो उत्पन्न वस्तुओं की खोज करते-करते हम देश के भीतर पहुँच जाएँगे। आगरा शहर के आस-पास सत्रह-अठारह शताब्दी तक खूब अच्छी नील उत्पन्न होती थी। समुद्री वाणिज्य करने वाले लोग भारत सागर के विभिन्न बन्दरगाहों पर इस नील को ले जाते थे। इस नील के बिना समुद्री उपकूल का इतिहास नहीं लिखा जा सकता है। लेकिन, अगर हम इस नील की उत्पत्ति के स्थान की खोज करने लगेंगे तो हमें समुद्री उपकूल को छोड़कर देश के भीतरी हिस्सों की यात्रा करनी होगी। तब क्या यह कहना चाहिए कि उपकूल को अपनी इच्छानुसार कमाया-बढ़ाया जा सकता है?इस प्रश्न का कोई भी जवाब आज तक कोई नहीं दे सका है। असल में इस उपकूल के सम्बन्ध में हम बहुत कुछ नहीं जानते हैं, इसीलिए यह अड़चन है।

समुद्री वाणिज्य को लेकर समुद्री तट पर कुछ लिखते समय, दूसरी मुश्किल तत्सम्बन्धी उपादानों को लेकर हैं। सभी इतिहास-प्रेमी इस बात से भलीभाँति अवगत हैं कि प्राचीन एवं मध्य युगीन इतिहास सम्बन्धी माल-मसाला बहुत कम उपलब्ध है। उसकी तुलना में आधुनिक युग के इतिहास के सम्बन्ध में कच्चा माल बहुत है। कोई लिखित साक्ष्य न होने के कारण उस काल का इतिहास लिखना बहुत कठिन है। कहाँ तक कहें, इसके बाद भी विद्वान लोग प्रयास तो कर ही रहे हैं, उनके परिश्रम के फलस्वरूप किसी-न-किसी तरह का इन उपकूलों का इतिहास लिखा ही जा रहा है। इन उपकूलों के इतिहास से हम लोग बन्दरगाहों पर स्थित अनेक प्राचीन शहरों (जैसे मरुकच्छ अथवा ब्रोच) एवं कई

पण्यद्रव्यों (जैसे घोड़ों) के बारे में जानते हैं। कई श्रेष्ठियों की कहानी सुनते हैं एवं उनके प्रतिष्ठानों के बारे में भी जानते हैं, लेकिन इस वाणिज्य के सम्बन्ध में विशद रूप से कुछ नहीं जानते हैं। समीप से न देखने पर इन वणिकों के बारे में जानना अत्यन्त दुष्कर है। इसीलिए वास्कोडिगामा के बाद के तीन सौ (१५००-१८००) वर्ष ही इन उपकूलों की इतिहास-रचना की दृष्टि प्रशस्त हुई है।

इस सन्दर्भ में एक कठिनाई ज़रूर हैं, ध्यान दीजिए। यह बात ठीक है कि वास्कोडिगामा के आने के बाद से हमारे हाथ में इतिहास सम्बन्धी काफ़ी लिखित माल-मसाला मौजूद है। उस माल-मसाले का कुछ भाग तो पढ़ा गया है, पर कुछ नहीं। उपकूल के सम्बन्ध में हमारी जो कुछ धारणा है, वह उसी माल-मसाले पर आधारित है। लेकिन, यह माल-मसाला पूरी तरह से विदेशी साक्ष्य हैं। अपना समझकर पुर्तगालियों के 'एस्टाडा डा इण्डिया' की रचनाएँ पढ़ेंगे नहीं तो, अँग्रेज़ और ओलन्दाज कम्पनी के लिखे हुए विवरण पढ़ेंगे। अगर सौभाग्य मिला तो अन्य यूरोपीय कम्पनियों के दस्तावेज देखेंगे, अथवा ग़ैर-सरकारी यूरोपीय वणिकों की कहानियाँ कहीं मिल गयीं, तो उन्हें पढ़ेंगे। इन सबके निष्कर्षों को मिलाएँ तभी एक मुकम्मल धारणा हम बना सकेंगे। कहना चाहिए कि कोई भी एक व्यक्ति इस काम को पूरी तरह अंजाम नहीं दे सकता है। लेकिन विभिन्न विद्वान, इतिहासज्ञ विभिन्न दृष्टियों से इस सन्दर्भ में प्रयास करते जा रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक पुरानी बात यहाँ उल्लेखनीय है। कई पर्यटकों के वृत्तान्तों को इस प्रसंग में पढ़ा जाता है। इन रचनाओं से कई तरह का ज्ञान भी मिलता है। पर, पर्यटकों के वृत्तान्तों में कई तरह की भ्रान्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं। सिर्फ़ ऐसे वृत्तान्तों पर निर्भर रहना अब सभी इतिहासकारों ने छोड़ दिया है। सभी लोगों ने यह समझ लिया है कि दैनन्दिन जीवन के व्यवसाय की बातें किसी भी भ्रमण-वृत्तान्त की तुलना में एक इतिहासकार की दृष्टि में अधिक मूल्यवान हैं। भ्रमण वृत्तान्त एक संहत रचना होती है, उसमें लिखने वाले के निजी अनुभव की ही बातें रहती हैं। उसमें उसके पाठकों के लिए कुछ मनोरंजनकारी बातें भी शामिल होती हैं। जिन सब सभ्यताओं के बीच पर्यटक जा पड़ते हैं, उनकी अनेक चमत्कारपूर्ण दिशाएँ वे पर्यटक अपनी रचना में चित्रित करते हैं। इनमें कौन-सी बात सत्य है, इसे ढूँढ लेना सदा सम्भव नहीं होता है। उदाहरण के लिए अगर कोई व्यापारी अपने व्यापार की बात करता है तो वह अधिक ग्रहण करने योग्य होती है। क्योंकि इस तरह की बातों में नयी सभ्यता के सम्बन्ध में तो कोई टिप्पणी नहीं होती है, किन्तु उस वक़्त क्या घटनाएँ हुईं थीं, इसे हम जान जाते हैं। यही एक इतिहासकार की उपलब्धि है।

इन टिप्पणियों के माध्यम से सत्य तक पहुँचने में कभी-कभी बड़ी कठिनाई भी आती है। कई बार विदेशी कम्पनी के कर्मचारी अपने व्यवसाय की बातों को गुप्त रखते हैं। वे सतही बातें तो खूब करते हैं, पर वास्तविकता पर परदा डाले रहते हैं। इस कारण इनमें क्या सत्य है क्या झूठ इसका पता लगाना बहुत मुश्किल होता है। फिर सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि ये सभी साक्ष्य आखिर हैं तो विदेशी ही, ये भारत वर्ष को कितना समझते हैं? कुछ समझना भी नहीं चाहते हैं। हो सकता है भारतीय संस्कृति की खोज में ये प्रमाण कुछ विशेष काम न आएँ। फिर विदेशी लेखन में अपने संस्थानों को केन्द्र में बनाये रखने की एक प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इस प्रवृत्ति के परे जाकर सत्य ढूँढना कुछ कठिन होता है। इस कारण एक अनुसन्धानकर्ता को बहुत सतर्क रहना पड़ता है। विदेशी साक्ष्यों को तो लेना चाहिए, लेकिन विदेशी दृष्टिकोण को नहीं लेना चाहिए। इस लेने-छोड़ने के विभिन्न परिणाम हुए। ऐसा प्रतीत होता है, भारतीय संस्कृति को हम अब तक इन समुद्री उपकूलों तक नहीं ला सके हैं। इन पर होने वाले वाणिज्य का ब्यौरा देना

भी कठिन है, कारण सदा इस तरह के तथ्यों का मिलना भी कठिन होता है।

समुद्री तटों पर तीन तरह के लोग व्यवसाय करते थे। एक, विदेशी संस्थानों से सम्बद्ध लोग। दूसरे, विदेशी ग़ैर-सरकारी व्यवसायी। तीसरे, भारतीय सौदागर। इनमें से किसी एक को लेने पर तीनों को लिया जा सकेगा, ऐसा सोचना ठीक नहीं होगा। यद्यपि इस सन्दर्भ में हम देखते हैं कि अँग्रेज़ों की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ही सारे अनुसन्धानकर्त्ताओं के दृष्टिकोण को ढँक रखा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बाहर ग़ैर-सरकारी वाणिज्य होता था। अब उसी तरफ अनेक इतिहास के गवेषकों का ध्यान जा रहा है। लेकिन, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बाहर ग़ैर-सरकारी जो व्यवसाय होता था, उससे सम्बन्धित साक्ष्य, दलील-दस्तावेज तो मिलते नहीं हैं। इस कारण से गवेषकों की प्रगति धीमी हो जाती है। इन दोनों के बाद भारतीय सौदागरों का व्यवसाय आता है। इस वाणिज्य के सम्बन्ध में तथ्य सबसे कम हैं। कहना अधिक होगा, भारतीय सौदागरों के वक्तव्य अगर भारतीय सौदागरों के कथनों में ही मिलें, तो वे इस सन्दर्भ में सच्चे उपादान हो सकते हैं। दुर्भाग्य से यही उपादान नहीं मिल रहे हैं। यहाँ तक कि भारतीय शासकों के भी क़ाग़ज-पत्र नहीं मिलते हैं। आय और व्यय के ब्यौरे ही नहीं मिलते हैं। बीच-बीच में भारतीय साक्ष्य मिल जाते हैं। लेकिन, उनका कोई संहत रूप नहीं है। इसी कारण से विदेशी साक्ष्य ही इतिहासकारों के लिए प्रधान आश्रय है। इस प्रसंग पर आगे पुनः विचार किया जाएगा।

फिर यहाँ एक प्रश्न और उठता है, आखिर किसने भारत सागर को भारत सागर कहा था, इसका पता नहीं चल रहा है। ईसा की पहली शताब्दी से ही हमें इसका उल्लेख मिल रहा है। विख्यात लेखक प्लिनी ने इस सागर की कथा लिखी है। इसके बाद अरबों ने तो कही ही है। लेकिन एक विषय में सावधान होना श्रेयस्कर है। स्वेज नहर के पूर्व के इलाकों के सम्बन्ध में यूनानी अथवा रोमन लोग कुछ नहीं जानते थे। उन लोगों को एक अभ्यास हो गया था कि पूर्व की झलक मिलते ही उसे भारत कह देना। शायद इसी कारण से भारत सागर की संज्ञा निर्मित हो गयी है। इस जल राशि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान आज भी मामूली है। जैसे भारत सागर की वास्तविक सीमा कहाँ तक है, इसकी जानकारी आज भी नहीं है। जहाँ स्थल हो वहाँ सीमा का निर्धारण करना सरल है। भारतीय समुद्र की पश्चिमी सीमा पर पूरा पूर्व अफ्रीका फैला हुआ है। अगर आप दक्षिण दिशा से उत्तर की तरफ आएँ तो दक्षिण अफ्रीका, पूर्वी अफ्रीका के राष्ट्र एवं उसके बाद सोमाली के देश पड़ेंगे। और भी उत्तर की ओर चलें तो अरब मिलेगा और उसके बाद ईरान। ये सब देश भारतीय समुद्र की पश्चिमी सीमा निश्चित कर देते हैं इसी के बीच यह विशाल सागर दो उपसागरों की सृष्टि कर देता है। एक का नाम लोहित सागर है, दूसरे का नाम पारस्य उपसागर है। भारतीय सागर के उत्तर में खुद हम भारतवासी आते हैं। भारत वर्ष का समुद्री तट मोटे रूप में इस सागर की उत्तरी सीमा है। पर देखने लायक है कि पूर्वी दिशा में भारत सागर कहाँ खत्म हो रहा है, इसका पता नहीं चल पा रहा है। ऐसा भी सम्भव है कि दुनिया के विख्यात 'मसाले वाले द्वीप' भारत सागर में आते ही न हों। मलक्का द्वीप समूह का समुद्र प्रशान्त महासागर कहलाता है। वैसे ही फिर दक्षिण दिशा भी खुली हुई है। भारत सागर 'अण्टार्कटिक' तक फैला हुआ है, इसे सब लोग नहीं मानते हैं। दुनियाभर के लोग दक्षिण दिशा में एक और महासागर की कल्पना करते हैं। उसे कभी तो दक्षिण सागर कहा जाता है और कभी अण्टार्कटिक सागर। किन्तु, कोई भी यह नहीं मानता है कि दक्षिणी दिशा में ठण्डी हवाएँ चलने के कारण उस तरफ भारत सागर का ही फैलाव सम्भव है। हाँ, निःसन्देह अटलान्टिक महासागर अथवा प्रशान्त

महासागर की भी यही हालत है। ये सब अगर अण्टार्कटिक महासागर तक विस्तृत हैं तो फिर अण्टार्कटिक महासागर का कोई अस्तित्त्व ही नहीं रहता है। इस सम्बन्ध में अभी और भी अनुसन्धान की ज़रूरत है। पूर्वी और दक्षिणी दिशा में ठण्ड न मिलने के कारण भारत सागर की सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। सच बात यह है कि जल में सीमा रेखा खींचना बहुत मुश्किल है।

हाँ, इतिहासविद् ज़रूर भूगोल के इस गोलमाल को लेकर अधिक दिमाग नहीं लगाते हैं। वे सहज में ही विश्वास कर लेते हैं कि जो जहाज चीन के कैण्टन में जाएँ अथवा जापान के नागासाकी तक जाएँ, वे सब मानो भारतीय महासागर में ही जाते हैं। ऐसा सम्भव ही नहीं है, इस सम्बन्ध में उन्हें कोई सिरदर्द नहीं है। वे तो पूरी तरह से एक दूसरी दिशा को ही देखते हैं। वाणिज्य-व्यवसाय का यह जो इलाका है, इसका अपना एक निजी तर्क है। अरब देश के बनिये अपने रोजगार की वजह से कैण्टन में आकर हाज़िर हो जाएँ तो अपने व्यवसाय को वे अगर बीच रास्ते में छोड़ दें, तो इससे काम नहीं चलेगा। पुराने नागासाकी के सम्बन्ध में वही एक तर्क है। जापान और चीन के बिना भारत सागर की इतिहासकार कोई व्याख्या ही नहीं कर पाते हैं। इस कारण भूगोल के गोलमाल को लेकर चलने से काम नहीं चल पाएगा। वे लोग यह भी सोचते हैं कि भारत सागर एक सुविधापूर्ण अभिधा है। इसकी सीमा कहाँ है इसको लेकर अगर अधिक चिन्ता की जाए तब इसके बारे में लिखना ही कठिन हो जाएगा।

सीमा चाहे जो हो, भारत सागर को एक प्रकार की मौसमी हवाएँ धारण किये हुए हैं, इसमें हम सभी का विश्वास है। इन मौसमी हवाओं के दो चेहरें हैं। वर्ष के मई से सितम्बर मास तक ये हवाएँ दक्षिण-पश्चिम से चलती हैं। उस वक़्त वर्षा ऋतु होती है। फिर नवम्बर महीने से फरवरी के अन्त तक ये हवाएँ उत्तर-पूर्व से बहती रहती हैं। उस वक़्त शीत ऋतु होती है। जब हवाएँ तेज़ गति से चलती हैं। तब पाल वाले जहाज नहीं चलते हैं, लेकिन पहले मौसम अथवा मौसम के अन्त में कुछ दिनों तक जब हवाओं की गति धीमी होती है तब पालवाले जहाज चल सकते हैं। उन दिनों भारत के उपकूलों पर स्थित बन्दरगाहों पर जहाजों का आना-जाना चलता रहता था। इस तरह की मौसमी हवाएँ भारत सागर में जैसी चलती हैं वैसी और किसी भी सागर में नहीं चलती हैं। वर्ष के निश्चित समय में पाल लगे जहाज समुद्र में आ जा सकते थे। एक निश्चित समय पर ये वापस चले जाते थे। जब दक्षिण-पश्चिम हवाएँ शुरू हो रही हों अथवा समाप्त हो रही हों अथवा उत्तरी हवाएँ आ रही हों और उनमें उतनी तेज़ी न आयी हो, ऐसे मौसम में उपकूल के बन्दरगाहों पर जहाज का आना-जाना चल सकता था। इस निश्चित समय के बाद जहाजों का बाहर आना-जाना नहीं हो सकता था। लेकिन ये मौसमी हवाएँ भारत सागर के बाहर भी बहती रहती हैं। जैसे चीन के उपकूलों पर भी मौसमी हवाएँ चलती हैं। 'चीनी जेंक' इन मौसमी हवाओं में ही व्यवसाय के लिए आते थे अथवा लौट जाते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि मौसमी हवाओं पर भारत सागर का कोई मारूसी पट्टा नहीं है। फिर भारत सागर की सभी जगहों पर ये मौसमी हवाएँ नहीं चलती हैं, विषवत रेखा के दक्षिण में आने पर मौसम क्षीण होने लगता है और अन्त में विलीन हो जाता है। उसके बाद एक ऐसा इलाका आता है, जहाँ हवाएँ बड़े अस्त-व्यस्त रूप से चलती हैं। उसके भी दक्षिण में जहाँ पर अक्षांश ४० है, वहाँ पर चलने वाली तेज़ हवाएँ अफ्रीका के पूर्वी तट से जहाजों को सीधे इण्डोनेशिया के द्वीपों में पहुँचा देती हैं और फिर वापस भी भेज देती हैं। ओलन्दाज के नाविक सत्रहवीं शताब्दी में इन हवाओं पर विशेष रूप से निर्भर रहते थे। और भी दक्षिण में तो हवाएँ और भी ठण्डी हैं और

वहाँ की प्रकृति भी दूसरे प्रकार की है, भारतीय तट के जहाज इतने दक्षिण में जाना नहीं चाहते थे। निःसन्देह ये नाम के ही जहाज थे। वैसे ये लकड़ी के बने होते थे। पाल खोलकर चलते थे। इसी ढाँचे में चीनी लोग एक तरह के और अरब लोग दूसरे तरह के जहाज बनाते थे। अरब लोगों के जहाजों को यूरोप के लोग 'घाओ' कहा करते थे और चीनी जहाजों को 'जेंक' कहते थे। लेकिन अरब लोगों ने अपने जहाजों को कभी 'घाओ' नहीं कहा। भारत के लोगों ने इन्हें दूसरा नाम दे रखा था। जैसे 'बाघला', 'सोमबुक', 'कोटिया' और ढाँगी' आदि। इनमें गुजरात का 'बाघला' सबसे बड़ा जहाज होता था। लेकिन यह 'बाघला' जहाज भी दो सौ टन से अधिक वजन का कोई नहीं बनाता था। इस जहाज में लोहा ज़रा भी नहीं रहता था, यहाँ तक कि कील तक नहीं। इन जहाजों की सिलाई होती थी। काठ के तख्तों के दोनों तरफ छेद करके उसके भीतर से नारियल की रस्सी डाल दी जाती थी। पुरी के नूलिया लोग आज भी मछली पकड़ने वाली बड़ी नावों को इसी विधि से तैयार करते हैं। पूरब की तरफ चीनी जहाजों को वे लोग किस नाम से पुकारते थे, इसका मुझे ठीक-ठीक पता नहीं है लेकिन इन सब जहाजों में लकड़ी का कवच रहता था, इसका पता है। अर्थात् चीनी जहाजों का खोल ही दो अथवा तीन चार जहाजों के पेटे को घेरे रहता था। 'घाओ' जहाज चलते थे पश्चिमी समुद्र में और 'जेंक' पूर्वी दिशा में। इन दोनों में यही बड़ा फर्क है। भारतीयों के जहाज पूर्वी दिशा में 'जेंक' की तरह होते थे और पश्चिमी दिशा में 'घाओ' की तरह। भारत की सागौन की लकड़ी इन सब जहाजों को बनाने की दृष्टि से सर्वोत्तम मानी जाती थी। इसके ऊपर भारतीय कारीगर एक तरह का लेप लगाना जानते थे जिसके फलस्वरूप जहाज कई वर्षों तक समुद्र में पड़े रह सकते थे, उनमें घुन नहीं लगता था। खारे पानी से भी उसका कोई नुकसान नहीं होता था। लेकिन भारतीय लोग खुद जहाज बनाएँ तो वे अपने पुराने ढाँचे के अनुसार बनाते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। चोल राजाओं के पास अपने जहाज थे। वे जहाज जेंक जहाजों के पहले के युग के थे। लेकिन समुद्र के इन दो किस्म जेंक और घाओ के जहाजों के आ जाने के बाद अन्य किसी ढाँचे के जहाजों का कोई सन्धान नहीं मिला है। चोलों के जहाज ही किस तरह के थे इसी का हमें पता नहीं है। जेंक जहाज घाओ जहाजों की तुलना में बहुत मज़बूत होते थे। चीनी समुद्र के तूफ़ान को भी ये जहाज प्रभावहीन कर सकते थे। घाओ किस्म के जहाज शान्त समुद्र में जेंक जहाजों की तुलना में बड़ी तेज़ी से चल सकते थे। पश्चिमी समुद्र तुलना में अधिक शान्त है। इसीलिए उस इलाके में 'घाओ' जहाज अच्छी तरह से चलते थे। उस तरह पश्चिमी समुद्र में पाल वाले जहाज नहीं ले जाए जा सकते थे। तूफान में डूब जाने की सम्भावना बनी रहती थी। जेंक जहाज इसी कारण से शायद मज़बूत बनाये जाते थे। लेकिन सारे जहाज पाल वाले होते थे। हवाओं की दिशा निश्चित किये बिना कोई भी जहाज नहीं छूटता था।

अरब लोग चीन के कैण्टन में अपना व्यवसाय करते थे, इसके प्रमाण हमें अष्टम शताब्दी से ही मिलने लगते हैं। ये कौन अरब थे, इसका ज़रूर ज्ञान नहीं है। दक्षिण चीन के तट पर भारत के बहुत से सौदागर भी गये थे। कुछ टूटे हुए शिव मन्दिर उस इलाके में अब भी देखने को मिलते हैं। मोटे रूप में जहाजों के इतिहास को अब भी इसी तरह बाँटा जा सकता है। ऐसा लगता है शुरू में सिन्धु सभ्यता पश्चिमी दिशा में अपने जहाज भेजती थी। ये बड़ी नावें होती थीं, तट से सटकर चलती थीं। उसके बाद चोलों के शासनकाल में भारतीय जहाज इस समुद्र को घेरे रहते थे। वे पुराने जहाज किस किस्म के थे, हाँ इसकी जानकारी ज़रूर हमें नहीं है। इसके बाद चीनी लोगों के जेंक चोलों के जहाजों को हटाकर भारत सागर में सभी जगह आने-जाने लगे। ऐसा लगता है, इस समय चीन के वणिक अरब देश तक गये थे।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही दृश्य एकदम दूसरा हो जाता है। तब तक लेकिन, सुदूर व्याप्त यह वाणिज्य नष्ट हो गया था। चीनी लोगों के जेंक जहाज मलक्का से अधिक पश्चिम में नहीं आते थे। अरबों के 'घाओ' जहाजों ने भी पश्चिम समुद्र को ही अपने व्यापार का एकमात्र ठिकाना बना लिया था। अदन से कालीकट तक अरब सौदागरों का मुख्य व्यापार चला करता था। समुद्र के बीच में भारतीयों का वाणिज्य था। भारतीय जहाज भारत के तट से मलक्का तक जाते थे। गुजरात के काम्बे बन्दरगाह को छोड़कर मलक्का नहीं जाते थे, इस कारण, समुद्र के उस वक़्त तीन भाग थे। पूर्व दिशा में चीनियों के 'जेंक', पश्चिमी समुद्र में अरबों के 'घाओ', बीच में भारतीयों के जहाज। वास्को डि गामा ने आकर यहाँ यही छवि देखी थी। उस प्रसंग पर मैं बाद में आ रहा हूँ।

इस वक़्त तो मैं यह कह रहा हूँ कि इस विशाल समुद्र में कोई सामान्य कानून लागू नहीं था। समुद्र के एक-एक स्थान पर एक-एक तरह की व्यवस्था थी । उदाहरण के लिए अरबों में वणिक लोग ही श्रेष्ठ माने जाते थे पर, पूर्व दिशा में वणिकों को कोई विशेष सम्मान नहीं मिलता था। भारतवर्ष में श्रेष्ठी वर्ग का ही सम्मान था, किन्तु ब्राह्मण और क्षत्रिय उनसे ऊपर रहते थे। भारतीय समुद्र की ये विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाएँ किसी भी एक इतिहासकार के लिए समझना मुश्किल है। पूरे समुद्र में चलता हो, ऐसा एक भी नियम कहीं भी नहीं मिला है। लगता है ओलन्दाज़ समाज के इतिहासकार जेकब कोर्नेलिस फॉन ल्योर (Jacobe Cornelia Fan Leur) एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस प्रकार के एक सामान्य नियम की खोज की थी।

फॉन ल्योर मेक्स वेबर (Max Weber) के शिष्य थे। किन्तु, एशिया यूरोप से अलग है यह बात कहने के लिए वे बहुत व्यग्र थे। उन्होंने इण्डोनेशिया में अनेक वर्ष बिताये थे। उन्नीस सौ तीस के दशक में उनके इस वक्तव्य ने हॉलैण्ड में विशेष विवाद की सृष्टि कर दी थी। उनका कहना था, इण्डोनेशिया के लोगों ने खुद अपना इतिहास बनाया है। उनके इस वक़्तव्य को अब हम सभी लोग जानते हैं, लेकिन उनके दूसरे वक़्तव्य को मानने में थोड़ी कठिनाई है। फॉन ल्योर का कहना है कि एशिया के वाशिन्दों ने उच्च सभ्यता की सृष्टि की है, यूरोप की तुलना में वह किसी भी अंश में कम नहीं है। यह सभ्यता विशेष रूप से एशिया के वाणिज्य में विद्यमान है। फॉन ल्योर का कहना है कि एशिया की यह जो सभ्यता है, इसके भीतर कोई परिवर्तन घटित नहीं हुआ है। मोहनजोदड़ों के नियमों को क्लाइव के पहले तक लागू किया जा सकता है। यह जो एशिया का अपरिवर्तनीय इतिहास है, इसके भीतर फॉन ल्योर कई परिवर्तनों की बात जानते थे, हालाँकि उन्होंने उन्हें अस्वीकार किया है। जैसे बन्दरगाह बने और नष्ट भी हो गये, वणिक वर्ग में भी बदलाव आ गया। जैसे एक ही वस्तु का सदा आयात-निर्यात नहीं होता रहा। फॉन ल्योर का मत था, एशिया के इतिहास में यह सब कोई परिवर्तन ही नहीं है, एशिया का वाणिज्य जैसा था, वैसा ही बना रहा। इसी से एशिया के वाणिज्य के सम्बन्ध में फॉन ल्योर का विख्यात वक्तव्य तैयार हुआ कि इस वाणिज्य को एक बन्दर से दूसरे बन्दर ले जाते हैं फेरीवाले। स्वल्प वित्त के ये लोग सदा बने रहते हैं। ये लोग विभिन्न बन्दरगाहों पर आकर अपने माल को खोलकर बैठ जाते हैं। यही है एशिया के वाणिज्य का स्वरूप। फॉन ल्योर ने यह बात बड़ी ज़ोरदारी से कही है। किन्तु, यह वक्तव्य उनके ही एक अन्य वक्तव्य के विरुद्ध जा रहा है, इस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। एशिया का वाणिज्य अगर उन्नत रूप में बना रहा, यूरोप के पास एशिया को सिखाने के लिए अगर कुछ भी न था, तो फिर फेरीवाले लोग जिस वाणिज्य को कर रहे थे, उस वाणिज्य का मूल्य क्या है ? फेरीवालों का वाणिज्य उच्च स्तर

का था, ऐसा तो लगता नहीं है। फॉन ल्योर के इन फेरीवालों ने कई इतिहासकारों को बहुत परेशान किया है। इनके सम्बन्ध में एक दूसरी बात भी फॉन ल्योर ने कही है। माल लेकर ये लोग चलते ज़रूर थे, पर वह माल इन लोगों का नहीं होता था। ये सभी लोग स्थानीय राजपुरुषों के कर्मचारी मात्र होते थे। राजपुत्र घर में बैठे रहते थे, फेरीवाले एक बन्दर से दूसरे बन्दर जाकर वाणिज्य करते रहते थे। इसी रूप में एशिया का वाणिज्य-व्यवसाय चला करता था। इस सन्दर्भ में फॉन ल्योर ने कुछ उच्च स्तर के वणिकों का उल्लेख किया है (पेट्रीशियन मर्चेण्ट Patrician merchant) किन्तु, अपने इस वक्तव्य को उन्होंने स्पष्ट नहीं किया है।

फॉन ल्योर के वक्तव्य की कुछ दृष्टियों को लेकर अब इतिहासकार चर्चा ही नहीं करते हैं। वे मोटे रूप में अप्रमाणित हो चुकी हैं। जैसे उदाहरण के लिए विलासिता की चीज़ों का वाणिज्य। फॉन ल्योर ने लिखा है कि फेरीवाले विलासिता की चीज़ों को ले जाते थे। इसके विरुद्ध कई प्रमाण हैं। एशिया के वाणिज्य में काफ़ी समय से तेल, गेहूँ और चावलों का व्यवसाय जारी है। तेल, गेहूँ और चावल को कोई भी विलासिता की चीज़ें नहीं मानता है। सेठ लोग भी किसी भी मत से फेरीवाले नहीं है। कई धनी वणिक इस व्यवसाय में थे। उन्हें फेरीवाला कहने में कई इतिहासकारों को आपत्ति है। पता नहीं फॉन ल्योर के Patrician merchant के वर्ग में ये लोग आते हैं या नहीं। परिवर्तन के विरुद्ध फॉन ल्योर ने जो बातें कहीं हैं, उस सम्बन्ध में विचार करने के कई कारण हैं। असल में बात यह है कि एशिया के वाणिज्य में परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे आता है। अगर ध्यान न दिया जाए तो यह परिवर्तन नज़र में ही नहीं आता है। फेरीवाले लोग अठारहवीं शताब्दी तक खूब आते-जाते रहे हैं, इसके यथेष्ठ प्रमाण हैं। लेकिन सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय भाग में भारतवर्ष के समुद्री तट पर नये प्रकार के बन्दरगाहों की सृष्टि होने लगी थी, राजपुरुषों को हटाकर नवीन, स्वतन्त्र वणिक दिखाई देने लगे थे। वर्तमान के इतिहासकार इस तरह के परिवर्तन को लक्ष्य करने के प्रति बड़े उत्साही हैं। लेकिन जिस कारण से फॉन ल्योर ने परिवर्तन के विरुद्ध टिप्पणी की है, इसीलिए सभी इतिहासकार अत्यन्त सर्तक हैं। मोटे रूप में कहा जा सकता है कि परिवर्तन हुआ ज़रूर था, पर उसकी गति अत्यन्त मन्थर थी।

इसके अलावा भी समस्या बनी रही। कार्ल पोलेनी Carl Polanyi नाम के एक प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार ने कहा है, एशिया के वाणिज्य में बाज़ार था ही नहीं। विभिन्न बन्दरगाहों पर स्थानीय राजाओं ने अपने-अपने नियमों को लागू कर रखा था। उस बन्दरगाह पर इन नियमों को मानना ही पड़ता था। अगर बाज़ार न हो तो वाणिज्य हो ही नहीं सकता है। प्रोफेसर पोलेनी ने बाज़ार दर की अपेक्षा राजाओं के नियन्त्रण को बड़ा करके दिखाया है, किन्तु इसके विरुद्ध भी कई प्रमाण मिलते हैं। जैसे मान लीजिए, कालीकट से समुद्र पुर्तगाल के नियन्त्रण में चला गया। उसके बाद ओलन्दाज़ के हाथों में और उसके भी बाद अँग्रेज़ों के नियन्त्रण में चला गया। इसी तरह से समुद्र का शासन चलता रहता है। लेकिन, सोचकर देखिए, समुद्र तो अत्यन्त विशाल है, जहाज भी बहुत छोटे-छोटे थे, अगर पाल में हवा न लगे तो चल ही न पाएँगे, फिर उनकी चाल भी बहुत धीमी थी। ऐसे हालात में नियन्त्रण करना ही बहुत कठिन था। लगता है उन्नीसवीं शताब्दी में अँग्रेज़ों की नौ-सेना के भय से एक तरह का समुद्री शासन चलने लगा था। लेकिन उसी शासन को अगर हम पहले के ज़माने में ले जाएँ तो यह भूल होगी। फिर अरबों के जहाजों में तोपें ही नहीं थी और दूसरों को अन्य तरह की असुविधाएँ थीं। पुर्तगाली लोग बहुत दूर से आया करते थे। ओलन्दाज़ों के बारे में भी यही बात सत्य है, लेकिन ओलन्दाज़ लोग पश्चिमी समुद्र पर शासन कर रहे थे, ऐसा नहीं लगता और अँग्रेज़ों का

शासन अठारहवीं शताब्दी तक था ही नहीं, इस कारण लगता है यह विचारसरणि (अरब, पुर्तगाली, ओलन्दाज़ और अँग्रेज़) ठीक नहीं है। इच्छा हो तो समुद्र में युद्ध नौका चलायी जा सकती थी। उन युद्ध नौकाओं के आसपास वाणिज्य वाले जहाज भटकते भी नहीं थे। समुद्र साम्राज्य तैयार होने के पहले लगता है यही बात सच थी।

अँग्रेज़ी लेखक विलियम मोरलैण्ड (William Moreland) ने इस समुद्री शासन पर बड़ा ज़ोर दिया था। उसने १६२० के दशक में लिखा था। इसी बीच अँग्रेज़ी नौ-सेना समुद्र पर शासन कर रही थी। अँग्रेज़ी साम्राज्य का अक्षुण्ण प्रताप मोरलैण्ड ने देखा था। वह स्वयं भी आई.सी.एस. था। राजस्व व्यवस्था के सम्बन्ध में उसके कई लेख हैं। मोरलैण्ड की रचनाओं को आज भी हम लोग बड़ी श्रृद्धा के साथ पढ़ते हैं। अपने वक्तव्य को उसने बड़ी सतर्कता से उप स्थापित किया है और जितना सम्भव हुआ है अपने प्रतिपक्षी की बात भी कही है। इसी कारण से विश्व दरबार में मोरलैण्ड की रचनाएँ मूल्यवान हैं। एक उदाहरण यहाँ दे रहा हूँ। फॉन ल्योर ने १६३० के दशक में लिखना शुरू किया था। उसने मोरलैण्ड के लेखों का प्रसंग सहित उल्लेख किया है। लेकिन मोरलैण्ड की रचनाओं में कुछ असुविधाएँ भी थीं। जैसे मोरलैण्ड ने कहा है कि अँग्रेज़ी साम्राज्य की तुलना में मुगल साम्राज्य में भारतीयों के पास सम्पत्ति कम थी। अँग्रेज़ी शासन आते ही भारतवासियों का बहुत उपकार हुआ। इसी कारण मोरलैण्ड ने जो कुछ लिखा बड़ी सतर्कता से लिखा। इसी कारण से मोरलैण्ड के वक्तव्यों को आज भी भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है। लगता है भारतवर्ष बहुत दिनों तक इसी तरह पढ़ाता रहेगा।

मोरलैण्ड के वक्तव्य में और भी एक असंगति है। शायद यह उसका दोष नहीं, उसके समय का दोष है। मोरलैण्ड ने समुद्री वाणिज्य को लेकर जो कुछ लिखा था, उसके लिए वह निर्भर रहा था विदेशी पर्यटकों के ऊपर। उसकी रचनाओं में सदा सभी भ्रमणकारी भी नहीं आ पाये। जैसे पुर्तगाली टोमे पिरीज़ (Tome Pires) जिसने सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा था। इसकी रचनाओं में भारत सागर के वाणिज्य की एक पूरी तस्वीर ही मिलती है। लेकिन उन्नीस सौ चालीस के दशक के पहले विद्वत समाज की चर्चा में पिरीज़ का कोई उल्लेख ही नहीं मिलता है। फिर भ्रमणकारियों के अलावा अँग्रेज़, ओलन्दाज़ अथवा पुर्तगाली वणिकों का क्या कहना था इसे भी मोरलैण्ड ने नहीं दिखाया है। इन वक्तव्यों को अब विशद भाव से चर्चा में लिया जा रहा है। इन भ्रमणकारियों की अब विशेष चर्चा नहीं होती है, चर्चा होती है अँग्रेज़ कम्पनी, ओलन्दाज़ कम्पनी अथवा पुर्तगालियों की एस्टाडो डा इण्डिया के दस्तावेज़ों को लेकर। अब इस चर्चा में भी बदलाव आ रहा है। जहाँ सम्भव होता है वहाँ अनुसन्धानकर्त्ता कम्पनी के व्यवसाय के बदले व्यक्तिगत व्यवसाय के विश्लेषण की ओर अधिक झुक रहे हैं। इनमें मोरलैण्ड द्वारा उल्लेखित भ्रमणकारियों के कथन नहीं भी हो सकते हैं। लेकिन मोरलैण्ड ने अपना वक्तव्य बड़ी सतर्कता से दिया है, इसलिए उसकी चर्चा आज भी होती है।

फिर भी इस चर्चा की मूलधारा अब दूसरी दिशा में है एवं इस सन्दर्भ में वाणिज्य सम्बन्धी माल मसाले की बात पर हम पुनः आते हैं। दूसरी धारा को अगर हम समझना चाहते हैं तो कम्पनी के दस्तावेज़ों पर विचार करना बहुत ज़रूरी है। शुरू में ही कह चुका हूँ कि पूरे विषय में एक विराट समस्या आज भी बनी हुई है, उपकूल के सौदागरों के सन्दर्भ में अगर लिखना हो तो उन सौदागरों के दस्तावेज़ ही लिखने के उत्कृष्ट उपादान हैं। अँग्रेज़, ओलन्दाज़ अथवा पुर्तगाली लोग इस विषय में कोई बात ही नहीं कहना चाहते हैं। इस कारण भारतीय सौदागरों के वक्तव्य तो हमें एकदम ही नहीं मिलते हैं। जैसे उदाहरण के लिए सूरत मुगलों का प्रमुख बन्दरगाह था। लगभग दो सौ वर्षों तक भारत

के धनाढ्य सौदागर इस बन्दरगाह पर थे। लेकिन उन सौदागरों का मामूली वक्तव्य भी हमें नहीं मिलता है। हालाँकि सूरत का प्रसंग हमारी चर्चा में कुछ अधिक ही आता है। अठारहवीं शताब्दी के पहले पारसी व्यापारी रुस्तम जी (Rustam ji) के बारे में एक पुस्तक लिखी गयी थी। पुस्तक लिखी थी उनके सबसे छोटे पुत्र के गृहशिक्षक काइकोवाद ने। इस पुस्तक में रुस्तम जी की अत्यधिक प्रशंसा की गयी है। इस प्रशंसा की पद्धति यह है कि रुस्तम जी ने पारसी सम्प्रदाय का कितना उपकार किया है, मुख्य रूप से यह बात प्रतिपादित करना। हालाँकि रुस्तम दलाली का काम करने के लिए इसी समय एक बनिया परिवार के साथ भारी कलह कर रहे थे, इस विषय में उसमें कुछ नहीं कहा गया है। इसी कारण इस तरह की पुस्तकें अधिक दिनों तक टिक भी नहीं पाती हैं। काफ़ी खोज करने के बाद भी इस तरह की पुस्तकें मिलती हैं लेकिन इनके लिखने का जो ढँग है, उससे निराशा होती है। फिर भी भारतवर्ष के इतिहास में भारतीय सौदागरों की चर्चा करने का प्रयास आज भी चल रहा है।

किन्तु, भारतीय सौदागरों के नाम मिलने के बाद भी भारतवर्ष के ऐसे संस्थान आखिर गये कहाँ? मुगल साम्राज्य तो था। वे लोग आयात-निर्यात शुल्क के सम्बन्ध में भी खूब सजग थे। भारतीय सौदागर जहाँ तक सम्भव था, इन्हें खूब ठगते थे। कोई भी व्यापारी शुल्क देना ही नहीं चाहता था। यह तो बहुत दिनों तक चलने वाली घटना थी। जैसे उदाहरण के लिए मुगलों के अन्तर्गत सूरत बन्दरगाह पर मुसलमान वणिक हिन्दू वणिकों की तुलना में कम कर देते थे। लेकिन कर के खाते में नाम टाँचते समय हिन्दू नाम अगर मुस्लिम नामों में बदल जाएँ तो इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी। कर वसूलने वाले दारोगा को सब पता रहता था। लेकिन इस काम के लिए उसे कुछ रुपये देने होते थे। इसीलिए वह कुछ एतराज नहीं करता था। इससे व्यापार भी चलता रहता था और सम्राट के कानून की रक्षा भी हो जाती थी।

इस कर के खाते मिल जाते तो खूब उपकार होता इसमें कोई सन्देह नहीं पर, मुगल साम्राज्य के शुल्क सम्बन्धी ये खाते खो गये हैं। ये खोये खाते फिर मिले नहीं हैं। सौदागरों के भी दस्तावेज नहीं हैं और मुगल साम्राज्य के भी शुल्क सम्बन्धी दस्तावेज नहीं हैं। इन्हीं कठिनाइयों के मध्य भारतीय सौदागरों का इतिहास लिखना है।

इस हालात में एकमात्र उपाय यह है कि भारतीय सौदागरों ने जिनके साथ व्यवसाय किया था उनके दस्तावेज़ों का अध्ययन किया जाए। अनेक विदेशी लोगों ने भारतीयों की वाणिज्य करने में सहायता की थी। जैसे उदाहरण के लिए मुगलों के समय सूरत में अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बम्बई के अँग्रेज़ गवर्नर रोवर्ट कॉवन (Robert Cowan) व्यापार करते थे। उस व्यवसाय के क़ागज़ पत्र आज भी उपलब्ध हैं। कॉवन के साथ व्यापार करते थे सूरत के प्रमुख अँग्रेज़ हेनरी लोथर (Henry Lowther)। भारतीय व्यवसायियों में थे सारे पारक (Parak) परिवार। इन भारतीय परिवारों के शीर्ष पर थे सेठ लालदास पारक। फिर लालदास उस वक़्त सूरत के नगर सेठ भी थे। नगर सेठ के व्यवसाय-सम्बन्धी कोई दस्तावेज़ आज तक प्राप्त नहीं हुए हैं। लेकिन रावर्ट कॉवन के सारे दस्तावेज़ मिल गये हैं। उन क़ागज़-पत्रों के आधार पर ही हमें नगर सेठ के व्यवसाय के सम्बन्ध में अपनी धारणा बनानी होगी। इसी तरह के क़ागज़ पत्र कुछ और मिले हैं इसीलिए इस सम्बन्ध में हम अपनी रक्षा कर सके हैं।

पुर्तगालियों के आने के बाद से ही इस तरह के व्यक्तिगत व्यवसाय की शुरूआत हुई है। सम्भवतः बंगाल में

पुर्तगालियों का बड़ा ठिकाना हुगली, और चटगाँव में था। वे स्थान ऐसे ही व्यक्तिगत व्यापार के केन्द्र थे। सरकारी रूप से पुर्तगाली व्यापारी हुगली अथवा चटगाँव के नज़दीक विशेष रूप से जाते भी नहीं थे। इसी कारण से गोवा में पुर्तगाली सरकारी संस्थानों में हुगली अथवा चटगाँव सम्बन्धी अधिक दस्तावेज़ नहीं मिलते हैं। पुर्तगालियों के इतिहास का अधिकांश पश्चिमी भारत के समुद्र से जुड़ा हुआ है। लेकिन आज के इतिहासकारों की दृष्टि पूर्वी भारत सागर पर भी पड़ रही है। वंगोप सागर की कथा लिखी जा रही है। ऐसा लगता है पश्चिमी भारत सागर का इतिहास का रंग पूर्वी दिशा के जल में अब कुछ फीका हो जाएगा। ओलन्दाज़ों का व्यवसाय पूर्व-पश्चिम दिशा से जुड़ा हुआ था। एक ज़माने में वे लोग (सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में) पश्चिमी सागर के व्यवसाय के सम्बन्ध में बहुत से तथ्य इतिहारकारों ने इकूटठे किये थे। लेकिन, ओलन्दाज़ कम्पनी यह नहीं चाहती थी कि एशिया समुद्र में कोई व्यक्तिगत कारोबार ओलन्दाज़ कर्मचारी करें। भारत सागर में भी एकाधिकारपूर्ण वाणिज्य ओलन्दाज कम्पनी ने चालू किया था। इस कारोबार में प्रभूत लाभ था। कम्पनी की इच्छा थी कि यह व्यवसाय इस कम्पनी के पास ही बना रहें। ओलन्दाज़ कर्मचारियों ने इसी कारण अपने किसी व्यक्तिगत व्यवसाय की शुरूआत ही नहीं की। वे लोग ओलंदाज़ कम्पनी के एकमुश्त व्यापार में भाग लेते थे। अँग्रेज़ कम्पनी ने कह रखा था कि उनके कर्मचारी एशियाई समुद्र में अपना व्यक्तिगत व्यवसाय कर सकते हैं। इसमें अँग्रेज़ कम्पनी के लिए सुविधाएँ और असुविधाएँ दोनों ही थीं। कम्पनी अपने कर्मचारियों को अल्प वेतन देती थी। इसलिए कम्पनी के कर्मचारी अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए व्यक्तिगत व्यवसाय किया करते थे। कई बार तो वे कम्पनी को ही धोखा देते थे, ठगते थे और कम्पनी देखकर भी अनदेखी करती रहती थी। लेकिन अन्त तक इन सारे कर्मचारियों की सहायता की ज़रूरत कम्पनी को बनी ही रहती थी। जैसे कैप्टेन में जब व्यवसाय की शुरूआत हुई, उसमें कम्पनी को प्रचुर धन की ज़रूरत पड़ी और वह धन, बहुत अंशों में इन्हीं व्यक्तिगत व्यवसायियों से आता था। कुछ इतिहासकार हैं, जो यह मानते हैं कि व्यक्तिगत स्वार्थ के कम्पनी के स्वार्थ के साथ मिल जाने के परिणामस्वरूप भारत में ब्रिटिश राज्य का प्रारम्भ हुआ। लेकिन हमारा काम सिर्फ़ यह जानने से ही चल जाएगा कि इन सब व्यक्तिगत व्यवसाय करने वालों के दस्तावेज़ों से ही हमें भारतीय सौदागरों के इतिहास का कुछ अंश मिल जाता है। इसी के साथ व्यक्तिगत व्यवसाय की कुछ अन्य खबरें भी हमें मिल जाती हैं।

कम्पनी के दस्तावेज़ों का अच्छी तरह अवलोकन करने से हमें एक ऐसी दुनिया का पता चलता है जिसमें कम्पनी की कहानी तो बहुत ही कम है। जैसे उदाहरण के लिए डच कम्पनी के क़ागज़ पत्रों में एक ऐसी डायरी (Dag Ragister) मिलती है जिससे हमें भारतीय शहरों के सम्बन्ध में अनेक समाचार मिलते हैं। ये सब रोजनामचे डच कम्पनी के भारतीय कर्मचारियों द्वारा ख़बरों के आधार पर लिखे जाते थे। इन सब समाचारों में झूठ-सच क्या है इसे परखने का काई उपाय नहीं है, इसके अलावा प्रतिवर्ष के ये रोज़नामचे मिलते भी नहीं हैं। किन्तु इनका जो कुछ भी अंश मिला है, एवं उनमें से जाँच करने के बाद जो अंश सत्य लगा है, यही उनकी उपलब्धि है। दिनलिपि के अलावा जहाजों की सूची भी मिली है। इस तालिका को पाने के कारण इस विषय में खोज करने वाले इतिहासकार बड़े उत्साहित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अगर इस तालिका का अच्छी तरह उपयोग किया जाए तो इतिहास लिखने में बड़ी सुविधा हो जाएगी। वैसी ही एक भिन्न प्रकार की डायरी भी मिली है। यह न तो व्यक्तिगत डायरियाँ है न सरकारी। कम्पनी के क़ागज़ों में ये कैसे आ गयी इसे ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता है। जैसे उदाहरण के लिए

दिवदती (Diobati) की डायरी। यह डायरी डच कम्पनी के क़ागजातों में मिली है। दिवदती डच कम्पनी का आदमी था। सौलह सौ नब्बे के दशक में उसने डच कम्पनी के कर्मचारियों को सही मार्ग पर बने रहने का प्रयास किया था। इसका फल कुछ विशेष नहीं हुआ लेकिन, डायरियाँ सुरक्षित रहीं, उनसे पश्चिमी समुद्र के सम्बन्ध में अनेक सूचनाएँ मिल जाती हैं। मोटे रूप में कम्पनी के क़ागज़ों का ढेर एक पिरामिड के आकार का है। सबसे ऊपर आपको मिलेगा एक तरह का पत्र जिसमें कम्पनी के व्यवसाय के अलावा और कोई विशेष तथ्य नहीं होंगे। इसके आधार पर कम्पनी के व्यवसाय के सम्बन्ध में बहुत कुछ जाना जा सकता है। लेकिन भारत सागर के बारे में इससे कोई जानकारी नहीं मिलती है। फिर उस पिरामिड के एकदम नीचे हैं, दिनलिपि और जहाजों की सूची जैसे क़ागज़, जिनसे खण्ड-खण्ड बहुत-सी खबरें मिल सकती हैं। आप शुरू में ही एकदम नीचे चले जाएँ पर इसका कोई उपाय नहीं है। नीचे क़ागज़ों से अनेक सूचनाएँ ज़रूर मिल जाएँगी किन्तु इन ख़बरों को बड़े सलीके से सजाना होगा। एकाएक इसमें घुस पड़ने पर आपको इनके सिर-पैर की कोई सीमा ही नहीं मिलेगी। सारे क़ागज़-पत्रों के बारे में ठीक जानकारी कर लेने के बाद ही सबसे नीचे के क़ागज़ों को व्यवस्थित किया जा सकता है। जिन सब इतिहासकारों ने सारे क़ागज़ातों को ठीक तरह से देखे बिना इन तथ्यों को रखने का प्रयास किया, वे सफल नहीं हुए। मोटे रूप में उन क़ागज़ातों के पढ़ने से यह निष्कर्ष निकला कि रोज़गार तीन तरह का था - एक कम्पनी के द्वारा किया जाने वाला रोज़गार, दूसरा कम्पनी के कर्मचारियों का व्यक्तिगत रोज़गार, एवं तीसरा, भारतीय सौदागरों का रोजगार। हम लोगों की अधिक जानकारी कम्पनी के व्यवसाय के सम्बन्ध में ही है। व्यक्तिगत व्यवसाय के सम्बन्ध में भी कुछ जानते हैं, लेकिन भारतीय व्यवसाय के सम्बन्ध में मामूली रूप में ही जानते है। वर्तमान हालत यही हैं।

समुद्र का इतिहास अगर हम लिखने जाएँ तो सम्पूर्ण रूप से एक अन्य समस्या हमारे सामने आती है। भारतीय तट की कहानी कहते ही यह गोलमान एकदम स्पष्ट हो उठता है। कहने को तो इसे उपतटबन्ध कहा जाता है लेकिन कितने भीतर तक यह उपतटबन्ध चला गया है इसका छोर कोई नहीं बता सकता है। जैसे नील के व्यवसाय को लीजिए, जिसके बारे में मैं पहले ही कह चुका हूँ। आगरा के आसपास नील की खूब अच्छी खेती हुआ करती थी। उस नील को भारत सागर के कई बन्दरगाहों पर भेज दिया जाता था। तो फिर भारत का समुद्रीतट क्या आगरा तक फैला हुआ था? इन सब प्रश्नों का कोई उत्तर इतिहासकारों ने नहीं दिया, लेकिन ज़रूरतमन्द आगरा की खोज-ख़बर उन्होंने ज़रूर ली। फिर मान लीजिए भिन्न-भिन्न देशों के जहाजों पर विभिन्न समाजों के लोग जाया करते थे। अगर कोई मुग़ल मनसबदार जहाज पर होता था, तो फिर उसका आदेश ही जहाज पर चलता था। इन सब लोगों के पास विशेष सम्पत्ति थी, किन्तु इन्हें समुद्र के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं था। दो तरह के अन्य दो लोगों को समुद्र के बारे में जानकारी थी। उन्हें कहा जाता था सारेंग् और टाण्डेल। आवश्यकतानुसार इनके मतामत को लिया जाता था। लेकिन जहाज पर जो सर्वेसर्वा होता था, उसे कहा जाता था 'नाखुदा' अथवा नाखोदा'। यह 'नाखुदा' समुद्र के बारे में न जाने तो भी काम चल जाता था एवं कई क्षेत्रों में ये लोग सचमुच में कुछ नहीं जानते थे। नाखुदा की जानकारी के अभाव में जहाज डूब गया है, ऐसी भी घटनाएँ हुई हैं। सिर्फ़ भारत सागर में ही नहीं, भारत सागर के उपकूल में अन्यत्र भी एक ही प्रथा का पालन होता था। जैसे उदाहरण के लिए 'मोखा' का कोई जहाज सूरत जा रहा है। जहाज का 'नाखुदा' मोखा राज्य का राजपुत्र है। वह जहाज डूब जाने का कारण बन सकता है और बना भी था। नाखुदा की

जो सामाजिक प्रतिष्ठा है, इन सब घटनाओं के पीछे रही है। जहाज पर सवार लोग अपने समाज को अपने साथ लिये आते थे। इस विषय में पुर्तगालियों के साथ भारतीयों की विशेष समानता थी। पुर्तगालियों के 'फिडालगो' (Fidalgo) और भारतीय मनसबदार एक ही वर्ग के थे। जहाजों की व्यवस्था में भी यही वस्तु देखने को मिलती थी। भारतीय जहाज जितनी इच्छा हो उतने लोगों को ले जाते थे और उन पर यात्रियों की भी स्वाधीनता थी। जैसे मान लीजिए, जिसको जैसे रुचे, भोजन बनाकर खा सकता था। वहाँ कोई कुछ नहीं कहता था। मुग़लों के जहाजों पर अनेक तोपे हुआ करती थीं किन्तु उन पर सामान इतना अधिक हो जाता था कि तोपों को चलाने का कोई उपाय ही नहीं रहता था। अँग्रेज़ों अथवा ओलन्दाज़ लोगों के जहाजों पर बिल्कुल दूसरी ही घटना घटती थी। जहाज पर बहुत कम लोगों को चढ़ाया जाता था, सामान भी कम रहता था। उसे खूब व्यवस्थित रूप से सजाया जाता था। भारतीय यात्री कई बार इस नियम के कारण सुविधा नहीं पा पाते थे। इसीलिए बीच-बीच में अँग्रेज़ और ओलन्दाज़ जहाज उनसे बचकर निकल जाते थे। कहना अधिक न होगा, सवारियाँ और माल बहुत कम होने के कारण इनका भाड़ा बहुत अधिक होता था। भारतीय जहाजों पर उसकी तुलना में लगभग आधा किराया होता था। अँग्रेज़ो और ओलन्दाज़ जहाजों पर जलदस्युओं (Pirates) का भय बहुत कम रहता था - कारण वे जहाज तोपें चला सकते थे। लेकिन इन सब जहाजों पर नियम मान कर चलना पड़ता था। जहाज का कैप्टन समुद्र को पहचानता था। सारी दृष्टियों से विचार करने के बाद तब एक सौदागर यात्री को निर्णय लेना पड़ता था कि वह किस जहाज से यात्रा करेगा। और एक दूसरी वस्तु भी इसमें थी। एक-एक जहाज की प्रथा अलग-अलग थी। जैसे मान लीजिए, जहाज अगर हवा के अभाव में लौट जाए तो क्या यात्री लोग अधिक किराया देंगे? एक बार एक ओलन्दाज़ जहाज पर ऐसी घटना घटी थी। ओलन्दाज़ लोगों के अधिक भाड़ा चाहने पर उनसे शायद यह कहा गया था कि प्रथा ऐसी ही होनी चाहिए। किन्तु ओलन्दाज़ लोगों की बारी आने पर इस प्रथा का पालन नहीं किया जाता था, कारण वे दूसरे समाज के व्यक्ति होते थे। जहाज के यात्रियों का यह कहना था कि स्थानीय प्रथा अगर उनके क्षेत्र में लागू होगी तो असुविधा होगी। उसका फल यह हुआ कि ओलन्दाज़ लोगों को अधिक भाड़ा नहीं मिल सका एवं दूसरी असुविधा क्या थी, उसे भी हम लोग नहीं जान सके। सामान्यतः जहाज के मालिक का जो वर्ग होता था, उस वर्ग के नियम से ही वह जहाज चलता था। फिर भी सूरत के मुल्ला अब्दुला गफूर के जहाज पर उसी का अपना नियम चलता था।

गफूर के कई जहाज थे इसलिए उससे कोई कुछ कहता नहीं था। मोटे रूप में कोई वणिक किस जहाज पर यात्रा करेगा, यह निर्णय लेने के काम में जिस दल का जहाज है, उस दल के नियमों के सम्बन्ध में सम्यक जानकारी होना ज़रूरी था। बीच-बीच में बड़ी विचित्र असुविधाएँ देखने को मिलती थीं। मुग़लों के बन्दरगाह सूरत पर मणिमुक्ताओं पर कर लगाया गया था। आप बाहर से कुछ मोती लिये हुए चले आएँगे इसका कोई उपाय नहीं था। इसके परिणामस्वरूप आपको कोई अन्य व्यवस्था करनी पड़ती थी। मान लीजिए, आपने नाखुदा से अपने पास कुछ मोती रखने के लिए कहा। नाखुदा ने बन्दरगाह में घुसने के बाद वे मोती आपको लौटा दिये। इससे नाखुदा को भी कुछ फायदा हो गया, और आपके भी मोती सुरक्षित आ गये। यह किसी दल का नियम नहीं था, लेकिन इस प्रथा का पता सबको था। लेकिन अगर आप अँग्रेज़ों के जहाज पर यही काम करें तो हो सकता है आप मुश्किल में पड़ जाएँ। बन्दरगाह में घुसते ही मान लीजिए कैप्टन आपसे कहे, उसके पास तो आपके कोई मोती नहीं हैं। अब आप किससे

नालिश करने जाएँगे? जहाज तो कम्पनी का है। वे तो सारे नियमों को मानकर चलते हैं। फिर वह कैप्टन भी तब तक लुप्त हो गया। इसलिए आपके मोती भी चले गये।

यह तो हुई जहाज के यात्रियों की बात। लेकिन माझी-मल्लाहों की स्थिति भी जानना ज़रूरी है। इसके बिना जहाजों के सम्बन्ध में आपकी धारणा ठीक नहीं हो सकती है। माझी-मल्लाहों के विषय में हमारी जानकारी और भी कम है। लेकिन जितना भी जानते हैं उसे बता देना ज़रूरी है। ये माझी-मल्लाह ग्रामीण लोग होते थे। वे लोग बन्दरगाहों पर स्थित शहरों से सटे विभिन्न गाँवों में फैले रहते थे। उनका व्यवसाय था जहाजों को चलाना। इसलिए कोई जहाज बन्दरगाह से छूटने वाला है, यह जानकारी होते ही वे बन्दरगाह पर हाज़िर हो जाते थे। उसके बाद एक प्रकार का अनुबन्ध किया जाता था। इस अनुबन्ध को कहा जाता था 'करारनामा'। इस करारनामे में लिखा रहता था किसको कितना मासिक वेतन मिलेगा। इसके साथ किसको क्या खाने को मिलेगा, हाँ निःसन्देह सारा रुपया और भोजन सरदार की देखरेख में दिया जाता था। स्थानीय काज़ी इस करारनामे पर सीलमुहर लगाता था। तभी अनुबन्ध पूरा समझा जाता था। इस करारनामे में पहली बार हमें जाति अथवा (Caste) शब्द देखने को मिलता है। किसी जाति का प्रधान मान लीजिए आपका 'टाण्डेल' है। वह कुछ अपनी जाति के लोगों को आपके पास लाकर करारनामा लिख देगा। उस जगह आप भी वही करेंगे। इसी प्रकार माझी-मल्लाहों की जुगाड़ की जाती थी। गुजरात में सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दौर के कुछ ऐसे ही करारनामा मिले हैं। लेकिन, इसमें मुश्किल भी थी । मान लीजिए, एक जहाज सूरत से बाटाविया (Batavia) जाने वाला है। उसे चलाने वाले लोग नहीं हैं। उस वक़्त स्थानीय लोगों के द्वारा उसे चलाने की व्यवस्था की जाती थी। अर्थात् उस करारनामे पर एक तरफ तो ओलन्दाज़ लोग हस्ताक्षर करते थे और दूसरी तरफ स्थानीय लोग करते थे। जहाज इस तरह बाटाविया चला गया। वहाँ पर ओलन्दाज़ लोगों ने कहा- इन माझी-मल्लाहों को छोड़ना ठीक नहीं होगा। हालाँकि सूरत में गोलमाल शुरू हो गया। माझियों के परिवार के लोगों ने जाकर ओलन्दाज़ फैक्टरी पर हमला बोल दिया। उनका प्रश्न है, हमारे परिवार के लोग कहाँ गये? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। जब तक वे लोग वापस नहीं आ जाते तब तक ओलन्दाज़ लोग सूरत में अपना मुँह नहीं दिखा सकते थे।

इतिहासकारों के लिए भी निःसन्देह मुँह दिखाना उचित नहीं था। उनका अज्ञान चारों और फैला हुआ है। जैसे उदाहरण के लिए मौसमी हवाओं का कोई इतिहास ही नहीं है। ये हवाएँ पूरे समुद्र में नहीं चलती हैं, इस बात की चर्चा कहीं नहीं है। थोड़ा पहले अक्षांश भेद के कारण मौसमी हवाओं के चरित्र बदल जाने के जिस प्रसंग को मैंने उठाया था, मैं पुनः उसी प्रसंग पर आता हूँ। भारत सागर कहते ही हम लोग मौसमी हवाओं का क्षेत्र समझने लगते हैं। लेकिन विषवत रेखा के ६० अंश दक्षिण में ये मौसमी हवाएँ क्षीण होने लगती हैं उसके बाद एक विशाल क्षेत्र है, जहाँ पर हवाएँ एकदम धीमी और मन्थर हो जाती हैं। उसके दक्षिण में एक तरह की तीव्र हवा चलती है। वही हवाएँ पाल वाले जहाज को पूर्वी अफ्रीका से इण्डोनेशिया की ओर खींच ले जाती हैं। सबसे पहले डच लोगों ने लक्षित किया कि इस तरह से जहाज चलाया जा सकता है। वे लोग अफ्रीका का चक्कर लगाकर उत्तर दिशा की तरफ फिर नहीं आते थे, इसी तीव्र हवा के सहारे नीचे इण्डोनेशिया की तरफ चले जाते थे। इस हवा के प्रमुत्व को अँग्रेज़ लोग mooring firtico कहते थे। फिर भी सिर्फ़ इन्हीं हवाओं पर निर्भर नहीं रहा जा सकता था। इसका परिणाम यह होता था कि अक्सर जहाज अपना रास्ता भूल जाते थे। एक जहाज इसी तरह पूरी तरह अनजान एक देश में जा

पहुँचा था। इस देश के अस्तित्व का तब तक किसी को कोई पता नहीं था। बाद में इसी देश का नाम रखा गया आस्ट्रेलिया । ओलन्दाज़ नाविक टासमेन ने इस नये देश का अच्छी तरह निरीक्षण किया । आस्ट्रेलिया की खोज इसी तरह हुई । इन तूफ़ानी हवाओं के प्रमुत्व को छोड़कर अगर आप और भी दक्षिण में जाएँ, वहाँ पर पानी धीरे-धीरे ठण्डा होने लगता है। लोगों की बस्तियाँ भी विरल अथवा दिखायी ही नहीं पड़ती है। अब आप व्यापार किसके साथ करेंगे ? शायद इसी कारण भारतीय नाविक मौसमी हवाओं के क्षेत्र को छोड़कर जाना नहीं चाहते थे। फिर एक प्रकार का बच्चों जैसा भय भी था। सिन्दवाद की कहानी में 'रोकपाखी' उड़कर आ गया था माडागास्कर के इलाके से। इब्नबतूता ने भी इसी इलाके में रोकपाखी का उल्लेख किया है।

यहाँ पर हम लोग एक अन्य प्रसंग पर चले आते हैं। भारतीय नाविक कुछ नया नहीं करना चाहते थे। पूरे भारत वर्ष का स्वभाव ही ऐसा ही है। बाप-दादाओं ने जो किया है, उनके बेटे, नाती-पोते भी वही करेंगे। इन्हीं नियमों को कहते हैं प्रथा अथवा कानून। यूरोप के व्यक्ति, हाँ कुछ व्यक्ति एकदम भिन्न प्रकृति के हैं। वे लोग जहाँ फ़ायदा देखते हैं, वहीं चले जाते हैं। बाप-दादा किसी की भी नहीं मानेंगे। इस भेद को आप लोग लक्षित करेंगे। अन्तर ज्ञान अथवा साहस का नहीं है, रीतिरिवाज और प्रथाओं का है। दो क्षेत्रों के व्यक्ति दो तरह से काम करते हैं। इस प्रश्न से कोई फायदा नहीं है कि भारतीय लोग यूरोपीय लोगों की तरह काम क्यों नहीं करते हैं। इतिहास तो सिर्फ यह जानकारी देगा कि किस तरह काम चलता था, अगर आप इससे अधिक जानना चाहते हैं तो इतिहास आपकी कोई सहायता नहीं करेगा। फिर भी किसी-किसी विषय में हम लोगों को थोड़ा अधिक जानकारी है। जैसे भारतवर्ष के उपकूलों पर बसे बन्दरगाहों और शहरों के बारे में। सोलहवीं शाताब्दी के पहले दौर में उपतटों के बन्दरगाही शहर भलीभाँति अवस्थित थे। केन्द्रीय सत्ता चाहे जितने भीतर हो, इससे कुछ आता-जाता नहीं था। इच्छानुसार इन बन्दरगाहों से अन्य जगहों पर लोग भेजे जाते थे, जैसे अकबर ने बैरम खाँ को भेजा था। सूरत बन्दरगाह से मक्का जाने की सुविधा मिल जाती थी। दिल्ली के बादशाह इसी करण सूरत का खूब ख्याल रखते थे। फिर बन्दरगाहों के इन शहरों से केन्द्रीय राजशक्ति की इच्छा के अनुसार व्यापार भी किया जाता था। इसका उदाहरण शाहजहाँ स्वयं है। इसके अलावा अनेक राजपुरुष व्यापार में लिप्त थे।

लेकिन शहरों का स्वभाव तो परिवर्तनशील होता है। १५००-१८०० ईसवी के बीच गुजरात के काम्बे, सूरत और विड नगरों की खोज की गयी। मालावार में कालीकट था। इसके आलावा पूर्व तट पर विजयनगर साम्राज्य ने पोलीकट नामक बन्दरगाह को तैयार किया था। बाद में तो मछली पट्टन भी बन गया था। बाँग्लादेश में चटगाँव, सप्तग्राम और हुगली बन्दरगाह थे। इन स्थानों पर कलकत्ता, मद्रास और बम्बई शहरों का विकास हुआ। बन्दरगाह के इन तीन शहरों का अँग्रेज़ी शासन काल में आधिपत्य था। सूरत बन्दरगाह से जो जहाज पश्चिम के अरब बन्दरगाहों पर जाते थे, उन्हें हिन्दुस्तान का कहा जाता था। फिर जब कलकत्ता से जहाज भेजना शुरू हुए तब इतिहासकार लोग कलकत्ता का उल्लेख करते थे। ये जहाज पूर्वी दिशा में जाते थे। यह जो हिन्दुस्तान खत्म होने के बाद कलकत्ता आ गया इसके बीच में काफ़ी इतिहास फैला हुआ है। उन इतिहासों को दिखाना ही मेरा मुख्य काम है।

सोलहवीं शताब्दी की शुरूआत में सूरत बन्दरगाह का वैसा निर्माण नहीं हुआ था। काम्बे बन्दरगाह समाप्ति पर आ गया था। काम्बे बन्दरगाह के किनारे समुद्र का जल उतना गहरा नहीं था। जहाज काम्बे बन्दगाह तक नहीं आना

चाहते थे। थोड़ी दूर पर ही रुक जाते थे। लेकिन काम्बे की समृद्धि उस वक़्त भी अक्षुण्ण थी। कई गुजराती वाणिक काम्बे से व्यवसाय करते थे। वह व्यवसाय पूर्व दिशा मे मलक्का बन्दरगाह तक जाता था। और उससे पश्चिम में अरब समाज में बनियों की बस्तियाँ तैयार हो गयी थी। लेकिन लोग समझते थे कि काम्बे बन्दरगाह के दिन अब खत्म होने को आये हैं। कौन-सा बन्दरगाह काम्बे का उत्तराधिकारी होगा, दिउ अथवा सूरत इसी बात को लेकर प्रतिस्पर्धा चल रही थी। इस प्रतिस्पर्धा में दिउ तो खड़ा नहीं रह सका, सूरत बन्दरगाह तैयार हो गया। इसके अलावा पश्चिमी तट पर कालीकट बन्दरगाह की समृद्धि विश्व विख्यात थी। कालीकट से प्रचुर मात्रा में काली मिर्च का निर्यात होता था। फिर यूरोप के निवासी कालीकट पर बहुत कुछ थोप देते थे। जैसे एक तरह का कपड़ा जिसे उन्होंने नाम दिया था 'केलिको'। वह कपड़ा निःसन्देह कालीकट में तैयार नहीं किया जाता था। अन्य स्थान से कालीकट में आता था। इसके अलावा भी एक समस्या और थी : कालीकट की विशाल सम्पत्ति के रूप में बन्दरगाह के कई पुराने शहरों की कहानी। हम लोग उसे भूल जाते हैं जैसे कोंकण तट पर चाउल और दाझेल। चाउल में पुर्तगालियों ने सोलहवीं शताब्दी में एक नया बन्दरगाह ने बना लिया था। दाझेल के पण्य द्रव्यों को लेकर दाझेल के जहाज पूरे भारत सागर में घूमते रहते थे। दाझेल बन्दरगाह ने कभी किसी की दासता स्वीकार नहीं की। ऐसा लगता है दाझेल के वणिकों ने सूरत के वणिकों के साथ एक तरह का समझौता कर लिया था। सत्रहवीं शताब्दी के प्रथम दौर में दाझेल बन्दरगाह नष्ट हो जाने तक यह समझौता चलता रहा।

कोरमण्डल अंचल में विजयनगर का बन्दरगाह था पालीकट। १५६५ ईसवी में वियजनगर राज्य का पतन होने के साथ-साथ पोलीकट बन्दरगाह भी नष्ट हो गया। उसके स्थान पर नया बन्दरगाह मछली पट्टन शहर के रूप में उभर आया। मछली पट्टन के वणिक पूर्वी और पश्चिमी दोनों दिशाओं में जाते थे। इन वणिकों में मीर जुमला का नाम हम सभी लोग जानते हैं।

और भी पूर्व में हम आएँ तो बाँग्लादेश के बन्दरगाह पड़ते थे। इन बन्दरगाहों में भारत वर्ष के लगभग पूर्वी सीमान्त का बन्दरगाह चट्टग्राम शहर था। चटगाँव से नदी में होकर गौड़ अथवा पाण्डुया आया जाता था। पश्चिमी दिशा में था सप्तग्राम। आज भी भारत वर्ष के अनेक वणिक सप्तग्राम का नाम लेते हैं। लगता है पुराने समृद्धशाली सप्तग्राम को बंगाली आज भी भूल नहीं पाये है। सप्तग्राम के तट पर जल बहुत कम था। इसी कारण से पुर्तगालियों ने थोड़े दक्षिण में हुगली बन्दरगाह के शहर को बनाया था। मुगलों ने १६३२ ईसवी में हुगली मे अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। काफ़ी समय तक हुगली मुगल साम्राज्य का पूर्वी दिशा का बन्दरगाह था। यहीं से पारस्य देशों के साथ व्यापार चला करता था और मुगल राजपुरुष अपना भी व्यापार यहीं से चलाया करते थे।

बन्दरगाह के इन शहरों में ऐसा क्या था, जो उस समय के गाँवों में नहीं मिलता था? इस सन्दर्भ में यहाँ एक बात का उल्लेख करना और ज़रूरी है। इन शहरों को ख़त्म कर नये शहरों का निर्माण चलता रहता था। यह भारतवर्ष का पुराना नियम है, जैसे सूरत के स्थान पर बाम्बे का निर्माण। लेकिन इस अंचल में एक बन्दरगाही शहर का होना लाजमी था। काम्बे, सूरत और बम्बई इसी को प्रमाणित करते हैं। हाँ, इन शहरों में थोड़े बहुत निर्माण का काम भी चलता रहता था, जो गाँवों में नहीं मिलता था। शुरू में बात आती है नगर-प्रकार की। अठारहवीं शताब्दी के शुरूआती दौर में सूरत को घेरकर दो दीवारें बनायी गयी। किसी भी गाँव में इस वक़्त ऐसी दीवार नहीं मिलती है।

मुग़लों के समय सूरत में एक दुर्ग भी था। उस दुर्ग की क्षमता कितनी थी, इस पर सन्देह किया जा सकता है। लेकिन ग्रामान्चल में ऐसा कोई दुर्ग ढूँढे से भी नहीं मिला है। सूरत के दुर्ग के पास ही थी टकसाल। उस टकसाल में मुहरें, रुपये सभी तैयार होते थे। ग्रामों में ऐसी कोई टकसाल नहीं मिलती थी। इसके अलावा कोई बन्दरगाह बनते ही जहाजों के आने-जाने की व्यवस्था हो जाती थी। वे जहाज निःसन्देह बड़े नहीं होते थे। बन्दरगाह भी नदियों पर स्थित बन्दरगाह होते थे। समुद्र के ठीक तट के ऊपर कोरोमण्डल बन्दरगाह था। लेकिन भारत वर्ष के उपतटों पर अन्य बन्दरगाह वैसे नहीं थे। नदी से होकर थोड़ा ऊपर चलने पर बन्दरगाह मिलते थे। उन्नसवीं शताब्दी में जब बड़े जहाज तैयार हुए तब से नदी के ये छोटे-छोटे बन्दरगाह धीरे-धीरे समाप्त हो गये। बड़े जहाज बड़े बन्दरगाहों पर जाते थे। उस कारण लंगर डालने की विशेष व्यवस्था थी। इसी से जहाजों के खड़े होने के लिए Harbour बने। हमारी समस्या वैसी नहीं है। यह बड़े जहाजों और छोटे जहाजों में जो अन्तर आ गया वही ज़रूरी था। इसी से छोटे जहाजों का व्यवसाय शुरु हुआ। बड़े जहाज इस व्यवस्था में घुस ही नहीं पाते थे। यूरोप ने बड़े जहाजों को बनाना शुरु कर दिया एवं जहाजों में भाप की शक्ति का प्रयोग किया जाने लगा। भारतीय सौदागर व्यापार पकड़े रह गये। वाणिज्य दो तरह का हो गया- बन्दरगाहों से होने वाले व्यापार को अँग्रेज़ करते थे, भारतीय व्यवसायी बन्दरगाहों के अलावा घाटों से न होने वाले व्यापार को करते रहे। यह तो काफ़ी बाद की बात है। सोलहवीं शताब्दी के प्रथम दौर से अठारहवीं शताब्दी के बीचों बीच तक ऐसा नहीं हुआ। भारतीय उपतटों पर स्थित बन्दरगाहों के शहर व्यवसायी जहाजों को आश्रय देते थे। इनमें कई जटिलताएँ थीं। फिर भी बाद में आने वाला फ़र्क तब भी नहीं आया था। भारत सागर अकेला समुद्र था। इसमें सभी सुख-दुख में व्यवसाय किया करते थे। इन जटिलताओं को समझने की ज़रूरत है। सोलहवीं शताब्दी के पहले से ही राजपुरुषों की प्रमुखता देखने को मिलने लगी थी। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यह प्रमुखता अटूट बनी रही। सम्राट शाहजहाँ सूरत से मोखा तक अपने जहाज भेजा करते थे। सत्रहवीं शताब्दी के बीचों-बीच इन जहाजों ने फारस की खाड़ी तक जाना शुरु किया। इस समय मुगल जहाज वाणिज्य का विस्तार लक्षित किया जा सकता है। अँग्रेज़ एवं ओलन्दाज़ कम्पनियाँ अरब सागर में अपने जहाज भाड़े पर चलाते थे। उनके दस्तावेजों में शाहजहाँ के प्रति कोई विशेष श्रृद्धा के प्रमाण नहीं हैं। भारतीय वणिक छोटे जहाज चलाया करते थे। राजपुरुषों के बड़े जहाजों में वे लोग निश्चिन्त रहते थे लेकिन खुद अपने जहाजों को वे एक सौ टन से अधिक भारी नहीं होने देते थे, मुगलों के जहाज ५००-६०० टन के हो सकते थे। यहाँ पर ध्यातव्य यह है, भारतीयों के 'टन' नाम की किसी वस्तु का पता नहीं था। वे लोग ''खाण्डि'' में हिसाब रखा करते थे। लगता है यह ''खाण्डि'' एक प्रकार के वजन का माप थी जो बैलों की पीठ पर लादे जाने वाले बोरे से आया था। स्कन्ध शब्द से यह ''खाण्डि'' शब्द व्युत्पन्न हो सकता है। ऐसी तीन खाण्डियों में यूरोपीय लोगों का एक टन हो सकता था। सत्रहवीं शताब्दी की शुरुआत तक भारतीय वाणिज्य का चेहरा तो फिर एक तरह के बेड़े में बड़े जहाज रहते थे। वे राजपुरुषों के होते थे और छोटे जहाज सौदागरों के होते थे। छोटे जहाजी बेड़े की ही संख्या अधिक थी। किन्तु बेड़े में छोटे-बड़े जहाजों का भेद नहीं ही लक्षित करने की वस्तु है। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से ही अन्ततः समुद्र की पश्चिमी दिशा की छवि बदल जाती है। शाहजहाँ के बाद औरंगजेब आया। उसने मुगलों के जहाजी वाणिज्य की तरफ ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। उन्हें धीरे-धीरे सूरत के वाणिकों ने खरीद लिया। लेकिन मुगलों के जहाज बने रहे । सम्राट का विचार था कि उन जहाजों के द्वारा हज यात्रियों को भेजा जाता रहेगा। गुजरात के वाणिकों का विचार था कि सम्राट के जहाजों पर माल चढ़ा

देने से बहुत कुछ निश्चिन्त रहा जा सकता है। उन लोगों ने तब तक आप खुद का वाणिज्य बेड़ा तैयार कर लिया था। उस बेड़े में मझोले जहाजों की प्रमुखता देखने को मिलती है। ये मझोले जहाज दो सौ टन तक के बनते थे अर्थात छह सौ ''खाण्डि'' के।

मुल्ला अब्दुल गफूर के सत्रह जहाज थे। उनमें बहुत-से इसी तरह के थे। लगता है सूरत के व्यापारियों ने मुगलों के व्यवसायी बेड़े को हटाकर अपने-अपने व्यवसायी बेड़े को बना लिया था। पूर्वी दिशा में हुगली बन्दरगाह पर ठीक इसका उल्टा हुआ था। उस बन्दरगाह पर राजपुरुषों की प्रमुखता अन्त तक बनी रही। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में जब राजपुरुषों ने व्यवसाय फिर किया ही नहीं, तब स्थानीय व्यापारियों के छोटे बड़े जहाज वहाँ दिखायी देने लगे। बहुत से बहुत वे सिंहल अथवा मालद्वीप तक अपना व्यवसाय कर पाते थे। इसमें एक मछलीपत्तन बन्दरगाह भी शामिल था। मछलीपत्तन बन्दरगाह पर एक प्रकार के सौदागर दिखायी देते हैं जो राजपुरुषों जैसे ही थे। राजा के दरबार में इन लोगों को आना जाना था। इन लोगों में मीर जुमला के नाम से हम लोग परिचित हैं। इस तरह के राजपुरुषों की संगति से धन्य वणिक और भी थे। वे लोग राजपुरुष तो नहीं थे किन्तु राज अनुग्रह से संरक्षित थे। लगता है उपतट पर तीन तरह की घटनाएँ घटी थीं, सूरत में स्वाधीन खड़ा हो गया, हुगली में ऐसा कुछ नहीं हुआ। मछली पट्टन में ज़रूर कुछ व्यापार खड़ा हो गया था। लेकिन उसे भी पूरी स्वतन्त्रता नहीं मिली। इन उपतटों का चेहरा सर्वत्र एक-सा ही नहीं होता था। जैसे जो भी तथ्य मुझे मिले हैं उन्हीं के अनुसार मैं ब्यौरा दे सकता हूँ।

अब मैं वणिक समाज की जटिलता की बात पर आता हूँ। ये तथ्य मुख्य रूप से गुजराती वणिकों के सम्बन्ध में बहुत ज़रूरी हैं। लेकिन लगता है अन्य इलाकों के व्यवसायियों के सम्बन्ध में भी ये तथ्य सत्य है। शुरू में ही बता दूँ, एक तरह के व्यवसायी ऐसे थे जो जहाज के मालिक होते थे। ये लोग आवश्यकता के अनुसार स्वयं अपने जहाज मोड़ लेते थे। जहाज के ये मालिक मूल वाणिज्य से अलग हो गये थे ऐसा नहीं है। जहाज अगर हो तो मालिक अपना माल उसी जहाज से भेजेगा यह प्रथा सभी जानते थे। लेकिन मालिक का माल भरने के बाद भी जहाज में कुछ जगह बच रहती थी। उस जगह पर अन्य वणिक अपने माल को भेज सकते थे। जहाज के मालिकों को अगर हम लोग जहाजी-वणिक कहें तो फिर उनके सम्बन्ध में यहाँ कुछ बातें समझ लेने की ज़रूरत है। इन जहाजी-वणिकों के साथ यूरोप के लोगो का किसी भी दिन समझौता नहीं हुआ। अँग्रेज़ अथवा ओलन्दाज़ व्यापारी चाहते थे कि भाड़े पर उनके जहाज चलें। लेकिन इन जहाजी-वणिकों का भी वही एक उद्देश्य था। इसीलिए भारतवर्ष के उपतटों पर एक तरह की प्रतिस्पर्धा चला करती थी - वह थी जहाजों को भाड़े पर उठाना। यह प्रतिस्पर्धा सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही चल रही थी। भारतीय समुद्र में ओलन्दाज़ और अँग्रेज व्यापारियों के आने के बाद से ही। जहाज पर मिलने वाली सुविधाओं-असुविधाओं पर विचार करने के बाद भारत वर्ष के उपतटों के वणिकों को यह तय कर लेना पड़ता था कि वे अपना माल किस जहाज से भेजेंगे। जहाज अगर किसी परिचित का हुआ तो अधिक सुविधा है - इस बात की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं।

जहाज बन्दरगाह पर आ जाने के बाद क्या कर्त्तव्य था, अब इस बात की चर्चा कर ली जाए। कल्पना कीजिए एक जहाज विदेश से पण्य द्रव्य लेकर आ रहा है। जहाज का मालिक उस माल के वितरण की व्यवस्था करेगा। उसका एक दलाल रहता था - मुख्य दलाल। यह दलाल माल देखकर यह तय करता था कि कौन-सी चीज़ किस भाव बेची जा

सकती है। एक-एक चीज़ बेचने की अलग-अलग प्रथा थी। मान लीजिए, बन्दरगाह पर हाथी-दाँत का व्यवसाय कौन कर रहा है इसकी ख़बर रखनी पड़ती थी। कोई जहाज अगर हाथी के दाँत लेकर आ रहा है, तो फिर उसी के व्यापारियों को सूचना देनी पड़ती थी। वही लोग उसके बेचने की व्यवस्था कर देते थे। इसी तरह से मुख्य दलाल हर वस्तु के बेचने की व्यवस्था कर देता था और भेजने के लिए सौदा का भी इन्तज़ाम कर देता था। कोई भी सौदागर इसीलिए दलाल के बिना काम नहीं कर पाता था। इस सम्बन्ध में धर्म की कोई बाधा नहीं थी। सूरत नगर के मुस्लिम व्यवसायी मुल्ला अब्दुल गफ़ूर के परिवार ने कई वर्षों तक हिन्दू दलालों पर अपने खरीद बेच का भार छोड़ दिया था। इस परिवार का झगड़ा अन्य जहाजी बनियों के साथ था, उनमें एक था तुर्की चेलावी का परिवार। मुल्ला का परिवार कभी भी इस परिवार के साथ मिलकर व्यवसाय नहीं कर सका। दलालों के साथ दूसरे दलालों का झगड़ा छिड़ जाता था। जैसे मान लीजिए, सूरत के व्यापारी पारसी रुस्तम जी काफ़ी दिनों तक ऐसे ही झगड़े में लिप्त रहे थे। ये सब झगड़े वंश परम्परा से चलते रहते थे। किन्तु इन झगड़ों के मूल में धर्म नहीं होता था, होता था सिर्फ़ फ़ायदा अथवा नुक़सान।

जहाजी-वणिक अन्तरदेशीय व्यापार करते थे या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई तथ्य नहीं हैं। सूरत का मुल्ला परिवार एक ओर राजस्थान तक, दूसरी ओर आगरा तक अपने लोगों को भेजता था इसकी जानकारी मिली है। लेकिन इन लोगों का ठीक-ठीक क्या काम था, इसका पता नहीं चला है। माल लेने और भेजने के व्यवसाय की राजस्थान और आगरा को खूब ज़रूरत थी। बहुत साफ़-साफ़ बटवारा करने लायक तथ्य हमारे हाथ में नहीं हैं। इस कारण अन्तरदेशीय व्यापार कैसे आयात-निर्यात के व्यवसाय में परिणत किया जाता था, इसे ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है।

जहाजी-वणिकों के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ भाव से काम करते थे एक अन्य प्रकार के सौदागर। ये भी माल भेजने और मँगाने वाले व्यवसायी थे, लेकिन इनके पास अपने जहाज नहीं थे। ये लोग इस बात का पता रखते थे कि कौन जहाज कहाँ जा रहा है। उसके बाद हिसाब लगाकर अपना माल उसी जहाज पर लाद देते थे। इन सब वणिकों के साथ यूरोप के लोगों का कोई विवाद नहीं था। वे लोग यही चाहते थे कि उनका माल ठीक-ठाक पहुँच जाए। रास्ते में डकैतों का भय था, फिर जहाज कहीं के बजाय कहाँ चला जाए इसका भी भय बना रहता था। भाड़े में कितना रुपया लगेगा इसकी भी चिन्ता करनी पड़ती थी। बन्दरगाह पर जहाजी-वणिक इन सौदागरों को भलीभाँति पहचानते थे। इसकी तुलना में अँग्रेज़ और ओलन्दाज़ लोगों को वे नहीं पहचानते थे। हालाँकि देखा यह गया है कि अँग्रेज़ और ओलन्दाज़ लोगों के जहाज पर माल भेजने पर डकैतों का भय बहुत कम था। जहाज भी ठीक समय पर ठीक स्थान पर पहुँच जाता था। लेकिन, इन सब जहाजों का भाड़ा बहुत अधिक था। जो जहाज मिल जाते थे, उनमें संकट है, यह समझ में आते ही ये वणिक अपने माल को बाँट देते थे। इसलिए अगर कुछ माल खो भी जाए, बाकी तो बच जाता था।

कहना ठीक रहेगा कि इन सब बड़े-बड़े व्यवसायियों का व्यवसाय कई तरह की चीज़ों में फैला रहता था। एक व्यवसाय अगर खत्म हो जाए तो दूसरे व्यवसायों से पैसा कमा लिया जाता था। एक ही चीज़ का व्यापार कई लोग किया करते थे। हाथी के दाँत अथवा पाटोल के बारे मे मैं पहले ही कह चुका हूँ। इसी तरह अन्य व्यवसाय भी चला करते थे। इस तरह के वणिक बहुत-से थे, जो अपनी पैतृक परम्परा से किसी एक ही चीज़ का व्यवसाय किया करते

थे। उस बाज़ार के बारे में उनकी पहचान बहुत ठीक थी। किन्तु, अन्य चीज़ों को लेकर वे अपना दिमाग़ खराब नहीं करते थे। इसमें एक प्रकार की जटिलता थी। इस तरह से जो वणिक केवल किसी एक चीज़ का व्यवसाय करता था, उसे वणिक भी कहा जा सकता था और दलाल भी। भारत वर्ष में यह दलाली की प्रथा बहुत दिनों से है, कोई कुछ भी करने जाए, उसमें दलाल की ज़रूरत पड़ती थी। मान लीजिए, बन्दरगाह में आपको जाना है, इसके लिए भी दलाल भी ज़रूरत पड़ती थी, और अगर आपको ऋण लेना है तो इसके लिए भी दलाल की ज़रूरत पड़ती थी। मुख्य दलाल की खातिरदारी सबसे अधिक होती थी। कई चीज़ों की जिम्मेदारी वही लेता था। फिर ऐसे वणिक भी रहते थे, जिन्हें अपनी वस्तु के अलावा और किसी चीज़ का कोई पता नहीं रहता था। इन छोटे बनियों के पर्याय से दलाल और वणिक एक हो जाते थे। किन्तु मुख्य-मुख्य दलालों को नज़र रखनी पड़ती थी कि कहीं कुल खर्च अधिक न हो जाए और एक दूसरा दायित्त्व भी मुख्य दलाल का था। वे अपने मालिकों के प्रतिनिधि वकील हुआ करते थे। यहाँ पर यूरोप के व्यवसायी बड़ी मुश्किल में पड़ जाते थे। अगर एक स्थानीय व्यक्ति उनका मुख्य दलाल न हो तो किसी बन्दरगाह पर काम नहीं किया जा सकता था। कम्पनी का जहाज आएगा-जाएगा, अगर कहीं कुछ गोलमाल हुआ, तो इसके लिए कौन जिम्मेदार होगा? इसलिए एक स्थानीय व्यक्ति चाहिए ही चाहिए। इसलिए बन्दरगाही शहर का एक व्यक्ति इन विदेशी वणिकों की जिम्मेदारी लेता था। जैसे ओस्टेण्ड (Ostend) कम्पनी सूरत में अपना कारोबार करेगी या नहीं, यह निर्भर करता था उनके दलालों के ऊपर। दलाल अगर दरबार के द्वारा मान लिया जाता था तो ओस्टेण्ड कम्पनी को भी स्वीकृति मिल जाती थी। और दलालों को नियन्त्रित करने के लिए कम्पनी द्वारा शाइस्तों की नियुक्ति की जाती थी। ऐसी भी नज़ीर है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अँग्रेज़ व्यवसायियों ने सूरत पर दखल करने की योजना बनायी। इस दशा में हैदर कुली ने उनके दलाल रुस्तम जी के सारे ठिकानों को तोपों से उड़ाने का हुक्म दिया। अपने द्वारा नियुक्त किये गये दलालों के भी प्रमाण मिलते हैं। बन्दरगाह पर जहाज आ जाने पर उनके माल के उतारने के लिए मुगलों की तरफ से नियुक्त दरोगा उन्हें अनुमति पत्र देता था। लेकिन, यह दरोगा कहाँ मिलेगा इसका कोई निश्चित ठिकाना नहीं था। इस परिस्थिति में कई बार स्थानीय दलाल लोग खुद ही इस दरोगा को ढूँढकर काम निपटाया करते थे। यहीं से वणिकों ने दलाल बनाना शुरू किया। बन्दरगार में कई काम जैसे टकसाल से मुहरें-रुपये आदि लेना-देना सबकुछ दलालों के द्वारा ही विदेशी लोग करते थे। जहाँ भी व्यवसाय वहीं दलाल होने लगे। मुख्य दलाल किसी छोटे-मोटे काम में नहीं लगते थे। दूर-दूरन्तर स्थानों पर दलालों के कर्मचारी रहते थे। मान लीजिए आपको नील खरीदनी है, अच्छी नील आगरा के पास एक गाँव में मिलती है। उस गाँव में नील का एक दलाल है। मुख्य दलाल का काम उस स्थानीय दलाल से सम्पर्क करने के बाद ही होगा। तभी आप नील खरीद पाएँगे।

मोटी बात यह है कि दलाल के बिना काम नहीं चल पाएगा। फिर एक तरह के ऐसे भी लोग रहते थे जो वणिक भी नहीं होते थे और दलाल भी नहीं होते थे। लेकिन उनके बिना व्यवसाय आगे नहीं बढ़ता था। इन्हें कहा जाता था रुपये का रोज़गार करने वाले। व्यवसाय करने के लिए रुपये की जरूरत पड़ती थी। वह रुपया उधार मिल सके इसके लिए रुपया उधारी पर देने वाले व्यवसायियों की ज़रूरत पड़ती थी। फिर यही व्यवसायी वर्ग दूर के शहरों में अपनी हुण्डियाँ बेचा करते थे। इनकी विभिन्न स्थानों पर गद्दिया रहती थीं। एक शहर से अन्य शहर में रुपया ले जाने की ज़रूरत पड़ने पर 'हुण्डी' के माध्यम से नकद रुपया रास्ते में लूटे जाने की सम्भावना से बचा जा सकता था। मान लीजिए कोई आगरा से सूरत एक सौ कल्दार भेजना चाहता है, तो उसे आगरा की गद्दी से एक सौ दो रुपया देकर

'हुण्डी' खरीदनी पड़ती थी। गद्दी से इसके बदले में उसे एक रुक्का लिखकर दे दिया जाता था। उस रुक्के में अन्य शहर में स्थित 'गद्दी' को निश्चित मात्रा में रुपया देने का निर्देश दिया रहता था। वह रुपया उस पार्टी को कब मिल जाएगा, उस रुक्के में इसकी भी तारीख दी रहती था। फिर, मान लीजिए अरब का काई व्यवसायी मुगल साम्राज्य में व्यापार करने आया- स्वाभाविक है उसे रुपयों की ज़रूरत पड़ेगी। लेकिन मुगल साम्राज्य की अपनी मुद्रा के अलावा विदेशी रुपये से रोज़गार किया नहीं जा सकता है। वह व्यवसायी तब टकसाल गया। लेकिन, मान लीजिए यह हेमन्त ऋतु का मौसम है- पूजा का समय है। अनेक जहाज, बन्दरगाह पर आ गये हैं। टकसाल खूब व्यस्त है। कई लोगों की फरमाइश को पूरा करने के लिए काफ़ी मात्रा में रुपया ढालना पड़ता था। इसमें देरी होती थी। लेकिन, वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में भी टकशाल के कर्मचारी ही बताया करते थे। टकसाल में जमा हुई मुद्रा से वे लोग बनियों को कई बार रुपया देना चाहते थे। इसके लिए चढ़ी हुई दर पर कुछ ब्याज देना पड़ता था। वणिक लोग तब अपना सोना-चाँदी लेकर टकसाल से बाजार में चले आते थे। लेकिन, वहाँ पर भी ब्याज लगता था। सामान्य रूप से एक ही परिवार अथवा वर्ग के लोग दोनों स्थानों पर नियन्त्रण करते थे। सुतराम् ब्याज के अलावा कहीं कोई निस्तार नहीं था। यही लोग सराफ अथा श्राफ कहे जाते थे। टकसाल कहिए, रुपये का बाजार कहिए, सभी कुछ इनके नियन्त्रण में था। इनके बिना कोई व्यापार ही नहीं चल पाता था। हालाँकि इन लोगों का प्रयास सबसे अधिक मुनाफा कमाने की ओर होता था। इसके फलस्वरूप कभी-कभी रुपयों के दाम भीषण रूप से बढ़ जाते थे। फिर भी शहर के बड़े सौदागर सब ख़बरें रखा करते थे एवं समयोपयोगी व्यवस्था किया करते थे, जिससे व्यवसाय चलता रहता था।

फिर एक तरह के लोग और थे जो इस लेन-देन के व्यापार को चालू रखते थे। ये फुटकर व्यापारी कहलाते थे। इनकी ही संख्या अधिक थी। इन लोगों को सिर पर कपड़े की गठरी लादने में भी कोई एतराज नहीं थी। यही लोग उस भारतीय सागर के फेरीवाले कहे जाते थे। कुछ थोड़े रुपयों, थोड़े मुनाफ़े से ही ये लोग खुश हो जाते थे। इस कारण आप चाहे जितने बड़े व्यापारी क्यों न हो, चीज़ों के दाम अधिक नहीं बढ़ा पाते थे क्योंकि ये फेरीवाले तो उन चीज़ों को कम दामों में बेचेंगे ही। इन फुटकर विक्रेताओं में से कुछ लोगों को बड़े सौदागर दीवालिया बना सकते थे- किन्तु, भारतीय सागर के बाज़ार से इन फेरीवालों को अलग नहीं किया जा सकता था। ये फेरीवाले दो तरह के होते थे। गुजराम् के खुदरा व्यापारी अधिकतम स्वतन्त्र हुआ करते थे। इण्डोनेशिया के फान ल्योर ने जिन्हें देखा था, वे लोग दूसरे का माल लेकर बेचने जाते थे। इनसे कुछ पृथक् रूप में भले ही हो लेकिन इन फेरीवालो का व्यापार चलता रहता था।

गाँव में कपड़ों का अधिकतर भाग तैयार किया जाता था, फिर मिल की भी खरीद की जाती थी। इसलिए शहर के दलाल गाँव के दलालों को व्यापार में खींच लेते थे। यहाँ पर एक अद्भुत स्वाधीनता की बात कहना चाहता हूँ। गाँव के दलाल कोई बड़े लोग नहीं होते थे। किन्तु उन्हें लाँघ जाने का उपाय किसी के भी पास नहीं था। कानून के उल्लंधन करने पर उन्हें बचाया नहीं जा सकता था। गाँव के दलाल बड़े सुख और स्वच्छन्दता से रहते थे। उन्हे हठपूर्वक कोई काम करने को बाध्य नहीं कर सकता था। इसी तरह के गाँव के मुखिया होते थे। गाँव के मुखिया लोग ही उस गाँव के दलाल हो सकते थे। लेकिन अगर आप बन्दरगाह के शहर से माल भेजना चाहते हैं तो बहुत दूर स्थित किसी मुखिया से सम्पर्क ज़रूर करेंगे। जो वस्तु पेशगी देकर खरीदी जाती है, उस वस्तु का जुगाड़ यही मुखिया कर देगा। किन्तु गाँव

के ताँतियों अथवा किसानों से सम्पर्क करने की शक्ति और किसी में नही थी।

यहाँ पर बाजार के बारे में सोचिए। बन्दरगाह पर स्थित शहर में दो रकम की खरीद हुआ करती थी। एक ओर तो पेशगी खरीद की व्यवस्था थी, दूसरी तरफ नकद लेन-देन चलता था। पेशगी रकम तो बहुत दिन पहले ही दे दी जाती थी। जिस चीज़ के लिए पेशगी रकम दे दी जाती थी, उसके दाम भी नहीं बढ़ते थे लेकिन इसमें एक गड़बड़ी थी। ताँती अथवा किसान को ऐसा भान होता कि दूसरी जगह अधिक कीमत मिल सकती है तो फिर पेशगी लौटाने की क्षमता उसमें थी। अर्थात् केवल पेशगी देकर ही निश्चिन्त नहीं बैठा जा सकता था। अँग्रेज़ी शासन में जब लोगों को आधुनिकता की हवा लग गयी, तब यह सब स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी। नकद बाज़ार में निःसन्देह सदा चीज़ें खरीदी जा सकती थीं। यहीं पर फेरीवालों की सामर्थ्य व सम्पत्ति बहुत अधिक थी। कीमतें भी समान रूप से उठती-गिरती रहती थी। यूरोप में विदेशी कम्पनियाँ ही सबसे बड़ी सौदागर होती थी। इस कारण पेशगी व्यापार का हमें जितना पता है, उतना नगद व्यापार का पता नहीं है। लेकिन, पेशगी और नकद व्यापार सभी बन्दरगाहों पर होता था। एक दूसरे तरीके से भी बाज़ार बीच में आ जाता था। जैसे मान लीजिए नील के किसान नील की बिक्री बाज़ार में ही करेंगे। किस नील के दाम कितने होंगे, इस सम्बन्ध में लाभदायक परामर्श गाँव के ही दलाल देंगे। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दौर तक कैसी भी पेशगी देकर इस बाज़ार को बन्द नहीं किया जा सकता था। लेकिन राजस्व की माँग जब बढ़ गयी, तब किसान लोग अपनी इस स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं कर सके। कई लोग जहाँ पर राजस्व चाहते हों, वहाँ पर स्वाधीनता रह नहीं सकती है। नकद व्यापार उठ जाने पर पेशगी की व्यवस्था शायद अठारहवीं शताब्दी के चौथे दशक के बाद शुरू हुई। इसी तरह से परिवर्तन आया।

इसके अलावा भी एक अन्य बात पर विचार करना ज़रूरी है। पेशगी कहिए अथवा नकद कहिए, चीज़ तो आपने खरीद ही ली। लेकिन उन्हें आपको विदेशी बाजार में तो बेचना ही होगा। इस व्यापार में एक बहुत बड़ी जटिलता थी। जैसे मान लीजिए हज का बाज़ार। किसी-किसी साल हज के बाज़ार में अधिक रुपया नहीं आता था। और कभी-कभी खूब आता था। हज का बाज़ार अगर मन्दा रहता था, तो फिर भारत वर्ष के पश्चिम में कई ताँतियों और किसानों को ग्राहक नहीं मिलते थे। इसलिए इस बाज़ार की ख़बरें लेने मे सभी व्यापारी व्यस्त रहते थे।

इसी हालात में सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक भारत सागर के समुद्री व्यापारी अपना व्यवसाय चलाते रहे थे। विदेशी साक्ष्यों में इनकी साफ़-साफ़ छवि देखने को हमें नहीं मिलती है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इनकी छवि कुछ बदल गयी । भारत वर्ष में अँग्रेज़ी राज की स्थापना हो गयी। बम्बई, मद्रास और कलकत्ता, सूरत, कालीकट, मछलीपट्टन और हुगली पर इन लोगों ने दखल कर लिया। भारत सागर के दो भाग हो गये। उपतट के धनी जहाजी व्यापारी चले गये। भारतीय सागर के भारतीयों के बड़े जहाज फिर नहीं रह गये। भारतीय व्यापारी छोटे जहाजों पर अघाट पर होने वाले व्यवसाय में ही रह गये। कोनराड साहेब (Joseph Conrad) के समुद्र सम्बन्धी लेखों में इसे आप देख सकते हैं। बड़े बन्दरगाहों के व्यवसायी साहब लोगों के अधीन रहे। उन लोगों ने लोहे के जहाजों को बनाया । भाप शक्ति ले आये। मौसमी हवाओं का फिर प्रमुत्व नहीं रहा। यह परिदृश्य बीसवीं शताब्दी के मध्य पुनः बदल गया। साम्राज्य खत्म हो गया - नये विधान में नये कानून बने लेकिन ये सब बहुत बाद की बातें हैं।

रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश (३)

कमलेश

रूसी कविता का प्रकाशन

सोवियत संघ में क्रान्ति के बाद सारी प्रकाशन संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करके उनका पुनर्गठन किया गया। फिर पुस्तकों का प्रकाशन सेंसर किये जाने के बाद ही हो सकता था। प्रारम्भ में यह कार्य गुप्त पुलिस किया करती थी। बाद में हर विभाग में सेंसर का उपविभाग स्थापित हो गया। परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दी के महान रूसी कवियों-अन्ना आख्मातोवा, ओसिप मान्देलश्ताम, मारीना त्स्वेतायेवा, निकोलाई जबोलोत्स्की की कविताएँ और गद्य रचनाएँ तथा रूसी कथाकारों- मिखाईल बुल्गाकोव, यूरी ओलेशा, आईजक बाबेल आदि की कथाकृतियाँ रूस में तीस-चालीस साल तक नहीं छपती थीं। ये मूल रूसी में पेरिस और न्यूयार्क में आप्रवासी रूसी प्रकाशन गृहों से अमरीकी फाउण्डेशनों से प्राप्त अनुदानों से छपती थीं। रूस के कवियों और लेखकों के मूल रूसी में सुसम्पादित ग्रन्थावलियाँ भी अमरीका में ही छपी। इनमें से कुछ के अँग्रेज़ी अनुवाद 'सब्सिडी' के कारण कम कीमत में प्रकाशित होते थे।

गोर्की स्तालिन से मिलने के लिए ग्रेट ब्रिटेन से जॉर्ज बर्नर्ड शा (२६ जून १६३१), जर्मनी से एमिल लुडविग (१३ दिसम्बर १६३१), फ्रांस से हेनरी बारबूस (४ अगस्त १६३३), इंग्लैण्ड से एच.जी. वेल्स (२३ जुलाई १६३४) और फ्राँस से रोम्या रोलाँ (२८ जून १६३५) को बुलाते रहे। ये सभी लोग स्तालिन की विनम्रता से अभिभूत हो जाते थे। रोलाँ ने लिखा, 'पूर्ण सादगी, सीधे उत्तर, सच्चाई। वे अपना दृष्टिकोण किसी पर थोपते नहीं।' ब्रिटेन से जार्ज बर्नर्ड शा और फेबियन सोसायटी के संस्थापक सिडनी वेब और बिएट्रिस वेब भी सोवियत संघ की यात्रा पर आये और

उनको देशभर में घुमाया गया। ये सभी लोग केवल वही देख पाये जो उन्हें स्तालिन दिखलाना चाहते थे। वेब दम्पति ने इंग्लैण्ड वापस लौट कर हज़ार पृष्ठों से भी बड़ी एक मोटी पुस्तक लिखी- 'सोवियत यूनियन, ए न्यू सिविलाइजेशन'। यह पुस्तक उद्योग, कृषि, शिक्षा आदि क्षेत्रों के विस्तृत आँकड़ों से भरी पड़ी थी। ये सारे आँकड़े सोवियत अधिकारियों द्वारा प्रदत्त थे। इनकी कोई विश्वसनीयता नहीं थी।

फिर भी सोवियत संघ के विषय में उन दिनों दुनिया में इतनी जिज्ञासा थी कि यह किताब दुनिया भर में बिकी और इसके कई संस्करण हुए। उन दिनों लगभग सभी देशों से कुछ लोग सोवियत संघ आमन्त्रित किये जाते रहे। सोवियत जनों को विदेशियों के दर्शन कराना उन्हें वश में रखने का ही प्रयास होता था।

अनुवाद

बन्द कर बस अब, तंग आ गया हूँ मैं
तेरे इस गीत से, मुझे है पसन्द नहीं गीत यह जंगली।।
जेम्फीरा
यदि है पसन्द नहीं, तो क्या मुझे इससे ?
मैं तो गाती हूँ गीत यह अपने लिए :
मुझे जला दे या कर दे असिधार गले के पार,
अरे! भयंकर पति, बूढ़े पति, औ' मतिमन्द गँवार!
मैं न कहूँगी कुछ, और' न वह जानेगा किसी प्रकार,
वह वसन्त से अधिक तरुणाई का भण्डार!
उसमें ग्रीष्म से अधिक उठा भरा है अतुलित प्यार,
वह यौवन की सुषमा का औ' साहस का आधार!
अरे! मुझे करता है वह कितना दिन-प्रतिदिन प्यार,
मैंने चूमा उसे, बज उठे निशि के नीरव तार,
हम विहँसे तेरे सफ़ेद बालों पर सौ-सौ बार!
आलोको
बन्द कर, जेम्फीरा मैं बहुत.....
जेम्फीरा
तो फिर क्या समझ गया गीत तू मेरा यह है?
आलोको
जेम्फीरा!.....
जेम्फीरा
तू यदि उत्तेजित होता है क्रोध में, तेरी इच्छा,

मैं गीत यह तेरे ही विषय में गा रही हूँ।
(बाहर निकल जाती है और गाती है : ''अरे ओ बढ़े पति.....)
बूढ़ा
आता है याद मुझे, गीत यह
रचा गया था हाँ, हमारे ही काल में,
चिरकाल से लोक-मनोरंजन-हित
गाया करती है वह उसे जन-समुदाय में।
कागुल के रम्य मैदान में विचरते हुए,
शायद हेमन्त की सुनसान रात में
गाया था मरिउलाने इसको,
आग के सामने बच्ची को लोरियाँ दे।
मेरे मस्तिष्क में बीते वर्षों की याद,
धुँधली ही धुँधली होती जा रही है प्रतिपल;
किन्तु जैसे गीत यह छाप एक अमिट-सी
छोड़ कर स्थिर-सा हो गया है मस्तिष्क में।

नीरव निशीय है, छिटक रही चन्द्रकला,
दक्षिण के नीलवर्ण क्षितिज के छोर पर।
जेम्फीरा ने बूढ़े को जगाकर कहा :
''बापू, आलेको, हा! भयावना-सा लगता है।
सुनो, कैसा बुरा सपना वह देख रहा,
कैसे कराहता है औ' आहें भरता है वह।''
बूढ़ा :
मत छेड़ तू उसको, चुपचाप बैठ मौन साध;
मैंने सुन रक्खी है रूसी कथा एकः
आधी रात को भूत सोने वाले के गले को दबाता है,
पौ फटने से पूर्व वह चला जाएगा!
बैठ जा तू मेरे पास।
जेम्फीरा
बापू, अरे! बुदबुदा रहा है वह- 'जेम्फीरा'
बूढ़ा
तुझे वह अपने सपने में भी खोज रहा है,

तू उसे दुनिया से भी अधिक प्यारी है!
जेम्फीरा
ठण्डा-सा कर दिया है मुझे उसके प्यार ने,
मन नहीं लगता मेरा, उर चाहता स्वच्छन्दता है,
मैं तो.....किन्तु ज़रा धीरे-धीरे.....
सुनते हो? नाम ले रहा है वह अब कोई दूसरा...!
बूढ़ा :
किसका नाम?
जेम्फीरा
सुनते हो? कैसे वह, कितनी कठोर औ'
प्रचण्ड उत्तेजना में दाँत कैसी तेज़ी से पीस रहा अपने?
आह, कितना भयंकर यह मैं उसे जगाती हूँ.....
बूढ़ा :
होगा यह व्यर्थ,
तू मत भगा उस रात के भूत को,
वह अपने आप ही चला जाएगा।
जेम्फीरा :
लो उसने करवट बदली, वह जाग गया,
उठ खड़ा हुआ, बुला रहा है मुझे.....
उसके पास जाती हूँ-अच्छा विदा सो जाओ।''
आलेको :
कहाँ थी तू?
जेम्फीरा :
बैठी थी पिता के पास।
कोई एक भूत सपने में तुझे सता रहा था;
स्वप्न में तेरी आत्मा ने थी सहन की वेदना!
तूने मुझे डरा दिया : पीस रहा दाँत था तू अपने इस सपने में
और बार-बार मेरा नाम ले बुला रहा था!
आलेको :
आज तू मेरे इस सपने में थी आयी।
मैंने देखा, आह! जैसे हमारे बीच.....
अरे, मैंने बहुत ही भयंकर स्वप्न देखा है!

जेम्फीरा :
मत विश्वास कर मनहूस सपने पर।
आलेको :
मैं न करता किसी बात पर हाय! विश्वास,
न तो सपनों पर, न मीठे आश्वासनों पर,
औ' न तेरे इस कुटिल हृदय पर ही!

उपसंहार

प्रेरित हो गीतों की चमत्कृत शक्ति से
मेरे धुँधियाले-से मस्तिष्क में
इस प्रकार कभी सुखपूर्ण, कभी व्यथापूर्ण दिवसों का।
उस देश में, जहाँ चिर-काल तक
शान्त नहीं हुआ शायद यह कोलाहल कभी।
जहाँ साम्राज्य की नूतन जय-सीमाएँ
स्ताम्बुल को रूसियों ने थीं दिखायी
जहाँ पर हमारा वह पुराना दो सिर का बाज़
अब तक अलापता है कीर्ति-स्वर अतीत का।
वहीं पर देखी मैंने उस मैदान में,
जीर्ण-शीर्ण तम्बुओं की पंक्तियों के पास ही
गाड़ियाँ शान्तिप्रिय जिप्सियों की-
विनम्र, स्वच्छन्द प्रकृति के उन सपूतों की।
साथ-साथ जिप्सियों के उन अलस झुण्डों के
घूमा हूँ खूब मैं उन निर्जन मैदानों में,
खाया है उनका वह रूखा-सूखा अन्न मैंने,
जी-भरकर सोया हूँ उनकी आग के समक्ष
उनके उन मन्थर प्रस्थानों में गाये गये
गीतों के स्वर मुझे बहुत ही पसन्द आये।
और चिरकाल तक प्रिय मारिउला के
सुन्दर नाम का पक्की तरह से मैंने पता लगाया है।
किन्तु है न तुम्हारे बीच में भी सुख विद्यमान,
अरे तुम प्रकृति के अंकिचन सपूतो!...
और फटे-पुराने तुम्हारे इन तम्बुओं के
नीचे भी रहते हैं व्यथापूर्ण सपने।

और यह तुम्हारे भ्रमणशील तम्बु भी
बीहड़ों में भी न बच पाये दुखों से,
और हैं सर्वत्र लालसाएँ उद्दाम,
भाग्य के अंकों से होता कुछ बचाव नहीं।

'स्वर्णिम गुलाब' से एक अध्याय
dkUlVSf.Vu ikLVksOLdh

मुझे अपनी तरुणावस्था से ही अपने प्रिय लेखकों और कवियों के जीवन से जुड़े स्थानों में घूमने की अदम्य इच्छा होती रही है। ... ...
जाड़ों में एक दिन मैं सुबह-सुबह एक पुरानी रेलगाड़ी में बैठ गया। टिमटिमाती रोशनी के नीचे बैठ कर मैं बूनिन की कहानी 'एलिजा द प्रॉफेट' पढ़ने लगा। यह कहानी 'कण्टेम्पोरेरी वर्ल्ड' के एक पुराने फटेहाल अंक में छपी हुई थी। एक हृदयविदारक पीड़ा के चित्रण के कारण यह कहानी रूसी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में है। इस कहानी के हर विवरण में व्याप्त अपरिहार्य दुर्भाग्य, दैन्य और अकेलेपन ने मेरे हृदय को द्रवित कर दिया। उस काल में रूस की नियति यही रही थी। ...

बूनिन एक ही देश से प्यार करते थे, उन्हें वही देश छोड़ कर जाना पड़ा। लेकिन उनका जाना ऊपर ही ऊपर का था। वे असामान्य रूप से गर्वीले और हठी व्यक्ति थे। जीवन के अन्तकाल तक उनके मन में रूस ही बसा रहा। पेरिस और ग्रासे की वैदेशिक रातों में उनकी आँखों से रूस के लिए ही आँसू बहा करते थे। ये उस व्यक्ति के आँसू थे जो स्वेच्छा से अपना देश छोड़कर प्रवासी बन गया था।

मैं इस समय एलेत्स पहुँच चुका था। 'अर्सिनेव का जीवनचरित' में बूनिन लिखते हैं, 'इस शहर को अपनी प्राचीनता पर गर्व था, होना भी चाहिए था। पोडस्टेपे की काली मिट्टी के मैदानों में स्थित यह शहर सचमुच ही रूस के अत्यन्त पुराने शहरों में से था। इन मैदानों से आगे कभी 'अज्ञात देश' हुआ करते थे। सुजदाल और व्लादिमीर के शासन केन्द्रों के समय यह रूस के सबसे मज़बूत किलों में से था। पुराने विवरणों के अनुसार एशियायी तातारों की तूफ़ानी सेनाओं के आगमन के समय हवा, धूल और ठण्ड के पहले प्रहार इसी किले पर होते थे।'

मैं चौराहा पार करके बाज़ार की ओर निकल गया। वहाँ गन्धों की प्रचुरता ने हैरत में डाल दिया- घोड़े की लीद, हेरिंग के पुराने डिब्बे, चमड़ा, किसी मृतक के लिए हो रही पूजा के समय एक चर्च के खुले दरवाजों से आ रही अगरबत्ती की गन्ध, ऊँची काली बाढ़ों के पीछे छिपे बगीचों में नीचे गिर कर सड़ चुकी पत्तियों की गन्ध।

शाम को मैं स्टेशन पर वापस आ गया। मैं अपने जीवन में प्रायः अकेला रहा हूँ। लेकिन उस शाम एलेत्स में जिस तरह की निस्सहायता की कटु अनुभूति हो रही थी, ऐसी कभी नहीं हुई थी। एक घण्टे बाद स्टेशन के पहरेदार ने ट्रेन के आने की घण्टी बजायी। दूसरी घण्टी पर ट्रेन आ गयी और मैं ऐफेरमेव जाने वाली गाड़ी में बैठ गया। मेरे अन्तस की हर चीज़ प्रेम और पीड़ा से काँप रही थी। किसके लिए? एक विस्मयभरी लड़की के लिए, हाईस्कूल की एक छात्रा

ओल्या मेश्चेर्शकाया के लिए जिसकी इस स्टेशन पर हत्या हो गयी थी। बूनिन की कहानी 'हलकी साँस' इस पत्रिका में छपी हुई थी। मैं नहीं जानता कि इस रचना को कहानी कहा भी जा सकता है या नहीं। यह कहानी नहीं बल्कि प्रदीपन है, इसमें भावनाओं और प्रेम से भरा हुआ जीवन है, एक लेखक का उदास और शान्त चिन्तन है, और एक युवती के सौन्दर्य पर शोकलेख है।

सोवियत लेखकों की दूसरी कांग्रेस में जब बूनिन को रूसी साहित्य में वापस लाये जाने की बात उठी तो हर तरफ लोग उठ कर तालियाँ बजाने लगे। 'आर्सिनेव का जीवन चरित' सहित उनकी कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ तब सोवियत संघ में प्रकाशित हुई थी।

बूनिन के बारे में लिखना जितना कठिन, जितना असम्भव है उतना ही कठिन और असम्भव इस कहानी के बारे में लिखना है। इसमें इतनी समृद्धि है, इतनी उदारता है, इतना वैविध्य है और चाहे वह 'सान फ्रांसिस्को का जेण्टिलमैन' हो या बढ़ई एवर्की हो, हर व्यक्ति को, उसकी छोटी से छोटी भंगिमा को, उसके विचारों में तेज़ी से हो रहे हर परिवर्तन को इतने विस्मयकारी रूप में, एक साथ कठोरता और नम्रता से, इतनी सुनिश्चित सुस्पष्टता से देखा गया है कि प्रकृति मनुष्य के दिनों से इतनी अभिन्न हो जाती है कि किसी के भी बारे में 'सेकेण्ड हैण्ड' लिखना बेकार और बेतुका लगता है।

बूनिन को पढ़ना पड़ता है। जो बातें उन्होंने क्लैसिकल सुस्पष्टता और सुनिश्चय से कही हैं उन्हें रोज़मर्रा के ग़ैर-बूनिन शब्दों में कहने का कारुणिक प्रयत्न करना सदा के लिए छोड़ देना चाहिए।

इस कहानी में न केवल रूस का गौरवगान है, न केवल बूनिन के जीवन का निष्कर्ष है, न केवल अपने देश के लिए अत्यन्त गहरा और काव्यात्मक प्रेम है, न केवल इसके लिए दुःख और उल्लास की अभिव्यक्ति है जो इस पुस्तक के पन्नों से रह रह कर टपक रहे आँसुओं की तरह निकलती रहती है जैसे सायंकालीन आकाश में तारे टिमटिमा रहे हों।

इस कहानी को पढ़ कर चित्रकार नेस्तेरोव के चित्र 'होली रस्सिया' की याद आती है। झाड़ियों और ऊँची-नीची पहाड़ियों के साथ चल रहे चौड़े मार्ग पर उज्ज्वल प्रपातों और काले पड़ रहे काठ के गिरजाघरों, पतझर की शान्ति में गिरजाघर के घण्टे से छूट कर गिर रहीं जंग, विस्मृत कब्रिस्तानों और छोटे-छोटे गाँवों के साथ-साथ उत्तर के प्रदीप्त आकाश में एक बड़ी भीड़ चल रही है। इस भीड़ में कौन नहीं है? यहाँ पूरा रूस चल रहा है। यहाँ भारी सुनहरी ज़री वाली पोशाक पहने एक ज़ार चल रहा है, अपनी ज़ंजीरें बजाते हुए कैदी चल रहे हैं, घर के बुने कपड़े पहने किसान चल रहे हैं, लम्बे कोड़े लिए गड़ेरिए चल रहे हैं, सिर पर टोपियाँ पहने तीर्थयात्री चल रहे हैं, अपनी आँखों में काजल लगा कर पलकों को काला बनाये आँखे झुकाये पीले चेहरों वाली लड़कियाँ चल रही हैं, पवित्र आन्तरिक प्रकाश से उनके चेहरे प्रदीप्त हो रहे हैं। इस भीड़ में पागल चल रहे हैं, घुमन्तू भिखमंगे चल रहे हैं, धर्मोत्साही बूढ़ी औरतें चल रही हैं, बढ़ई चल रहे हैं, छड़ी पकड़े हुए बूढ़े चल रहे हैं, चलते हुए बच्चे दक्षिण की ओर जाते हुए बगुलों को सूरज की रोशनी में चमकते हुए देख रहे हैं।

इस भीड़ में इन्हें देखिए- ये तोलस्तोए हैं। इनसे कुछ ही दूर दोस्तोएव्स्की हैं। ये सब लोग सड़क की धूल में अन्य तमाम सत्यान्वेषियों की तरह आगे के खुले मैदान की ओर कदम बढ़ा रहे हैं जो अभी भी बहुत दूर है और जिसके बारे में वे आजीवन बातें करते रहे हैं।... ...

बूनिन की पुस्तक में एक वाक्यांश है- प्यारे-प्यारे बादलों की ऋतु आ रही है... ...। बूनिन इन शब्दों से सदा ही रहस्यमय, सदा ही आकर्षक आकाश के दर्शन और बादलों के अध्ययन का आरम्भ करते हैं... ...।

जब भी आप ग्रीष्म के बारे में बूनिन कि पंक्तियाँ पढ़ते है तो लगता है कि उन्होंने ये पंक्तियाँ बहुत व्यथा के साथ लिखी हैं, भले ही ये केवल दो ही पंक्तियाँ हों।

''बगीचे में फूलों का फूलना सम्पन्न हो चुका था, ज़मीन पर पत्तियाँ बिछी हुई थी, पूरे दिन कोयल गाती रही, पूरे दिन आधी खिड़की ऊपर उठी रही।''

जीवन में जो कुछ देखने का संयोग हुआ बूनिन ने उसको पूरी लगन से और पूरी सूक्ष्मता से देखा। और देखा भी उन्होंने बहुत कुछ। युवावस्था से ही वे यात्रा करने से, उन्होंने तब तक जो नहीं देखा उसको हर हालत में देखने की लालसा से ग्रसित थे। ... ...

पुशेश्निकोव ने जो लिखा है उसमें एक विस्मयकारी स्थल है जिससे बूनिन की दक्षता का रहस्य पता चलता है।

बूनिन कहते हैं कि वे जब भी किसी विषय पर कुछ लिखना शुरू करते हैं, उन्हें सबसे पहले 'एक ध्वनि' खोजनी पड़ती है। 'जैसे ही मुझे वह ध्वनि मिल जाती है, बाकी बातें अपने आप जुट जाती हैं।'

'ध्वनि पाने का' क्या अभिप्राय है? स्पष्ट है कि इन शब्दों से प्रथमदृष्टया जितना प्रकट होता है बूनिन का अभिप्रेत उससे कहीं अधिक, बहुत अधिक है।

'ध्वनि पाने' से तात्पर्य है गद्य की लय पाना, उसकी मूलभूत स्वरलहरी को पाना क्योंकि गद्य में भी कविता और संगीत की तरह ही अन्तर्भूत मूर्च्छना (स्वरानुक्रम) होती है।

गद्य की लय और इसके संगीतात्मक स्वरानुक्रम के प्रति संवेदनशीलता अपनी मातृभाषा का उच्च कोटि का ज्ञान और उसकी अनुभूति होने पर ही आती है।

बूनिन अपने बचपन से ही इस लय को तीव्रता से महसूस करते थे। अभी वे लड़के ही थी कि उन्हें पुश्किनकृत 'रूसलान' की पंक्तियों में हल्की वर्तुलाकार गतिशीलता दिख पड़ी-''अनवरत वर्तुलाकार गति का जादू।''

''और रात- और दिन- बिल्ली- घूमती रही- एक ज़ंजीर पर- हर ओर''

रूसी भाषा पर बूनिन जैसा अधिकार और कहीं नहीं दीख पड़ा।

वे हर कहानी के लिए अत्यन्त सफलतापूर्वक जिन अगणित शब्दों को जुटाते थे उनमें से सर्वाधिक सशक्त और चित्रात्मक शब्द किसी अदृश्य और रहस्यपूर्ण बन्धन से आख्यान से इस तरह जुड़े होते थे जैसे वे सिर्फ इस आख्यान के लिए ही बने है।

सर्वहारा और कम्युनिस्ट

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र (१८४८) अध्याय दो

'समग्र रूप से सर्वहारा के साथ कम्युनिस्ट का क्या सम्बन्ध है?

'कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग दूसरी पार्टियों के मुकाबले में अपनी कोई अलग पार्टी नहीं बनाते।

'समग्र रूप से सर्वहारा के हितों के अलावा और उनसे पृथक उनके कोई हित नहीं हैं। वे सर्वहारा आन्दोलन को किसी खास नमूने पर ढालने या उसे विशेष रूप प्रदान करने के लिए अपना कोई संकीर्णतावादी सिद्धान्त स्थापित नहीं करते।

'कम्युनिस्टों और दूसरी मज़दूर पार्टियों में सिर्फ़ यह अन्तर है कि १. विभिन्न देशों के सर्वहाराओं के राष्ट्रीय संघर्षों में राष्ट्रीयता के तमाम भेदभावों को छोड़ कर वे पूरे सर्वहारा वर्ग के सामान्य हितों का पता लगाते हैं और उन्हें सामने लाते हैं; २. पूँजीपति वर्ग के खिलाफ़ सर्वहारा वर्ग का संघर्ष जिन विभिन्न मंज़िलों से गुजरता हुआ आगे बढ़ता है उनमें हमेशा और हर जगह वे समग्र आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

'अतः एक ओर, व्यावहारिक दृष्टि से कम्युनिस्ट हर देश की मज़दूर पार्टियों के सबसे उन्नत और कृतसंकल्प जुज़ होते हैं, ऐसे जुज़ जो औरों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं; दूसरी ओर सैद्धान्तिक दृष्टि से, सर्वहारा वर्ग के विशाल जन-समुदाय की अपेक्षा इस अर्थ में श्रेष्ठ हैं कि वे सर्वहारा आन्दोलन के आगे बढ़ने के रास्ते की, उसके हालात और सामान्य अन्तिम नतीजों की सुस्पष्ट समझ रखते हैं।

'कम्युनिस्टों का तात्कालिक ध्येय वही है जो दूसरी सर्वहारा पार्टियों का है-यानि सर्वहारा को एक वर्ग के रूप में संगठित करना, पूँजीवादी प्रभुत्व का तख़्ता पलटना और राजनीतिक सत्ता पर सर्वहारा वर्ग का अधिकार कायम करना।

'कम्युनिस्टों के सैद्धान्तिक निष्कर्ष जगत-सुधारक होने का दम भरने वाले इस या उस व्यक्ति द्वारा ईज़ाद किये गये या ढूँढ निकाले गये विचारों या सिद्धान्तों पर कतई आधारित नहीं हैं। वे केवल मौजूदा वर्ग संघर्ष से, हमारी नज़रों के सामने हो रही ऐतिहासिक गतिविधि से उत्पन्न यथार्थ सम्बन्धों की सामान्य अभिव्यक्ति हैं। मौजूदा स्वामित्व सम्बन्धों को मिटा देने की बात कम्युनिज़्म की निराली विशेषता हरगिज नहीं है। पहले के समय में सभी स्वामित्व सम्बन्ध ऐतिहासिक अवस्थाओं में परिवर्तन होने पर ऐतिहासिक परिवर्तन के निरन्तर अधीन रहे हैं।

'उदाहरण के लिए, फ्राँसीसी क्रान्ति ने पूँजीवादी स्वामित्व के हक में सामन्तवादी स्वामित्व को नष्ट कर दिया। कम्युनिज़्म की लाक्षणिक विशेषता यह नहीं है कि वह स्वामित्व को आम तौर से खतम कर देना चाहते हैं, बल्कि यह है कि वह पूँजीवादी स्वामित्व को खतम कर देना चाहता है।

'लेकिन आधुनिक पूँजीवादी निजी स्वामित्व उत्पादन तथा उपज के अधिकरण की उस प्रणाली की अन्तिम तथा सबसे सर्वांगपूण अभिव्यक्ति है, जो वर्ग विरोध और मुट्ठी भर लोगों द्वारा बहुतों के शोषण पर आश्रित है। इस अर्थ में

कम्युनिस्टों के सिद्धान्त को केवल एक वाक्य में यूँ कहा जा सकता हैः निजी स्वामित्व का उन्मूलन।

'हम कम्युनिस्टों पर आरोप लगाया गया है कि हम स्वयं अपनी मेहनत से पैदा की गयी सम्पत्ति हासिल करने के मनुष्य के अधिकार का अपहरण कर लेना चाहते हैं, जिस सम्पत्ति के बारे में कहा जाता है कि वह तमाम वैयक्तिक स्वतन्त्रता, क्रियाशीलता और स्वाधीनता का मूल आधार है।

'सख़्त मशक्कत से कमायी गयी खुद हासिल की गयी, खुद पैदा की गयी सम्पत्ति! आपका मतलब क्या छोटे दस्तकार और छोटे किसान की सम्पत्ति से है, स्वामित्व के उस रूप से है जो पूँजीवादी रूप से पहले था? उसको मिटाने की कोई ज़रूरत नहीं है; उद्योग के विकास ने पहले ही उसको बहुत कुछ नष्ट कर दिया है और जो कुछ रहा-सहा है, उसे भी वह दिनोंदिन नष्ट कर रहा है।

'क्या फिर आपका मतलब आधुनिक पूँजीवादी निजी सम्पत्ति से है?

'लेकिन क्या उजरती श्रम श्रमजीवी के लिए कोई सम्पत्ति पैदा करता है? हरगिज़ नहीं। वह तो पूँजी पैदा करता है, यानी ऐसी सम्पत्ति पैदा करता है जो उजरती श्रम का शोषण करती है, और जिसके बढ़ने की शर्त ही यह है कि वह नये शोषण के लिए उजरती श्रम को पैदा करती जाए। अपने वर्तमान रूप में स्वामित्व पूँजी और उजरती श्रम के विरोध पर कायम है आइए, इस विरोध के दोनों पहलुओं पर ग़ौर करें।

'पूँजीपति होना उत्पादन में केवल व्यक्तिगत ही नहीं, बल्कि एक सामाजिक हैसियत रखना है। पूँजी-एक सामूहिक उपज है, और समाज के केवल अनेक सदस्यों की संयुक्त कार्रवाई से ही, बल्कि अन्ततोगत्व, सभी सदस्यों को मिली-जुली कार्रवाई से ही उसे गतिशील किया जा सकता है।

'इस भाँति पूँजी व्यक्तिगत न होकर एक सामाजिक शक्ति है।

'इसलिए पूँजी जब आम स्वामित्व बना दी जाती है, जब उसे समाज के तमाम सदस्यों के स्वामित्व का रूप दे दिया जाता है, तब वैयक्तिक स्वामित्व सामाजिक स्वामित्व में नहीं बदल जाता। तब स्वामित्व का केवल सामाजिक रूप बदल जाता है। उसका वर्ग रूप मिट जाता है।

'आइए, अब उजरती श्रम के पहलू पर विचार करें।

'उजरती श्रम का औसत दाम न्यूनतम मजदूरी है, अर्थात निर्वाह साधन की वह मात्रा, जो मजदूर की हैसियत से मजदूर की जिन्दगी कायम रखने के लिए बिलकुल जरूरी हो। इसलिए उजरती मजदूर को अपने श्रम से जो कुछ हस्तगत होता है, वह उसके अस्तित्व को बनाए रखने और प्रजनन के लिए ही काफी होता है। हम श्रम की उपज के इस व्यक्तिगत अधिकरण का अन्त नहीं करना चाहते, जो मुश्किल से मानव जीवन कायम रखने और प्रजनन के लिए किया जाता है और जिसमें ऐसी बचत की गुंजाइश नहीं होती जिससे दूसरों के श्रम को वशीभूत किया जा सके। हम जिस चीज को खतम कर देना चाहते हैं वह इस अधिकरण का वह दयनीय रूप, जिसके अन्तर्गत मजदूर पूँजी बढ़ाने के लिए ही ज़िन्दा रहता है, और उसे उसी हद तक ज़िन्दा रहने दिया जाता है जिस हद तक शासक वर्ग के स्वार्थों को उसकी ज़रूरत होती है।

'पूँजीवादी समाज में जीवित श्रम संचित श्रम को बढ़ाने का केवल एक साधन है। कम्युनिस्ट समाज में संचित श्रम मज़दूर के अस्तित्व को व्यापक, सम्पन्न और उन्नत बनाने का साधन है। इस प्रकार, पूँजीवादी समाज में वर्तमान के ऊपर अतीत हावी होता है; कम्युनिस्ट समाज में अतीत के ऊपर वर्तमान हावी होता है। पूँजीवादी समाज में पूँजी स्वतन्त्र है और उसका व्यक्तित्व होता है; किन्तु जीवित व्यक्ति परतन्त्र है और उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता।

'फिर भी पूँजीपति वर्ग कहता है कि इस परिस्थिति को खतम कर देने का मतलब व्यक्तित्व और स्वतन्त्रता को खतम कर देना है! और यह ठीक ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम पूँजीवादी व्यक्तित्व पूँजीवादी स्वतन्त्रता और पूँजीवादी स्वाधीनता को जड़ -मूल से खतम कर देना चाहते हैं।

'मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत स्वाधीनता का अर्थ है मुक्त व्यापार, मुक्त क्रय-विक्रय।

'लेकिन अगर क्रय-विक्रय मिट जाता है, तो मुक्त क्रय-विक्रय भी मिट जाएगा। हमारे पूँजीपतियों की मुक्त क्रय-विक्रय की बातों को, आम स्वाधीनता के बारे में उनकी तमाम ''बड़ी-बड़ी बातों'' को, अगर मध्ययुग के सीमित क्रय-विक्रय के या उसके समय के बन्धनों में जकड़े हुए व्यापारियों के मुकाबले में देखा जाए, तो उनका कुछ मतलब हो सकता है; लेकिन क्रय-विक्रय उत्पादन की पूँजीवादी अवस्थाओं और स्वयं पूँजीपति वर्ग के कम्युनिस्ट उन्मूलन के मुकाबले में वे निरर्थक हैं।

'हम निजी स्वामित्व को खतम कर देना चाहते हैं। इसे सुनकर आपके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। लेकिन आपके मौजूदा समाज में दस में से नौ आदमियों के लिए निजी स्वामित्व अभी से ही खतम हो चुका है; चन्द लोगों के पास यदि निजी सम्पत्ति है भी तो उसका एकमात्र कारण यही है कि दस में नौ आदमियों के पास वह है ही नहीं। इसलिए, आप हमारे खिलाफ स्वामित्व की ऐसी व्यवस्था को खतम कर देने की इच्छा रखने का जुर्म लगाते हैं जिसके अस्तित्व के लिए ज़रूरी शर्त यह है कि समाज के अधिकांश के पास कोई सम्पत्ति न हो।

'संक्षेप में आपका आरोप यह है कि हम आपका स्वामित्व खतम कर देना चाहते हैं। तो यह बिलकुल ठीक है। हम ठीक यही करना चाहते हैं।

'आपका कहना है कि श्रम का ज्यों ही पूँजी, मुद्रा या लगान के रूप में-एक ऐसी सामाजिक शक्ति के रूप में जिस पर इजारेदारी कायम की जा सकती है- रूपान्तरण बन्द हो जाएगा, यानी ज्यों ही व्यक्तिगत स्वामित्व का पूँजीवादी स्वामित्व में, पूंजी में रूपान्तरण बन्द हो जाएगा, त्यों ही व्यक्तित्व का लोप हो जाएगा।

'तो आपको कुबूल करना होगा कि ''व्यक्ति'' का आपके लिए एक ही अर्थ है- पूँजीपति या सम्पत्ति का मध्यवर्गीय स्वामी। इस व्यक्ति को तो अवश्य ही रास्ते से हटा देना चाहिए, उसका होना अवश्य ही असम्भव बना देना चाहिए।

'कम्युनिज़्म किसी आदमी को समाज की उपज हस्तगत करने की शक्ति से वंचित नहीं करता; वह केवल इस हस्तगतकरण के जरिए दूसरों के श्रम को वशीभूत करने की शक्ति से उसे वंचित करता है। यह कहा गया है कि यदि निजी स्वामित्व को खतम कर दिया गया तो सारा काम काज ठप हो जाएगा और दुनिया भर में आलस्य छा जाएगा। इसके अनुसार तो पूँजीवादी समाज को घोर आलस्य के कारण न जाने कब का रसातल पहुँच जाना चाहिए, जो प्राप्त

करते हैं, वे काम नहीं करते। वास्तव में यह पूरा तर्क इसी द्विरुक्ति की एक अभिव्यक्ति है कि अगर पूँजी नहीं रह जाएगी तो उजरती श्रम भी नहीं रह जाएगा। भौतिक वस्तुओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणाली के सम्बन्ध में जो आरोप लगाए गए हैं, वे ही आरोप उसी उतरह से बौद्धिक रचनाओं के उत्पादन और हस्तगतकरण की कम्युनिस्ट प्रणालियों के सम्बन्ध में भी लगाए जाते हैं। जिस तरह से वर्ग स्वामित्व का विलोपन पूँजीपति वर्ग को उत्पादन का ही विलोपन प्रतीत होता है, उसी तरह से वर्ग संस्कृति का विलोपन उसे सारी संस्कृति का विलोपन प्रतीत होता है।

'वह संस्कृति, जिसके विनाश के बारे में वह इतना रोता-धोता है, अधिकांश जनता के लिए महज मशीन की तरह काम करने की प्रशिक्षा मात्र है।

'लेकिन हमसे उलझने से तब कोई लाभ नहीं है जब तक पूंजीवादी स्वामित्व के उन्मूलन के हमारे इरादे को आप आज़ादी, संस्कृति, कानून, आदि की अपनी पूंजीवादी धारणाओं के मापदण्ड से नापते हैं, आपके विचार स्वयं ही पूंजीवादी उत्पादन और पूंजीवादी स्वामित्व की अवस्थाओं की उपज हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह आपका कानून केवल आपके वर्ग की इच्छा मात्र है जिसे कानून बनाकर आपने सबके ऊपर लाद दिया है, एक ऐसी इच्छा जिसका मूलभूत स्वरूप और जिसकी दिशा आपके वर्ग के अस्तित्व की आर्थिक अवस्थाओं द्वारा निर्धारित होती है।

'उत्पादन एवं सम्पत्ति के मौजूदा सामाजिक स्वरूपों तथा उत्पादन के विकास के सिलसिले में उत्पन्न और विलीन होने वाले ऐतिहासिक सम्बन्धों को प्रकृति और तर्कबुद्धि के शाश्वत नियमों में रूपान्तरित करने के लिए अन्ध स्वार्थ का भ्रामक बोध आपको विवश कर देता है- इस भ्रामक बोध का शिकार बने रहने में आप अपने पूर्ववर्ती शासक वर्गों के साथ साझीदारी करते हैं। प्राचीन युग के स्वामित्व के सम्बन्ध में जिस चीज़ को आप स्वीकार करते हैं, उसे खुद अपने पूंजीवादी स्वामित्व के सम्बन्ध में मंजूर करना आपके लिए निश्चय ही गुनाह है। परिवार का विनाश! कम्युनिस्टों के इस कलंकपूर्ण प्रस्ताव से कट्टर उग्रवादी भी भड़क उठते हैं।

'मौजूदा परिवार, पूंजीवादी परिवार, किस आधार पर खड़ा है?पूंजी पर, निजी फ़ायदे पर। अपने पूर्ण विकसित रूप में इस तरह का परिवार केवल पूंजीपति वर्ग के बीच पाया जाता है। यह स्थिति अपना पूरक सर्वहारा वर्ग में परिवार के व्यवहारतः अभाव और बाजारू वेश्यावृत्ति में पाती है।

यह पूरक जब मिट जाएगा तो सामान्य क्रम में पूंजीवादी परिवार भी मिट जाएगा, और पूंजी के मिटने के साथ-साथ ये दोनों मिट जाएंगे। क्या आप हमारे ऊपर यह आरोप लगाते हैं कि हम बच्चों का उनके माता-पिता द्वारा शोषण किया जाना बन्द कर देना चाहते हैं? इस अपराध को हम स्वीकार करते हैं। लेकिन आप कहेंगे कि घरेलू शिक्षा की जगह पर सामाजिक शिक्षा कायम करके हम एक अत्यन्त पवित्र सम्बन्ध को नष्ट कर देते हैं।

और आपकी शिक्षा! क्या वह भी सामाजिक नहीं है और उन सामाजिक अवस्थाओं से निर्धारित नहीं होती है जिनमें आप समाज के प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप से स्कूलों आदि के जरिए शिक्षा देते हैं?शिक्षा में समाज का हस्तक्षेप कम्युनिस्टों की ईजाद नहीं है; कम्युनिस्ट तो केवल इस हस्तक्षेप के स्वरूप को बदल देना चाहते हैं और शासक वर्ग के प्रभाव से शिक्षा का उद्धार करना चाहते हैं। जैसे-जैसे आधुनिक उद्योग की क्रिया द्वारा सर्वहारा वर्ग में समस्त

पारिवारिक सम्बन्धों की धज्जियां उड़ती जा रही हैं और मजदूरों के बच्चे तिजारत के मामूली सामान और श्रम के औजार बनते जा रहे हैं वैसे-वैसे परिवार और शिक्षा तथा माता-पिता और बच्चों के पुनीत अन्योन्य सम्बन्ध के बारे में पूंजीपतियों की बकवास और भी घिनौनी दिखाई देने लगती है।

लेकिन पूरा का पूरा पूंजीपति वर्ग गला फाड़कर एक स्वर से चिल्ला उठता है- तुम कम्युनिस्ट तो औरतों को सामुदायिक भोग की वस्तु बना दोगे!

पूंजीपति अपनी पत्नी को उत्पादन के एक औज़ार के सिवा और कुछ नहीं समझता। उसने सुन रखा है कि कम्युनिस्ट समाज में उत्पादन के औज़ारों का सामूहिक रूप में उपयोग होगा। इसलिए, स्वभावतः वह इसके अलावा और कोई निष्कर्ष नहीं निकल पाता कि उस समाज में सभी चीज़ों की तरह औरतें भी सर्वोपभोग्य हो जाएँगी।

वह स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि दरअसल मक़सद यह है कि औरतों की उत्पादन के औज़ार जैसी स्थिति को खतम कर दिया जाएगा।

कुछ भी हो, स्त्रियों की सर्वोभोग्यता के खिलाफ़ पूंजीपतियों के सदाचारी आक्रोश से अधिक हास्यास्पद दूसरी और कोई चीज़ नहीं है। वे यह समझने का बहाना करते हैं कि कम्युनिज़्म के अन्तर्गत स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता खुल्लमखुल्ला और सरकारी तौर पर स्थापित की जाएगी। कम्युनिस्टों को स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता स्थापित करने की कोई ज़रूरत नहीं है, क्योंकि वह बाबा आदम के ज़माने से चली आ रही है।

हमारे पूंजीपतियों को मज़दूरों की बहू-बेटियों को अपन मर्ज़ी के मुताबिक इस्तेमाल करने से सन्तोष नहीं होता, वेश्याओं से भी उनका मन नहीं भरता, इसलिए एक दूसरे की बीवियों पर हाथ साफ़ करने में उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता है।

पूंजीवादी विवाह वास्तव में पत्नियों की साझेदारी की ही एक व्यवस्था है, इसलिए कम्युनिस्टों के खिलाफ अधिक के अधिक यही आरोप लगाया जा सकता है कि वे स्त्रियों की सर्वोपभोग्यता की मौजूदा ढोंगपूर्ण और गुप्त प्रभा को खुला, कानूनी रूप दे देना चाहते हैं। कुछ भी हो, बात अपने आप साफ है कि उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था जब खतम हो जाएगी, तब स्त्रियों की उस व्यवस्था से उत्पन्न सर्वोपभोग्यता का अर्थात् बाजारू और खानगी, दोनों प्रकार की वेश्यावृत्ति का अनिवार्यतः अन्त हो जाएगा।

कम्युनिस्टों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे स्वदेश और राष्ट्रीयता को मिटा देना चाहते हैं।

मज़दूरों का कोई स्वदेश नहीं है। जो उनके पास है ही नहीं उसे उनसे छीना नहीं जा सकता है। चूंकि सर्वहारा वर्ग को सबसे पहले राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त करना है, राष्ट्र में प्रधान वर्ग का स्थान ग्रहण करना है, खुद अपने को राष्ट्र के रूप में संगठित करना है, अतः इस हद तक वह स्वयं राष्ट्रीय चरित्र रखता है। गोकि इस शब्द के पूंजीवादी अर्थ में नहीं।

पूंजीपति वर्ग के विकास, वाणिज्य की स्वाधीनता, विश्व बाज़ार और उत्पादन प्रणाली में तथा तदनुरूप जीवन की अवस्थाओं में एकरूपता के कारण जनगण के राष्ट्रीय भेदभाव और विरोध दिनोंदिन मिटते जाते हैं।

सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व होने पर ये और भी तेजी से मिटेंगे। सर्वहारा वर्ग के निस्तार की पहली शर्त यह है कि कम से कम प्रमुख सभ्य देश मिलकर एक साथ कदम उठाएँ। जिस अनुपात में एक व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण खतम होगा, उसी अनुपात में एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र का शोषण भी खतम होगा।

जिस अनुपात में एक राष्ट्र के अन्दर वर्गों का विरोध खतम होगा, उसी अनुपात में राष्ट्रों का आपसी वैरभाव भी दूर होगा।

धार्मिक, दार्शनिक और सामान्यतः विचारधारात्मक दृष्टि से कम्युनिज़्म के खिलाफ़ जो आरोप लगाए जाते हैं, वे इस लायक नहीं हैं कि उन पर गम्भीरता के साथ विचार किया जाए।

क्या यह समझने के लिए गहरी अन्तदृष्टि की ज़रूरत है कि मनुष्य के विचार, मत और उसकी धारणाएँ-संक्षेप में उसकी चेतना-उसके भौतिक अस्तित्व की अवस्थाओं उसके सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक जीवन के प्रत्येक परिवर्तन के साथ बदलती है?

विचारों का इतिहास इसके सिवा और क्या साबित करता है कि जिस अनुपात में भौतिक उत्पादन में परिवर्तन होता है, उसी अनुपात में बौद्धिक उत्पादन का स्वरूप परिवर्तित होता है?हर युग के प्रभुत्वशील विचार सदा उसके शासक वर्ग के ही विचार रहे हैं। जब लोग समाज में क्रान्ति ला देने वाले विचारों की बात करते हैं, तब वे केवल इस तथ्य को व्यक्त करते हैं कि पुराने समाज के अन्दर एक नए समाज के तत्व पैदा हो गए हैं और पुराने विचारों का विघटन अस्तित्व की पुरानी अवस्थाओं के विघटन के साथ कदम मिलाकर चलता है।

प्राचीन दुनिया जिस समय अपनी अन्तिम साँसें गिन रही थी, उस समय प्राचीन धर्मों को रसोई धर्म ने पराभूत किया था। जब अठारहवीं शताब्दी में ईसाई मत तर्कबुद्धिवादी विचारों के सामने धराशायी हुआ, उस समय सामन्ती समाज ने तत्कालीन क्रान्तिकारी पूंजीपति वर्ग से अपनी मौत की लड़ाई लड़ी थी। धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता की बातें ज्ञान जगत में मुक्त होड़ के प्रभुत्व को ही व्यक्त करती थीं। कहा जाएगा कि ''यह ठीक है कि इतिहास के विकासक्रम में धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, राजनीतिक और कानून सम्बन्धी विचार बदलते आए हैं; लेकिन धर्म, नैतिकता, दर्शन, राजनीति और कानून तो सदा इस परिवर्तन से बचे रहे हैं। ''इसके अलावा स्वाधीनता, न्याय, आदि ऐसे शाश्वत सत्य भी हैं जो हर सामाजिक अवस्था में समान रूप से लागू होते हैं। लेकिन उन्हें नए आधार पर प्रतिष्ठित करने के बजाए कम्युनिज़्म सभी शाश्वत सत्यों को खतम कर देता है, वह समस्त धर्म और समस्त नैतिकता को मिटा देता है; इसलिए कम्युनिज़्म विगत इतिहास के समस्त अनुभव के विपरीत आचरण करता है।''

इस आरोप का सारतत्व क्या है? पिछले प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग विरोधों के विकास का इतिहास है, उन वर्ग विरोधों का जिन्होंने भिन्न युगों में भिन्न रूप धारण किया था।

पर उन्होंने चाहे जो भी रूप धारण किया हो, पिछले सभी युगों में एक चीज़ हर अवस्था में मौजूद थी- समाज के एक हिस्से द्वारा दूसरे हिस्से का शोषण। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि विगत युगों की सामाजिक चेतना अनेकानेक विविधता और विभिन्नता के बावजूद जिन सामान्य रूपों या सामान्य विचारों के दायरे में गतिशील रही है, वे वर्ग विरोधों के पूर्ण रूप से विलुप्त होने के पहले पूरी तरह नहीं मिट सकते।

कम्युनिस्ट क्रान्ति समाज के परम्परागत स्वामित्व सम्बन्धों से एक मूलभूत विच्छेद है; फिर इसमें आश्चर्य क्या कि इस क्रान्ति के विकास का अर्थ है समाज के परम्परागत विचारों से आमूल सम्बन्ध विच्छेद? लेकिन कम्युनिज़्म के खिलाफ पूंजीपतियों के आरोपों की कथा अब समाप्त की जाएगी। ऊपर हम देख आए हैं कि मज़दूर वर्ग की क्रान्ति का पहला कदम सर्वहारा वर्ग को ऊपर उठा कर शासक वर्ग के आसन पर बैठाना और जनवाद के लिए होने वाली लड़ाई को जीतना है।

सर्वहारा वर्ग अपना राजनीतिक प्रभुत्व पूंजीपति वर्ग से धीरे-धीरे कर सारी पूंजी छीनने के लिए उत्पादन के सारे औज़ारों को राज्य, अर्थात् शासक वर्ग के रूप में संगठित सर्वहारा के हाथों में केन्द्रीकृत करने के लिए तथा समग्र उत्पादक शक्तियों में यथाशीघ्र वृद्धि के लिए इस्तेमाल करेगा।

निस्सन्देह, आरम्भ में यह काम स्वामित्व के अधिकारों पर और पूंजीवादी उत्पादन की अवस्थाओं पर निरंकुश हमलों के बिना नहीं हो सकता; अतः ऐसे उपायों के बिना नहीं हो सकता जो आर्थिक दृष्टि से अपर्याप्त और अव्यवहारिक प्रतीत होते हैं, पर जो विकास क्रम में अपनी सीमा को लांघ जाएंगे, पुरानी समाज व्यवस्था के और भी गहन भेदन को अनिवार्य बना देंगे और जो उत्पादन प्रणाली में पूर्णतया क्रान्ति लाने के साधन के रूप में अनिवार्य होंगे।

निस्सन्देह, भिन्न-भिन्न देशों में ये उपाय भिन्न-भिन्न होंगे। फिर भी नीचे दिए हुए तरीके सबसे आगे बढ़े हुए देशों में आम तौर से लागू हो सकेंगेः

१. भूस्वामित्व का उन्मूलन और समस्त लगान का सार्वजनिक प्रयोजन के लिए उपयोग

२. भारी वर्द्धमान या आरोपी आय-कर

३. उत्तराधिकार का उन्मूलन।

४. सभी उत्प्रवासियों और विद्रोहियों की सम्पत्ति की जब्ती।

५. सरकारी पूंजी और पूर्ण एकाधिकार से सम्पन्न राष्ट्रीय बैंक द्वारा राज्य के हाथ में उधार का केन्द्रीकरण।

६. संचार और यातायात के साधनों का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण।

७. राजकीय कारखानों और उत्पादन के औज़ारों का विस्तार करना; एक आम योजना बना कर परती जमीन को जोतना और खेत की मिट्टी का सामान्यतः सुधार करना।

८. हर एक के लिए काम करना समान रूप से अनिवार्य किया जाना। विशेषकर कृषि के लिए औद्योगिक सेनाएँ कायम करना।

९. उद्योग और कृषि को मिलाना; धीरे-धीरे देहातों और शहरों का अन्तर मिटा देना।

१०. सार्वजनिक पाठशालाओं में तमाम बच्चों के लिए मुफ्त शिक्षा व्यवस्था। वर्तमान रूप में बच्चों से कारख़ानों में काम लेना खतम कर देना। शिक्षा और औद्योगिक उत्पादन को मिलाना, आदि।

विकासक्रम में जब वर्गों के भेद मिट जाएँगे और सारा उत्पादन पूरे राष्ट्र के एक विशाल संघ के हाथ में संकेन्द्रित हो जाएगा, तब सार्वजनिक सत्ता अपना राजनीतिक स्वरूप खो देगी। राजनीतिक सत्ता, इस शब्द के सही अर्थ में, एक

वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का उत्पीड़न करने की संगठित शक्ति ही है। पूंजीपति वर्ग के खिलाफ अपने संघर्ष के दौरान, परिस्थितियों से मजबूर होकर सर्वहारा को यदि अपने को एक वर्ग के रूप में संगठित करना पड़ता है, यदि क्रान्ति के जरिए वह स्वयं अपने को शासक वर्ग बना लेता है, और इस तरह उत्पादन की पुरानी अवस्थाओं का बलपूर्वक अन्त कर देता है, तो उन अवस्थाओं के साथ-साथ वह वर्ग विरोधों के अस्तित्व और आम तौर पर खुद वर्गों की अवस्थाओं का खात्मा कर देता है और इस प्रकार एक वर्ग के रूप में स्वयं अपने प्रभुत्व का भी खात्मा कर देता है।

तब वर्गों और वर्ग विरोधों से बिन्धे पुराने समाज के स्थान पर एक ऐसे संघ की स्थापना होगी जिसमें व्यष्टि की स्वतन्त्र प्रगति समष्टि की स्वतन्त्र प्रगति की शर्त होगी।

सोवियत राज्य का पतन

जॉन ग्रे

जॉन ग्रे समकालीन अंग्रेजीभाषी जगत के महत्वपूर्ण राजनीतिशास्त्रियों में से हैं। उन्होंने प्राचीन और नव्य उदारवाद पर उल्लेखनीय बहसें चलायी हैं। सोवियत राज्य के पतन के ऊपर उनका यह लेख १९९२ में प्रकाशित हुआ था।

पूर्वी यूरोप और सोवियत संघ में अक्टूबर १९८९ और अगस्त १९९१ के बीच में जो परिवर्तन हुए उनका महत्व सोवियतविदों की हल्की और संकीर्ण समझ से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। १९८९ के अन्तिम दिनों में पूर्व यूरोपीय कम्युनिस्ट सरकारों का समाप्त होना न केवल समाजवादी केन्द्रीय नियोजन के दिवालियेपन को द्योतित करता है, साथ ही द्वितीय महायुद्ध के बाद याल्टा में हुई सौदेबाजी में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका इन दो महान शक्तियों को महाबली के रूप में स्वीकार कर लिए जाने (जिसके अन्तर्गत जर्मनी को दो हिस्सों में एक पीढ़ी तक बाँट कर रखा गया) के प्रश्न को भी खोलता है। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में सम्भव है कि युद्धोत्तर बन्दोबस्त और भी समाप्त हो और जापान के एक सैन्य शक्ति के रूप में उभरने के साथ घटना क्रम का अगुवा विकास सामने आये।

रूस में अगस्त १९९१ में होने वाली घटनाएँ एक विश्व ऐतिहासिक परिवर्तन की द्योतक हैं जिसका महत्व और भी गहरा है। १९१९ में वुडरो विल्सन के तत्वावधान में यूरोप के सतत झगड़ालू राज्यों पर अमरीका द्वारा एक नाजुक और नश्वर व्यवस्था आरोपित करने का प्रयत्न हुआ था। मार्क्सवाद की तरह ही इस बुद्धिवादी व्यवस्था का जन्म फ्रांसीसी उद्‌बोधन के दौरान उभरी वैश्विक मानव सभ्यता की कल्पना में हुआ था। जिसमें जाति और धर्म के दावों को सामान्य मानवता से बहुत छोटा दर्ज़ा दिया गया था। १७८९ की क्रान्ति के पीछे इसी कल्पना की प्रेरणा थी। लेकिन १९८९ और १९९१ की घटनाओं में इस कल्पना को भ्रमपूर्ण सिद्ध कर दिया। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि १९९१ में सोवियत कम्युनिज़्म की समाप्ति के साथ ही युद्धोत्तर बन्दोबस्त भी समाप्त हो रहा है और वे परिस्थितियाँ भी समाप्त हो रही हैं जिन्हें फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रेरक माना गया था। सोवियत संघ की समाप्ति के साथ-साथ अनेक पीढ़ियों के पश्चिमी दार्शनिकों और वामपन्थी-उदारपन्थी को मोह लेने वाली समाजवादी मानवता की छवि भी समाप्त होती है। सोवियत कम्युनिज़्म के पीछे हम सोवियत मानवता या किसी अन्य बुद्धिपरक अमूर्त कल्पना को नहीं पाते हैं बल्कि सोवियत कम्युनिज़्म के पीछे बाल्टिक राज्यों की मानवता, यूक्रेन की मानवता, उज़्बेक मानवता और रूस की मानवता को देखते हैं। सोवियत संघ की समाप्ति का सबसे गहरा अर्थ इतिहास के जातीय और

धार्मिक अन्तर्द्वन्द्वों, संकीर्ण दावों और गोपनीय कूटनीतिक गतिविधियों के पुनरुज्जीवन में है। अगले दशक में और २१वीं शताब्दी में होने वाली घटनाएँ फ्रांसीसी उद्‌बोधन के साथ विकसित हुई उदारवाद और मार्क्सवाद जैसी विचारधाराओं के द्वारा नियन्त्रित न होकर प्राचीन और आदिम भावनाओं के उभार और उनसे जुड़ी हुई जातीय और धार्मिक वफ़ादारियों के द्वारा नियन्त्रित होंगी।

जिस प्रकार सोवियत कम्युनिज़्म का नाश उदारवाद के कारण नहीं, अपनी अन्तर्भूत खामियों के कारण हुआ था और इसे रूसी राष्ट्रवाद ने अन्तिम धक्का दिया था। अनेक कारणों से पश्चिमी जगत की प्रतिक्रिया रूसी राष्ट्रवाद के प्रति सन्देह से उत्पन्न होती है। रूसी राष्ट्रभावना के हर उभार को के.जी.बी. द्वारा प्रेरित ताकतों की अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाता है हालांकि रूसी निर्वाचनों में इसकी उपलब्धि अभी तक अनुपाततः नगण्य रही है। रूसी राष्ट्रवाद का पश्चिमी विरोध उत्तर कम्युनिस्ट रूस में उग्र दक्षिणपन्थी पार्टियों को प्रोत्साहित कर सकता है। इसका भी दीर्घकालिक इतिहास है। पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के अनेक लोग सोवियत कम्युनिज़्म को एक अन्य झण्डे के नीचे चल रही मास्को की तानाशाही का ही एक रूप मानते हैं। ऐसी अर्थहीन व्याख्या करते हुए रूस, चीन, क्यूबा और बोहेमिया की कम्युनिस्ट संस्थाओं में समानता को नज़रन्दाज कर दिया जाता है। सत्य तो यही है कि सोवियत कम्युनिज्म किसी रहस्यवाद और पावनता में लिप्त रूसी मठ से नहीं निकला था, न ही इसके विशिष्ट दमनकारी लक्षण रूसी सांस्कृतिक परम्परा से प्रादुर्भूत हुए थे। यह मूलतः पश्चिमी और यूरोपीय 'एनलाइटेनमेण्ट' की विचारधारा थी। इसको लागू करने के लिए रूस में 'सर्फडम' की समाप्ति के बाद हो रहे विकास के मार्ग से वहाँ के लोगों को अलग-थलग कर दिया। कहीं की भी जनता और खास तौर पर रूसी जनता सोवियत कम्युनिज्म द्वारा किये गये दमन और क्रूरताओं से अनभिज्ञता/निर्दोषता का दावा नहीं कर सकती, इस कार्य में पश्चिमी शक्तियों सहित सभी सहभागी थे, इसके पापों में सभी लिप्त थे। लेकिन यह बड़ी मूलभूत गलती होगी कि पश्चिमी नीति रूसी राष्ट्र राज्य के उदय का विरोध करें। रूसी राष्ट्रवाद अपने वर्तमान विभिन्न रूपों में रूसी साम्राज्यवादी अतीत से अपने को अलग करने का आन्दोलन है। उदयमान रूसी राष्ट्र राज्य को रूस के पुराने अधीन लोगों के साथ साम्राज्यवादी रिश्ता फिर कायम करने के खिलाफ चेतावनी देने के साथ-साथ पश्चिमी नीतिज्ञों को यह मानना चाहिए कि सोवियत कम्युनिज़्म का खात्मा अन्ततः रूसी राष्ट्रवाद ने किया है और भविष्य में गर्भ में बड़े हो रहे रूसी राष्ट्र राज्य के साथ ही पश्चिम को निपटना पड़ेगा। ... ...

गोर्बाचेव के काल में पश्चिमी नीति ऐसी थी कि कम्युनिस्ट संस्थाओं के युक्तिसंगत सुधार का समर्थन किया जाए। उस काल के इतिहास से यह सबक मिलता है कि गोर्बाचेव जो सोवियत कम्युनिज्म का सुधार चाहते थे, वह नहीं सम्भव था, सम्भव था केवल उसका विनाश। वस्तुतः 'पेरेस्त्रोइका' सोवियत राज्य के नवीनीकरण की प्रक्रिया नहीं, उसके क्रान्तिकारी विनाश का प्रारम्भ थी। गोर्बाचेव के कार्यकाल का व्यंग्य यह था कि गोर्बाचेव ने इस विषय में केवल पश्चिम को ही नहीं धोखे में रखा बल्कि अपने को भी धोखे में रखा।

किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि उत्तर-कम्युनिस्ट जगत शान्ति और व्यवस्था का जगत होगा। इसके विपरीत, हालांकि हम भविष्य के अन्धकार को भेद नहीं सकते, ऐसा लगता है कि इक्कीसवीं शताब्दी में भी उसी तरह के

विनाशकारी झगड़े चलते रहेंगे जैसे बीसवीं शताब्दी में चलते रहे थे। अन्तर यह आ जाएगा कि बीसवीं के झगड़े 'एनलाइटेनमेण्ट' विचारधाराओं से उद्‌भूत थे, इक्कीसवीं के झगड़े मूलभूतवादी, राष्ट्रवादी और जनसंख्या के कारणों से हुए द्वन्द्व होंगे। अभी के अनिश्चय के काल में विश्व के मूलतः अराजक होने के विश्वास के साथ पश्चिमी नीति को पूर्णतः लचीला और त्रुटिशून्यतापूर्वक दृढ़ होना होगा। इस काल में बार-बार सैन्य शक्ति का नपा तुला उपयोग करने की आवश्यकता पड़ती रहेगी। मगर पश्चिम अपने भ्रमों को बनाए रखेगा और इस मुग़ालते में पड़ा रहेगा कि एक असफल 'एनलाइटेनमेण्ट' शासन को किसी तरह बनाये रखने से शान्ति बनी रहेगी। गोर्बाचेव के काल का एक पाठ यह है कि 'एनलाइटेनमेण्ट' की सर्वश्रेष्ठ संरचना सोवियत प्रणाली के सुधार की प्रायोजना बुद्धिवाद का एक नश्वर भ्रम था।

प्रोफ़ेसर पद्‌मा देसाई न्यूयार्क स्थित कोलम्बिया विश्वविद्यालय में 'संक्रान्ति अर्थव्यवस्था केन्द्र' की निर्देशक और 'तुलनात्मक आर्थिक प्रणालियाँ' की ग्लैडिस एवं रोलैण्ड हेरीमान प्रोफ़ेसर हैं। कोई चालीस वर्ष पहले उन्होंने सोवियत और भारत के व्यापारिक सम्बन्धों पर एक मूलभूत पुस्तक लिखी थी। पिछले दिनों उन्होंने विश्वव्यापी वित्तीय संकट का भी अध्ययन किया है। वे पिछले चार दशकों से रूस की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करती रही हैं। वे १९९९ से २००५ तक उत्तर सोवियतकालीन रूस की समस्याओं को सुलझाने में लगे रूसी नेताओं से बातचीत करती रही थी। इनके अलावा उन्होंने कुछ पश्चिम के रूसी विशेषज्ञों से भी इस सम्बन्ध में बातचीत की। उनकी यह पुस्तक 'कन्वर्सेशन्स ऑन रशिया- रिफॉर्म फ्राम येल्त्सिन टू पूतिन' २००६ में प्रकाशित हुई थी। हम चार रूसी निर्माताओं लोगों से उनकी बातचीत के अंश यहाँ उद्धृत कर रहे हैं। इनके पहले रूसी इतिहास के श्रेष्ठ निरूपक प्रो. रिचर्ड पाइप्स से बात-चीत का सारांश दिया जा रहा है।

रूस में कभी भी लोकतन्त्र नहीं रहा। समाज के हितों का प्रतिनिधित्व राजनीतिक पार्टियाँ कर सकती हैं, यह रूसी राज-संस्कृति से बाहर की बात है।

रूसी राष्ट्रपति के निर्वाचन के समय शोरगुल बहुत होता है। क्योंकि निर्वाचन की ठोस परम्पराएँ वहाँ नहीं हैं।

रूसियों को प्रधान खेद इस बात का रहता है कि अब वे विश्व की 'महान शक्ति' नहीं रहे।

कठिन समय में कैसे निर्वाह किया जाए रूसियों को इसका बहुत अनुभव हैं। वस्तुतः वे कठिन समय में जीना ज़्यादा अच्छी तरह जानते हैं। अच्छे समय में जीना उन्हें नहीं आता।

पूतिन ने बहुत स्पष्ट तौर पर यह बात कही है कि उनके विचार से रूस लोकतन्त्र के लिए अभी तैयार नहीं है। पूतिन बहुत चतुर राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन रूस को इस काल में बड़े 'स्टेट्‌समैन' की ज़रूरत है।

सोवियत काल में पुश्किन और तोलस्तोय को पढ़ते थे क्योंकि और कुछ उपलब्ध नहीं था। अगर हलके उपन्यास उपलब्ध हों तो वे उन्हें पढ़ने लगेंगे।

लेश्येक कोलाकोव्स्की

लेश्येक कोलाकोव्स्की बीसवीं शती के उत्तरार्ध में पोलैण्ड के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक के रूप में सामने आये। उनकी

शिक्षा-दीक्षा पहले लोड्ज और बाद में वारसा विश्वविद्यालय में हुई। वे वारसा विश्वविद्यालय में शोध कार्य करने के बाद वहीं अध्यापक हो गये। पोलैण्ड की 'एकेडेमी ऑफ़ साइंसेस' में भी उनके व्याख्यान होने लगे। उन्होंने यूरोप की सत्रहवीं शताब्दी के दार्शनिकों के विवेचन को अपना मूल कार्य बनाया था ताकि वर्तमान विषयों पर कुछ कहना न पड़े। यह स्मरण दिलाना आवश्यक नहीं कि तब पोलैण्ड पर कम्युनिस्ट शासन था। एक तरह से पोलैण्ड की जनता रूसी कम्युनिस्ट साम्राज्यवाद के अन्तर्गत थी। यदि इस अधिनायकवाद पर कुछ कहा जाता तो कहने वाले को कौन-सा दण्ड मिलता, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

लेश्येक कोलाकोव्स्की की रचनाएँ अपने बुद्धि वैभव और तीक्ष्ण तर्कात्मकता के कारण शीघ्र ही प्रसिद्ध होने लगीं। यूरोप की अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद होने लगे। अंग्रेज़ी में इनका एक संग्रह 'टूवर्ड ए मार्क्सिस्ट ह्यूमनिज़्म' शीर्षक से १९६८ में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष उन्हें देश से निष्कासित कर दिया गया। उनकी रचनाएँ सोवियत संघ के दार्शनिकों में हलचल मचा रही थीं।

लेश्येक कोलाकोव्स्की १९६९ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। उनके अध्यापन की ऐसी धाक बैठी कि यूरोप और अमरीका के अनेक विश्वविद्यालय उन्हें अपने यहाँ बुलाने लगे। वहाँ हुए उनके व्याख्यान पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुए। दार्शनिक निबन्धों के दो संग्रह प्रकाशित हुए जिनके अनेक संस्करण हो चुके हैं।

लेश्येक कोलाकोव्स्की की अन्तिम पुस्तक 'मेन करेण्ट्स ऑफ़ मार्क्सिज़्म' तीन खण्डों में प्रकाशित मार्क्सवाद के आरम्भ से लेकर और बीसवीं शती तक हुई उसकी अन्यान्य व्याख्याओं की विषद् समीक्षा है।

'स्तालिनवाद के मार्क्सवादी स्रोत' का प्रथम प्रकाशन पोलिश भाषा में १९७५ में हुआ था। इसका अंग्रेज़ी अनुवाद कोलाकोव्स्की के अमेरिका से प्रकाशित निबन्ध संग्रह 'एसेज़ इन हिस्टॉरिकल इण्टरप्रिटेशन' में १९७७ में हुआ था। यहाँ लेख के आरम्भिक अंश का अनुवाद दिया जा रहा है।

स्तालिनवाद के मार्क्सवादी स्रोत

लेश्येक कोलाकोव्स्की

हम कौन-से प्रश्न पूछते हैं और किन प्रश्नों को पूछने के पहले ही चुप हो जाते हैं?

जब हम मार्क्सवाद और स्तालिनवादी विचारधारा और शासन प्रणाली के सम्बन्धों के बारे में सोचना शुरू करते हैं तो पहली कठिनाई तो यह आती है कि इस प्रश्न को निरूपित कैसे किया जाए? यह प्रश्न कई रूपों में उठाया गया है और कई रूपों में निरूपित हो सकता है। कुछ रूप तो निरर्थक हैं क्योंकि उन रूपों में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता है। कुछ रूप सरलता से कल्पित किये जा सकते हैं, ये लोगों का मत परिवर्तन करने के उद्देश्य से दिये गये भाषणों जैसे होते हैं।

ऐसे निरर्थक प्रश्नों का एक उदाहरण है - 'यदि मार्क्स यह देखने के लिए जीवित रहते कि उनके विचारों को सोवियत प्रणाली में कैसे रूपायित किया गया है तो वे क्या कहते?' इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता। एक तो मार्क्स यदि तब तक जीवित रहते तो वे अपरिहार्य रूप से बहुत कुछ बदल चुके होते। यदि उन्हें आज पुनरुज्जीवित करने

का कोई चमत्कार हो जाए तो वे आज अपने विचारों के व्यावहारिक स्वरूप की जो व्याख्या करेंगे वह अब तक हो चुकी अनेक व्याख्याओं में से केवल एक व्याख्या होगी। उनकी व्याख्या को यह कह कर कि अपने विचारों के निहितार्थों का निर्वचन करने वाले दार्शनिक प्रायः ऐसा करने में त्रुटियाँ करते हैं, सरलता से खारिज किया जा सकता है।

उन प्रश्नों का एक ही स्पष्ट उत्तर होता है, इसके बारे में कोई विवाद नहीं उठ सकता। इसका उदाहरण है- 'क्या मार्क्सवादी सिद्धान्तों के कारण स्तालिनवादी प्रणाली का जन्म हुआ है? क्या मार्क्स की रचनाओं में कहीं किन्हीं स्पष्ट या अस्पष्ट मूल्यों का उल्लेख हुआ है जो स्तालिनवादी समाजों में स्थापित मूल्य प्रणाली के विरुद्ध हों?' पहले प्रश्न का उत्तर स्पष्टतया 'नहीं' में है। दुनिया में ऐसा कोई समाज आज तक नहीं है जो पूर्णतया किन्हीं विचारों के आधार पर विरचित हो या जिन विचारों से उसकी रचना में प्रेरणा मिली हो और उन विचारों से उसके स्वरूप की पूरी व्याख्या हो जाती हो। हर मार्क्सवादी यह बात स्वीकार करेगा कि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है।

.... यह प्रमाणित करने में कोई कठिनाई नहीं है कि मार्क्स ने कभी भी ऐसा कुछ नहीं लिखा कि स्वतन्त्रतापूर्ण समाजवादी राज्य किसी एक पार्टी का अधिनायकवादी शासन होगा। मार्क्स ने लोकतान्त्रिक सामाजिक जीवन का कभी भी निषेध नहीं किया था। उन्होंने आशा की थी कि समाजवाद से आर्थिक निरंकुशता की समाप्ति होगी। इसका यह तात्पर्य नहीं था कि राजनीतिक निरंकुशता कायम हो जाएगी। फिर भी यह स्पष्ट है कि मार्क्सीय सिद्धान्त में ही वे निष्कर्ष अन्तर्निहित हैं, जो मार्क्स द्वारा प्रतिपादित नैतिक मूल्यों के विरुद्ध ठहरते हैं। यह भी सम्भव है कि यथार्थ में जो परिस्थितियाँ थीं उनमें किसी अन्य तरह का समाज बनना अव्यावहारिक हो गया था। यह बात अकल्पनीय नहीं है कि सिद्धान्तकार जिन भावी समाजों की कल्पना करते हैं, जब वे कल्पनाएँ व्यवहार में उतरती हैं तब वे समाज मूल विचार से बिलकुल भिन्न प्रतीत होते हैं। स्वप्न में देखे गये समाज के एक अंश को व्यावहारिक रूप देने की प्रक्रिया में उसके अन्य अंशों का परित्याग करना पड़ता है। हम स्वयं व्यवहार में ऐसा पाते हैं कि कुछ मूल्य परस्पर संगत होते हैं और कुछ मूल्य परस्पर संगत नहीं होते। यह संगति-विसंगति तर्कलोक की नहीं, व्यवहारिक जगत की होती है। इन मूल्यों पर आधारित स्वप्नलोक ('यूटोपिया') परस्पर तर्कतः विरोधग्रस्त नहीं होते केवल व्यवहार में रूपायित नहीं हो पाते क्योंकि समाज रचना इसी रूप में विकसित हुई है।

इसीलिए मैं स्तालिनवाद और मार्क्सवाद के सम्बन्धों की विवेचना करते हुए ऐसी बातें कहना नापसन्द करता हूँ कि 'यह देख कर मार्क्स अपनी कब्र में भी दुखी हो जाते' अथवा 'मार्क्स सेंसरशिप के विरुद्ध और स्वतन्त्र निर्वाचनों के पक्षधर थे'। इन प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर नहीं है।

मेरी जिज्ञासा में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं कि 'स्तालिनवादी समाज-गठन को वैधता प्रदान करने के लिए जो स्तालिनवादी विचारधारा विरचित की गयी थी वह मार्क्सवादी इतिहास दर्शन के अनुकूल थी या नहीं थी'। यह इस निरूपण का सरल रूप है जिसमें कहा गया है कि 'मार्क्सवादी समाज के मूलभूत मूल्यों को व्यवहार में लाने की प्रक्रिया में वे मूल्य इस तरह से पतित हो जाएँगे कि निःसंशय ही स्तालिनवादी मूल्य बन जाएंगे। ...

यह मानना तार्किक दृष्टि से असंगत नहीं है कि मार्क्सवाद द्वारा प्रेरित अनेक प्रकार के समाज गठन सम्भव हैं, उनमें

स्तालिनवादी समाजवादी गठन केवल एक है। मार्क्सवाद के अन्तर्भूत तत्व उसी प्रकार का समाज उत्प्रेरित कर सकते थे, यह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता।

(अनु. : कमलेश)

अर्सेनी तर्कोव्स्की

अर्सेनी तर्कोव्स्की का जन्म १९०७ में एलिजावेतग्राद (वर्तमान नाम कीरोवोग्राद) में हुआ था। १९२५ से १९२९ तक तर्कोव्स्की मास्को विश्वविद्यालय के उच्च साहित्य संस्थान में साहित्य के विद्यार्थी रहे। वे आरम्भ से ही कविता के सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्षों पर विचार करते रहते थे। काव्यदर्शन पर विचार करने वाले कवियों में उनका स्थान अन्यतम है।

तर्कोव्स्की की कविताएँ १९२६ से पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं। ऐसा कुछ ही वर्षों तक हो पाया। अपनी वैचारिकता के कारण शीघ्र ही सोवियत संघ में उनकी कविताएँ छपनी बन्द हो गयीं। फिर ५० वर्ष की आयु तक इनकी कविताएँ सोवियत संघ में नहीं छप पायीं, कोई संग्रह भी नहीं प्रकाशित हुआ। ५० वर्ष के हो जाने पर अचानक इनकी कविताएँ रूसी पत्र-पत्रिकाओं में पुनः प्रकाशित होने लगीं। इनका पहला कविता संग्रह 'बर्फ़ से पहले' १९६२ में छपा। बाद के कविता संग्रह 'पृथ्वी को इहलौकिक' १९६६ में, 'दूत' १९६९ में, 'कविताएँ' १९७४ में, और 'शिशिर का दिन' १९८० में प्रकाशित हुए। १९८२ में इनकी चुनी हुई रचनाओं का एक वृहदाकार संस्करण छपा।

विख्यात फ़िल्म निर्देशक तर्कोव्स्की अर्सेनी के पुत्र थे और अपने पिता की तरह ही शब्द की जादुई शक्ति में विश्वास करते थे। १९८९ में अर्सेनी की मृत्यु हो गयी।

शब्दकोश

रूस के तने की मैं
छोटी-सी टहनी हूँ, हाड़-माँस हूँ,
धागों जैसी, खून और हड्डियों-जैसी
जड़ों का अटूट सिलसिला
पहुँचा है जो मेरी हर पत्ती तक।
उच्चता की एक शक्ति होती है चुम्बकीय,
और मैं तभी एक अमर हूँ जब तक
मेरी नसों से बहता रहेगा खून, मेरे दुःख और सुख,
भूमिगत स्रोतों का शीतल जल,
पवित्र भाषा के सब अक्षर।
सब जन्मों और सब मरणों के रक्त ने

प्रदान किया मुझे जीवन, मैं जिया ऐसे दिनों में
जब जनता की अनाम मेधा ने
तमाम चीज़ों और घटनाओं के मूक हाड़-माँस में
प्राण फूँके, देकर उन्हें उनके नाम।
उसके शब्दकोश के सब खुले हैं पन्ने
बादलों से लेकर ज़मीन की गहराई तक
ताकि आकाश को विवेक की सिखा सकें भाषा
और गिरा सकें एक मात्र उस हरी, सुनहली
लाल पीली पत्ती को कुएँ के भीतर...

(अनु.- वरयाम सिंह)

ऊँट

लम्बी गैररूसी टाँगों पर खड़ा
बेमतलब मुस्करा रहा है ऊँट।
दोनों ओर लटक रहे हैं बाल
जैसे सौ बरस पुराने चोगे पर रूई।
पूरब की ओर मुँह किये
ज़रूरत से ज़्यादा अनुभवी यात्री
पोंछते हैं ऊँट के बालों के नीचे से रेत
गेहूँ का भूसा खिलाते हुए।
कंजूसी की है मरुभूमि के ईश्वर ने
इस राजसी कुबड़े प्राणी के प्रति-
संसार की सृष्टि से बची-खुची सामग्री से
उसने रचना की है ऊँट के शरीर की।
नथुनों पर लगा दिया ताला,
हृदय को भर दिया पीड़ा और महानता से।
तभी से पूरी वफादारी के साथ
बजती आ रही है उसके गले की घण्टी।
चलता रहा वह लाल और काली रेत पर,
सामना करता रहा भले-बुरे मौसमों का।

आदी हो गया पराये बोझ का,
कुछ भी न बचाया बुढ़ापे के लिए।
अभ्यस्त हो गया है ऊँट का मन
मरुभूमि, बोझ और मार का-
पर, इस पर भी अच्छा है यह जीवन
किसी के तो काम आ रहा है!

(अनु.- वरयाम सिंह)

घास की पुस्तक

अरे नहीं, मैं नहीं हूँ, नदी किनारे कोई क्रेमलिन लिये
मैं तो नगर का राजचिन्ह हूँ।
राजचिन्ह, भी नहीं
मैं उसके ऊपर अंकित तारा मात्र हूँ,
रात के पानी में चमकती छाया नहीं
स्वयं तारा हूँ।
मैं उस तट की आवाज़ नहीं हूँ।
पहरावा भी नहीं हूँ उस पार के देश का।
तुम्हारी पीठ पीछे रोशनी की किरण नहीं
मैं युद्ध में नष्ट तुम्हारे अपने घर हूँ।
चोटी पर खड़ा नवाबों का घर नहीं
मैं याद हूँ तुम्हारे अपने घर की।
नियति द्वारा भेजा मित्र नहीं हूँ
मैं तो कहीं दूर चली गोली की आवाज़ हूँ।
मैं जाऊँगा समुद्री स्तैपी की ओर
गिर पड़ूँगा आर्द्र धरती पर।
नन्हीं घास की पुस्तक बन जाऊँगा
गिर पड़ूँगा मातृभूमि के पाँवों पर।

(अनु.- वरयाम सिंह)

अन्त्यानुप्रास (तुकबन्दी)

बहुत अधिक महत्व नहीं देता मैं इस शक्ति को,

गाने को तो छोटी-सी चिड़िया भी गा सकती है।
पर न जाने क्यों अन्त्यानुप्रास का कोश लिये
इच्छा होती है पूरी दुनिया घूम आने की
स्वभाव और विवेक के विपरीत
मृत्यु-क्षणों में कवि को!
और जिस तरह बच्चा कहता है-''माँ,''
छटपटाता है, माँगता है सहारा,
इसी तरह आत्मा भी अपमानों के अपने थैले में
ढूँढती हैं मछलियों की तरह शब्दों को
पढ़ती है श्वासेन्द्रियों से उन्हें,
विवश करती है तुकान्तों में बैठ जाने के लिए।
सच सच कहा जाए तो हम स्थान और काल की भाषा हैं
पर कविताओं में छिपी रहती है
तुकबन्दी करते रहने की पुरानी आदत।
हरेक को मिला है अपना समय
गुफ़ा में जी रहा है भय,
और ध्वनियों में जादू-टोने तरह-तरह के।
और सम्भव है, बीत जायेंगे सात हज़ार वर्ष
जब पुजारी की तरह कवि पूरी श्रद्धा के साथ
कोपेर्निकस के गायेगा गीत अपनी कविताओं में
और पहुँच जायेगा वह ऑइन्स्टाइन तक
और तब मेरी मृत्यु हो जायेगी और उस कवि की भी।
पर मृत्यु के उस क्षण वह विनती करेगा सृजनात्मक शक्ति से
कि कविताओं को पूरा करने का उसे समय मिले,
बस एक क्षण और, बस एक साँस और,
जोड़ने दे इस धागे को, मिलाने दे दूसरे धागे से!
क्या तुम्हें याद है अन्त्यानुप्रास की वह आर्द्र धड़कन?

(अनु.- वरयाम सिंह)

शब्द

शब्द तो मात्र खोल होता है

पतली सी फ़िल्म, खाली ध्वनि,
पर उसके भीतर अजीब रोशनी की तरह
गुलाबी रंग के धड़कते हैं कण।
धड़कती हैं नसें, दहाड़ते हैं शुक्राणु,
और एक तुम, एकदम निष्क्रिय, तब भी
जब तुम्हारा खुशनसीब वह कुर्ता पहने
प्रकट होता है इस दुनिया में।
शताब्दियों की प्राप्त है शक्ति शब्दों को
और यदि तुम हुए एक कवि
दूसरा तुम्हारे पास हो न कोई विकल्प
इस बहुत बड़ी दुनिया में-
ज़रूरत नहीं समय से पहले
युद्ध या प्रेम का वर्णन करने की,
डरते रहना भविष्यवाणियों से
मृत्यु को पास बुलाना ठीक नहीं!
शब्द होता है मात्र एक खोल-
मानव-नियति की एक फ़िल्म,
चाकू तेज़ कर रही होती है तुम्हारे लिए
तुम्हारी ही कविताओं की हर पँक्ति।

(अनु.- वरयाम सिंह)

जीवन, जीवन

भविष्यवाणियों पर कोई विश्वास नहीं।
भय नहीं अपशकुनों का।
भागा नहीं हूँ झूठ और मक्कारी से
न ज़हर के भय से
और मृत्यु तो है ही नहीं इस संसार में।
अमर्त्य हैं सब। अनश्वर है सब कुछ।
ज़रूरत नहीं मौत से डरने की
न सत्रह की उम्र में, न सत्तर में।
कुछ है तो वह सच्चाई और रोशनी

अन्धकार और मौत है ही नहीं इस संसार में।
हम सब खड़े हैं समुद्र के तट पर
और मैं अनेकों में एक हूँ जो खींचते हैं जाल
और मछलियों के झुण्ड की तरह सामने पाते हैं अमर्त्यता।
घर क्यों ढहेगा जब हम रह रहे हों उसके भीतर?
मैं आमन्त्रित कर सकता हूँ किसी भी शताब्दी को,
प्रवेश कर सकता हूँ,
बना सकता हूँ घर किसी भी काल में।
इसीलिए तो मेरे साथ एक मेज़ पर बैठे हैं
तुम्हारे बच्चे और पत्नियाँ,
परदादा और पोतों के लिए एक ही मेज़ है।
इस क्षण पूरा पूरा हो रहा है भविष्य
और यदि मैं हाथ उठाऊँ-
पाँचों किरणें रह जायेंगी तुम्हारे पास।
अतीत के हर दिन पर लगा रखे हैं ताले
काल को नापा है मैंने पटवारी की जरीब से।
उसके बीच से गुज़रा हूँ जैसे उराल प्रदेश के बीच से।

(अनु.- वरयाम सिंह)

अर्सेनी तार्कोव्स्की की पूरी पीढ़ी स्तालीन काल के आतंकों से पीड़ित रही थी। इसके बाद की पीढ़ी को कुछ पाबन्दियों के साथ लिखने पढ़ने की थोड़ी स्वतन्त्रता मिल गयी। निकिता ख्रुश्चेव के शासन में न केवल स्तालिनी कठोरताओं से मुक्ति मिली, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन के लिए लेखकों कवियों को अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता भी उपलब्ध हुई।

इस पीढ़ी के लोगों में आन्द्रेइ वोज़्नेसेन्स्की, येव्गेनी येव्तूशेंको, बेल्ला अख़्मादूलिना, यून्ना मोरित्स, व्याचेस्लाव कुप्रियानोव, आदि को सोवियत संघ से भी बाहर जाने का अवसर दिया गया और यूरोप तथा इंग्लैण्ड में इन कवियों के काव्यपाठ हुए। यूरोपीय भाषाओं में इनके अनुवाद भी हुए। इन अनुवादों को भारतवर्ष में भी प्रसिद्धि मिली। स्तालीनकालीन अन्धकार के बाद इस पीढ़ी के कवियों के पश्चिमी भाषाओं में अनेक अनुवाद छपे और ये कवि पश्चिम में भी लोकप्रिय हुए। इनके प्रसिद्ध होने के बाद भारतीय भाषाओं में भी समय-समय पर इनके अनुवाद होते रहे। श्रीयुत श्रीकान्त वर्मा ने आन्द्रेई वोज़्नेसेन्स्की की कविताओं के अंग्रेज़ी से हिन्दी अनुवाद किये थे। येव्तूशेंको की कविताएँ भी भारतीय भाषाओं में अनुदित हुईं। इनमें से अनेक कवियों को सोवियत संघ के प्रथम विद्रोही कवियों के रूप में असाधारण ख़्याति मिली। इनको जैसे एक सीमा तक विद्रोही बनने की अनुमति मिली हुई थी। प्रारम्भिक

प्रसिद्धि के बाद इनका साहित्यिक महत्व लगातार घटता ही गया।

एक दीर्घकाल के बाद इओसिफ ब्रोद्स्की आदि ने अपनी काव्यात्मक गुणवत्ता के बल पर पश्चिमी देशों में काफ़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। इओसिफ़ ब्रोद्स्की की कविता रूसी के महान कवियों की परम्परा में थी। उनकी कविताओं के हिन्दी अनुवाद कम हुए हैं। 'समास' के पाठक 'इतिहासदेवी' पर उनके लेख से परिचित हैं। यहाँ पर हम उनकी कुछ कविताओं के हिन्दी अनुवाद दे रहे हैं।

इओसिफ़ ब्रोद्स्की

इओसिफ़ ब्रोद्स्की का जन्म सेण्ट पीटर्सबर्ग में १९४० में एक यहूदी परिवार में हुआ था। १८ वर्ष की आयु में ही इनकी कविताएँ पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं। अन्ना आख़्मातोवा इनकी प्रतिभा की कायल थीं और इनको प्रोत्साहित करती रहती थीं। सोवियत यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक रुख के कारण इनकी कविताएँ सोवियत संघ में प्रकाशित नहीं हो पाती थीं। लेकिन पश्चिम के अनेक देशों में इनकी कविताओं के अनुवाद हो रहे थे और आलोचकों द्वारा इनकी काव्य प्रतिभा स्वीकृति प्राप्त कर रही थी। फिर भी सेण्ट पीटर्सबर्ग में इन्हें काम नहीं मिलता था। ये जीवनयापन के लिए विदेशी कविताओं का अनुवाद करते थे।

रूसी प्रशासन ने इन्हें १९६४ में आवारागर्दी के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया, और पाँच वर्ष की सश्रम क़ैद का दण्ड सुना दिया गया। विश्व भर के साहित्यकारों द्वारा इस दण्ड का ज़ोरों से विरोध हुआ। अन्ना आख़्मातोवा ने इनकी रिहाई-अभियान का नेतृत्व किया। सोवियत शासन को यह दण्ड वापस लेना पड़ा। तब तक ब्रोद्स्की डेढ़ वर्ष तक कारागार की सज़ा काट चुके थे।

बात यह नहीं

बात यह नहीं कि दिमाग फिर गया है मेरा,
बस, थका दिया है मुझे यहाँ की गर्मियों ने।
अलमारी में ढूँढने लगता हूँ कमीज़
और इसी में पूरा हो जाता है एक दिन।
अच्छा हो कि सर्दियाँ आयें जल्दी-से-जल्दी
बुहार कर ले जायें
इन शहरों और लोगों को
शुरुआत वे यहाँ की हरियाली से कर सकती हैं।
मैं घुस जाऊँगा बिस्तर में
बिना कपड़े उतारे पढ़ने लगूँगा किसी दूसरे की किताब
किसी भी जगह से पढ़ता जाऊँगा।

जब तक साल के बाकी दिन
अन्धे के पास से भागे कुत्ते की तरह
पहुँच नहीं जाते निर्धारित जगह पर।
हम स्वतन्त्र होते हैं उस क्षण
जब भूल जाते हैं
आततायी के सामने पिता का नाम,
जब शीराजा के हलवे से अधिक
मीठा लगता है अपने ही मुँह का थूक।
भले ही हमारा दिमाग
मोड़ा जा चुका है मेढ़े के सींगों की तरह
पर कुछ भी नहीं टपकता
हमारी नीली आँखों से

(अनु. वरयाम सिंह)

समुद्र

समुद्र ज़्यादा विविधता लिये होता है ज़मीन की तुलना में,
ज़्यादा रोचक होता है वह किसी भी दूसरी चीज़ से।
भीतर से होता है वैसा ही जैसा दिखता है बाहर से।
मछली अधिक रोचक होती है नाशपाती से।
ज़मीन पर चारदीवारें और छत होती है
हमें डर लगा रहता है भेड़िये का,
भालू से हम कम डरते हैं
हम उसे नाम देते हैं 'मीशा'।
ऐसा कुछ भी नहीं होता समुद्र में।
अपने आदिम रूप में ह्वेल मछली को फ़र्क नहीं पड़ता
उसे 'बोरिया' कहो या कहो 'असभ्य'।
समुद्र भरा होता है आश्चर्यों से
भले ही वे इतने अच्छे नहीं लगते
इसकी वजह ढूँढने की बहुतों को ज़रूरत नहीं पड़ती
धब्बों की गिनती करते दोष नहीं दिया जा सकता चन्द्रमा को
न ही पुरुष या स्त्री की पापपूर्ण इच्छाओं को।
समुद्री जीवों का ख़ून हमसे ज़्यादा ठण्डा होता है
उनकी कुरुपता देख बर्फ़ की तरह जम जाता है हमारा खून

मछली की दुकानों में भी।
यदि डार्विन ने समुद्र में गोता लगाया होता
तो हमें मालूम नहीं हो पाते जंगल के कानून
इसलिए कि हम कर चुके होते उनमें असंख्य संशोधन।

(अनु. वरयाम सिंह)

ब्रोद्स्की को १९७२ में रूस से निर्वासित कर दिया गया। वे कुछ दिनों तक यूरोप के देशों में भटकते रहे। बाद में अमेरिका चले गये। इनकी कविताएँ आप्रवासी प्रकाशनगृहों से प्रकाशित होती रहीं। प्रख्यात अंग्रेजी-अमेरिकी कवियों ने इनकी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद किये। बाद में इन्होंने स्वयं भी अपनी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद किये और रूसी के अलावा अँग्रेज़ी में भी लिखने लगे।

ब्रोद्स्की आलोचनात्मक और विचारात्मक लेखों के लिए भी मशहूर हुए। इन्हें इंग्लैण्ड अमेरिका के अतिरिक्त यूरोपीय देशों में भी व्याख्यान देने के लिए और कविता पाठ के लिए बुलाया जाता था। १९८७ में इन्हें नोबुल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। रूसी पाठकों ने इसका उत्साह से स्वागत किया। सोवियत शासन ने इस पुरस्कार में कोई रुचि नहीं दिखाई फिर भी ब्रोद्स्की की कविताओं के चयन हाथ से लिख कर, या टाइप करके, फोटो प्रतियाँ निकाल कर रूसी पाठक आपस में बाँटते-पढ़ते रहे। आधुनिक रूसी कवियों में १९२० के दशक में आयी पीढ़ी के बाद ब्रोद्स्की उन पाँच-छह कवियों में थे जिनको श्रेष्ठ आलोचकों द्वारा सराहा जाने के अलावा व्यापक लोकप्रियता भी प्राप्त हुई थी।

शोकगीत

लगभग एक बरस बीत गया है। मैं लौट आया हूँ
युद्धक्षेत्र में, लौट आया हूँ उनके पास
जो सीख चुके हैं उस्तरे के सामने पंख फैलाना
या-बेहतर स्थिति में-भौहों के पास,
जो हैरान हैं कभी साँझ के आलोक पर
कभी व्यर्थ रक्तपात पर।
अब यहाँ व्यापार होता है तुम्हारी अस्थियों का,
झुलसी सफलताओं के तमगों का, बुझी मुस्कानों का,
नये भण्डारों के डरावने विचारों का,
षड़यन्त्रों की स्मृतियों और धुले झण्डों पर अनेकों जिस्मों
की छाप का।
बढ़ती जा रही है लोगों की संख्या
उद्दण्ड वास्तुकला की एक विधा के खण्डहर,
बहुत अधिक अन्तर नहीं है

हृदय और अँधेरी खाइयों में-
इतना नहीं कि डरने लग जायें इससे कि
हमारी कहीं-कहीं फिर से मुठभेड़ होगी
अन्धे अण्डों की तरह।
सुबह-सुबह जब कोई देख नहीं रहा होता तुम्हारा चेहरा
मैं चल देता हूँ पैदल उस स्मारक की ओर
जिसे ढाला गया होता है बोझिल सपनों से।
जिस पर अंकित होता है शब्द 'विजेता',
पढ़ा जाता है 'बीजूका'
और शाम तक हो जाता है 'बिटका'।

(अनु. वरयाम सिंह)

पर्मानिद[2] से

अनुसन्धानकर्ता?घटना का साक्षी?क्रीमिया की लड़ाईयाँ?
असंख्य मृतक, सब कुछ धुएँ से घिरा हुआ।
तौलियों की अदला-बदली
नहीं! अपने हाथों आग लगाना प्रसूतिगृह को!
और स्वयं ही बुलाना आग बुझाने वालों को, कूद पड़ना
स्वयं ही आग में और बचाना नवजात शिशु को,
चूचक देना उसके मुँह में कहलाना उसका पिता,
सिखाना उसे अंगुलियों से अंजीर फल पकड़ना।
और फिर क़ागज़ में सैण्डविच लपेट
सादा-सा चेहरा लिये बैठ जाना गाड़ी में और
खो जाना किताब में जिसमें औरतें
बदल जाती हैं पक्षियों में और
उनकी जगह पर उग आते हैं पंख-अबाबील,
बगुलों और चिड़ियों के...
होना कारण और परिणाम दोनों! कि वर्षों बाद
दुर्घटना के शिकार लोगों के हित में
इन्कार करना उन्हें याद करने से।

---

१. प्रख्यात रूसी नृकुलविज्ञानी (१८४६-१८८८)
२. ईसा पूर्व छठी शताब्दी के यूनानी दार्शनिक।

ठण्ड से जमा प्रदेश

ठण्ड से जम गया है यह समृद्ध प्रदेश।
प्रतिबिम्बि के दूध में छिप गया है शहर।
घण्टियाँ बजने लगी हैं।
लैम्पशेड सहित एक कमरा।
हुल्लड़ मचा रहे हैं देवदूत
ठीक जैसे रसोई से निकलते बेयरे।
मैं तुम्हें यह पृथ्वी के दूसरे छोर से लिख रहा हूँ
ईसा मसीह के जन्मदिवस पर। बाहर बर्फ़ का ढेर
निष्ठापूर्वक कहता है-''ऐ लोगों!''
उजाला बढ़ रहा है...शीघ्र ईसा
दो हज़ार वर्ष के हो जायेंगे। बचे हैं केवल चौदह वर्ष।
आज बुधवार है। कल-वीर। इस जयन्ती पर,
डर है, हम कुछ जुगाड़ नहीं कर पायेंगे,
गाल से अलग नहीं कर पायेंगे सम्भावित झुर्रियों को।
आम भाषा में कहें तो, उसके गाल से
और तभी हम मिलेंगे जैसे तारा मिलता है गाँव वालों से
एक दीवार पार कर, एक उँगुली से जगाया गया पिआनो
कष्ट पहुँचा रहा है कानों को जैसे कोई
वर्णमाला सीख रहा हो।
या खगोल विद्या कुछ होती ही नहीं जब देखते हैं
व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को वहाँ अंकित, जहाँ हम हों ही न।
जहाँ योगफल निर्भर करता हो घटाने की प्रक्रिया पर।

(अनु.- वरयाम सिंह)

एक छोटे–से शहर में

एक छोटे-से शहर में शिशिर की हवा
शहर जो अपनी उपस्थिति से चमकता है मानचित्र
(मानचित्र बनानेवाला शायद अधिक उत्साह में था
या नगर के न्यायाधीश की बेटी के साथ सम्बन्ध बना चुका था)
अपनी विचित्रताओं से यह जग

उतार फेंकती है जैसे महानता का बोझ और
सीमित हो जाती है मुख्य सड़क तक।
और काल रूखी नज़र से देखता है औपनिवेशिक दुकान की तरफ,
दुकान के भीतर भरा है सब कुछ
जिसे पैदा कर सकती है हमारी दुनिया
दूरबीन से लेकर छोटी-सी सूई तक।
इस शहर में सिनेमा हैं, सैलून हैं और
चिक से ढका एक अदद कॉफ़ी हॉउस है
ईंट से बनी बैंक की इमारत है
जिसके ऊपर एक बाज बना है फैले पंखों वाला
और एक गिरजाघर है जिसे भूल चुके होते लोग
यदि पास में न होता अनेक शाखाओं वाला डाकघर।
और यदि यहाँ बच्चे पैदा नहीं किये जाते होते
तो पादरी को नाम देने के लिए कोई न मिलता सिवा मोटरगाड़ियों के।
यहाँ की खामोशी को सिर्फ़ टिड्डे तोड़ते हैं
छह बजे शाम को जैसे परमाणु युद्ध के बाद
दिखायी नहीं देता एक भी आदमी
चाँद तैरता हुआ प्रवेश करता है वर्गाकार खिड़की में।
कभी-कभी कहीं दूर से आती शानदार हेडलाइट
रोशन कर देती है अज्ञात सैनिक के स्मारक को।
यहाँ तुम्हारे सपनों में निकर पहने कोई औरत नहीं आती
बल्कि दिखाई देता है लिफ़ाफ़े पर लिखा अपना ही पता।
यहाँ सुबह फटे दूध को देख कर
दूध देने वाला जान लेता है तुम्हारी मौत के बारे में।
यहाँ जिया जा सकता है यदि भूल सको पंचांग
पी सको ब्रोमाइड और निकल न सको बाहर कहीं
दर्पण में देख सको
जिस तरह सड़क की बत्तियाँ देखती है सूखे पोखर को।

व्सेवोलोद मेयरहोल्ड

व्सेवोलोद मेयरहोल्ड ने स्तानिस्लाव्स्की से नाट्य कला का प्रशिक्षण लिया था। स्तानिस्लाव्स्की रूस के सबसे प्रसिद्ध नाट्य निर्देशक थे। उन्होंने अभिनय के लिए एक नयी शैली, 'मेथड', विकसित की थी। बहुत दिनों तक पश्चिम में भी

अभिनेताओं को इसी शैली में प्रशिक्षित किया जाता था। शताब्दी के प्रारम्भ से ही स्तानिस्लाव्स्की मास्को के सबसे बड़े नाट्यगृह के निर्देशक थे। क्रान्ति के बाद भी उनका प्रभाव बना रहा। व्सेवोलोद मेयरहोल्ड ने पहले उनके सहकारी के रूप में काम किया था। जब वे नाटकों का स्वतन्त्र निर्देशन करने लगे, उनकी ख्याति अपने गुरु से भी बढ़ने लगी। शीघ्र ही मेयरहोल्ड ने अपनी स्वतन्त्र पद्धति विकसित कर ली। उन्होंने मंचन में भी बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। उदाहरण के लिए उन्होंने मंच से पर्दे बिलकुल हटा दिये। मंच की साज सज्जा के लिए अग्रगामी कलाकारों को निमन्त्रित किया। उदाहरण के लिए 'सुप्रीमैटिस्ट' कैसीमिर मालेविच ने मायकोव्स्की के नाटक 'मिस्ट्री बूफे' के लिए मंच सज्जा की थी। उनको मायकोव्स्की का 'भविष्यवादी' नाटक बहुत रूढ़िवादी लगा था। उनके अनुसार उन्होंने 'मंच को पेण्टिंग के फ्रेम के रूप में देखा था जिस पर अभिनेता विरोधी तत्व के रूप में अभिनय कर रहे होते थे।... अभिनेताओं की गतियाँ मंच के सज्जा तत्त्वों के साथ लयात्मक सम्बन्ध में होती थीं।... मेरा यह लक्ष्य था कि वर्तमान यथार्थ को पुनः प्रस्तुत करने के बजाए एक नये यथार्थ की रचना करूँ।' मालेविच ने नरक को लाल और हरे रंग की गुफाओं के रूप में चित्रित किया था। नाटक के अन्त में दिखने वाला नूह का आर्क एक 'सुप्रीमैटिस्ट' पेण्टिंग जैसा था। ७ नवम्बर को प्रस्तुत किये गये अपने नाटक में मायकोव्स्की ने बहुत सारे काम किये थे। नाटक के ईसाई धर्मविरोधी होने के कारण बहुत से अभिनेता आये ही नहीं, मायकोव्स्की ने उनका भी अभिनय किया। बाइबिल में दी गयी सृष्टि की कथा इस नाटक का आधार थी। नाटक में इस सृष्टि कथा पर साथ ही साथ लगातार व्यंग भी चलता रहता था। दर्शकों के लिए तो यह नाटक भ्रमोत्पादक सिद्ध हुआ पर मेयरहोल्ड के लिए यह नाटक सोवियत सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने को स्थापित करने के लिए महत्वपूर्ण था। इसमें मेयरहोल्ड ने स्वयं भी अभिनय किया था। नाटक के अन्त में वे यह व्यंग करते सुने जाते थे कि 'मेरे शरीर से क्रैनबेरी का जूस बह रहा है।' यह नाटक अक्टूबर क्रान्ति की पहली वर्षगाँठ प्रस्तुत हुआ था। इस अवसर पर सोवियत संघ में व्यापक पैमाने पर तरह-तरह के उत्सव मनाये गये थे। इनके लिए मास्को और सेण्ट पीटर्सबर्ग के नवप्रसिद्ध कलाकारों को अपनी कृतियाँ प्रस्तुत करने के लिए निमन्त्रित किया गया था।

मेयरहोल्ड को अपने निर्देशनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में ही रूसी भाषा के श्रेष्ठतम नाटककार एण्टोन चैखोव के नाटकों का निर्देशन करने का उत्तरदायित्व मिला। यह अवसर उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। वे सेण्ट पीटर्सबर्ग की सभी नाट्यशालाओं के निर्देशक बना दिये गये थे।

मेयरहोल्ड ने रूसी गृहयुद्ध के विषय में एक नाटक प्रस्तुत किया था। अगले दिन 'प्रावदा' में उसकी कठोर समीक्षा छपी। अगले दिन ही उनके नाट्यगृह को बन्द कर दिया गया। स्तानिस्लाव्स्की ने कुछ महीने बाद उन्हें एक छोटा-सा काम दिया ताकि उनका गुज़र बसर होता रहे। अगस्त १९३८ में स्तानिस्लाव्स्की की मृत्यु हो गयी। आठ-दस महीने बाद 'कमेटी ऑन आर्ट अफेयर्स' की बैठक हुई जिसमें मेयरहोल्ड को पूछताछ के लिए बुलाया गया और अपने किये पर पश्चात्ताप करने के लिए कहा गया। मेयरहोल्ड ने अपना पक्ष रखा। अपनी बात कहते हुए उन्होंने कहा कि मुझे सोवियत संघ में आज खेले जा रहे नाटक असहनीय और भयानक लगते हैं।

मास्को के नाट्यगृहों में होने वाले नाटकों को जाकर देखिए, कितने रंगहीन, उबाऊ, सबके सब एक तरह के हैं। उनमें भेद सिर्फ इस बात का है कि उनमें से कौन कितना महत्त्वहीन है?... रूपवाद को मिटाने की प्रक्रिया में हमने कला को

ही नष्ट कर दिया है। (तुलनीय-भारत में सोवियत संघ की प्रेरणा से प्रगतिशीलों द्वारा रूपवाद का विरोध और रूपवाद के नाम पर अज्ञेय पर आक्रमण।)

दो दिन बाद मेयरहोल्ड गिरफ्तार कर लिये गये। के.जी.बी. के अभिलेखागार में उनकी फाइल है जिसमें मेयरहोल्ड द्वारा जेल से मोलोटोव को लिखा गया एक पत्र है:

मैं ६५ वर्ष का बीमार आदमी हूँ। मुझसे ये जो चाहते थे वह कहलवाने के लिए ये लोग मुझे मारने पीटने लगे। मुझे एक तख्त पर उलटा लिटा दिया गया और पीटा गया। मेरे पाँव के तलुओं को और मेरी रीढ़ पर एक रबड़ के बेल्ट से पीटा गया...। जब मेरे शरीर के ये अंग पूरी तरह रक्तरंजित हो रहे थे और उनके भीतर घाव हो चुके थे और मैं दर्द से कराह रहा था तो फिर उन्हीं अंगों पर बेल्ट से पीटने लगे। मुझे लगा कि जैसे मेरे शरीर पर उबलता हुआ पानी डाला जा रहा है। मैं दर्द के मारे कराहता हुआ भूँकता रहा...। मेरी आँखों से अनवरत आँसू बहते रहे। फर्श पर उलटे लेटे हुए मुझे पता लगा कि मैं उनके पीटे जाते वक़्त सिकुड़ सकता हूँ, मुड़ सकता हूँ, जैसे कोई कुत्ता पीटे जाते समय आवाज करता है, वैसी आवाज करता रह सकता हूँ... तब मुझे खाट पर लिटा दिया गया और अठारह घण्टे चली जिरह के बाद मुझे नींद आ गयी। थोड़ी देर बाद ही मेरी अपनी कराह से मेरी नींद टूट गयी। जैसे कोई मोतीझरा की अन्तिम अवस्था का रोगी हो, मैं उसकी तरह बेचैनी से उलटता-पलटता कराह रहा था।

मेयरहोल्ड के इस पत्र पर १३ जून १९४० की तारीख पड़ी हुई है। इसके पहले उनसे जो कुछ कहलवाना था कहलवा लिया गया था। सबके साथ यही होता था। कुछ ऐसी बातें होती थीं, सरासर झूठी, जो मार पीट कर कहलवा ही ली जाती थी। जैसे वह अंग्रेज़ों और जापानियों का जासूस था या और किसी सोवियत विरोधी षड़यन्त्र में लगा हुआ था। ऐसी सरासर झूठी बातें करोड़ों लोगों से कहलवा ली गयीं। रूसी क्रान्ति का लाडला माने जाने वाले बुखारिन से भी ऐसी बातें कहलवा ली गयीं। बाद में बहुत से लोग ये बातें शुरू में ही कह देते थे जो खुफ़िया एजेंसी उनसे कहलवाना चाहती थी। कम्युनिस्ट पार्टी को लोगों के ऐसे बयान चाहिए थे। ऐसे बयानों के आधार पर ही वे अपने किये का औचित्य सिद्ध किया करते थे।

मेयरहोल्ड की पत्नी जिनैदा राइख विख्यात अभिनेत्री थीं। मेयरहोल्ड की गिरफ्तारी के बाद उनके फ्लैट में उनकी लाश पायी गयी। उनके शरीर पर चाकू के १७ घाव थे। पड़ोसी रात भर उनकी चीख सुनते रहे थे पर, उनके अनुसार, उन्हें लगा कि वे किसी नाटक के लिए रिहर्सल कर रही हैं। ऐसा पता चलता है कि जब फ्लैट की घण्टी बजी तो वे सो रही थीं। उनको उनींदी देख कर हत्या करने वालों ने उनकी दोनों आँखें निकाल लीं।

मेयरहोल्ड को २ फरवरी १९४० को गोली मार दी गयी।

सोवियत यूनियन में बिना किसी अपराध के थियेटर के क्षेत्र में नये-नये आविष्कार करने वाले विश्वविख्यात मेयरहोल्ड की यातना का यह वास्तविक इतिहास याद रखें। इसमें एक अंश भी अतिशयोक्ति नहीं है, बल्कि मनुष्य की यातना का पूरा विवरण कभी शब्दों में नहीं समा सकता, भाषा की इस सीमा को समझते हुए इसको पढ़ें। इसको करोड़ गुना कर लें तो सोवियत संघ की वास्तविकता सामने आ जाएगी। मैं जानता हूँ कि यह कार्य कठिन होगा। ऐसी वास्तविकताएँ मनुष्य की कल्पना के बाहर की होती हैं। मनुष्य मनुष्य रहते हुए ऐसी नृशंसता की कथाएँ अपनी

कल्पना में नहीं ला सकता। पर कम्युनिज्म की वास्तविकता इसी तरह की वास्तविकता है जिसकी कल्पना करना भी मनुष्य की क्षमता के बाहर है।

ब्रेज्नेव के काल में रूसी जीवन

ख्रुश्चेव ने सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस में अपनी जनरल सेक्रेट्री की प्रसिद्ध रिपोर्ट में स्तालिन के अपराधों का पूरा विवरण देने के बाद उनके स्मृति चिह्नों को मिटाने का प्रयत्न किया। स्तालिनीकरण को समाप्त करने में भी अनेक वर्ष लग गये।

लेकिन ख्रुश्चेव के लिए भी सोवियत संघ के संस्थापक व्लादिमीर एलिच लेनिन सर्वोच्च मार्ग निर्देशक बने रहे। क्रेमलिन के बाहर लेनिन का अश्मीकृत शव एक मकबरे जैसी निर्मिति में रखा हुआ था और रोज प्रातः काल 'रेड स्क्वायर' में उसका दर्शन करने वाले लोगों की लम्बी कतारें बन जाती थीं। विदेशों से आये हुए यात्री, सोवियत संघ के विभिन्न राज्यों से आये हुए सीधे सरल लोग सर्वोच्च दिवंगत नेता की एक झलक पाने के लिए घण्टों कतार में खड़े रहते थे। हर कतार में दो तीन पुलिस सिपाही दर्शनार्थियों को अनुशासित करने में लगे रहते थे। दर्शन करने के बाद लोग क्रेमलिन में स्थित चर्च की ओर जाते थे जिसके फाटक १९१७ से ही बन्द पड़े हुए थे। कम्युनिस्ट धर्म में अब लेनिन के शवागार ने ही मन्दिर का स्थान ले लिया था और चर्च के फाटक बन्द हो चुके थे। दिवंगत होने के बाद भी इस नये मन्दिर में प्रतिष्ठापित लेनिन की पूजा बरकरार थी। लेनिन का नाम हर कार्य में मन्त्र की तरह लिया जाता था। राज्य के स्तर पर होने वाले हर कार्य के समय, हर उद्घोषणा के समय, हर भाषण के समय इस मन्त्र को जपना अनिवार्य था।

अगर सोवियत संघ पश्चिमी देशों से व्यापार करता है तो उस पर लेनिन के नाम की मुहर लगती है। अगर बड़े-बड़े बिजली घरों का निर्माण होता है तो उनका औचित्य भी लेनिन के वचनों से ठहराया जाता है। लेनिन के जीवनकाल में आणविक युद्ध की कोई कल्पना नहीं थी। लेकिन आज ब्रेज्नेव के काल में आणविक युद्ध का औचित्य भी लेनिन के शब्दों से प्रामाणिकता प्राप्त करता है। लेनिन के शब्द ही वे धर्मग्रन्थ हैं जो पूरे सोवियत जीवन को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। इन दिनों सोवियत संघ में ख्रुश्चेव का नाम नहीं लिया जाता, स्तालिन को ख्रुश्चेव ने ही दरकिनार कर दिया था। प्रामाणिकता केवल लेनिन की बनी हुई है। मार्क्स के लिखे धर्मग्रन्थ अब कभी-कभी ही उद्धृत होते हैं। अन्यथा मार्क्स की मूर्तियाँ भी आज कल कूड़ा घरों में पड़ी हुई हैं। मास्को की सड़कों पर यदा कदा ही कहीं मार्क्स की मूर्ति दिखलायी देती हैं। एक जमाने में हर चौराहे पर मार्क्स- एंगेल्स- लेनिन- स्तालिन, चारों मूर्तियाँ साथ-साथ दिखलाई देती थीं। सोवियत संघ में प्रकाशित हर पुस्तक पर ये मूर्तियाँ पहले पृष्ठ पर ही मुद्रित होती थीं और इनके नीचे 'दुनिया के मजदूरों, एक हों' लिखा रहता था।

आज कल मास्को में मूर्तियों की दुकानों में भी कहीं मार्क्स की मूर्ति नहीं मिलती। केवल लेनिन ही सोवियत संघ की प्रजा को अपने अमरत्व का प्रमाण देते जगह-जगह खड़े हैं। सोवियत सरकार के हर कार्यालय में चित्रों में लेनिन वर्तमान रहते हैं। वे स्कूलों में, विश्वविद्यालयों में, पार्कों में- एक शब्द में वे हर जगह हैं। मास्को में एक विशाल चारमंजिला लेनिन संग्रहालय बनाया गया है। उसके चौंतिस बड़े-बड़े आगारों में लेनिन के जीवन से जुड़ी दस हज़ार

वस्तुएँ प्रदर्शित हैं। मास्को और दूर के शहरों के स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे यहाँ पर समूहों में लाये जाते हैं और उन्हें लेनिन के जीवन की छोटी-छोटी दन्तकथाएँ भी बतायी जाती हैं। उन्हें लेनिन के जीवन पर दो-दो घण्टे के भाषण सुनने पड़ते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लेनिन के पत्र 'इस्क्रा' की छपाई जिस मशीन पर होती थी वह भी यहाँ पर रखी हुई है। बीसवीं शताब्दी के शुरू में लेनिन जिस 'रोल्स रायस' गाड़ी में सवारी करते थे वह भी यहाँ पड़ी हुई है। वे जो लाल विग पहनते थे, या वेश बदलने के लिए जिन अन्य वस्तुओं का प्रयोग करते थे वे भी यहाँ हैं। जगह-जगह पर लेनिन के उद्धरण खुदे हुए हैं। सोवियत नागरिकों को अब निरर्थक लगने वाले पुराने कम्युनिस्ट नारे भी जगह-जगह लटके हुए हैं। कुछ रूसी नागरिक इसे भी सोवियत संघ की कब्रगाह कहते हैं।

लेनिन के स्मारक प्रायः सोवियत संघ के हर शहर में हैं। दूरस्थ साइबेरिया में याकूतिया में एक गाँव में मैं गया तो मुझे एक झोपड़े में ले जाया गया कि लेनिन का जन्म इसी झोपड़े में हुआ था। ताजिकिस्तान में नूरेक बाँध बनने के बाद बिजली पैदा होने पर जो भाषण दिये गये उनमें कहा गया कि लेनिन हमारे साथ हैं। एक उत्सव हो रहा है और एक विशाल परदे पर आइसेन्सटाइन के लिये हुए विशालाकार लेनिन-चित्र उभरते रहते हैं। १९१७ आता है और क्रान्ति हो रही है। १९३० आता है और निर्माण कार्यों में लगे हुए लोग नारे लगा रहे हैं। १९४१ आता है 'रेड स्क्वायर' पर टैंकों की परेड हो रही है, स्कूलों के बच्चे खाइयाँ खोद रहे हैं, लाल सेना के गीत हर तरफ गूँज रहे हैं। विजय के क्षण आते हैं और परदे पर हर ओर 'फारवर्ड कम्युनिस्ट' का गान होने लगा है। हर ओर लेनिन ही लेनिन की जयकार है।

बहुत से रूसी इस लेनिन पूजा में भाग लेते हैं। लेकिन अब उनकी लेनिन में कोई श्रद्धा नहीं है। इस पूजा में भाग लेना आदत हो गयी है। इसका कभी-कभी लाभ भी उठाया जा सकता है। इसमें शामिल होते रहने पर पार्टी के अधिकारी सोचेंगे कि ये लोग उनसे भी कुछ अधिक लेनिनभक्त हैं। एक सोवियत भाषावैज्ञानिक ने बतलाया कि 'लेनिन की राह पर आगे बढ़ें,' इस नारे के अनेक उपयोग हैं। उदाहरण के लिए 'इण्टूरिस्ट' इस नारे का उपयोग ऐसे यात्रियों को उपलब्ध करने के लिए करता है जो लेनिन के जीवन से जुड़े हुए स्थानों की यात्रा करना चाहते हैं। इसमें जर्मनी, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, स्विटजर्लैण्ड, फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम आदि देशों की यात्रा भी शामिल होती है। सामान्यतया साधारण जनों को इन देशों की यात्रा के लिए पासपोर्ट नहीं मिलता। 'इण्टूरिस्ट' की 'लेनिन की राह पर आगे बढ़ें' यात्रा में भाग लेकर सामान्य रूसी नागरिकों को विदेशों की यात्रा का अवसर मिल जाएगा। सोवियत संघ के दूरस्थ स्थानों में स्थित फैक्टरियों के मजदूर बसें चार्टर करके मास्को आते हैं। लेनिन संग्रहालय देखने के लिए उनको छुट्टी मिलती है। मास्को पहुँच कर वे अपने गाइड को कहते हैं कि वे संग्रहालय नहीं देखना चाहते। वे मास्को की दुकानों में घूमते हैं और वहाँ से इच्छित वस्तुएँ खरीदते हैं जो उनको अपने शहर में उपलब्ध नहीं होतीं। कभी-कभी ऐसा ज़रूर करते हैं कि शाम को कहीं इकट्ठे होकर आधे घण्टे के लिए लेनिन संग्रहालय भी हो आते हैं। लेकिन मास्को आने पर हमेशा ऐसा करें, इसकी कोई इच्छा उनमें नहीं है। फिर भी फैक्ट्री के रिकार्ड में यह दर्ज हो जाएगा कि हमारे मजदूर लेनिन का अध्ययन कर रहे हैं।

कला के क्षेत्र में आधुनिकता का निषेध है। लेकिन कलाकार लोग लेनिन का शबीह बनाने की अनुमति प्राप्त करने में लगे रहते हैं। लेनिन का शबीह हो तो वह आधुनिक शैली का भी हो सकता है। संगीत संरचना यदि लेनिन के नाम से जुड़ी है तो उसके रूपवादी होने पर भी किसी आलोचक को उसका विरोध करने में कठिनाई होगी। एक वरिष्ठ पार्टी

अधिकारी ने विश्वविद्यालय में पढ़ रहे अपने बेटे को कहा कि लेनिन की किताबें पढ़ना ज़रूरी है। लेकिन इनको इस तरह मत पढ़ो कि कभी पार्टी की बैठकों में होने वाली बहसों में इसका इस्तेमाल करने लगो। पार्टी के अफसर लेनिन को अच्छी तरह नहीं पढ़ते। उनके लिए यह कठिन कार्य है। जब कोई उनके साथ बहस में लेनिन के उद्धरण देने लगता है तो वे सकते में आ जाते हैं। उन्हें कुछ सूझता नहीं कि वे क्या करें। ऐसे समय में वे तुम्हारा नुकसान भी कर सकते हैं। वे उन बौद्धिकों को गाली देते रहते हैं जिन्होंने लेनिन को अच्छी तरह पढ़ रखा है। सबसे बड़ा खतरा वे लोग झेलते हैं जो अपनी वर्तमान आर्थिक- सामाजिक स्थिति की तुलना लेनिन के उद्धरणों से करने लगते हैं। ऐसे लोग प्रायः गिरफ्तार करके साइबेरिया भेज दिये जाते हैं।

हर दिशा में व्याप्त लेनिन पूजा से राहत लेने के लिए रूसी बुद्धिजीवी प्रायः रोचक मज़ाक गढ़ते रहते हैं। बहुतेरे विदेशी इन मजाकों का आनन्द नहीं उठा पाते क्योंकि इनके स्रोत रूसी इतिहास और साहित्य में होते हैं। विदेशी लोग कम्युनिस्ट प्रचार की जटिलताओं को भी नहीं समझ पाते। एक मजाक तो यही है कि जो भी अच्छा काम हो रहा है उसका श्रेय लेनिन के सिर पर डाल दिया जाए। सारे श्रोता मुस्कराने लगेंगे। कहा जाता है कि फर्नीचर की किसी दुकान ने तीन लोगों के सोने के लिए एक 'बेड' बनाया था। आखिरकार 'लेनिन हमेशा हमारे साथ रहते हैं, वे हमारे साथ सोयेंगे भी'। कहा जाता है कि लेनिन लोगों की हत्या का आदेश भी बहुत मधुर शब्दों में देते थे। इन आदेशों के अनेक संस्करण बौद्धिकों में प्रचलित हैं जिन्हें सुन कर वे आनन्दित हुआ करते हैं। एक मजाक के अनुसार एक रूसी रात को घर पहुँचा तो पाया कि बिस्तर में उसकी पत्नी किसी के साथ सो रही है। वह क्रोधित होकर उसे डाँटने लगा- 'सोना भी था तो इस दाढ़ी वाले बुड्ढे के साथ। पत्नी ने कहा, 'चुप, यह लेनिन है'। रूसी धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। उसने पत्नी के पाँव पकड़ लिये।

रूस के बाहर के लोगों को इन मज़ाकों का आनन्द उठाने का अवसर कभी-कभी ही मिलता है। सोवियत सरकार उन विदेशी संवाददाताओं के विरुद्ध हो जाती है जो इनका अपने समाचार पत्रों में उल्लेख करते हैं। इटली के दैनिक पत्र 'कोरेरा डेला सेरा' के मास्को स्थित प्रतिनिधि जिउसेपे जोस्का ने अपने समाचार पत्र में लिख दिया कि मास्को में लगी लेनिन की मूर्तियों से लगता है कि लेनिन हाथ खड़ा करके किसी टैक्सी वाले को बुला रहे हैं। मास्को में टैक्सियों की इतनी कमी है कि लेनिन सारे समय इसी काम में लगे रहते हैं। उन्होंने लेनिन पूजा की तुलना इटली में कभी प्रचलित मुसोलिनी पूजा से की। दूसरे ही दिन सोवियत अखबारों में 'कोरेरा डेला सेरा' के खिलाफ लेखों की भरमार हो गयी। सोवियत विदेश मन्त्रालय ने जोस्का पर आरोप लगाया कि वह अपनी रूसी महिला सचिव का आलिंगन किया करते हैं। जोस्का ने इस तरह के सारे आरोपों को झूठ बताया। लेकिन के.जी.बी.के एजेण्ट उनका, उनकी पत्नी और बेटी का पीछा करने लगे। वे कहीं खड़े होते तो इनका फोटो लेते हुए इन्हें परेशानी में डालते। विदेश मन्त्रालय ने इटली के मास्को स्थित राजदूत पर दबाव डालना शुरू किया कि जोस्का को मास्को से हटा लिया जाए। जोस्का तीन महीने बाद रोम वापस बुला लिये गये। उनकी जगह 'कोरेरा डेला सेरा' ने जिनको अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा उनकी रूस के राजनीतिक जीवन में कोई रुचि नहीं थी।

एक बार घोषणा हुई कि जून १९७४ में चल रहे चुनाव अभियान के लिए ब्रेजनेव एक महत्त्वपूर्ण व्याख्यान रात आठ बजे देंगे। उनका व्याख्यान पार्क में दसियों लाउडस्पीकरों से प्रसारित हो रहा था। उस समय पार्क में दसियों हज़ार

लोग घूम रहे थे। एक भी रूसी उस व्याख्यान को सुन नहीं रहा था। एक इतिहासकार के अनुसार यदि स्तालिन व्याख्यान देते तो हर रूसी स्थिर खड़ा होकर सावधानीपूर्वक पूरा व्याख्यान सुनता।

हर चार वर्षों पर होने वाले सर्वोच्च सोवियत के निर्वाचन सोवियत संघ में लोकतन्त्र और राजनीतिक भागीदारी के सबसे बड़े आख्यान हैं। बहुत से विदेशी समझते हैं कि जिन चुनावों में ९९ प्रतिशत लोग वोट देते हों, वहाँ चुनाव का मज़ाक ही होता होगा। ऐसा नहीं है। एक प्रोफ़ेसर ने बताया कि उसको एक बस्ती में रहने वाले कोई १५० पेंशनरों से वोट डलवाने की जिम्मेदारी दी गयी। वह पहली बार उनके पास गया तो उसने उन्हें वोट डालने का महत्त्व समझाया। उसे हर मतदाता से अलग-अलग भी मिलना पड़ा। उसने एक बार जाकर उनको वोट डालने की तारीख, वोट डालने की जगह, समय आदि बतलाया। उनको कागज पर लिख कर यह सब दिया। फिर तीसरी बार उनसे मिल कर उन्हें वोट देने की गम्भीरता बतायी। हर हालत में वे वोट डालें, इसके लिए अनेक तरह की धमकियाँ भी दीं। इसी तरह पूरे सोवियत संघ में मतदान के समय लाखों सरकारी कर्मचारियों, विश्वविद्यालयों के हज़ारों अध्यापकों और दूसरे क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को सक्रिय होना पड़ता है ताकि ९९ प्रतिशत मतदान हो सके।

सोवियत संघ के बौद्धिक हर तरफ शासन-आरोपित एकरूपता से परेशान रहते हैं। फ़ुरसत के समय अपने घरों में इसकी पैरोडी उतार कर वे आनन्दित महसूस करते हैं। एक बार एक सम्मेलन के लिए एक अमरीकी प्रतिनिधिमण्डल मास्को आया। उससे सम्पर्क में रहे विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसरों ने आश्चर्य प्रकट किया कि अमरीकी अपने कार्य के बारे में इतने गम्भीर होते हैं। रूसी लोग तो इस तरह की विदेश यात्रा को अपने कठिन जीवन में किसी प्रकार मिल गयी राहत की तरह महसूस करते हैं।

एक अध्यापक ने हमें बताया कि रूसी लोग ख्रुश्चेव या ब्रेजनेव के 'कैरिकेचर' तो बना सकते हैं, बड़ी भौहों वाले एक तोंदियल व्यक्ति की नकल उतार सकते हैं, वे कह सकते हैं कि ब्रेज्नेव जब बोलते हैं तब लगता है कि वे दलिया चबा रहे हैं। कारखानों के मजदूर तो नकलें उतारने में और भी आगे हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि उनका कोई नुकसान नहीं किया जा सकता। अर्थव्यवस्था में उनकी आवश्यकता है। फिर भी मजाक उड़ाने वालों को मर्यादा का भी पालन करना पड़ता है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद रूस

लेनिन द्वारा रूस से निष्कासित कर दिये गये दार्शनिक ज्यॉर्जी फेदोतोव ने सोवियत संघ में स्तालीनकाल के गम्भीर परिवर्तनों के विषय में १९३८ में लिखा था-'कोई भी देश क्रान्ति की विभीषिका का शिकार होने के बाद पुनः पूर्ववत् स्थिति में नहीं आ सकता। एक पूरा युग, उसका अनुभव, उसकी परम्परा और उसकी संस्कृति नेस्तनाबूद हो चुकी होती है। एक पूरा पन्ना पलट चुका होता है। ... ... यह महाविनाश इसलिए हो सका क्योंकि लोग अपनी धार्मिक आस्था खो चुके थे। उन्होंने सभ्यता के अत्यन्त सतही रूपों-मार्क्सवाद, डार्विनवाद और टेकनॉलोजी को स्वीकार कर लिया।' फेदोतोव की भविष्यवाणी कितनी सही है, यह आज के रूस को देख कर समझा जा सकता है।

बोलशेविक क्रान्ति का, कम्युनिस्ट शासन का, मार्क्सवादी-लेनिनवादी-स्तालीनवादी विचारधारा का प्रधान लक्ष्य एक ही था- हज़ार वर्षों से चली आ रही रूसी परम्पराओं का, रूसी संस्कृति का और रूसी जाति का विनाश। निरंकुश

कम्युनिस्ट शासन तानाशाही की सारी प्रविधियों का उपयोग करते हुए अपने इस कार्य में पूरी तरह सफल रहा। रूस में कम्युनिस्ट शासन और सोवियत संघ की स्थापना का सबसे भयंकर परिणाम सोवियत संघ के विघटन के कुछ वर्ष बाद प्रकट हुआ।

सोवियत संघ के विघटन को लेकर तरह-तरह के षड्यन्त्रों के किस्से प्रचलित हुए। अमरीका में लम्बे प्रवास से वापस आकर अलेक्सान्द्र जिनोवीव ने दावा किया कि उन्हें पहले से ही पता था कि पश्चिमी एजेंसियाँ अपने एजेण्टों को सोवियत संघ में शासन में बिठाने में सफल हो गयी हैं और गोरबाचोव जैसे लोग उन्हीं के निर्देशानुसार कार्य कर रहे हैं। उनके अनुसार गोरबाचोव, याकोवलेव और दूसरे सुधारवादी सी.आई.ए. के एजेण्ट हैं। कुछ दिनों तक बहुत से लोगों को यही बात सबसे अधिक विश्वसनीय लगती थी।

उनकी बात की विश्वसनीयता गपशप के स्तर तक की थी। वास्तविकता में रूसी जनता गोरबाचोव के सुधारों का उत्साह के साथ समर्थन कर रही थी। इसलिए जिनोवीव कुछ ही दिनों बाद यह कहते हुए पाये गये कि सारा का सारा देश गद्दार हो गया है। षड़यन्त्रवादी मानसिकता से मुक्त होने के बाद ही उन्हें यह बात समझ में आ सकी कि बोलशेविक शासन ने ही सोवियत संघ को खत्म कर दिया है।

कविता की केन्द्रीय स्थिति समाप्त

सोवियत संघ के विघटन के साथ-साथ सुदीर्घ कम्युनिस्ट शासन का एक परिणाम तो यह हुआ कि रूसी भाषा-समाज में कविता की केन्द्रीय स्थिति खत्म हो गयी। कुछ और आगे बढ़ कर सोचा जाए तो कहना होगा कि पिछली दो शताब्दियों में रूस में जो संस्कृति विकसित हुई थी, उच्च साहित्य की जिस परम्परा की शुरुआत और पुष्टि हुई थी, उसकी समाप्ति हो गयी। बोलशेविक राज्य ने अपने ७० वर्षों के राज्यकाल में बहुत कुछ किया, वह विश्वशक्ति बन गया, उसने भारत सहित दुनिया के अनेक देशों को शस्त्रशाली बना दिया, पर सब कुछ हो जाने के बाद आज उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है:

बोलशेविक शासन का लक्ष्य रूसी परम्पराओं का विनाश था। उसका यह लक्ष्य सफल हुआ और सुदीर्घ कम्युनिस्ट शासन के दौरान रूस की महान संस्कृति विनष्ट हो गयी। अब इसकी स्मृति ही, वह भी कहीं-कहीं बची हुई है।

> बोलशेविक शासकों ने अपनी कम्युनिस्ट नारेबाजी से रूसी भाषा को पतित करने की कोशिश की, नये-नये नियम बना कर साहित्य को उसके सुष्पष्ट मार्ग से भटकाने का काम किया, सर्वहारा साहित्य के नाम पर सामाजिक यथार्थवाद और अन्य दुष्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया। प्रारम्भिक उत्साह के बाद कलाओं में 'प्रतिगामिता' को बढ़ावा मिला। लेकिन हज़ार कोशिशों के बावजूद वे रूसी जन की आस्था और विश्वास को खत्म करने में नहीं कामयाब हो पाये। बल्कि सोवियत संघ का ही विघटन हो गया और बोलशेविक शासन समाप्त हो गया। रूसी जनता की चर्च में आस्था को बोलशेविकों द्वारा जबरन दमित कर दिया गया था उस आर्थोडॉक्स चर्च की ओर लाखों रूसी पुनः आकृष्ट हुए, करोड़ों रूसियों ने अपनी प्राचीन आस्था पुनः अर्जित की। आर्थोडॉक्स चर्च अब पुनः रूसी समाज का सुदृढ़ स्तम्भ बन गया है।

बोलेशेविक शासकों ने अपनी मार्क्सवादी विचारधारा के सतहीपन को, उसकी भयंकर त्रुटियों को, उसकी मनुष्य विरोधी भ्रान्तियों को समझे बिना उसको परम सत्य मान कर उस पर विश्वास किया। उसके प्रभाव में अपने धर्म और

अपनी परम्पराओं को नष्ट करने का हर प्रयत्न किया। मार्क्सवाद में उनकी ऐसी अन्धी आस्था थी कि अपने शासन में उन्होंने रूसी जनता के बीच हजारों वर्ष में विकसित हुई परम्पराओं को विनष्ट करने का अभियान हमेशा जारी रखा। रूसी जनता, ईसाईयत और जारशाही के बीच में जो सम्बन्ध सात-आठ शताब्दियों में विकसित हुए थे उनकी व्यंजना को किसी तरह के विवरण में शब्दबद्ध नहीं किया जा सकता। उनकी व्यंजनात्मक शक्ति ने ही सैकड़ों वर्षों में रूसी संस्कृति का रूप धारण किया था। मार्क्सवाद इतना अभिधा-प्रधान विचार था कि उसमें संस्कृति के सूक्ष्म पक्षों की ग्राह्यता शून्य हो जाती थी। उसके द्वारा प्रदत्त ढाँचे में रूस में लाखों गाँव उजड़ गये, करोड़ों परिवार समाप्त हो गये, मनुष्यों के सम्बन्धों में गद्यात्मकता आ गयी। विचारधारा में जकड़ी जाकर रूसी संस्कृति निर्जीव हो गयी। आज उसके पुनरुज्जीवन की कोई आशा नहीं दीखती।

बोलशेविज़्म/कम्युनिज़्म और मार्क्सवाद ने रूसी संस्कृति को पूरी तरह, सम्भवतः हमेशा के लिए समाप्त कर दिया। अब, आज की स्थिति में रूसी संस्कृति के पुनरुज्जीवन की कोई आशा शेष नहीं है। मार्क्सवादी कम्युनिस्ट हर देश में वही करते हैं जो उन्होंने रूस में किया। परम्पराओं का नाश उनका पहला कार्य होता है। वे कुछ महीनों में पा लिये गये अपने किताबी ज्ञान को ही सम्पूर्ण सत्य मान कर इतने गर्वीले हो उठते हैं कि वास्तविकता को समझने का प्रयत्न किये बिना ही उसके विनाश में लग जाते हैं। हज़ारों वर्ष में विकसित हुई परम्पराओं को अन्धविश्वास कह कर उसमें पलीता लगाने लगते हैं। वे जहाँ भी होते हैं, सबसे पहले वहाँ की परम्परा को ही हमेशा के लिए समाप्त कर देने में लग जाते हैं, उस परम्परा ने जिस संस्कृति को जन्म दिया हो, वह संस्कृति ही हमेशा के लिए समाप्त कर दी जाती है। रूस में जो हुआ, वही चीन में भी होता रहा है। मार्क्सवादियों का जितना बस चल सकता है, भारतवर्ष में भी अरसे से वे यही कर रहे हैं।

सोवियत संघ अपने अस्तित्व काल में कम्युनिस्ट पार्टी और बहुत से फ्रण्ट संगठनों के जरिये मार्क्सवाद को बढ़ावा देता रहा। अब मार्क्सवाद को सबसे ज्यादा बढ़ावा इंग्लैण्ड और अमरीका से मिल रहा है। मार्क्सवाद के नये चिन्तकों के 'कैरियर' यूरोपीय-अमरीकी विश्वविद्यालयों में ही फलते फूलते हैं। भारतवर्ष के मार्क्सवादी इतिहासकार भी अमरीकी विश्वविद्यालयों की समृद्धि की शरण लेते हैं। दीपेश चक्रवर्ती हों या सुदीप्त कविराज, ज्ञानेन्द्र पाण्डेय हों या पार्थ चटर्जी, इनके जैसे पचासों मार्क्सवादी इस समय अमरीकी विश्वविद्यालयों में पगार बटोर रहे हैं। श्रीमती रोमिला थापर पिछले वर्ष ही वहाँ की सबसे बड़ी फेलोशिप प्राप्त करके भारत वापस आई हैं। हिन्दी के मार्क्सवादी मुहावरे में इसे सीआईए की शरण लेना भी कहा जा सकता है। अब सीआईए ही मार्क्सवाद की अन्तिम शरणस्थली है। अमरीकी और पश्चिमी विश्वविद्यालय, शोध संस्थान और प्रकाशन संस्थाएँ ही पुराने और नये मार्क्सवाद के ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहे हैं ताकि भारत जैसे देशों के मार्क्सवादियों को उनकी दिमागी खुराक मिलती रहे। यूरोप में नये नये मार्क्सवादी पैदा हो रहे हैं जिनकी कृतियों के अनुवाद अमरीका और इंग्लैण्ड के प्रकाशक अगले महीने ही प्रकाशित कर देते।

खैर, यहाँ हमारा विषय मार्क्सवाद/कम्युनिज्म के द्वारा ७५ वर्षों में हुआ रूसी संस्कृति का समूल विनाश है। मार्क्सवादियों ने रूसी संस्कृति के किसी अंश को भी जीवित नहीं छोड़ा। सबसे पहले रूसियों को उनकी परम्पराओं से

अलग कर दिया गया। कहा गया कि वे परम्पराएँ दकियानूसी हैं। ये परम्पराएँ 'आर्थोडॉक्स' चर्च की भित्ति पर टिकी हुई थीं। चर्च की गतिविधियों पर पाबन्दी लगा दी गयी। उनमें भाग लेने वालों को दण्डित किया जाने लगा।

रूसी परम्पराओं का आधार परिवार और गाँव था। परिवार और गाँव तोड़ दिये गये। कम्युनिज़्म में एक नये तरह का ग्राम नियोजित किया जिसमें रहने वाला मनुष्य केवल श्रम करता था और उत्पादन करता था। रूसी जनता जिन स्मृतियों में अपने को खोजा करती थी उन स्मृतियों को भी नष्ट कर दिया गया। हर स्तर पर बनी पार्टी इकाइयों की सक्रियता सर्वप्रथम मनुष्य-विरोध को समर्पित थी। हर ओर पार्टी और पुलिस के मुख़बिर फैले हुए थे। हर मानवीय क्रिया विचारधारा से विचलन मान ली जाती थी। किसी भी विचलन के लिए, या बिना विचलन के भी किसी को भी यातना शिविरों में भेजा जा सकता था। हर एक के जान पहचान के अनेक लोग इन यातना शिविरों में या तो प्राण गँवा चुके थे, या अपाहिज हो गये थे या वर्षों से अनिश्चितकाल के लिए 'गुलाग' में पड़े हुए थे। हर किसी को विचलन के दण्ड का पता था। वह उसे सोच करके ही सिहर उठता था।

कम्युनिज़्म ने आश्वासन दिया था कि वह आज के मनुष्य के स्थान पर एक 'नये मनुष्य' का निर्माण करेगा। रूस में नये मनुष्य की रचना करते हुए कम्युनिज्म ने ऐसे एकांगी मनुष्य का निर्माण किया जो मुख्यतः 'आर्थिक मनुष्य' था। वह उत्पादन का साधन और उपभोग का यन्त्र था। पूँजीवादी समाजों के मनुष्य और कम्युनिस्ट समाज के मनुष्य में एक ही अन्तर था कि कम्युनिस्ट समाज में उसे यातना, उत्पीड़न और मृत्यु का सामना करना पड़ा था। अन्यथा कम्युनिज़्म द्वारा निर्मित मनुष्य अमरीकी पूँजीवाद द्वारा निर्मित मनुष्य की तुलना में पूरी तरह एकांगी था। लेनिन और स्तालिन अमरीकी समाज व्यवस्था के, प्रबन्ध कुशलता के और अमरीकी टेक्नोलॉजी के बहुत बड़े प्रशंसक थे। अमरीकी टेक्नॉलोजी प्राप्त करने का कोई भी अवसर हाथ से जाने नहीं देते थे। सरकारी प्रतिनिधिमण्डलों में जो लोग अमरीका जाते थे वे वहाँ से तरह-तरह के उपादान लेकर आते थे। रूसी कवियों और लेखकों की पुस्तकें भी सबसे ज़्यादा अमरीका में छपती थीं। वहाँ प्रवासी रूसियों द्वारा स्थापित रूसी के बड़े-बड़े प्रकाशनगृह थे। येव्गेनी येव्तूशेंको एक बार अमरीका गये तो वहाँ से टनों भर साहित्य लेते आये। कस्टम से उन्होंने किस तरह इसे छुड़ाया इसका दिलचस्प विवरण मिलता है।

वैसे ही अमरीकी जीवन स्तर और उपभोग शैली ही अभी तक कम्युनिस्ट रहे लोगों का आदर्श बन गयी है। दुनिया के किसी अन्य देश की अपेक्षा रूसी लोगों को मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, कम्युनिस्ट नियोजन और वार्षिक उत्पादन लक्ष्यों की 'वास्तविकता' का पता था। सोवियत संघ का विघटन होने पर कम्युनिस्ट सरकार ने अपने सारे उत्तरदायित्वों से हाथ झाड़ लिया। पार्टी और पुलिस का भय समाप्त हुआ। जैसे ही रुकावटें हटीं, पूरा सोवियत ढाँचा कुछ ही दिनों में अस्त-व्यस्त हो गया। यह ढाँचा पूरी तरह तरह-तरह के झूठ पर टिका हुआ था। एक जगह से कुछ ईंटें खिसकीं, पूरा भवन चरमरा कर गिर पड़ा।

आज रूसी व्यक्ति को अपनी परम्परा से और संस्कृति से कोई लेना-देना नहीं है। उन्हें भी वही करना है जो सभी समृद्ध लोग करते हैं और जो मार्क्सवाद का भी लक्ष्य था- उच्चातिउच्च जीवन स्तर और उस जीवन स्तर के अनुरूप उपभोग। रूस की नयी संस्कृति का काम्य भोग संस्कृति ही है और रूस के लोग अब उसका ही सेवन कर रहे हैं। अब असीमित भोग की संस्कृति ही रूसी संस्कृति है।

साइबेरिया के विशाल उपनिवेश में वनसम्पदा का, खनिजों का, गैस और तेल का अक्षय भण्डार है जिसके बल पर वर्तमान रूस की समृद्धि टिकी हुई है। साइबरिया के तेल नगर ही रूस के सबसे समृद्ध नगर हैं। वहाँ के नागरिकों का जीवन स्तर भी अमरीकी जीवन स्तर का मुकाबिला करता है। रूस में साइबेरियाई तेल रिफाइनरियों से पश्चिमी यूरोप के लिए पाईप लाइनों का जाल बिछा हुआ है। यूरोप की सारी गैस-तेल ज़रूरत का बड़ा भाग साइबेरिया से ही पूरा होता है और बदले में डॉलर और अन्य हार्ड करेंसी मिलती है। इन्हीं के नाते साइबेरिया के तैलनगर पश्चिमी नगरों जैसे ही उपभोग में लिप्त दीखते हैं। पिछले वर्षों में कजाकस्तान और अजेरबेजान के कृष्ण सागर तटवर्ती तेल कुओं में यूरोअमरीकी तेल कम्पनियाँ बड़े पैमाने पर सक्रिय हो गयी हैं। तैल सम्पदा से वंचित गणराज्यों में फैली हुई भूख और गरीबी का वर्णन करना कठिन है। यह गरीबी केवल आर्थिक ही नहीं है, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक दरिद्रता ने मनुष्यता को विदीर्ण कर दिया है।

क्रान्ति के बाद देशनिकाला पाकर प्रवासी बन जाने वाले लेखकों, कवियों, दार्शनिकों, विचारकों की कृतियाँ रूस में बड़े पैमाने पर प्रकाशित होने लगी हैं। १९५५ में कम्युनिस्ट प्रणाली समाप्त होने के पहले इन लोगों की पुस्तकों को घर में रखना भी अपराध था। अब अचानक रूसी पाठकों की भूख जाग उठी और आप्रवासी बना दिये गये तथा अन्य प्रतिबन्धित लेखकों की पुस्तकें हर जगह पढ़ी जाने लगी।

निकोलाई बेर्देएव इसी तरह के आप्रवासी दार्शनिक थे। वे कुछ दिनों तक मार्क्सवादी भी रहे थे, उनकी कृतियों से मार्क्सवाद का गम्भीर अध्ययन प्रकट होता है। आधुनिक युग की आध्यात्मिक समस्याओं पर बेर्देएव की रचनाओं के अनुवाद अनेक भाषाओं में पहले ही होते रहे थे। प्रवास में लिखी गयी उनकी कृतियों का पश्चिमी चिन्तन पर बहुत प्रभाव पड़ा। १९४९ में उनकी मृत्यु हो गयी। राष्ट्रपति गोरबाचोव के समय में सोवियत संघ के विघटन के काल में बेर्देएव और सोरोकिन की कृतियाँ फिर से रूस में छपने लगीं। बेर्देएव कृत 'रूस की आत्मा' का पुनर्प्रकाशन हुआ और बौद्धिक जगत में उस पर बहस शुरू हो गयी। इतिहास दर्शन पर और रूस के महान लेखकों पर लिखे गये उनके लेखों के फिर से नये-नये संस्करण प्रकाशित होने लगे।

(बेर्देएव क्रान्तिपूर्व रूस के महत्त्वपूर्ण दार्शनिकों और चिन्तकों में थे। हम पहले रजतयुग का नामकरण करने वाले आलोचक के रूप में उनका उल्लेख कर चुके हैं। बोलशेविक क्रान्ति के बाद इण्टेलिजेंशिया के प्रमुख लोगों में अपनी संस्कृति के भविष्य को लेकर आशंकाएँ होने लगीं। बर्देएव के नेतृत्व में एक निबन्ध संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें बौद्धिक क्षेत्र में विख्यात लेखकों ने तत्कालीन सांस्कृतिक ह्रास के कारणों की विवेचना थी और आगे के लिए मार्ग सुझाया था। बौद्धिक क्षेत्र में इस पुस्तक का वैसा ही प्रभाव पड़ा जैसा प्रभाव १८९० में प्रकाशित निकोलाई मिन्स्की के लिखे घोषणापत्र 'विवेक के प्रकाश में' का और १८९३ में प्रकाशित वैलेरी ब्र्यूसोव के वार्षिक ग्रन्थ 'रूसी प्रतीकवाद' का पड़ा था। १९०९ में छपी इस पुस्तक का (रूसी में) शीर्षक था 'वेखी' इसका अँग्रेजी अनुवाद बाद में 'लैण्डमार्क्स-ए कलेक्शन आफ एसेज ऑन इण्टेलिजेंशिया' के नाम से छपा। इसके सम्पादकों में बुल्गाकोव, गेरशेनजॉन, इत्झ्गोएव, कीस्त्याकोव्स्की, ग्लेब स्त्रूवे, और फ्रैंक। इस पुस्तक ने सेण्ट पीटर्सबर्ग और मास्को के बौद्धिक जीवन में हलचल पैदा कर दी। इस पुस्तक के प्रभाव को इस तरह भी आँका जा सकता है कि कुछ ही दिनों में इसके पाँच संस्करण हो गये। इसका उल्लेख बहुत दिनों तक होता रहा यहाँ तक कि ७० वर्ष बाद इसके अंग्रेजी

अनुवाद का पुनर्प्रकाशन हुआ और सोल्झेनित्सिन के नेतृत्व में पुनः इस तरह का एक अन्य निबन्ध संग्रह १९८० में प्रकाशित किया गया। ('बियाण्ड द रबल')।

महान कवियों की संस्कृति का तो गला दबा कर नाश कर दिया गया था। रूस में अब नाम मात्र के ही कवि रह गये हैं। कविता के नाम पर जो लोग सक्रिय हैं उनका चित्रण समकालीन आलोचक विक्टर टोपोरोव ने इन शब्दों में किया है- 'एक कवि ने कई हज़ार पंक्तियाँ लिखी हैं लेकिन लोग उसकी एक ही पंक्ति जानते हैं जिसे वह सभाओं में चीख-चीख कर सुनाता है। एक अन्य कवि सामानों का सूचीपत्र पढ़ता रहता है, उसे आशा है कि यह सुन कर लोगों को हँसी आयेगी। एक अन्य कवि वर्ष भर में भली-बुरी कुल एक कविता लिखता है और उसी पर गर्व करता है। एक और कवि कभी ऊँची और कभी नीची आवाज में कहानियाँ सुनाता है और सोचता है कि लोग उसको कविता कहेंगे।'

रूसी भाषा से परिचित कोई भी व्यक्ति इन चारों कवियों को पहचान सकता है। इनके अलावा भी रूस के राजधानी नगरों में बहुतेरे कवियशःप्रार्थी सक्रिय हैं। कुछ लोग लोकगीत ('बॉब डाइलान') जैसी कविताएँ बड़ी-बड़ी सभाओं में गिटार बजाते हुए गाते हैं। बहुत से लोग पश्चिमी देशों में चले या चल रहे काव्यान्दोलनों की अनुकृति करते हुए कविताएँ लिखते हैं और लघु पत्रिकाएँ निकालते हैं। ७५ वर्षों के कम्युनिस्ट शासन के परिणामस्वरूप रूसी जीवन के सभी क्षेत्रों से मौलिकता गायब हो गयी है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की तरह रूसी कविता के क्षेत्र में भी पश्चिम की अनुकृति ही प्रधानता पर है।

कृतज्ञता ज्ञापन

हमने आरम्भ में ही इस लेखमाला को श्री वरयाम सिंह को समर्पित किया है। उनके द्वारा किये गये अनुवादों के बिना इसकी शुरुआत भी नहीं हो सकती थी। इसके लिए उनके अनुवाद ही प्रेरणास्रोत बने। सीधे रूसी भाषा से किये गये उनके अनुवादों ने रूसी कवियों को हिन्दी भाषा का कवि बना दिया। उनके द्वारा अनुवादित कवियों की सूची आगे दी गयी है। इसके साथ ही हम पिपरिया (मध्यप्रदेश) से श्री वंशी माहेश्वरी द्वारा अनेक दशकों से निकाली जाने वाली काव्यानुवाद पत्रिका 'तनाव' के भी आभारी हैं जिसके एक अंक में कान्ता जी द्वारा किये गये अन्ना आख्मातोवा के अनुवाद छपे थे। हमने सोवियत संघ के विघटन के दिनों में प्रसिद्ध हुए एवजेनी एवतुशेंको और आन्द्रेई वोज्नेशेंस्की के अनुवाद पिछली पीढ़ी के प्रमुख हिन्दी कवि श्रीकान्त वर्मा ने हिन्दी में प्रकाशित किये थे। ये हमारे पाठकों को आसानी से उपलब्ध हो सकते हैं।

सहायक पुस्तक सूची

रूस, सोवियत संघ, मार्क्सवाद, लेनिन-स्तालिन-ख्रुश्चेव-पूतिन के विषय में पश्चिमी देशों की भाषाओं में, बीसवीं शताब्दी में और उसके पहले भी बड़ी संख्या में शोधग्रन्थ, परिचयात्मक पुस्तकें और रूसी तथा पूर्व-यूरोपीय भाषाओं से अनुवाद बहुत बड़ी संख्या में छपते रहे हैं। यूरोपीय देशों, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के विश्वविद्यालयों में रूसी भाषा और साहित्य के विभाग बहुत पहले से खुल गये थे और इनमें शोध कार्य हो रहे थे। रूसी 'इण्टेलिजेंशिया' के सैकड़ों सदस्य, कवि, उपन्यासकार, विचारक, संगीतज्ञ और अन्य लोग अक्टूबर क्रान्ति के बाद देश-निष्कासित होकर इन देशों में रह रहे थे। उनकी कृतियाँ भी रूसी भाषा में और अनुवादों में प्रकाशित हो रही थीं। अनेक अँग्रेज़ और अमरीकी भी रूसी संस्कृति और राजनीति के विशेषज्ञ बन चुके थे। शीत युद्ध के आरम्भ के बाद इन देशों में रूसी और सोवियत अध्ययन और शोध केन्द्रों की संख्या बहुत बढ़ गयी। अनेक शोध पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। २१वीं शताब्दी में इनकी संख्या कुछ कम हुई है। लेकिन अभी भी इन देशों के विश्वविद्यालय रूसी राजनीति और संस्कृति के अध्ययन में पर्याप्त साधन लगाते हैं। प्रतिवर्ष सैकड़ों नयी पुस्तकें-नये शोध ग्रन्थ और अनुवाद- प्रकाशित होती हैं। यह लेखमाला लिखते समय मेरे पास कोई ३०० पुस्तकें थीं जिन्हें मैंने समय-समय पर उलटा-पलटा था और जिनसे मैंने कुछ अंश अनुवादित किये थे।

सोवियत संघ का कम्युनिस्ट शासन भी मार्क्सवाद, लेनिनवाद, स्तालिनवाद, रूसी साहित्य, सोवियत साहित्य आदि के प्रचार को अपना महत्वपूर्ण

कार्य मानता था और इस विषय में दुनिया की सारी बड़ी भाषाओं में पुस्तकें छाप कर अपनी वैदेशिक पुस्तक वितरण संस्था 'मेशनिगा' के जरिए विश्व के सभी देशों में वितरित करता था। इसके लिए उन्होंने सहस्रों पुस्तक दुकानें भी खोल रखी थीं। हिन्दी और अन्य भाषाओं में भी बड़ी संख्या में पुस्तकें 'प्रगति प्रकाशन' के छापे से प्रकाशित और भारत में वितरित की जाती थीं। इनका बहुत बड़ा भण्डार आज भी कुछ वितरकों के पास पड़ा हुआ है। 'राजकमल प्रकाशन' जैसे हिन्दी प्रकाशनों ने कुछ रूसी साहित्य पुनर्मुद्रित किया है।

सोवियत संघ के विघटन के बाद यह कार्य न केवल कम हो गया है बल्कि लगभग बन्द हो गया है। अब कुछ नगरों में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा चलायी जाने वाली पुस्तक दूकानों में ही पहले आयी हुई अवशिष्ट पुस्तकें ही मिला करती हैं।

यहाँ पर हम ऐसी गिनी-चुनी पुस्तकों की सूची दे रहे हैं जिन्हें उत्सुक पाठक भारत में पुस्तक दूकानों में या पुस्तकालयों में आसानी से प्राप्त कर सकते हैं।

प्राचीन (सोवियत-पूर्व)

George Vernadsky, **A History of Russia** (1961, London)
Adam Zamoyski, **A History of Modern Russia** ((1998 , London)
Berdyaev, *et. al.* , **Land Marks ,** A Collection of Essays on the Russian Intelligentsia (1909, St. Petersburgh) *(English Translation,* 1977, New York)

सैद्धान्तिक

Leszek Kolakowski , **Main Currents of Marxism,** *3 Vols.* (1978 , Oxford)
Henri Lefebre , **Dialectical Materialism** (1968 , London)
Irving Howe , **The Basic Writings of Trotsky** (1965 , New York)
Richard Gombin, **The Origins of Modern Leftism** (1975 , Penguin)
Franz Marek , **Marx in His Own Words** (1973, New Zealand)
D.D. Kosambi, **Exasperating Essays** (1957 ,Calcutta)
Ralph Miliband & John Saville, **The Socialist Register** (1964, London)
Ralph Miliband & Leo Panitch , **The Socialist Register** (1988, London)
Ralph Miliband & Leo Panitch , **The Socialist Register** (1990, London)
Leo Panitch & Colin Leys , **The Socialist Register** (2009 , New Delhi)
George Lichtheim , **Marxism, An Historical and Critical Study** (1961 , London)
Lee Baxandall & Stefan Morawski , **Marx & Engels On Literature & Art** (1973, Telos, St. Louis)

सोवियत काल

Robert H. Mc Neal , **The Bolshevik Tradition** (1963, London)
Robert Gellately , **Lenin, Stalin and Hitler** (2007, London)
Frances Stonor Saunders , **The Cultural Cold war** (1999 , Granta , Oxford)
Mikhail Gorbachev , **New Thinking for our Country and the World** (1988 , Fontana, London)
Edward Crankshaw , **Khrushchev's Russia** (1959 , London)
Andrei Amalrik , **Will the Soviet Union Survive until 1984** (1970 , London)
Francois Fejto, **A History of the people's Democracies** (1971 , Pall-Mall, London)
Gil Elliot , **Twentieth Century Book of the Dead** (1973 , Penguin ,London)
Martin Amis , **Koba the Dread** (2002 , London)
Basile Kerblay , **Modern Soviet Society** (1983 , London)
Edvard Radzinsky , **Stalin** (1997 , New York)
Tony Cliff , **State Capitalism in Russia** (1974 , London)
Rudolf Schlesinger , **History of the Communist party of USSR** (1977, Calcutta)
Branko Lazitch and Milorad , Drachkovitch **Lenin and the Comintern**
Orlando Figes , **A People's Tragedy** (1996, London)

Peter Watson , **A Terrible Beauty** (2000 , London)
Peter Gray , **Enlightenment's Wake** (1995 , New York)
The Alternative Voice of Russia and Eastern Europe (1976 , Andre Deutsch , London)
Eduard Zaryansky. **Anna Akhmatova** (London)

उत्तर सोवियत काल

Masha Gessen , **The Unlikely Rise of Vladimir Putin** (2012 , Granta)
Padma Desai , **Conversations on Russia** (2006, Oxford)
Richard Sakwa , **Postcommunism** (2002 , New Delhi)

रूसी साहित्य-सोवियत पूर्व

Andrew Field , **The Complection of Russian Literature** (1971, Penguin, London)

रूसी साहित्य-सोवियत काल

Jank Lavrin , **An Introduction to the Russian Novel**, (1942, London)
Olga Carlisle , **Poets on Street corners** (1969 , New York)
Deming Brown , **Soviet Russian literature since Stalin** (1978, New York)
Tzvetan Todorov , **Hope and Memory** (2000 , New Jersey)
Mark Slonim , **Soiet Russian Literature** (1964 ,New York)
Edward J. Brown , **Major Soiet Writers** (1973 , New York)
Ronald Hingley , **Nightingale Fever** (1981, New York)
Antonina W. Bouis , **The Magical Chorus** (2008, New York)
Nadezhda Mandelstam , **Hope Abandoned , A Memoir** (1974, London)

सोवियत रूस- वैदेशिक सम्बन्ध

Mark Webber , **The International Politics of Russia and the Successor States** (1996 , New York)
Martin Walker , **The Cold war** (1993 , London)
Adam B. Ulam, **The Rivals, America and Russia Since World war II** (1971 , New York)
John Snow, **Anna Politkovskaya , A Russian Diary** (2007 , London)
Edward Crankshaw, **The Shadow of the Winter Palace** (1976 London)

अलेक्सान्द्र सोल्झेनित्सिन

D.M. Thomas , **Alexander Solzhenitsyn** (1988 , New York)
Alexis Klimoff , **Alexander Solzhenitsyn Speaks to the West** (1978, Bodley Head London)
Leopold Labedz , **Solzhenitsyn** (1970 , Penguin London)
Alexander Solzhenitsyn , **One Day in the Life of Ivan Ivanovich** (1980, Fontana, London)
Alexander Solzhenitsyn , **Cancer Ward** (1980, Fontana, London)
Alexander Solzhenitsyn , **August 1914** (1980, Fontana, London)
Alexander Solzhenitsyn , **Lenin in Zurich** (1980, Fontana, London)
Alexander Solzhenitsyn, **Gulag Archipelago,** *3 Vols.* (1980, Harper & Row, New York , Fontana, London)

हिन्दी

oj;ke flag ¼vuq-½] nwj dh vkokt+] vysDlkUnz Cyksd dh dfork,¡ ¼2006] u;h fnYyh½
oj;ke flag ¼vuq-½] bl cslgkjk oD+r eas] ekjhuk Losrk;sok dh dfork,¡ ¼2013] u;h fnYyh½
oj;ke flag ¼vuq-½] dfork fo"k;d :lh dfork,¡ ¼1988] u;h fnYyh½
jkeukFk O;kl ifjdj ¼vuq-½] vkèkqfud lksfo;r dfork,¡ ¼1981] ekLdks ½
oj;ke flag ¼vuq-½] ^ruh gqbZ izR;apk*] chloha 'krkCnh dk :lh lkfgR; ¼lkfgR; vdkneh] 1994] u;h fnYyh½
ohj jktsUnz +_f"k ¼vuq-½] iqf'du d`r ftllh ¼1955] u;h fnYyh½
dkyZ ekDlZ] ¯YsMfjd ,axsYl] dE;qfuLV ikVhZ dk ?kks"k.kki=] ¼ewy laLdj.k] 1848½ ¼fgUnh vuqokn] 2000] u;h fnYyh½

वेदपाठियों का सानिध्य

संगीता गुन्देचा

गीताराम गुरकल

मैं पाण्डिचेरी के सनीश्वर मन्दिर पहुँची जहाँ मुझे सामवेदी गीताराम गुरुकल से बात करनी थी। गीताराम गुरुकल किसी की अन्तिम संस्कार में गये हुए थे। वे वहाँ से अपने घर गये, फिर स्नान कर वे अपने एक यजमान से मिलते हुए मन्दिर लौटे तब तक हम उनका इन्तज़ार करते रहे। भूख लगी थी। श्री नटराज शर्मा ने वेदपाठियों की भोजन शाला में भोजन करवाया तब तक गीताराम गुरुकल मन्दिर लौट चुके थे। 'गुरुकल' गीताराम जी का वंशों से चला आ रहा नाम है। जो आगम-वेद पढ़ते हैं, उनके नाम के साथ 'गुरुकल' जोड़ा जाता है। गीताराम जी को ज्योतिष का भी अच्छा ज्ञान है। उनके पिता चिदम्बरम गुरुकल इस क्षेत्र के माने हुए ज्योतिषी हैं। सामवेदी गीताराम गुरुकल तमिल भाषा में बोल रहे थे, जिसका हिन्दी अनुवाद मेरे लिए श्री नटराज शर्मा ने किया।

मेरे दादा वेदपाठी थे और वे चाहते थे कि मैं भी उन्हीं की तरह वेदपाठी बनूँ। वे चाहते थे कि स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई से भिन्न मैं वेदपाठ सीखूँ। चैन्नई में कलगी वेदपाठ-शाला है, वहाँ मैंने अपने गुरूजी से सामवेद का आरम्भिक अध्ययन किया। मेरे गुरूजी का वेदपाठ उच्चारण इतना पवित्र था कि अगर वे वेदपाठ कर रहे हैं और कोई दूर खड़ा है, वह उनकी ओर खिंचा चला आता था। कुम्भकोणम् में धर्मराज श्रौत्री बहुत बड़े सामवेदी हुए। मेरे गुरूजी उन्हीं के शिष्य थे। सामवेद की सहस्र शाखाएँ हैं। उसमें गौतम ऋषि से गौतम शाखा निकली है। यहाँ तमिलनाडु में गौतम शाखा ही अधिक प्रचलित है। जैसे आयुर्वेद और धनुर्वेद दूसरे वेदों के उपवेद हैं, वैसे ही सामवेद का उपवेद संगीत है। उसी से संगीत की उत्पत्ति हुई है। प्राचीनकाल में ऋषियों ने ऋग्वेद, सामवेद के स्वर बता दिये हैं, अब अगर आप और हम उन्हें बदलना चाहें तो बदल नहीं सकते। वेदों के स्वरों को बदलने का हमें कोई अवसर नहीं हैं, जैसा स्वर है, वैसा है। ऋग्वेद, यजुर्वेद में तीन स्वरों उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का प्रयोग होता है। सामवेद में सात स्वर तथा

पाँच उपस्वर हैं किन्तु मन्त्र गाते समय पाँच स्वरों का प्रयोग ही अब किया जाता है। मेरे गुरुजी के गुरु के पास सामवेद की हस्तलिखित पाण्डुलिपि थी, वह परम्परा से मेरे पास आयी है, वह ताड़पत्र पर लिखी पुरानी पाण्डुलिपि है, इसलिए उसे हम लोग बाहर नहीं निकालते हैं। पाण्डुलिपि में मन्त्रों के ऊपर स्वर भी लिखे हुए हैं।

जो वेद हमने सीखा है, वह भगवान का श्वाँस है। उसे कोई रोक पाएगा ?जैसे हवा है, वेद भी वैसे ही हैं। क्या हम देख पाते हैं, हवा कहाँ से आ रही है। वेद अपौरूषेय हैं, ऋषियों ने अपने कर्ण-ब्रह्म में श्रुतियों को जैसा सुना है, वैसा ही उन्हें बोल दिया है। अलग-अलग मन्त्रों के अलग-अलग ऋषि हैं। वेद किसी ने लिखा नहीं है। जब आप सेलफ़ोन पर बात करते हैं तो क्या यह पता चल पाता है कि आप कहाँ से बोल रहे हैं, यहाँ पाण्डिचेरी से या सिंगापुर से? जो देवता हैं, हमको उनसे फ़ायदा है, लेकिन उनको भी हमसे फ़ायदा है क्योंकि हमने यहाँ मनुष्य योनि में जन्म लिया है।

यज्ञोपवीत होने के बाद मुझे जब पाठशाला ले जाया जा रहा था, मैं सोच रहा था कि मैं वहाँ से भाग आऊँगा किन्तु पाठशाला में जैसे ही गुरूजी को देखा तो सोचा कि मुझे भी गुरूजी जैसा बनना है। अन्य सामवेदी कांचीपुरम्, श्रृँगेरी, कुम्भकोणम् आदि जगहों पर हैं, यहाँ पाण्डिचेरी में मैं अकेला हूँ। सामवेद की गौतम शाखा के यहाँ तमिलनाडु में अडयप्पलम्, कांचीपुरम् और कुम्भकोणम् ये तीन पाठभेद हैं, मैं कुम्भकोणम् पाठ गाता हूँ। इसमें अन्य पाठों के उच्चारण से केवल थोड़ा-सा स्वर भेद रहता है, रेत के बराबर। जैसे मान लीजिए अमेरिका में और भारत में एक ही क्षण में दो बच्चे पैदा हो रहे हैं, किन्तु भारत के समय में और अमेरिका के समय में कई घण्टे का अन्तर है वैसा ही अन्तर इन पाठों के स्वर भेद का है।

सुब्रमण्यम् शास्त्री

पाण्डिचेरी से मैं 'कुम्भकोणम्' पहुँची। तमिलनाडु के कुम्भकोणम् में आदि शंकराचार्य द्वारा स्थापित सम्भवतः प्राचीनतम वेदपाठशाला है। उसे देखकर दोपहर में मैं उस पूरे क्षेत्र में वेद के सर्वोत्तम विद्वान और किसी भी प्रकरण में शंका होने पर प्रामाणिक रूप से मार्गदर्शन करने वाले श्री रामचन्द्र शास्त्री से मिलने उनके घर गयी। मैंने उनका लगभग २ घण्टे तक इन्तज़ार किया। उनकी उम्र ९७ बरस की थी, अब वे पूरे सौ वर्ष के हैं। मैं ईश्वर से उनके स्वस्थ और दीर्घायु जीवन की कामना करती हूँ। पहले वे विश्राम कर रहे थे और बाद में उनकी सन्ध्या का समय हो गया था। सन्ध्या के बाद वे मुझसे मिले। उसके पहले उनके सुयोग्य शिष्य और पुत्र सुब्रमण्यम् शास्त्री से मैं बात करती रही। उन्होंने स्वयं मुझे चाय बनाकर पिलायी। वे किसी बड़ी नौकरी को छोड़कर अपने पिता की सेवा-सुश्रुषा करने के साथ-साथ उनसे प्रस्थानत्रयी का अध्ययन कर रहे हैं।

तमिलनाडु में वेदपाठ सिखाने की पद्धति क्या है, यह मैं आपको बताता हूँ। सबसे पहले मूलपाठ को यानि संहिता पाठ को कण्ठस्थ कराया जाता है। फिर पदों को तोड़कर पाठ कराया जाता है, जिसे पदच्छेद कहते हैं। ये पाठ सारे वेदों में किये जाते हैं, सामवेद में पद, क्रम के बाद उसका सम्बन्ध संगीत से हो जाता है। यजुर्वेद में पद, क्रम के बाद घनपाठ सिखाया जाता है, जो व्यक्ति घनपाठ में निष्णात हो जाता है, वह 'घनपाठी' की तरह जाना जाता है। 'रथपाठ' घनपाठ का ही एक रूप होता है। यदि आप वेदों का भाष्य पढ़ें, जो वेदों का अर्थ जानने के लिए पढ़ाया जाता है, उसमें पढ़ देना और अर्थ बता देना इस तरह नहीं होता। उदाहरण के लिए एक शब्द है 'क्रतु' उसका अर्थ होता है, 'यज्ञ'। जिन्हें इस शब्द 'क्रतु' का ठीक-ठीक सन्दर्भ ज्ञात है, वे ही इसका अर्थ करने में सक्षम होते हैं। इसी तरह वेद में अनेक शब्द हैं और इसी प्रकार इन शब्दों के वहाँ विशेष अर्थ होते हैं। जो लोग व्याकरण, तर्क मीमांसा, ग्रह्यसूत्र (श्रौत्रसूत्र) और वेदांगों का समुचित अध्ययन कर लेते हैं, वे ही वेदों का अर्थ बता सकने में समर्थ होते हैं। हमें वेदों

का खींचतान कर अर्थ निकालने की वैसे भी कोई आवश्यकता नहीं है। यह मेरे पिता और गुरु के विश्राम का समय है, वे ६७ बरस के हैं। उन्हें नित्य पारायण करना होता है। उसे ब्रह्म-यज्ञ कहते हैं। जो लोग वेदपाठ सीखते है, उनके लिए प्रतिदिन ब्रह्म-यज्ञ करना अनिवार्य है, यह उनके नित्य अनुष्ठान का भाग है। कुछ अन्य नित्यकर्म भी होते हैं, जैसे सन्ध्या-वन्दन। यह करते समय उन्हें रोज़ पारायण करना होता है। लगभग २५ बरसों तक वे रामेश्वरम् में थे। कांचीकामकोटि पीठम् वहाँ है, समुद्र के किनारे और वहाँ शंकराचार्य का स्मारक भी है। वहाँ लगभग १५० विद्यार्थी वेद का अध्ययन करते हैं, वेदपाठ सीखते हैं। इसके अलावा सन्यासी लोग भी वहाँ वेदान्त का अध्ययन करते हैं। मैं उन सन्यासियों की बात कर रहा हूँ, जो वेदपाठ सीखने के बाद चले गये थे, वे बाद में लौटते हैं और वेदान्त सीखना चाहते हैं। उन सन्यासियों को भी वहाँ वेदान्त सिखाया जाता है। मेरे पिता ने अग्निहोत्र समेत सभी अनुष्ठानों का नियमित व्यवहार किया है। मेरे पिता ने ये सारे अध्ययन किये हैं।

यहाँ घर में मैं उतनी संस्कृत नहीं बोलता। केवल तब संस्कृत का व्यवहार होता है, जब मैं अपने पिता से पढ़ रहा होता हूँ। मैं उनसे वेदान्त का अध्ययन कर रहा हूँ और प्रस्थानत्रयी पर शांकरभाष्य पढ़ रहा हूँ। इन दिनों वे मुझे 'कठोपनिषद्' पढ़ा रहे हैं। पहले हम 'उपनिषद्' का पाठ करते हैं, उस भाग का जिसका हम अध्ययन कर रहे हैं। उसके बाद हम उस पर शांकरभाष्य का अध्ययन करते हैं। शांकरभाष्य को साधारण ढंग से पढ़कर समझना मुश्किल है क्योंकि उसमें शब्दों के जटिल प्रयोग हैं और उनके गूढ़ अर्थ हैं। फिर शांकरभाष्य पर मेरे पिता अपना भाष्य करते हैं और जब ज़रूरी हो तो संस्कृत के स्थान पर तमिल भाषा में भी भाष्य करते हैं। वे समझाते समय तमिल वाङ्मय से उदाहरण भी देते हैं।

ये जो विशेष किस्म की बालियाँ हम कान में पहने हैं, ये वेदपाठियों की पहचान है। तमिलनाडु में आमतौर पर सभी वेदपाठी ऐसी बालियाँ पहनते हैं। उन्हें मन्त्रोच्चार के साथ ये बालियाँ धारण करना होती हैं। इन्हें तमिल में 'कड़क्कन' कहते हैं। जिन वेदपाठियों ने वाजपेय जैसे याग किये हैं, वे दूसरे आकार की बालियाँ पहनते हैं। उन्हें 'कुण्डलम्' कहा जाता है। जो पण्डित यज्ञ कराते हैं, उन्हें 'दीक्षित' कहा जाता है। जब वे सोमयाग कराते हैं, उन्हें 'सोमयागी' कहा जाता है और अगर वे वाजपेय यज्ञ कराते हैं, चूँकि वाजपेय यज्ञ बहुत विशिष्ट यज्ञ माना जाता है, इसलिए उन्हें 'वाजपेयी' कहा जाता है। जैसे ही उपनयन कर्म (सम्प्रदाय) पूरा होता है, वेद अध्ययन करना शुरू कर सकते हैं। जब मैं आठ बरस का था, मैंने अपने पिता से वेद अध्ययन आरम्भ किया। जब पिता पुत्र को वेदाध्यन कराते हैं तो उसे नियमाध्यन कहते हैं। नियमाध्यन में एक अनिवार्यता होती है कि उसे करते समय आप और कुछ नहीं पढ़ेंगे, अपना पूरा ध्यान वेदाध्यन पर ही लगायेंगे। पर वर्तमान स्थिति को देखते हुए मेरे पिता ने यही ठीक समझा कि मैं स्कूल भी जाया करूँ। मैंने वाणिज्य में स्नातकोत्तर अध्ययन किया है।

मैं २० बरसों तक चेन्नई में नौकरी करता रहा। इसके बाद चूँकि मेरे पिता की आयु बहुत अधिक हो चुकी थी, उनकी देखभाल के लिए मैंने नौकरी छोड़ दी और यहाँ कुम्भकोणम् में उनके साथ रहने आ गया। नियमित वेदाध्यन ८ या ९ बरस की आयु में शुरू किया जाता है। अगर आप यजुर्वेद का अध्ययन कर रहे हैं तो इसके लिए आपको ६ या ७ बरस लगेंगे। यह मैं संहिता पाठ तक के अध्ययन के विषय में कह रहा हूँ। फिर क्रमान्त तक सीखने के लिए १ बरस और लगता है। कुछ छात्रों के लिए यह अध्ययन ६ वर्षों में पूरा हो जाता है। ये जो आप पूछ रही हैं कि यह कैसे निर्धारित किया जाता है कि अमुक छात्र सिर्फ़ सामवेद का अध्ययन करेगा या अमुक छात्र यजुर्वेद का अध्ययन

करेगा? तो इसका निर्धारण स्वशाखा से होता है। अगर आपके पिता यजुर्वेदी हैं तो आप यजुर्वेद सीखेंगे। हम आपस्तम्भ सूत्र परम्परा के लोग हैं। महर्षि आपस्तम्भ ने यज्ञ करने की कुछ पद्धतियों की स्थापना की थी, हम उसी परम्परा के हैं। आर्षविद्या का प्रारम्भ ऋषिगणों से हुआ करता है। उन्होंने कुछ स्थापनाएँ कीं, उन्होंने वे सारी चीज़ें वेदों से ली थी। इसी तरह जैमिनी ऋषि ने सामगान व्यवहार की शुरूआत की। प्राचीनकाल में यह सम्भव था कि आप सभी वेदों का अध्ययन करें, आप आज भी ऐसा कर सकते हैं। लेकिन उस स्थिति में भी आपको स्वशाखा का ही अध्ययन पहले करना होगा। इसीलिए मुझे पहले यजुर्वेद का अध्ययन पूरा करना पड़ा। अगर उसके बाद आपको दिलचस्पी है तो आप ऋग्वेद या सामवेद का अध्ययन कर सकते हैं। मेरे भाईयों ने भी वेद अध्ययन किया है लेकिन साथ ही उन्होंने अकादमिक शिक्षा भी ली है। मेरा एक भाई यहाँ एक रोमन एण्ड रोमन कम्पनी के लिए काम करता था। बाद में वो राजनीति में दाखिल हुआ और यहाँ का विधायक बन गया। मेरी बहने तंजावूर और चेन्नई में हैं। यह जो आप पूछ रहीं हैं कि संगीत के शिक्षण में संगीत महाविद्यालय अच्छे संगीतकार उत्पन्न करने में अक्षम रहे हैं, क्या वैसी ही स्थिति वेदाध्ययन या वेदपाठ में भी है?आपके कहने का आशय यह है कि शिष्यों की संख्या अधिक नहीं होनी चाहिए, यह बात हमेशा से ही ठीक है। लेकिन यह सच है कि वेदपाठ शालाओं में अगर छात्रों की संख्या अधिक है तो वहाँ अधिक संख्या में अध्यापक होंगे। अगर वहाँ ५० के करीब शिष्य हैं तो शिक्षक भी १० से अधिक होंगे। एक शिक्षक १० से २० विद्यार्थियों पर ठीक से ध्यान दे सकता है, इससे अधिक होने पर उसके लिए परेशानी होगी। मैं जब अपने पिता से सीख रहा था, तब हम रामेश्वरम् में थे और वे हमें अन्य छात्रों के साथ ही सिखाते थे। लेकिन घर पर वे हम पर विशेष ध्यान दे पाते थे। हमें सुबह ४ बजे उठकर वेदपाठ करना होता था। हमें उस समय आवर्तन करना होता था। धीरे-धीरे हमें वह याद हो जाता था, उसके बाद हमें किताब की ज़रूरत नहीं रहती थी। विद्यालय में भी ऐसे कई छात्र थे जो पूरा यजुर्वेद बिना देखे पढ़ सकते थे। नासिक के गंगेश्वरानन्द वेदाध्ययन के लिए हर सम्भव उपाय करना चाहते थे। उनके अनुयायियों ने उनके नाम पर एक संस्थान स्थापित किया है, गुरु गंगेश्वरानन्द वेदविद्या प्रतिष्ठान। त्र्यम्बकेश्वर मन्दिर में वेदपाठशाला चलती है जहाँ ऋग्वेद, कृष्णयजुर्वेद, शुक्लयजुर्वेद आदि का अध्ययन कराया जाता है।

गुदालूर ब्रह्मश्री रामचन्द्र शास्त्रीगल

वे लम्बी-सी लाठी टेकते हुए बाहर के कमरे में आये। उनके बूढ़े शरीर पर उनके बेटे सुब्रमण्यम की भाँति ही सूती सफ़ेद धोती लिपटी थी। सिर पर शिखा थी। चेहरे पर पुराने मन्दिरों की मूर्तियों का-सा ओज। वेद, पुराण, उननिषद्, धर्मशास्त्र, व्याकरण, साहित्य, संगीतादि ऐसा कौन सा विषय है जिसके श्री शास्त्री विशेषज्ञ न हों। वे किंचित् कठिनाई से कुर्सी पर बैठे, पास ही उन्होंने अपनी लाठी टिकायी और मेरी ओर मुस्कुराकर बोले 'पृच्छताम्, यदि ज्ञायते तत्वविज्ञायते..।' हमारी प्रतीक्षित बाचचीत शुरू हो गयी थी।

पूछिये। यदि कुछ ज्ञात होगा, आपको बताने का प्रयत्न करूँगा। 'मात्रा दीक्षितो बाल्ये अनन्तरं पित्रा च अनन्तरं बहुभिः विद्वभिः अध्यापिताः।' बाल्यकाल में माता से शिक्षा ली फिर पिता से उसके बाद बहुत सारे विद्वान गुरूओं ने अध्ययन कराया। 'उक्तः शिक्षा त्रयैः। मातृवान् पितृवान् आचार्यवान् वेदाः।' कहा भी गया है, शिक्षा तीन प्रकार से होती है, माता से, पिता से और गुरूओं से। उपनिषद् में कहा भी गया है कि सबसे पहले माँ से शिक्षा लेनी चाहिए। प्राचीनकाल में माताएँ बहुत विदुषी होती थीं। पिता भी। प्रायः विद्याभ्यास इन दोनों से होता था। उसके बाद गुरु से। मैंने प्रायः पच्चीस वर्ष तक तमिल और संस्कृत में अध्ययन किया। इक्कीस वर्ष की आयु तक मैंने वेद, काव्य, नाटक, चम्पू का

अध्ययन किया। उसके बाद प्रवेश परीक्षा देकर यहाँ कुम्भकोणम् की राजा वेदपाठशाला में दो वर्ष तक अध्ययन किया। जिसमें सिद्धान्तकौमुदी, तर्कसंग्रह, अर्थसंग्रह, शाकुन्तलम्, वेणीसंहार का और अलंकारशास्त्र के अन्तर्गत विद्यानाथ के प्रतापरूद्रीयम् और यशोलंकारभूषणम् का अध्ययन किया। यह परीक्षा भी उत्तीर्ण करके तिरूवय्या की राजा महाकला शाला से, जो यहाँ से ५० कि.मी. की दूरी पर है, व्याकरण-शिरोमणि और न्याय-शिरोमणि की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। फिर इस क्षेत्र की अद्वैत विद्याशाला, राममन्दिरम् में अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करने का निश्चय किया। जो अध्येता वेदपाठ और संस्कृत पढ़ने के बाद अद्वैत वेदान्त का अध्ययन करना चाहते थे, वे वहाँ जाकर अद्वैत वेदान्त का विशेष रूप से अध्ययन करते थे। वहाँ उस समय बहुत से विद्वान अध्येता थे। वहाँ मैंने पाँच बरसों तक 'प्रस्थानत्रयी' का अध्ययन किया।

आप पूछ रही हैं वेद उच्चारण की श्रेष्ठता में कमी आयी है या नहीं? नहीं। वेद का उच्चारण जैसा आरम्भ में किया जाता था, वैसा ही आज भी हो रहा है। चूँकि यह श्रुति परम्परा से चला आ रहा है और गुरू शिष्य परम्परा के द्वारा चला आ रहा है इसलिए स्वरभेद आदि इसमें नहीं होता। 'इन्द्रः शत्रुः वर्धस्व' इन्द्ररूपी शत्रु का नाश हो यह वृत्तासुर का अध्वर्यु कहना चाहता था जबकि स्वाराघात के बदलने से वह कह गया 'इन्द्र है शत्रु जिसका' अर्थात् वृत्तासुर और उसका नाश हो गया। यहाँ स्वाराघात के बदलने से समास भेद हो गया, समास भेद होने से अर्थ भेद हो गया और इन्द्र का शत्रु वृत्तासुर नाश को प्राप्त हुआ। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में 'सहस्र संख्यायाः ध्वन्याः' कहकर ध्वनि के हज़ारों भेद बताये हैं। अलंकारेण वस्तु ध्वनिः। वस्तुना अलंकार ध्वनिः। 'स्वागतं' यदि यह वाक्य विनम्र ध्वनि में कहा जाए तो निवेदन होगा और यही बात यदि किसी अतिथि से कटु ध्वनि में कही जाये तो वह आदेशात्मक लगेगी। वाक्य वही है परन्तु ध्वनिभेद से एक स्थान पर विनय का प्रदर्शन होता है और दूसरे स्थान पर आदेश का। वेद उच्चारण के अन्तर्गत उच्चार और अनुच्चार होता है। गुरु वेद का उच्चारण करता है और शिष्य उसका अनुच्चारण करता है। थोड़ा परिवर्तन तो होगा। किन्तु आचार्य के उच्चारण से शिष्य के उच्चारण में यदि अधिक अन्तर आता है तो आचार्य के द्वारा उसकी पिटाई होगी। जैसे संगीत में राग को गाते हुए आरोह-अवरोह, ग्रह, अंश, न्यास का ध्यान रखा जाता है वैसे ही वेद में भी उच्चारण का ध्यान रखना पड़ता है। नहीं तो उसके दुष्प्रभाव होते हैं जिसका उदाहरण 'इन्द्रः शत्रुः वर्धस्व' है।

उपदेश ऐसी वाणी में होना चाहिए जिसे सुनकर लोगों को आनन्द की अनुभूति हो, जो हितकारी होने के साथ-साथ प्रिय भी हो-

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात न ब्रूयात सत्यं अप्रियं एष धर्मो सनातनः'

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय लगने वाला बोलना चाहिए। सत्य हो किन्तु अप्रिय लगे ऐसा नहीं बोलना चाहिए। यह धर्म सनातन है। महर्षि वेद व्यास ज्ञान के समुद्र हैं, वे चारों वेदों के ज्ञाता हैं, उन्होंने कोटिशः श्लोकों की रचना की है जब उनसे पूछा गया कि समस्त वेदों और ग्रन्थों का सार क्या है तब उन्होंने यह पद्य उद्धृत किया -

'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम्'

अगर आप परोपकार करते हैं, दूसरे लोगों की तरफ़ मदद का हाथ बढ़ाते हैं, तो इससे बड़ा कोई पुण्य नहीं है। यदि आप दूसरों को पीड़ा देते हैं, तो इससे बड़ा कोई पाप नहीं है।

परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः
परोपकाराय वहन्ति नद्यः।
परोपकाराय दुहन्ति गावः
परोपकाराय सतान्ति भूतयः।
जो भी महान विभूतियाँ हैं, वे अपने लिए कुछ नहीं करतीं। 'परोपकारार्थं इदं शरीरम्' यह शरीर भी परोपकार के लिए है।
अभी भी मैं आपसे बात करने के लिए बहुत उत्सुक हूँ। मन में बहुत उत्साह है लेकिन देह साथ नहीं देती। आपसे बात करते हुए बहुत से ग्रन्थों की याद हो आयी। आप संगीत जानती हैं कुछ गाकर सुनाईये?

उत्संगे वा मलिन वसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राकं विरचित पदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमाद्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
भूयोभूयः स्वयमपि कृताम् मूर्च्छनां विस्मरन्ति।।१

(मैंने उन्हें उत्तरमेघ का यह छन्द गाकर सुनाया)

मूर्च्छना से उस राग विशेष की प्रतीति होती है इसीलिए कहा गया है 'मूर्च्छनां विस्मरन्ति'। यदि मूर्च्छना को वह (यक्षिणी) भूल जाती है तो विवक्षित राग का बोध नहीं हो सकता क्योंकि मूर्च्छना राग का आधार होती है। सभी राग स्वरों से उत्पन्न हुए हैं किन्तु मूर्च्छना भेद होने से राग भेद हो जाता है।

कणकाभरणोपेतां कणकाचल चुम्ब शृँगमध्यगतां।
करूणापूर्णसुनेत्रां कणकांगीं कणये कलासिद्धयै।।

बहत्तर कर्त्त राग हैं, उन्हीं का यह गण श्लोक है, जन्य राग बहुत से हैं किन्तु कनकांगी राग यानी कर्त्त राग केवल बहत्तर हैं। यह इन रागों का 'ध्यान श्लोक' है। इस श्लोक की रचना मैंने की है।

उपमन्यु अपने गुरु के पास रहकर वेद और शास्त्रों का अध्ययन कर रहे थे। तब वहाँ बाढ़ आ गयी। गुरुपत्नि ने बताया कि उनके धान के खेत में पानी भर रहा है। ऋषि ने अपने शिष्य उपमन्यु से कहा कि जाकर माप लो और उस स्थान पर कोई चीज़ रखकर पानी को खेत में भरने से रोको। उपमन्यु ने वहाँ कुछ रखने का प्रयत्न किया किन्तु बाढ़ इतनी तेज़ थी कि वह टिका नहीं। जब बहुत समय हो गया और आचार्य ने देखा कि उपमन्यु लौटा नहीं है तो वे खेत पर पहुँचे और उपमन्यु को आवाज़ लगायी, उपमन्यु ने खेत में लेटे-लेटे जबाव दिया 'मैं यहाँ हूँ'। ऋषि ने देखा कि जहाँ से खेत में पानी भर रहा था, उपमन्यु वहाँ स्वयं लेटा हुआ है। गुरु भक्ति ऐसी होनी चाहिए। ऋषि ने अपना पूरा ज्ञान उसे दे दिया। भगवद्गीता में कहा गया है-

तद्धिद्धि प्रतिपादेन परिप्रश्नेन सेवया।

---

१. मेघदूतम्-उत्तरमेघ- २३, व्याख्या- वा.श. अग्रवाल

यदि आप 'उसे' जानने की इच्छा रखते हैं, गुरू से प्रश्न करके, उनकी सेवा करके ही जान सकते हैं। उसे बिना गुरू के नहीं जाना जा सकता है। केवल यही पद्धति है।

लक्ष्मीकान्त पौराणिक

वर्ष २००६ में उत्तरपूर्वी राज्यों में वेदपाठ की स्थिति को समझने के लिए मैं असम के गुवहाटी शहर में 'असम वेद विद्यालय' में को पहुँची। इस विद्यालय की स्थापना सन् १६५६ में हुई थी। यहाँ अभी छः अध्यापक थे, जो वेदपाठ, संस्कृत तथा अन्य विषयों का अध्ययन विद्यार्थियों को करा रहे थे। इन अध्यापकों का वेतन अलग-अलग जगहों से आता है। तीन अध्यापकों का वेतन राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली वेदपाठ की परम्परा को जीवित बनाए रखने के लिए प्रदान करता है। दो अध्यापकों का वेतन असम शासन तथा एक अध्यापक का वेतन किसी श्रेष्ठी के यहाँ से आता है। जो विद्यार्थी वेदपाठ सीखना चाहते हैं, उन्हें यहाँ ५ वर्ष की आयु से भर्ती किया जाता है क्योंकि अधिक आयु हो जाने पर उन्हें जो उच्चारण बताया जाता है, उसे वे ठीक से नहीं कर पाते। चूँकि असम वर्णमाला में 'स' को 'ह' जैसे 'संगीत' को 'हंगीत' 'ऐ' को 'यइ' जैसे 'सरस्वत्यै' को 'सरसवतीयइ' 'क्ष' को 'ख' जैसे यक्ष को 'जक्ख' की तरह उच्चरित किया जाता है इसलिए खासतौर पर असम के विद्यार्थियों के उच्चारण पक्के हो जाने के बाद उन्हें वेदपाठ सिखाने में बहुत मुश्किल होती है। इस विद्यालय में वेदपाठ सीखने वाले छात्रों की संख्या लगभग ४० है। ये असम के अलावा देश के विभिन्न राज्यों जैसे बिहार, उत्तरप्रदेश, सिक्किम, असम तथा नेपाल से आते हैं। जो विद्यार्थी यहाँ वेदपाठ सीख रहे हैं, उनके भोजन, अवास तथा अध्ययन की व्यवस्था विद्यालय करता है। इस कार्य के लिए विद्यालय को समाज के लोग सहायता करते हैं। बिहार, सिक्किम, नेपाल आदि से आने वाले अधिकतर छात्रों को उनके माता-पिता यहाँ इसलिए भी छोड़ गये हैं क्योकि वे बहुत गरीब हैं। अच्छे संस्कार, वेदपाठ सिखाने तथा स्कूली पढ़ाई हो जाने के कारण ही सम्भवतः अधिकतर माता-पिताओं ने अपने बच्चों को यहाँ छोड़ रखा है। इस विद्यालय में एक बहुत बड़ा-सा कक्ष है; जिसमें माँ दुर्गा, आदि शंकराचार्य की मूर्तियाँ हैं। उसमें बैठकर सभी विद्यार्थी वेदपाठ सीखते हैं। विद्यार्थियों की पोषाक धोती-कुर्ता या धोती के साथ उत्तरीय है। यहाँ पाँच वर्ष से लेकर लगभग १७ वर्ष की आयु वाले विद्यार्थी देखे जा सकते हैं। छोटे बच्चे एक तरफ़ बैठते हैं और बड़ बच्चे दूसरी तरफ़। जब मैं वहाँ पहुँची छोटे बच्चे किसी एक मन्त्र की एक-एक पँक्ति को बार-बार दोहरा रहे थे। उनसे थोड़ी दूरी पर बैठे बड़े बच्चे अपनी-अपनी पोथियों से अपना पाठ याद कर रहे थे। इन सबकी मिली जुली ध्वनि सुनायी दे रही थी। पहले मुझे लगा कि इन्हें इस तरह कैसे याद होता होगा किन्तु थोड़ी ही देर में यह समझ आया कि बड़े विद्यार्थी इस बात का अभ्यास कर रहे थे कि कहीं से कोई भी ध्वनि क्यूँ न आये उन्हें अपने पाठ को बिना रूके उच्चरित करते हुए याद करते रहना है। छोटे विद्यार्थी बड़े विद्यार्थियों की ध्वनि से प्रेरित होकर अधिक ज़ोर-ज़ोर से अपना पाठ याद कर रहे थे। इस तरह दोनों समूह एक दूसरे के लिए उत्प्रेरण का कार्य कर रहे थे। बहुत छोटे विद्यार्थियों का मन पाठ करते हुए कभी इधर उधर चला जा रहा था। इस पर उन्हें उनके अध्यापक टोक रहे थे। सुबह ८ से ११ बजे तक वेदपाठ सीखने के बाद ये विद्यार्थी अपनी-अपनी कक्षाओं में पहुँचकर स्कूली पढ़ाई करते हैं।

इस विद्यालय के प्रधान अध्यापक श्री लक्ष्मीकान्त पौराणिक मूलतः वाराणसी के हैं। वे शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा के घनपाठी हैं। ३० वर्ष पहले वाराणसी से अपने सुविख्यात वेदपाठी परिवार को छोड़कर यहाँ गुवहाटी चले आए और फिर यहीं रह गए। अब उनकी उम्र लगभग ५५ वर्ष है। उन्होंने बताया कि पुरी के एक विश्वविद्यालय में उन्हें इस वर्ष प्रवाचक के पद के लिए चुन लिया गया है किन्तु उन्होंने अपने जीवन के स्वर्णिम वर्ष यहीं रहकर वेदपाठ सिखाने में लगाए हैं और अब उनकी सेवानिवृत्ति में ५-६ वर्ष और बचे हैं इसलिए अब वे यहीं रहकर वेदपाठ सीखाएँगे।

मेरा वेदपाठ का अध्ययन काशी में हुआ। मेरा घर काशी में ही है। मेरे पितामह रामाचार्य पौराणिक और मेरे पिता लक्ष्मीकान्त पौराणिक वेद के उत्तम विद्वान रहे हैं। पिता अभी भी हैं और काशी में सांगवेद विद्यालय में वेदपाठ सिखाने का कार्य कर रहे हैं। चूँकि वहाँ सेवानिवृत्ति नहीं होती इसलिए जब तक सिखाने की शक्ति है, सिखा रहे हैं। हमारी परम्परा शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की परम्परा है। काशी में काण्व शाखा के केवल पाँच या छः घर ही हैं। उसमें भी वैदिक परम्परा को जीवित रखने वाला एकमात्र घर हमारा ही है। परम्परागत रूप से जिसे 'त्रिपुरुष विद्या'

कहा जाता है, वह विद्या हमारे यहाँ तीन पीढ़ियों से चली आ रही है। मेरा अध्ययन मेरे पिता और पितामह के पास ही हुआ है। क्रमान्त पाठ का अध्ययन मुझे पितामह ने सिखाया। विकृति पाठ जैसे जटा, घनादि पाठ पिता ने सिखाये। उसके बाद मैंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वेद विषय से आचार्य की परीक्षा पास की। सातवें वर्ष में उपनयन होकर उन्नीस वर्ष तक घनान्त पढ़ाई की, यानि बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य आश्रम में रह करके उसके पूरे शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए मेरा अध्ययन हुआ। मेरे पितामह सांगवेद विद्यालय में अध्यापक थे। इस विद्यालय के अध्यक्ष पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री द्राविड थे। मेरा अध्ययन भी वहीं हुआ। वैसे हमारे घर पर भी पाठशाला चला करती है जिसका नाम याज्ञवल्क्य काण्व वेद पाठशाला है। मैं गृहपाठशाला पर भी अध्ययन करता था। हमारे यहाँ बहुत पुराना गुरूकुल था। जिसमें लगभग चालीस विद्यार्थी थे और हमारे घर पर ही रहकर माधोकरी मांगकर अर्थात् घर-घर जाकर भिक्षा मांगकर भोजन करते और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदपाठ का अध्ययन करते थे। उन विद्यार्थियों में से पण्डित गोपाल शास्त्री गौरे जैसे अच्छे विद्वान निकले। पूना के डेक्कन कॉलेज में वे पढ़ाते थे। उन्होंने शास्त्र और वेद का समान अध्ययन किया था। इधर उन्होंने घनान्त अध्ययन किया और उधर शास्त्र का अध्ययन भी किया। उन्हें धर्मशास्त्र चूड़ामणि की उपाधि मिली हुई थी। वेद में हमारी शाखा के घनान्त घनपाठियों में वे उच्चकोटि के विद्वान थे।

यहाँ गुवहाटी में प्राक् ज्योति महाविद्यालय के प्रधानाचार्य तीर्थराज शर्मा थे। वे मेरे पिताजी को जानते थे। जब तीर्थराज शर्मा के लड़के का विवाह हुआ तो उन्होंने सम्पूर्ण शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा का पारायण करवाया था। उस अवसर पर मेरे पिताजी उनके यहाँ आये थे। इस तरह इन लोगों का आपस में सम्पर्क था। वर्ष १९७९ में भारत सरकार ने यहाँ असम में अखिल भारतीय वैदिक सम्मेलन का आयोजन किया। उस आयोजन में भारत वर्ष के सभी प्रान्तों से लगभग सभी शाखाओं के वैदिक विद्वान यहाँ पधारे थे लेकिन जिस प्रान्त में यह सम्मेलन हो रहा था वहाँ का एक भी वेदपाठ का विद्वान सम्मिलित नहीं हो सका। क्योंकि संस्कृत के पण्डित तो यहाँ बहुत हैं लेकिन परम्परागत रूप से वेद का मौखिक अध्ययन करने वाला कोई भी विद्वान यहाँ नहीं था। वह परम्परा यहाँ मध्यकाल में लुप्त हो गयी। पुरातत्त्व विभाग के ताम्रपत्रों में इसका उल्लेख मिलता है कि सातवीं शताब्दी में यहाँ पर अहोम राजा के समय में, राजा भास्कर वर्मा के समय में, वेद जाननेवाले अग्निहोत्री ब्राह्मणों को कान्यकुब्ज अर्थात् कन्नौज से और नवद्वीप आदि स्थानों से लाकर स्थापित किया गया था। उन्हें ज़मीन आदि का दान देकर उस परम्परा का आरम्भ किया गया था। यहाँ असम का ब्राह्मण समाज अगर हम देखें शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा के अनुयायी ही अधिकतर मिलेंगे। केवल एक या दो प्रतिशत ऋग्वेद या सामवेद के अनुयायी आपको मिलेंगे। ऋग्वेद और सामवेद की अध्ययन परम्परा यहाँ पर प्रचलित नहीं है। मात्र शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की परम्परा ही यहाँ चल रही है। तो इसी तारतम्य में मेरे पिताजी से सम्पर्क करके मुझे यहाँ बुलाया गया कि यहाँ हम वेदपाठ का एक विद्यालय खोलना चाहते हैं। क्योंकि जो परम्परा यहाँ लुप्त हो चुकी है, उसे हम पुनर्जाग्रत करना चाहते हैं। तो यहाँ से मेरा आह्वान किया गया तदनुसार मैं यहाँ आया। उस समय भारत सरकार की एक योजना चलती थी कि एक वेद के अध्यापक को वे पाँच सौ रूपये महिना वेतन देते थे और पचास रूपये महिना वेदपाठ सीखने वाले विद्यार्थी को। उस योजना में इस विद्यालय को सम्मिलित करके वेदपाठ अध्ययन यहाँ प्रारम्भ किया गया। उस समय डॉ. सी. स्वामीनाथन शिक्षा मन्त्रालय के एजुकेशनल स्टेट एडवाईज़री बोर्ड में थे। उन्हीं ने यहाँ यह असम वेद विद्यालय प्रारम्भ किया। उस समय से लेकर अभी तक कम से कम ५० मेघावी छात्र वेद का अध्ययन करके निकल चुके हैं। पर आज के समय में केवल वेद का अध्ययन करके जीविकोपार्जन करना सम्भव नहीं है। इसलिए हमने अपने विधार्थियों को सम्पूर्णानन्द संस्कृत

विश्वविद्यालय, काशी से परीक्षा दिलवायी और आधुनिक विद्यालयों में संस्कृत अध्यापक आदि के पद पर उन्हें नियुक्त किया गया। साथ ही वेद के साथ कुछ कर्मकाण्ड भी जुड़ा हुआ है तो कुछ विद्यार्थी कर्मकाण्ड के माध्यम से स्वतन्त्र रूप से जीविकोपार्जन कर रहे हैं। फिर यहाँ के विशेष-विशेष कुछ मन्दिर हैं, जिनमें आरक्षक के पद पर कुछ लोग उन्हें चाहिये थे तो कुछ विधार्थियों को हमने वहाँ नियुक्त किया। इस तरह चल रहा है। पूरे आसाम में शुक्ल यजुर्वेद की काण्व शाखा की ही परम्परा आपको मिलेगी और हमारा यह एकमात्र विद्यालय है जिसके द्वारा यह परम्परा चल रही है। हमने एक उद्देश्य ले लिया था कि वेद विद्या प्रसार के लिए ही जीवनभर कार्य करना है। सभी चीज़ो को पीछे छोड़कर, पूरे परिवार से अलग रहकर हम यहाँ वेद विद्या के प्रसार में लग गये।

के.एम. जातवेदस नम्बूदरी

के.एम. जातवेदस नम्बूदरी से पहली बार मैं वाराणसी में वाचिक परम्परा पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी के अवसर पर मिली थी। मैं उनके ऋग्वेद पाठ से बहुत प्रभावित हुई थी। उनके ऋग्वेद पाठ में केरल के मन्दिरों के स्थापत्य जैसा कटाव था, वाणी में तेज और लय की गहरी समझ थी। जातवेदस नम्बूदरी को मैंने वाराणसी में वाराणसी पर लिखी डायना आईक की पुस्तक भेंट की थी। इसके दो बरस बाद मैं उनसे मिलने केरल गयी। वे कृपापूर्वक कोच्ची से चलकर तिरुवनन्तपुरम् में श्री कावालम नारायण पणिक्कर के रंगमंडल 'सोपानम्' में आ गये थे। यह बात वहीं हुई। जातवेदस पेशे से वर्षों तक मनोचिकित्सक रहे हैं और उन्होंने केरल में किसानों की आत्महत्याओं का अध्ययन भी किया है। वे अपनी बात बहुत स्पष्टता से रखना जानते हैं।

संगीता - आपके परिवार में वेदपाठ सीखने-सिखाने की परम्परा कब से रही है ?

नम्बूदरी - मुझे पता नहीं कि यह परम्परा कब से चली आ रही है? पर मैं कह सकता हूँ मेरे परिवार का डेढ़ सौ बरसों का वेदपाठ का इतिहास है। मेरे पिता वेदपाठी थे, मेरे दादा भी, उनके पिता भी।

संगीता - आपकी शिक्षा कैसे हुई ?

नम्बूदरी - हम तीन भाई हैं। एक भाई मुझसे बड़ा है, एक छोटा। मेरे पिता ने मेरे बड़े भाई और मुझे वेदपाठ सिखाया। यह सीखने में चार बरस लगते हैं। संहिता पाठ को कण्ठस्थ करने में चार बरस लगते हैं। बहुत छोटी उम्र में आपको बहुत सुबह उठाया जाता है, आप खुद नहीं उठते आपको ज़ोर देकर उठाया जाता है। उस उम्र में आपके मन में अपने माता-पिता के प्रति गहरा रोष होता है क्योंकि आपको बहुत सुबह उठने को बाध्य किया जाता है।

संगीता - तब आप कितने बरस के थे ?

नम्बूदरी - छः या सात बरस का। हमें प्रातः चार बजे से शाम पाँच बजे तक वेद का पठन सीखना होता था। कई बार यह समय बढ़ता हुआ संध्या वन्दन के समय तक भी पहुँच जाता था, आठ से दस बजे रात तक। हमें इतनी देर तक बैठकर वेदपाठ दोहराते रहना होता था। यह चार बरस तक चलता रहा। इतने बरस सीखने के बाद संहिता पाठ कण्ठस्थ हो जाता था। कई बार जब हम सीखे हुए पाठों को दोहरा नहीं पाते थे तो हमें कड़ा दण्ड दिया जाता था, हमारी पिटायी होती थी। मुझे अभी भी याद है कि मेरे पिता मुझे एक मन्त्र 'नवचायन श्रवन्ति' को दोहराने के लिए कह रहे थे। मुझसे वह हो नहीं रहा था। मैं कहीं-न-कहीं ग़लती कर रहा था। अचानक उन्होंने ज़ोर से मेरे गाल पर थप्पड़ लगा दिया। मैं रोने लगा। कुछ औरतें

आर्यी और मुझे शान्त करने लगी। और तब मैंने तय किया कि मैं वेद का अध्ययन नहीं करूँगा। अगले दिन उन्होंने मुझे बुलाया। वे मुझसे बोले कि यह तो कुछ भी नहीं है, यदि तुम कुछ सीखना चाहते हो। तब भी मैं वेद अध्ययन करते रहना नहीं चाहता था। लेकिन उनके ज़ोर देने के कारण, मैं करता रहा। चार साल सीखने के बाद मैंने संहिता पाठ सीख लिया। सीखने के बाद मेरे पिता ने मुझसे कहा कि समय बदल गया है। प्राचीन वैदिक अध्ययन से तुम जीविकोपार्जन नहीं कर पाओगे। तुम्हें आधुनिक शिक्षा-दीक्षा लेना चाहिए, तभी रोज़गार मिल सकेगा। उन दिनों केरल में मार्क्सवाद का प्रसार हो रहा था, विशेषकर नम्बूदरियों के बीच। उन दिनों नम्बूदरी पूरी तरह वैदिक अध्ययन के खिलाफ़ हो गये थे। ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद उन्हीं दिनों केरल के मुख्यमन्त्री हुआ करते थे। पिता ने मुझसे कहा कि तुम आधुनिक शिक्षा लो। लेकिन मैंने उनसे कहा कि मैं उनसे थोड़ा और पढ़ना चाहता हूँ। वे खुशी के मारे रोने लगे। उन दिनों वेदपाठशाला तिरूनावाया में हुआ करती थी। मुझे वहाँ भेजा गया। वहाँ मैंने चार-पाँच बरस और वेदपाठ का अध्ययन किया। मैंने वहाँ पदपाठ, क्रमपाठ, जटापाठ, रथपाठ आदि सभी सीखे। साथ ही साथ मैं आधुनिक शिक्षा भी ग्रहण करता रहा। मैंने वहाँ रहकर पाँचवीं से ग्यारहवीं तक की पढ़ाई भी की।

संगीता - और तब आप चिकित्सा महाविद्यालय में पढ़ने गये।

नम्बूदरी - उसके बाद मैं प्री-डिग्री करने महाविद्यालय गया। यह दो साल की पढ़ाई थी। उसके बाद एम.बी.बी.एस. करने मैं चिकित्सा महाविद्यालय गया। उसके बाद मैं स्वास्थ्य सेवा विभाग में आ गया। मैंने असिस्टेण्ट सर्जन की तरह नौकरी शुरु की थी और मुख्य मनोचिकित्सक की तरह सेवावकाश लिया।

संगीता - आज सुबह जब आप वेदपाठ कर रहे थे, आपने कहा था कि आप यह केरलीय शैली में कर रहे हैं। वेदपाठ की केरलीय शैली की क्या विशेषता है ?

नम्बूदरी - केरलीय शैली में 'कम्पनम्' अधिक है। (इस जगह श्री नम्बूदरी ने वेदपाठ में कम्पन का प्रयोग बताने के लिए गाकर सुनाया) केरल के बाहर वेदपाठ में कम्पन कम होता है।

संगीता - वेदपाठ शिक्षण में मुद्राओं की क्या भूमिका है ?

नम्बूदरी - वेदपाठ प्रशिक्षण में मुद्राओं की भूमिका बहुत महत्व की है। उदाहरण के लिए 'अग्निमिले पुरोहितं यज्ञस्य देवंमृत्विजं' इस मन्त्र में अग्नि की, इले की, पुरोहितं की, यज्ञस्य की, देवं की, ऋत्विजं की हर एक पद के लिए एक विशिष्ट मुद्रा है। यह अनुस्वार मुद्रा है। हर वह पद जो अनुस्वार पर समाप्त होता है, जैसे अग्निं, अहं, पुरोहितं, ऋत्विजं आदि। अनुस्वार मुद्रा से दर्शाया जाता है। हर वह पद जो 'आकार' पर समाप्त होता है जैसे अग्निना को 'आकार मुद्रा' से दर्शाया जाता है। वे सारे पद जो इकार पर समाप्त होते हैं जैसे देवी, प्रभृति आदि को 'इकार मुद्रा' से दर्शाया जाता है। 'उकार' पर समाप्त होने वाले पदों को 'उकार मुद्रा' से दर्शाया जाता है। 'औंकार' के लिए विशिष्ट मुद्रा होती है। ऐकार पर समाप्त होने वाले पदों के लिए 'ऐकार मुद्रा।' हर पद अपने समापन स्वर के आधार पर एक विशिष्ट मुद्रा द्वारा दर्शाया जाता है। जब कुछ लोग मिलकर पदपाठ सीखना आरम्भ करते हैं तो अध्यापक को पठन की जगह केवल मुद्राओं द्वारा पदों को इंगित करने की सम्भावना रहती है। वे चुपचाप बैठकर हस्तमुद्राएँ करते रह सकते

हैं। जब हम पदपाठ सिखाते हैं, हम केवल इन मुद्राओं को करते रह सकते हैं और शिष्यगण भी पदों को समझते रह सकते हैं। यह वेदपाठ की केरलीय शैली का वैशिष्ट्य है।

संगीता - उत्तरभारतीय वेदपाठ में विशेषकर सामगान में हस्तमुद्राएँ सांगीतिक स्वरों (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) को दर्शाती हैं, भाषिक स्वरों को नहीं।

नम्बूदरी - यहाँ ऐसा भी है। केरल में मुद्रा पद्धति का बहुत महत्त्व है। यहाँ कथकलि आदि नृत्यशैलियों में भी इन मुद्राओं का उपयोग होता है। उदाहरण के लिए राजा या हाथी के लिये विशिष्ट मुद्रा का उपयोग होता है। कथकलि में 'मुद्रा' उस पद विशिष्ट का 'अर्थ' बताती है। पर वेदपाठ में हस्तमुद्रा पद का 'अर्थ' बताने के स्थान पर उस 'स्वर' को इंगित करती है, जिस स्वर पर वह पद समाप्त हो रहा है। उदाहरण के लिये अगर वेदपाठ में 'राजा' पद आएगा तो उसके लिये 'आकार मुद्रा' का प्रयोग होगा। कथकलि में लगभग ऐसी ही मुद्रा होगी पर वेदपाठ में 'प्रजा' के लिए भी 'आकार मुद्रा' का प्रयोग होगा।

संगीता - केरल के विभिन्न वेदपाठियों के बारे में बताईये?

नम्बूदरी - यहाँ ऋग्वेदी और यजुर्वेदी लगभग समान संख्या में हैं। सामवेदी बहुत कम हैं। उनके केवल सोलह परिवार हैं और उनमें भी सामगान जानने वालों की संख्या एक या दो है।

संगीता - सामवेदी केरल में किस स्थान पर हैं ?

नम्बूदरी - सुरनूर के करीब पांजाल में।

संगीता - आप मुझे बता रहे थे कि 'ऋग्वेद पाठ' की यहाँ दो शैलियाँ हैं।

नम्बूदरी - केरल में ऋग्वेदियों के दो समूह हैं। पहले केवल एक समूह था और उसका मुख्यालय त्रिचूर में था, 'त्रिचूर वेदपाठशाला' के भी पहले तीन स्वामियार मठ थे, जिनकी स्थापना एक हज़ार साल पहले आदि शंकराचार्य ने की थी। उत्तर मध्य और दक्षिण में स्थापित मठ। उत्तरी मठ के स्वामी को एक भी ऐसा शिष्य नहीं मिला जो उनकी शैली को आगे ले जाता। इस बारे में कई किस्से हैं। वे कन्नड़ ब्राह्मण थे। केरल के ब्राह्मण सोचते थे कि वे कन्नड़ के ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं। इसलिए कोई भी केरलीय ब्राह्मण उनके पास सन्यास लेने नहीं गया। इसलिए उन्हें शिष्य नहीं मिल रहे थे। एक दूसरी कहानी यह है कि श्राद्ध कर्म के लिए ब्राह्मण परिवारों में सन्यासियों को आमन्त्रित किया जाता है। एक बार इन स्वामी को एक परिवार में आमन्त्रित किया गया था, श्राद्ध कर्म के लिए। लेकिन उन्हें सन्देह हुआ क्योंकि वे कन्नड़ ब्राह्मण थे और श्राद्ध कर्म ऊँची कोटि का कर्म हुआ करता है। उन्हें सन्देह था कि मैं कन्नड़ ब्राह्मण हूँ, यह नम्बूदरी ब्राह्मण मुझसे श्राद्धकर्म जैसा श्रेष्ठ कर्म करवाएगा भी या नहीं। उस नम्बूदरी ने पहले अपना श्राद्ध कर्म कर लिया फिर उसने सन्यासी का स्वागत किया। स्वामी को मालूम था कि यह ब्राह्मण अपना श्राद्ध कर्म कर चुका है क्योंकि मैं कन्नड़ ब्राह्मण हूँ और यह नहीं चाहता कि मैं उसके साथ बैठकर श्राद्ध करूँ। उसने बहुत अपमानित महसूस किया। उसने नम्बूदरी से पूछा कि तुमने ऐसा क्यों किया। नम्बूदरी बोला कि दरअसल बच्चे बहुत भूखे हो गये थे और वे परेशान कर रहे थे इसलिए मैंने श्राद्ध कर्म पहले

कर लिया। स्वामी बोले, 'सच बात है, बच्चे बहुत परेशान कर रहे थे, अब से सत्रह पीढ़ियों तक तुम्हारे घर बच्चे नहीं होंगे।' नम्बूदरी भी सात्विक व्यक्ति था उसने उलटकर स्वामी को श्राप दिया कि तुम्हारी संस्था का भी यही होगा। नम्बूदरी के परिवार में बच्चे नहीं हुए, वे पीढ़ी दर पीढ़ी बच्चे गोद लेते रहे। स्वामियार के मठ में भी कोई सन्यास लेने नहीं आया। और स्वामियार ने अपने उस मठ-वेदशाला को पास के एक महान वेदपाठी को सौंप दिया जो पास ही कहीं वेदपाठ सिखा रहे थे। स्वामीयार ने उन वेदपाठी से कहा कि अब इस जगह आप वेदशाला चलाइये, क्योंकि यहाँ अब सन्यासियों का गढ़ नहीं बन सकेगा। इस मठ पर श्राप है। केरल के इतिहास में वह पहली वेदशाला थी। वही आज की 'त्रिचूर वेदपाठशाला' है।

संगीता - क्या इन दिनों ऐसे अनेक वेदपाठी हैं जो वेदपाठ करने के लिए यहाँ-वहाँ जाते हों ?दूसरे शब्दों में क्या आज वेदपाठियों के लिए समाज में पर्याप्त अवकाश है ?क्या उनके लिए पर्याप्त काम उपलब्ध है ?

नम्बूदरी - हाँ है। १९६० और ७० के दशकों में कोई भी नम्बूदरी वेदपाठ करना नहीं चाहता था। भूमि सुधार आन्दोलन चला था। लगभग सारे मन्दिर बन्द कर दिये गये थे। सारे नम्बूदरियों को भोजन तक नहीं मिलता था। उनके लिए वह बहुत बुरा समय था। उसके बाद फिर सब आधुनिक शिक्षा में दीक्षित होने लगे और उन्होंने किसी तरह अपने आप को बचाया और फिर सोचा कि हमारी परम्परा नहीं मरनी चाहिए। उनमें से कुछ लोगों ने फिर से वेदपाठ सीखना शुरू किया। अब त्रिचूर वेदपाठ शाला अच्छे से चल रही है। वहाँ लगभग २५ विद्यार्थी वेदपाठ सीख रहे हैं। केरल में हुआ यह कि मार्क्सवादी विचारधारा और भूमि सुधार ये दोनों घटक वेद अध्ययन के विरोधी घटक रहे क्योंकि भूमि सुधार आन्दोलन के चलते सारे मन्दिरों और सामन्तों की भूमि छीन ली गयी थी। इस तरह समाजाश्रय खत्म हो गया था।

फिर जो वेदपाठ शाला स्वामीजी के द्वारा त्रिचूर में स्थापित की गयी थी, वह पहली वेदपाठ शाला थी। लगभग ५०० वर्ष पूर्व वहाँ से वेदपाठियों के एक समूह को कुछ व्यक्तिगत या अकादेमिक झगड़ों के चलते निकाल दिया गया था। वे तिरूनावाया चले गये, जो भरतपुर नदी के किनारे बसा है। उस समय वहाँ सामुरी राजा का शासन था। उनके क्षेत्र में एक भी वेदपाठ शाला नहीं थी। जब उन्होंने देखा कि त्रिचूर वेदपाठ शाला से कुछ वेदपाठियों को निकाल दिया गया है तो उन्होंने उनको अपने क्षेत्र में वेदपाठ शाला खोलने के लिए आमन्त्रित किया। उसे ही 'तिरूनावाया वेदपाठ शाला' कहा जाता है। इस तरह त्रिचूर और तिरूनावाया की वेदपाठ शालाओं को 'त्रिचूर योगम्' तथा 'तिरूनावाया योगम्' के नाम से पुकारा जाने लगा। यूँ केरल में ऋगवेद की ये दो शाखाएँ बनी। मैं तिरूनावाया योगम् का विद्यार्थी हूँ।

संगीता - क्या इन दोनों शाखाओं के लोग आपस में मिलते हैं ?

नम्बूदरी - हाँ। त्रिचूर ज़िले के कटवेल्लूर में राम मन्दिर है, हर वर्ष वहाँ वृश्चिक मास की पहली तारीख को 'अन्योन्यम्' का आयोजन किया जाता है।

संगीता - 'अन्योन्यम्' में क्या होता है ?

नम्बूदरी - अन्योन्यम् में इन दोनों योगम् के बीच वेदपाठ की प्रतियोगिता होती है। वहाँ आठ दिन तक क्रमपाठ, जटापाठ, घनपाठादि को प्रस्तुत करने की प्रतियोगिता होती है। मान लीजिए प्रथमतः 'त्रिचूर योगम्' के विद्यार्थी वेदपाठ करने के लिए बैठे हों तो वे वेद के किस हिस्से का कौन-सा पाठ करेंगे यह उन्हें 'तिरूनावाया योगम्' के लोगों द्वारा बताया जाता है। जब 'तिरूनावाया योगम्' के विद्यार्थी वेदपाठ करते हैं तो त्रिचूर योगम् के लोग उन्हें बताते हैं कि वे वेद के कौन-से हिस्से का कौन-सा पाठ करेंगे।

संगीता - क्या उनसे कोई भी पाठ पूछा जा सकता है ?

नम्बूदरी - वे आपस में कुछ भी पूछ सकते हैं इसलिए दोनों योगम् को तैयार रहना पड़ता है। इस तरह प्रथम दिन से प्रथम अष्टक का पाठ शुरू होकर आठ दिनों तक आठ अष्टकों का पाठ होता है। वहाँ जटापाठ, रथपाठ और क्रमपाठ प्रस्तुत किये जाते हैं। क्रमपाठ दो प्रकार का होता है। पहला पाठ 'उन्नामवारम्' कहलाता है तथा दूसरा 'रण्डामवारम्।' पहले वारम् का पाठ यदि किसी एक योगम् ने कर लिया है तो दूसरे का पाठ दूसरा योगम् करता है। फिर वहाँ एक और प्रक्रिया चलती है, जिसमें बारह पत्थरों को रखा जाता है। उस पाठ को प्रस्तुत करने की एक विशिष्ट प्रक्रिया होती है, जिसमें एक अकेला व्यक्ति पूछे गये पाठ का पाठ करता है और अन्य सभी उस पर नज़रें गड़ाये रहते हैं। यदि उससे स्वर, मन्त्र या अक्षर में एक भी गलती हो जाती है तो उसे वहाँ से उठा दिया जाता है। जब किसी एक योगम् का व्यक्ति पाठ करता है तो दूसरे योगम् के लोग बहुत ध्यान से उसकी त्रुटियाँ पकड़ने में लग जाते हैं। वहाँ 'जटापाठ' और 'रथपाठ' भी होता है। वहाँ तीन प्रकार के 'स्थानम्' होते हैं। पहला 'स्थानम्' युवाओं के लिए होता है जिसमें वे अन्य लोगों की मदद से पूछा गया पाठ करते हैं। दूसरे 'स्थानम्' में पाठ करने वाले व्यक्ति को किसी अन्य से मदद नहीं लेनी चाहिए। वह अकेला पाठ करता है। उदाहरण के लिए यदि उसके समक्ष किसी एक मन्त्र का केवल आरम्भिक हिस्सा जैसे 'आनो भद्रा' का पाठ किया जाता है तो उसे तुरन्त 'आनो भद्रा' का अगला शब्द पकड़ते हुए पूरे वर्ग का पाठ करना होता है। इसे 'कटंगिरिकल' कहा जाता है, जिसमें दूसरे की मदद नहीं ली जाती। तीसरे 'स्थानम्' में थोड़े और ऊँचे स्तर की परीक्षा होती है। जिसे 'बलिया कटंगिरीकल' कहा जाता है। 'बलिया' अर्थात् वरीष्ठ। 'वरीष्ठ कटंगिरीकल' में परीक्षा थोड़ी और कठिन होती जाती है। इन दिनों ऐसा कोई भी जीवित व्यक्ति नहीं है जो यह पाठ करता हो और जिसके पास 'वरीष्ठ कटंगिरीकल' की उपाधि हो। 'कटंगिरीकल' की उपाधि छः-सात वेदपाठियों के पास है। मुझे भी 'कटंगिरीकल' की उपाधि प्रदान की गयी है। लेकिन 'वरीष्ठ कटंगिरीकल' अब कोई नहीं है। अब तो 'कटंगिरीकल' उपाधि के लिए भी कोई प्रयत्न करता दिखायी नहीं दे रहा। 'कटंगिरीकल' की उपाधि तक पहुँचना भी बहुत कठिन होता है। 'कटंगिरीकल उपाधि' के लिए आपको पूरा संहिता, पद, क्रम, जटा, रथादि पाठों को याद कर कण्ठस्थ करना होता है। 'अन्योन्यम्' प्रतियोगिता पूरी एक व्यवस्था है, पाठों को सुरक्षित करने की।

संगीता - केरल में वेदपाठ की परम्परा का स्रोत क्या माना जाता है?

नम्बूदरी - यहाँ वेदपाठ की परम्परा के प्रणेता परशुराम और वैखानस इन दो ऋषियों को माना जाता है। इन्हें ही तीन

प्रकार के 'कम्पन्नम्' का प्रणेता भी माना जाता है। केवल वेदपाठ नहीं यहाँ के आचारों आदि का प्रणेता भी इन्हें ही माना जाता है। 'ऐतिह्यं' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् 'यह ऐसा ही है', इसका कोई प्रमाण नहीं है। अगर प्रमाण है तो वह 'हिस्ट्री' है। उसे 'चरित्र' कहते हैं। इसे लोग पीढ़ी दर पीढ़ी बताते चले आ रहे हैं, इसलिए इसे 'ऐतिह्यं' (यह ऐसा है) कहा जाता है। मैं तो यह मानता हूँ कि वेदपाठ जैसी चीज़ न 'ऐतिह्यं' है न 'चरित्र' है बल्कि वह 'ऐतित्रं' है। कुछ-कुछ ऐसा है, कुछ नहीं भी।

संगीता - पदपाठ की परम्परा यहाँ कब से शुरू हुई मानी जाती है?

नम्बूदरी - 'पदपाठ' का प्रणयन रावण ने किया है, श्रीलंका के महान् रावण ने, यहाँ कुछ लोग ऐसा मानते हैं। वह बहुत बड़ा विद्वान था।

संगीता - केरल में इस समय ऋग्वेदपाठ के क्षेत्र में कौन-से विद्वान सक्रिय हैं ?

नम्बूदरी - केरल के सबसे वरीष्ठ और महान् ऋग्वेदपाठी की आयु अभी ६० वर्ष की है, वे आमरनिल्लूर पुरूषोत्तमन् भट्टात्रिपाद हैं। वे मेरे गुरू हैं। जब मैं 'तिरूनावाया योगम्' में अध्ययन के लिए उनके पास गया, उन्होंने वहाँ अपने निर्देशन में मुझे क्रम, पद, जटा, रथपाठादि सिखाये। संहिता पाठ मैंने अपने पिता से सीखा था। भट्टात्रिपाद इस समय केरल के सबसे महान् अध्येता हैं। उनसे हम अपनी किसी भी शंका का समाधान करवा सकते हैं। वे बिना सन्दर्भ के हमारे प्रश्नों का तुरन्त जबाव देने में समर्थ हैं। वे त्रिचूर नगर के निकट रहते हैं वे बेहद पारम्परिक व्यक्ति हैं। अब वे वृद्ध हैं और वानप्रस्थी जैसा जीवन बिता रहे हैं। नारायण नम्बूदरी भी 'कटंगिरीकल' उपाधि से अलंकृत हैं। नारायण मंगलम् उनका कौटुम्बिक नाम है। वे वेद, श्रौतकर्म और याग के बहुत अच्छे विद्वान् हैं। वे षोडष्क्रिया और ग्रह्यसूत्र के भी विद्वान हैं परन्तु अब वे भी काफ़ी वृद्ध हो चले हैं। तीन वर्ष पहले उनकी गम्भीर शल्यक्रिया हुई है। अग्निशर्मन् और उनके बड़े भाई अग्निशर्णम् भी अच्छे विद्वान हैं, अग्निशर्णम् ८४ वर्ष के हैं, स्वस्थ हैं और विभिन्न जगहों पर ऋग्वेदपाठ के लिए आते-जाते हैं।

एक ओर बहुत अच्छे विद्वान हैं के. एम. वासुदेवन्। उन्होंने भारतीय सांख्यिकीय संस्थान कलकत्ता से स्नाकोत्तर अध्ययन किया और वे दिल्ली स्थित भारतीय सांख्यिकीय संस्थान के निदेशक थे। सेवा निवृत्ति के बाद से केरल में ऋग्वेदपाठ के क्षेत्र में वे काफ़ी सक्रिय हैं। अग्निशर्मन् के छोटे भाई रवि ने ऋग्वेद की शिक्षा के बाद आयुर्वेद का अध्ययन किया। वे इन दिनों आयुर्वेद को छोड़कर पूरी तरह वेदपाठ और सोमयाग के क्षेत्र में सक्रिय हैं। यज्ञ में 'हौत्र' की भूमिका बहुत कठिन हुआ करती है, उन्होंने दो-तीन बार उसे निभाया है। ये सब 'तिरूनावाया योगम्' के वेद विद्वान हैं। तिरूनावाया योगम् आधा ढ़ह चुका है, आधा बन्द पड़ा है। 'त्रिचूर योगम्' में आज भी शिक्षा-दीक्षा जारी है। वहाँ के शिक्षकों के प्रमुख उरवंकर दमोदरन् हैं। वे ऋग्वेद के अच्छे विद्वान और संस्कृत अध्येता हैं। 'श्रौत' और 'याग' में भी वे निष्णात हैं। वे अच्छे पारम्परिक कवि भी हैं, वे बहुत सुन्दर श्लोक लिखते हैं और अन्तर्मुखी हैं। फिर नीलकण्ठन् नम्बूदरी हैं जो अब वृद्ध हैं और त्रिचूर के पास रहते हैं। वे अभी भी बहुत सक्रिय हैं। केरल में लगभग १५-१६ ऐसे लोग हैं जो पारम्परिक ढंग से ऋग्वेदपाठ कर सकते हैं।

अभी हाल में यहाँ 'वेदलक्षार्चना' आरम्भ हुई है। यह नया वैदिक उपासना अनुष्ठान है। इसमें दस लोग एक साथ बैठते हैं और ऋग्वेद का आरम्भ से लेकर अन्त तक पाठ करते हैं। यह छः या सात दिन तक चलता है। यह अब लोकप्रिय वैदिक उपासना बनती जा रही है। वे इससे कुछ अपना जीविकोपार्जन भी कर लेते हैं।

संगीता - यह नयी उपासना पद्धति है लेकिन इससे मिलती जुलती क्या पहले भी ऐसी कुछ उपासनाएँ होती थीं ?

नम्बूदरी - पहले भी मन्दिरों या परिवारों में किसी एक ऋग्वेदपाठी को बुलाकर पूरा ऋग्वेद सुनने की परिपाटी रही है। उसे 'मुर्रजपम्' कहा जाता था। इसे करने के लिए कुछ दक्षिणा भी दी जाती थी। 'मुर्रजपम्' आज भी कुछ जगहों पर होता है पर 'लक्षार्चना' नयी परिपाटी है। इसमें वेदपाठियों का समूह होता है। वेद के प्रति अब पूरे समाज में कुछ सम्मान बढ़ रहा है। १९६० और ७० के दशक कठिन थे। मेरे सभी साथी मेरा उपहास करते थे। मेरा भाई भी मुझे उलाहना देता था कि मैंने अपने जीवन के चार वर्ष वेदपाठ सीखने में व्यर्थ कर दिये। मैं भी ऐसा ही सोचने लगा था। मुझे तो अपने पिता की सख़्ती के कारण यह सीखना पड़ा था।

संगीता - केरल में कितने वेदों का पाठ प्रचलित है।

नम्बूदरी- केरल के ब्राह्मण ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद केवल इन तीन वेदों का अभ्यास करते हैं। अथर्ववेद का अभ्यास केरल में नहीं हैं। यज्ञ में अथर्ववेदियों की भूमिका का कम होना इसका कारण हो सकता है। कुछ परिवार ऋग्वेदी हैं, कुछ परिवार सामवेदी और कुछ परिवार यजुर्वेदी हैं। यह पारम्परिक रूप से तय है। मेरा परिवार बहुत समय से ऋग्वेदी है। हम लोग केवल ऋग्वेद का ही अध्ययन करते हैं।

संगीता - यहाँ सामवेद पाठ की क्या स्थिति है?

नम्बूदरी- केरल में जैमीनीय सामवेद है। केरल में सामवेदी बहुत कम हैं। केवल तीन-चार परिवार सामवेदी हैं। बहुत कम लोग है, जो पारम्परिक रूप से सामवेद का गान कर सकते हैं। यजुर्वेद और ऋग्वेद की स्थिति यहाँ सामवेद से थोड़ी सी बेहतर है। फिर युवा लोग इसमें नहीं आ रहे हैं। सारे सामवेदियों की वय लगभग ७० वर्ष या उससे ऊपर है।

संगीता- वैदिकों की दृष्टि से केरल का क्या स्वरूप है?

नम्बूदरी- वैदिकों के लिए पूरा केरल छह भागों में विभक्त है। अगर किसी को सोमयाग करना है तो वह कहेगा कि मुझे सोमयाग करना है। सभी छः क्षेत्रों क वैदिक उसकी मदद करेंगे। यह उनका कर्त्तव्य है।

संगीता- आपकी दृष्टि से वररुचि की कथा और उसके क्या अभिप्राय हैं?

नम्बूदरी- केरल के पौराणिक चिन्तन में यह मिलता है कि यहाँ वररुचि नाम के एक ऋषि थे जिनकी बारह अलग-अलग जातियों की सन्तानें थीं। सारी जातियों के परिवार उनमें शामिल थे। वे जातियाँ आज भी हैं। उनमें ब्राह्मण जाति के परिवार में एक अग्निहोत्री था। जो यज्ञ करता था। केरल में बहुत समय तक

श्रौत्र क्रिया नहीं थी अर्थात यज्ञ नहीं होते थे। उस अग्निहोत्री यज्ञ करना फिर से आरम्भ किया। उसने ९९ सोमयाग किये थे। पौराणिक चिन्तन कहता है कि जब उसने १०० वां सोमयाग आरम्भ किया तो विष्णु प्रकट हुए और वररुचि से बोले कि १०० वां यज्ञ नहीं करना चाहिए क्योंकि १००वां यज्ञ करने पर तुम इन्द्र के बराबर हो जाओगे। इसलिए ९९ सोमयाग ही पर्याप्त हैं। मैं तुम्हे १०० सोमयागों जितना आशीर्वाद देता हूँ। इस तरह वे लोग आज भी यज्ञ नहीं करते। मैं उसी परम्परा से आता हूँ। हम लोग सिर्फ़ वेदपाठ करते हैं।

राममूर्ति श्रौती

सामवेद की तीन शाखाओं (कौथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय) में से कौथुम शाखा के सामवेदी आचार्य राममूर्ति श्रौती कर्नाटक के श्रृँगेरी नगर से कुछ दूरी पर स्थित 'विद्यारण्य' में रहते हैं। आचार्य राममूर्ति श्रौती के पास कम्प्यूटर है। कण्ठस्थ सामवेद को कम्प्यूटर पर उन्होंने स्वयं लिखा, जो विशाल आकार में 'ऊहउह्यरहस्य' नाम से प्रकाशित है। यूँ उनकी छोटी-बड़ी सत्रह पुस्तकें हैं। उनके समृद्ध पुस्तकालय में विचारसागर के संस्कृतानुवाद से लेकर भारतीय दर्शन और मुख्य रूप से सामवेद से सम्बन्धित सैकड़ों पुस्तकें हैं। उनके पुस्तकालय में ही उनकी यज्ञशाला भी बनी हुई है।

वे मूलतः तमिलनाडु के हैं। वहीं उन्होनें सामवेद का अध्ययन किया। लगभग ३० वर्ष पहले श्रृँगगिरी की वेदपाठशाला में कौथुमीय सामवेद सिखाने के लिए उन्हें आमंत्रित किया गया था। तब से वे इस पाठशाला में लगातार अध्यापन कर रहे हैं। उनके लगभग ४०० शिष्य हैं किन्तु इस वर्ष पाठशाला में उनसे कोई भी सामवेद सीखने नहीं आया। इसलिए वे कक्षा लेने के स्थान पर श्रृँगेरी के शारदाम्बालय में रोज़ सुबह से लेकर दोपहर तक सामवेद का परायण करते हैं। दिनांक १२.६.०९ की सुबह मैं शारदाम्बालय में उनसे मिलने पहुँची। किसी ने बताया कि राममूर्ति जी भीतर पूजा कर रहे हैं। मन्दिर में शारदाम्बा की सुन्दर वस्त्रों और फूलों से सजी भव्य प्रतिमा के पास बैठकर कोई बार-बार उन्हें कमल के फूलों का नैवेद्य दे रहा था। थोड़ी देर मैं वह देखती रही फिर मन्दिर के बाहर बह रही तुंगभद्रा नदी के किनारे चली गयी। बिल्कुल किनारे पर बहुत बड़ी-बड़ी मछलियाँ बिना डरे तैरते हुए अपना भोजन पकड़ रही थीं। कहते हैं आदि शंकराचार्य ने इन मछलियों को देखकर यहाँ के लोगों की अहिंस्र प्रवृत्ति का अन्दाज़ लगाकर ही यहाँ शरदाम्बा की मूर्ति स्थापित की थी।

पूजा के बाद जब वे बाहर आए, उन्होंने बताया वे राममूर्ति हैं पर सामवेदी आचार्य राममूर्ति श्रौती नहीं। सामवेदी आचार्य आज किसी कारण से नहीं आये हैं। वे 'विद्यारण्य' में रहते हैं। विद्यारण्य, श्रृँगेरी (जिसका वास्तविक नाम श्रृँगगिरि है) से १० कि. मी. की दूरी पर स्थित है। श्रृँगेरी विद्यारण्य जाने के लिए एक घने जंगल से गुज़रना पड़ता है। यह बातचीत आचार्य राममूर्ति श्रौती से मैंने उनके घर पर की थी, हमारी बातचीत के दौरान सूर्यदेव धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर बढ़ रहे थे।

मैं सामवेद की कौथुम शाखा का वेदपाठी हूँ। कौथुम शाखा के पाठ (उच्चारण) में भिन्नताएँ देखने को मिलती हैं। मैसूर (कर्नाटक) में एक पाठ है। तमिलनाडु में एक पाठ है, जो मुल्लण्ड्रम् पाठ कहलाता है। कांचीपुरम् के पास अडयाप्पलम् नाम का एक गाँव है, वहाँ महन्त अप्पया दीक्षित हुए है, उनकी परम्परा का एक पाठ है, जो आजकल ज़्यादा प्रचलित है। भारद्वाज गोत्र के जो लोग सामवेदी है उनकी पाठ परम्परा यही है। उनके कुल का विस्तार इतना अधिक है कि वह 'भारद्वाजकुलजलधिकौस्तुभ' नाम से पुकारा जाता है। अप्पया दीक्षित ने १०४ ग्रन्थ लिखे थे। भारद्वाज गोत्र के लोग तमिलनाण्डु में तो हैं ही यहाँ कर्नाटक में भी बहुत हैं। इस तरह यहाँ कर्नाटक के मैसूर का एक पाठ, तमिलनाडु का मुल्लण्ड्रम् पाठ, कुम्भकोणम् महाक्षेत्र का एक पाठ और कांचीपुरम् के पास अडयप्पलम् का एक पाठ- ये चार पाठ कौथुम शाखा के यहाँ दक्षिण भारत में प्रचलित हैं। उत्तर भारत का काशी पाठ और एक सौराष्ट्र का पाठ इन दोनों को मिलाकर पूरे भारत में छः पाठ-भेद (उच्चारण- भेद) कौथुमीय सामवेद के मिलते हैं।

इनमें कांचीपुरम् का अडयप्पलम् पाठ प्राचीन पाठ कहलाता है। प्राचीन पाठ और नवीन पाठ ये दो भेद इस शाखा में हैं। मैं प्राचीन पाठ का अनुयायी हूँ। प्राचीन पाठ प्रातिशाख्य के बिल्कुल समीप है। जैसा निर्देश महाब्राह्मण में मिलता है, उसी के अनुसार पाठ होता है, उसमें परिवर्तन होता नहीं है। समय के साथ इसके पाठ में कुछ मलिनता आ गयी। कभी-कभी विकृति आ जाती है। कभी प्रातिशाख्य छूट जाता है। कभी प्रातिशाख्य के दीर्घ सूत्र को विचार करके खण्ड सूत्र प्रातिशाख्य बना देते हैं। जहाँ सूत्र में कुछ संशय आता है वहाँ 'देहली दीप न्याय' से काम लेते हैं। द्वार के बीच में दीप रखने से अन्दर भी उजाला रहता है और बाहर भी। किसी सूत्र पर कुछ प्रभाव पिछले खण्ड का रहता है, कुछ प्रभाव अगले खण्ड का। यह विचार करके एक नया पाठ निकला, उसे ही मुल्लण्ड्रम् पाठ कहते हैं।

इस तरह प्राचीन पाठ को निश्चित कर दिया गया है। कहा गया कि वह देहली दीप न्याय का विरोध नहीं है। क्योंकि बीच में जब प्राचीन पाठ प्रचार में नहीं था। पर जब नवीन पाठ प्रचार में आया। उसके बाद प्राचीन पाठ का निश्चय किया गया। इस प्रकार प्राचीन पाठ का निश्चय नवीन पाठ आने के बाद हुआ।

सामवेद पश्चिम बंगाल से इधर आया है, पर अब वहाँ लुप्तप्राय है। कलकत्ता में गगन कुमार चटोपाध्याय और वामन कुमार चटोपाध्याय दो भाई हैं, जो यहाँ से सामवेद सीखकर गये हैं। लगभग १०० बरस पहले सामश्रमी मिश्रा नाम के एक विद्वान वहाँ थे, उन्होंने पहली बार सामवेद प्रकाशित करवाया था। १०० बरस पहले सामवेद का पाठ वैसा नहीं रह गया था जैसा प्रातिशाख्य में निर्देश है, जैसा महाब्राह्मण में बताया गया है। किसी तरह चल भर रहा था। उस समय के इधर से गये सामवेदी विद्वानों ने सोचा कि यह पाठ शुध्द नहीं लग रहा है। तो उन्होंने प्रातिशाख्य का अध्ययन किया, ब्राह्मण ग्रन्थों को देखा, लक्षण ग्रन्थों को देखा, श्रौत्र प्रक्रिया कैसी है, इस सब पर विचार किया। उस समय जो सामवेद का पदपाठ प्रचलित था, उसमें उच्च, नीच, मध्यम स्वर कैसे हैं, यह सब विचार करके उसका पाठ शुध्द किया गया। वह शुध्द पाठ वहाँ से तमिलनाडु में आ गया पर कलकत्ता में वह अब लुप्तप्राय हो गया है। इधर दक्षिण भारत में फिर भी कौथुम सामवेद की स्थिति ठीक है।

इस क्षेत्र में मैं अकेला हूँ। मैसूर में मंजुनाथ श्रौती हैं, दत्तात्रय अश्रम में राजेश श्रौती हैं, जो कौथुमीय सामवेदी हैं। मैसूर में, बैंगलोर में कई जगहों पर मेरे शिष्य हैं। उड़ीसा के मानस मिश्रा मेरे शिष्य हैं, जो बैंगलोर के हमारे शंकर मठ में प्राध्यापक है, उन्होंने भी कई शिष्यों को सामवेद सिखाया है। आंध्रप्रदेश, दिल्ली, तमिलनाडु (हैदराबाद), गुजरात (द्वारिका) आदि प्रान्तों में मेरे ४०० शिष्य हैं।

मैं श्रृँगेरी के श्री शारदापीठम् महावेद पाठशाला में पिछले लगभग ३० वर्षों से सामवेद सिखा रहा हूँ। इस वर्ष यहाँ एक भी विद्यार्थी सामवेद सीखने नहीं आया। यहाँ अधिक विद्यार्थी ऋग्वेद या फिर यजुर्वेद सिखने आते हैं। सभी छात्र सोचते हैं कि विद्या अध्ययन ठीक है पर इससे उदर पोषण होगा या नहीं ?सामवेद सीखकर क्या करेंगे? इससे उद्योग मिलेगा क्या? इससे कर्मकाण्ड होता है क्या? चूँकि विद्यार्थी नहीं हैं इसलिए मैं शारदाम्बालय में जाकर वेदपारायण करता हूँ।

यहाँ कर्नाटक में होन्नावर के आसपास के गाँवों में तीन सौ सामवेदी परिवार हैं पर उनमें से किसी ने भी सामवेद नहीं पढ़ा है। वे लोग कर्मकाण्ड भी सामवेद पद्धति अधिकतर सामवेदी वेद परिवर्तन करके या तो ऋग्वेदी बन गये या फिर यजुर्वेदी। क्योंकि उससे उनको भरण-पोषण के लिए कुछ मिल जाता है।

तमिलनाडु में सामवेदी ज़्यादा हैं। कांची के शंकराचार्य सभी को सामवेद सीखने का उपदेश देते हैं और लोग मानते हैं। इधर न कोई बोलने वाला है न कोई सुनने वाला। आजकल ज़्यादा से ज़्यादा लोग शंकराचार्य जी के आशीर्वाद पर आश्रित रहते हैं। पर वे लोगों को वेद के स्वधर्म में रहने के लिए बोलते नहीं है। कुछ धर्मोपदेश देते हैं। लेकिन लौकिक लोगों को जो बोलना है कि वेद को कैसे बचाना है। यह नहीं बोलते हैं। हव्यक ब्राह्मण अधिकतर सामवेदी हैं लेकिन ज़्यादातर वे किसी और वेद के अनुयायी हो गये हैं। रामचन्द्रपुरम्, स्वर्णावलि और योगेश्वर इन तीनों मठों में हव्यक जाति के गुरूजी हैं। इनके लाखों लोग भक्त हैं जिनमें सामवेदी, यजुर्वेदी सब हैं। पर वे वेद रक्षण के लिए नहीं बोलते हैं, रामन्द्रपुरम् वाले मठ स्वामी जी ने विश्व वैदिक सम्मेलन किया था, मैं भी गया था। वहाँ मेरा उपन्यास, प्रवचन सब हुआ। उन्होंने मेरी किताब भी छपवायी है। लेकिन शिष्य लोगों को जो बोलना चाहिए वह नहीं बोलते कि वेद को कैसे बचाना है।

सामवेद की जैमिनीय शाखा के इधर दक्षिण भारत में कई विद्वान हैं। इसको बचाने के लिए कांची के शंकराचार्य ने बहुत तपस्या की। एक समय में जैमिनीय शाखा के सामवेदी कहीं नहीं थे। सिर्फ़ इधर दक्षिण भारत में एक विद्वान थे, जो ७० बरस के थे और त्रिचि के एक गाँव में एक वस्त्रालय पर वे लोगों को वस्त्र दिखाने का काम रहे थे। उनको जीवन यापन के लिए यह करना पड़ा। एक बार कांची के शंकराचार्य चन्द्रशेखर सरस्वती अपनी पैदल यात्रा के दौरान गाँव की उस वीथी से निकले तो उन्होंने सामवेद का एक मन्त्र पढ़कर उनका अभिवादन किया। शंकराचार्य वहीं खड़े रह गये। उन्होंने पूछा 'आप क्या पढ़ रहे है? वे बोले 'सामवेद की जैमिनीय शाखा का यह मन्त्र है।' शंकराचार्य ने पूछा, 'जैमिनीय शाखा के और विद्वान कहाँ-कहाँ है।' वे बोले कहीं नहीं, 'मैं अकेला हूँ।' शंकराचार्य बोले, 'आपके बाद इस शाखा का क्या होगा?आपका गाँव कहाँ है?' फिर शंकराचार्य उनके साथ उनके गाँव तक गये और वहाँ सभा को सम्बोधित करते हुए लोगों से पूछा कि यहाँ कितने सामवेदी परिवार हैं? उत्तर मिला ३००। उन्होंने कहा ३०० परिवार हैं पर एक भी व्यक्ति सामवेद का अध्ययन नहीं कर रहा। देखिए आपके गाँव में ये अकेले सामवेद के विद्वान हैं, अगर ये चले गये तो इनके बाद सब कुछ खत्म हो जाएगा। जिन-जिन लोगों के परिवार में छोटे बच्चे हैं उन्हें इन विद्वान् से सामवेद पढ़वाईये। फिर अपने मठ से धन देकर, लोगों को समझाकर, उनकी मदद से उन बच्चों का भरण-भरण पोषण करवाया और उन्हें सामवेद सिखवाया। फिर उनके कई प्रधान शिष्य जैसे मकरन्द भूषण, बालकृष्ण भूषण जैसे सामवेदी हुए। इस तरह उन्होंने जैमिनीय शाखा का रक्षण किया। वेद की रक्षा करने के लिए इसी तरह की तपस्या करनी पड़ेगी। शंकराचार्य लोग हैं ही इसलिए कि वे उसका रक्षण करें। पहले शंकराचार्य उन लोगों से बात करना छोड़ देते थे जो वैदिक विद्वानों का सम्मान नहीं करते थे या अपनें बच्चों को वेद नहीं पढ़ाते थे।

एक बार उन्होंने अपने किसी अनुयायी से पूछा कि तुम्हारे कितने बच्चे हैं। उसने कहा सिर्फ़ एक लड़का है। फिर उन्होंने पूछा उसकी उम्र क्या है जवाब मिला छः वर्ष! फिर उन्होंने पूछा आगे क्या सोचा है। वह बोला पढ़ाई के लिए स्कूल भेजूँगा। शंकराचार्य मौन हो गये। उन्होंने उस व्यक्ति से बात करना छोड़ दिया। तो वह व्यक्ति सोचने लगा पता नहीं मुझसे क्या ग़लती हो गयी तो लोगों ने उनको बताया कि तुम अपने बेटे को वेदपाठ शाला भेजो। ऐसे कई लौकिक लोगों को सीखने की प्रेरणा उन्होंने दी। इसलिए तमिलनाडु में आज सामवेद के बड़े अच्छे-अच्छे विद्वान हैं और सभी को शंकराचार्य चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती से प्रेरणा मिली है।

शंकराचार्यों को यह प्रेरणा देनी चाहिए कि वेद परिवर्तन नहीं करना चाहिए। जैसे धर्म परिवर्तन कराके मुस्लिम बना

लेते हैं, ईसाई बना लेते है वैसे हिन्दू धर्म में धर्म परिवर्तन हो ही नहीं सकता। कोई मुसलमान बन सकता है, ईसाई बन सकता है पर हिन्दू नहीं बन सकता। क्योंकि हमारे यहा धर्म परिवर्तन करवाते नहीं है। लाखों वर्ष पूर्व हमारे ऋषियों ने यह व्यवस्था बनायी है कि ऋग्वेदी को ऋग्वेद ही पढ़ना है, सामवेदी को सामवेद। यदि सामवेद पढ़ना है तो उसका उपनयन संस्कार होना चाहिए। यदि अथर्ववेद पढ़ना है तो अथर्ववेद का उपनयन होना चाहिए। हर वेद का व्रत है कि वह उपनयन से ही चालू हो जाना चाहिए। 'अचीर्णव्रत अधीते' सामवेद सीखने के लिए अचीर्ण व्रत करना पड़ता है। हर वेद के लिए अचीर्ण व्रत नहीं करते हैं। मतलब यह कि हर वेद के लिए अलग-अलग उपनयन संस्कार होता है। जो यह सब व्यवस्था बना रखी है, उसका असम्मान करके सामवेदी लोग ऋग्वेदी हो जाते हैं, ऋग्वेदी लोग यजुर्वेदी हो जाते हैं। पर ऐसा करके जब वे लोग इन शंकराचार्यों के पास जाते हैं, वे यह नहीं कहते कि वही वेद पढ़ो जो तुम्हारे यहाँ परम्परा से चला आ रहा है। हम लोग छोटे लोग हैं, हम क्या बोल सकते हैं। पर मैं जहाँ भी उपन्यास करने जाता हूँ वहाँ यह ज़रूर बोलता हूँ कि वेद को कैसे बचाना है। अब जैसे राणायनीय शाखा बिल्कुल लुप्तप्राय है। उसका प्रातिशाख्य वगैरह कुछ बचा नहीं है। सामवेद का जो प्रातिशाख्य या दशग्रन्थ अभी उपलब्ध है, वह कौथुम शाखा के अनुसार ही है। गुरुमुख से गुरू के पास बैठकर जिसने वेद कण्ठस्थ किया है, वही वेद सीख सकता है। उसी से वेद बचेगा। अगर किसी भी वेद को बचाना है तो उसका प्रातिशाख्य होना ज़रूरी है। जो व्यक्ति गुरूमुख से सीखा है, वह ठीक है। लेकिन कभी-कभी संशय आता है। परिस्थिति विशेष के कारण संशय आ जाता है। मान लिजिए कुटुम्ब में कोई कष्ट हो गया, व्याधी हो गयी, विदेश यात्रा या बीमारी हो गयी तो कई दिनों तक वेद न पढ़ पाने से कुछ स्वर ऊँचा-नीचा हो जाता हैं। जैसा कि संगीत में होता है। अगर कई महीनों तक अभ्यास नहीं किया तो विराग हो जाता है। वैसा ही वेद में भी होता है। ऐसी परिस्थिति में रक्षण करने के लिए ही वेद प्रातिशाख्य बना है। यह स्वर ऐसा होने पर यह होता है। ऐसा निर्धारित करके रखते हैं। वेद की सभी शाखाएँ लक्ष्य ग्रन्थ है। उन लक्ष्य ग्रन्थों को बचाने के लिए लक्षण ग्रन्थों की, प्रातिशाख्य ग्रन्थों की ज़रूरत है ही। अगर कोई कहे मैं गुरुमुख से पढ़ा हूँ तो ठीक है हम गुरू परम्परा को आदर देते हैं लेकिन वह वही है, ऐसा हम प्रमाणिक रूप से नहीं रह सकते।

मेरे गुरू जी कुम्भकोणम् (तमिलनाडु) में थे। उनका नाम धर्मराज श्रौती था। कुम्भकोणम् बड़ा क्षेत्र है। चेन्नई से २०० कि. मी. दूरी पर रामेश्वरम् के रास्ते पर कुम्भेश्वरम् नाम की जगह है। यहाँ की वेद पाठशाला को बने ५०० वर्ष हो गये हैं। जिसमें सभी वेदों के लगभग ३०० विद्यार्थी हैं।

श्रीधर अड़ी

श्रीधर अड़ी उन बिरले अथर्ववेदियों में है जो अपनी अथर्ववेद की विद्या का उपयोग चिकित्सा के लिए करते हैं। अड़ी जी अत्यन्त उत्साह से खनकती आवाज़ में बातचीत कर रहे थे। अपनी विद्या पर ऐसा विश्वास कम ही देखने को मिलता है। जब मैं गोकर्ण, कर्णाटक में उनसे मिलने उनके घर पर पहुँची, बातचीत के दौरन श्री अड़ी ने मुझे कई यन्त्र दिखलाये जिनका उपयोग वे चिकित्सा के लिये करते हैं। उनके अथर्ववेद पाठ में ओजगुण सहज ही लक्षित किया जा सकता था।

संगीता - अथर्व ऋषि के जो मन्त्र हैं, वे अथर्ववेद में है। ऋषि तो दूसरे वेदों में भी हैं, यह स्वतन्त्र वेद कैसे बना, यह मेरी जिज्ञासा है।

अड़ी - ऋग्वेद का साहित्य या जिन्हें हम ऋषि मन्त्र कहते हैं, उनमें चारों वेदों का उल्लेख मिलता है। यह अथर्व

ऋषि के द्वारा प्रचलित हुआ इसलिए इसे अथर्ववेद कहते हैं। 'न थरवति इति अथर्व' जिसका चित्त स्थिर हो, जिसकी इन्द्रियाँ और मन नियन्त्रण में हो, स्थिर हो, वही अथर्व है। अंगीरस और अथर्व ये दो ऋषि हैं। अंगीरस का गोपथ ब्राह्मण में उल्लेख आता है कि अथर्व और औषधि और रसों (पारा) के मेल से ही दिव्य मणिमन्त्र का प्रादुर्भाव होता है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है, 'रसऔषधिनां ' रस और औषधि के मिलने से पारा अर्थात मणि बनता है। वह आलौकिक अनुभूति देता है। उसके पास रहने से साँप डसेगा नहीं।

संगीता - यह जो अथर्ववेद का निरूक्त है, 'न थरवति इति अथर्व' क्या इस निरूक्त का प्रभाव अथर्ववेद के उच्चारण पर भी है?

अड़ी - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित अथर्ववेद में भी वैसे ही है जैसे अन्य वेदों में। हाँ अर्ध प्लुत मात्रा का उच्चारण इसमें विशेष रूप से कहीं-कहीं होता है जैसे - 'न्यग्वाहुवेद तन्त्वेऽद्य' यहाँ न्यग्वा और तन्वे के उच्चारण में अर्धप्लुत मात्राएँ हैं।

संगीता - अथर्ववेद में कितने मन्त्र हैं?

अड़ी - लगभग छः हज़ार सात सौ मन्त्र हैं।

संगीता - सभी पाठ्य हैं?

अड़ी - सभी छन्दोबद्ध हैं और पाठ्य हैं।

संगीता - कुछ अंश गद्यात्मक भी हैं।

अड़ी - जितना भी गद्य है, वह सब छन्दोबद्ध है। उसमें एक प्रहल्लिका आती है, जिसमें स्वर नहीं है, वह गद्यात्मक है जैसे, 'अभिप्रवसुरादि संहिता' ऐसे सौ-डेढ़ सौ उदाहरण हैं। अर्थवेद में पदपाठ परम्परा नहीं है। अर्थ को समझने के लिए पदपाठ होता है पर अर्थवेद में पदपाठ की परम्परा नहीं है। उसमें सिर्फ संहिता पाठ है, विकृति नहीं है। संहिता पाठ में ही सारी चीज़ें उपलब्ध हो जाती हैं। उसका पाठ हम 'अर्थकामना' से नहीं करते। अगर किसी को कोई रोग है शान्ति नहीं मिल रही तो 'शान्ति मन्त्र' का पाठ करने से शान्ति मिलती है और रोग दूर होता है। वहाँ हम 'अर्थकामना' नहीं करते। थोड़ा भी लोभ होगा तो मन्त्र प्रभाव नहीं करेगा।

संगीता - आप अथर्ववेद में तन्त्र का प्रयोग करते हैं ?

अड़ी - अनिवार्य प्रसंग में करना होता है। इसमें ऐसा तन्त्र है, जिससे देवी-देवताओं की चिकित्सा होती है। जो महत् देवता हैं जैसे पार्वती-शिव, विष्णु उनके लिए चिकित्सा नहीं होती पर जैसे विष्णु-परिवार का कोई उपदेवता हो जैसे यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, भूत को किसी ने बाँध लिया हो या बाधा डाली हो तो उसमें अथर्ववेद के मन्त्र का प्रयोग होता है।

उपदेवता का छोटे प्रदेश में प्रभाव रहता है जिस हिस्से के वे देवता होते हैं। उपदेवता को मन्त्र पढ़कर जब

हम शक्तिशाली बना देते हैं, वे आशीर्वाद देते हैं, 'हे पण्डित मैं शक्तिशाली हो गया, आशीर्वाद देता हूँ।' ऐसे मेरे पास १०-१५ केस हैं। जैसे नाग होते हैं उनमें अद्‌भुत शक्ति रहती है। लोग उनका मुँह बाँध देते हैं, सताते हैं। ऐसे समय में अथर्ववेद के मन्त्र से मैं उनकी रक्षा करता हूँ। फिर कहता हूँ नागदेव हमें आपका आशीर्वाद चाहिए, वे आशीर्वाद देते हैं। यह कितना सुन्दर है। इसलिए मैं किसी की परवाह नहीं करता। एक यक्षी है, आश्चर्य की बात है कि वो हर जगह आग लगा देती है। लोगों को पता नहीं चलता और आग लग जाती है। एक व्यक्ति को आग का बहुत प्रभाव हुआ, उसके यहाँ हर जगह आग ही आग लग गयी। पण्डित जी उसके यहाँ हवन करने गये तो वहाँ भी आग लग गयी। वो मुझसे मिला तो मैंने शारदा के मन्दिर में प्रार्थना की - 'अयं या परमेष्ठिनी वाग्वेदी ...' क्योंकि सब कुछ वाणी से ही होता है। अगर किसी से कुछ गलत उच्चारण हो जाता है तो जिस वाणी से ग़लत उच्चारण हुआ है, उसी से सुधार भी हो जाता है। 'शान्ति सूक्त' की सात बार आवृत्ति करने से सब कुछ शान्त रहता है। (श्री अड़ी 'शान्ति सूक्त' गाकर सुनाते हैं) इसी तरह 'पर्जन्य सूक्त' है। इसे सात दिन तक पढ़ने से निश्चित है कि धारा प्रवाह बारिश होती है।

संगीता - ऋग्वेद में भी 'पर्जन्य सूक्त' है ?

अड़ी - हाँ ऋग्वेद और अथर्ववेद के 'पर्जन्य सूक्त' में अन्तर है। अथर्ववेद में यह कहा गया है कि आकाश मेघों का उत्पादन करे। हे मरूतगण, आक्रमण करो, जल रूपी ख़ज़ाने को ऊपर ले जाओ। कृश रश्मि वाला होकर सूर्य बादल में छुप जाए इस प्रकार के आदेश हैं। किन्तु ऋग्वेद में आदेश नहीं है। यह कितना सुन्दर वर्णन है। हमारे पड़ोस में एक चिकित्सक रहते हैं उन्होंने टेलीविज़न में देखा होगा कि कहीं पर बारिश नहीं होगी तकलीफ़ होने वाली है तो मेरे पास आये और बोले कि अड़ी जी वहाँ के लिए मन्त्र पढ़ दीजिये। केवल 'वैश्वदेव सूक्त' दस बार पढ़ने से घर जाते-जाते तक बारिश हो जाती है। सात दिन तक लगातार धड़ धड़ धड़ धड़ बारिश होती है। वे चिकित्सक परोपकारी हैं। देखते हैं कि कहीं तकलीफ हो रही है, लोग मर रहे हैं जाकर सारी सामग्री ले आते हैं और मेरे पास आ जाते हैं कि अड़ी जी 'पर्जन्य' होना चाहिए। बारिश होती है, पक्का है, संदेह नहीं है। वे यहीं गोकर्ण में मेरे पड़ोस में रहते हैं। बारिश में यह सूक्त नहीं पढ़ना चाहिए। पर हाँ एक बात है कि कभी भी पढ़ सकते हैं। मुझे इन मन्त्रों पर पक्का विश्वास है। एक बार बल्लारी में हमने 'सांग्रामिक मन्त्रों' का पाठ किया। 'इन्द्रोजयति' उच्च घोष से मन्त्रों का मैंने कुछ छात्रों के साथ पाठ किया, वहाँ के हाथी भ्रमित हो गये और हूँ-हूँ करके चिल्लाने लगे क्योंकि इन मन्त्रों का परिणाम होता है। सूक्तों से साँप भी एकदम शान्त हो जाते हैं। इस सूक्त में साँप को दाँत वाला रज्जू कहा गया है। इससे 'सर्पादि स्तम्भनम्' हो जाता है। यदि सर्प का मुँह खुला हुआ हो तो खुला रहे, बन्द हो तो बन्द ही रहे। चोरों और तस्करों के लिए भी मन्त्र है, उनका भी 'स्तम्भनम्' हो जाता है। लोग सोचते हैं मानना है कि नहीं मानना है। मानना है मानो, न मानना है मत मानो पर हम मानते हैं।

आधुनिक सभ्यता का अर्थ

रामनोहर लोहिया

एक बार मैंने अमरीका के एक दार्शनिक स्कॉट बुकानन से पूछा कि आधुनिक सभ्यता का अर्थ क्या है? उस समय पेरिस की ऊँची और सुन्दर इमारतें मेरे सामने खड़ी थीं और पेरिस के स्वस्थ और सुन्दर स्त्री-पुरुषों के चलने-फिरने का आकर्षक दृश्य मेरे सामने था। अपने देश और एशिया-अफ्रीका की आज की हालत पर सोचता हुआ मैं कुछ उदास था। सवाल में आत्मचिन्तन अधिक था। आधुनिक सभ्यता का भेद क्या है? उसका रहस्य किसमें है? किस चीज़ ने यूरोप और उसके अमरीकी उत्तराधिकारी को इस योग्य बनाया कि वह यह सब निर्माण कर सके? उस समय हम एक चायखाने में बैठे थे जिसके पास मेग्दलीन का गिरजा था। ईसा और मेग्दलीन को कौन नहीं जानता, मेग्दलीन जिसे दुनिया पहले वेश्या कहती थी और ईसा के स्पर्श के बाद जिसे सन्त मानकर पूजती आयी है। यह मेग्दलीन के सम्मान और स्मृति में बनाया हुआ गिरजा था जिसकी सुन्दर और महान कथा यह बताती है कि हर आदमी दूसरों के बराबर है और यह कि वेश्या और सन्त बुनियादी तौर पर एक ही हैं।

बुकानन ने मेरे सवाल के जवाब में सिर्फ़ गिरजे की ओर इशारा कर दिया, जो दो हज़ार वर्ष पूर्व होने वाली मेग्दलीन की कहानी कहता है लेकिन जहाँ अट्ठारह सौ वर्ष बाद पेरिस की सबसे सुन्दर लड़की को बुद्धि की देवी की उपाधि दी गयी थी। ये फ्राँसीसी क्रान्तिकारी अनीश्वरवादी थे। उन्होंने पादरियों, गिरजाघरों और ईश्वर सभी को खत्म कर दिया था। यूरोपीय सभ्यता के दो रहस्य मेरे सामने थे, मनुष्य की प्रतिष्ठा में आध्यात्मिक विश्वास और विज्ञान में बुद्धिवादी विश्वास, दोनों इस हद तक कि एक-दूसरे को काट देते हैं। आधुनिक यूरोप की आत्मा ने इन दो रहस्यों को प्रकट करने की कोशिश की है और अब तक दोनों की आपसी प्रक्रिया से उसे सहायता मिलती रही है लेकिन उनमें अन्तर्निहित विभेद हमेशा कायम रहा और अब स्पष्ट सामने है। मनुष्य की प्रतिष्ठा और विज्ञान की इस द्वैतवादी कोशिश और उससे उत्पन्न होने वाले तनाव और शक्तियों के विचार में बहुत-कुछ तथ्य हो सकता है। इन शक्तियों

ने ठोस सफलताएँ प्राप्त कीं और शुरू में ही अपने-आप क्षय-ग्रस्त नहीं हुईं, इसका कारण यह हो सकता है कि यूरोप ने विज्ञान की एक अपेक्षतया अद्वैत भक्ति को स्वीकार किया, साधारण विज्ञान की नहीं बल्कि विज्ञान के उस विशिष्ट रूप की जो उसके अपने इतिहास के क्रम में विकसित हुआ। विज्ञान, विशेषतः अपने व्यावहारिक रूपों में विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों से अनिवार्य ही सम्बद्ध होता है और हमारे युग के अज्ञान का यह भी एक लक्षण है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण और उसके ठोस प्रयोगों को अक्सर पर्यायवाची माना जाता है। यूरोपीय सभ्यता अब शायद अपने इस द्वैत-अद्वैत पर और आगे नहीं चल सकती।

किसी सभ्यता की ऐसी व्याख्याओं से उस पर अचानक बड़ा प्रकाश पड़ता है, लेकिन फिर अँधेरा हो जाता है और इस कारण ऐसी व्याख्याएँ पूरी तरह सन्तोषजनक नहीं होतीं। ज़िन्दगी की भौतिक सुविधाओं के साथ-साथ प्रतिष्ठा और समानता की इच्छा सभी सभ्यताओं में समान रूप से होती है, उसी तरह जैसे जीवन के अर्थ की खोज। किसी खास सभ्यता की विशेषताएँ रोज़मर्रा की बातों का अध्ययन करने से मिलती हैं, यद्यपि मेग्दलीन के गिरजे जैसी कहानियों का वैपरीत्य भी एक व्यापक ढँग से विशिष्टता प्रकट करता है। आधुनिक सभ्यता की विशिष्टता एक खास तरह के बुद्धिवाद से, खेती और कारखानों में विज्ञान के खास ढँग के प्रयोग से उत्पन्न होती है। इस सभ्यता में एक क्रान्तिकारी प्रौद्योगिकी रही है जिसमें मशीनें हर रोज़ बदलती हैं और उत्पादकता बराबर बढ़ती जाती है। आज भी अमरीका और रूस जैसे देशों में, जहाँ प्रगति रुकी नहीं है, प्रौद्योगिकी क्रान्तिकारी है। मनुष्य की किसी अन्य सभ्यता में ऐसा नहीं था। औज़ार बमुश्किल कभी बदलते थे। हिन्दुस्तान के किसान का हल पिछले दो हज़ार सालों से वही रहा है, लेकिन पिछले तीन सौ सालों में पश्चिमी यूरोप का आदमी बराबर अपने औज़ारों को बदलता और बढ़ाता रहा है। मानव-इतिहास के पिछले दो सौ सालों में औज़ार बढ़ते और बहुगुणित होते रहे हैं और उनमें निरन्तर सुधार होता रहा है। यह सभ्यता खेती और कारखानों में विज्ञान के एक खास ढँग के फलस्वरूप एक क्रान्तिकारी मशीनी ढँग की सभ्यता है। इस विज्ञान से बड़े पैमाने पर पैदावार, बड़े-बड़े कारखानों की संख्या में निरन्तर वृद्धि और पूँजी का बराबर बढ़ता हुआ केन्द्रीकरण हुआ है जिसमें हर मज़दूर के पीछे लगी हुई पूँजी बराबर बढ़ती जाती है।

ऐसे विज्ञान से चालित इस सभ्यता का लक्ष्य है सामूहिक स्तर पर बढ़ता हुआ राष्ट्रीय उत्पादन और व्यक्तिगत रूप में रहन-सहन का बढ़ता हुआ स्तर। अपने अन्तरतम में, इस सभ्यता के व्यक्ति को एक अच्छे घर और उसके साथ पत्नी या पति और बच्चों की इच्छा चालित करती और उसके जीवन को सार्थक बनाती है। पिछली सभ्यताओं में परिवार शान्ति और सामाजिक एकता की रक्षा का साधन हो सकता था लेकिन उसकी भूमिका उतनी प्रभावशाली और गतिशील नहीं हो सकती थी जितनी कि आज है। परिवार आधुनिक मनुष्य को आर्थिक श्रम के लिए, पत्नी और बच्चों के लिए एक अच्छा घर हासिल करने को प्रेरित करता है, और इस प्रकार बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन का राष्ट्रीय लक्ष्य और बढ़ते हुए रहन-सहन के स्तर का व्यक्तिगत लक्ष्य अन्ततोगत्वा परिवार की इच्छा के साथ बँधा हुआ है। अन्तिम विश्लेषण में क्रान्तिकारी मशीनी ढँग का भावनात्मक आधार घर की इच्छा ही में है। अपने भावनात्मक दृष्टिकोण में रूसी और अमरीकी दोनों का रुख निस्संदेह एक-सा ही है। सम्पत्ति की मिल्कियत की व्यवस्था दोनों समाजों में चाहे जितनी भी भिन्न हो, अमरीकी और रूसी दोनों के ही दिलों में आरामदेह घर और रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर की इच्छा होती है जिस पर बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन का सारा ढाँचा खड़ा है। किसी भी पिछली मानवी सभ्यता में आधुनिक मनुष्य की इस भावात्मक ग्रन्थि के समान कोई चीज़ नहीं रही और आधुनिक सभ्यता की इस खास विशेषता में पूँजीवादी अमरीकी और कम्युनिस्ट रूसी जुड़वाँ भाई हैं।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और व्यक्तिगत भावना के साथ जुड़ी हुई, विश्व-शान्ति और समानता की अस्पष्ट भावना है जो आधुनिक मनुष्य की विशेषता है। ऐसी अस्पष्ट भावनाएँ सारे इतिहास में मनुष्य को प्रेरित करती रही हैं, लेकिन आधुनिक सभ्यता में उन्होंने पहली बार एक बुद्धिवादी-सा दिखने वाला आधार हासिल किया है। पूँजीवाद और साम्यवाद दोनों ने ही उस स्वर्ण युग की कल्पना की है और अब भी करते हैं, जब बढ़ते हुए औद्योगीकरण, रहन-सहन के स्तर में सुधार, और बढ़ते हुए राष्ट्रीय उत्पादन से सारी दुनिया नज़दीकी मित्रताओं में बँध जाएगी और युद्ध समाप्त हो जाएँगे। पिछली दो सदियों में यूरोपीय लोगों के रहन-सहन के स्तर में ठोस वृद्धि ने उन्हें यह विश्वास दिला दिया कि समाज स्वाभाविक रूप से राष्ट्रीय स्तर पर सामाजिक और आर्थिक समानता की ओर विकसित हो रहा है और धीरे-धीरे सारी दुनिया में भी ऐसा हो जाएगा। यह मान लिया गया है कि बढ़ते हुए मशीनी विकास और सारी दुनिया के एक ही आर्थिक बाज़ार बनने की ओर आगे बढ़ती हुई आधुनिक सभ्यता, औपनिवेशिक देशों में भी, आर्थिक पिछड़ेपन को दूर कर देगी और अपने फ़ायदों को सारी दुनिया में फैला देगी। खेती और कारखानों में विज्ञान के एक स्थायी रूप में क्रान्तिकारी प्रयोग के साथ पूँजी का बढ़ता हुआ केन्द्रीकरण, सामूहिक रूप से बढ़ता हुआ राष्ट्रीय उत्पादन, व्यक्तिगत रूप में रहन-सहन का बढ़ता हुआ स्तर और सामाजिक समानता तथा विश्व-शान्ति के लिए बुद्धिवादी प्रतीत होने वाली आकांक्षा आधुनिक सभ्यता की विशिष्ट प्रेरणाएँ रही हैं।

लेकिन यह सभ्यता अब अपनी राह के अन्त तक पहुँच गयी है। सारी दुनिया में फैलने की अपनी शक्ति उसने खो दी है। शायद पिछली सभ्यताओं की तरह इसमें भी कभी यह शक्ति थी ही नहीं और सार्वभौमिकता के गुण की जो आशा पहले इससे जगी थी, वह भ्रामक सिद्ध हुई है। यूरोप में होने वाली औद्योगिक क्रान्ति और उसके बाद की बातें एक विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति का अंग थीं जो एशिया और अफ्रीका में दुहरायी नहीं जा सकतीं। बहुत थोड़ी ज़मीन, बहुत अधिक आदमी, बहुत थोड़े औज़ार एशिया की एक विशेषता है और इस कारण बड़े पैमाने की पैदावार के मशीनी ढँग का प्रयोग बिल्कुल असम्भव है। हिन्दुस्तान में आबादी का घनत्व ३०० व्यक्ति फी वर्गमील है जबकि रूस का घनत्व अभी २० व्यक्ति फी वर्गमील भी नहीं पहुँचा। रूस की तरह रोटी का सवाल हल करने की साम्यवादी क्षमता की हवाई बातें तीन सौ के विरुद्ध बीस के इन ठोस आँकड़ों की दृष्टि में निरर्थक हैं। राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का सम्बन्ध ठोस ऐतिहासिक स्थितियों से होना चाहिए और इससे दुःखद बात और कोई नहीं हो सकती कि पूँजीवाद या साम्यवाद या समाजवाद को भी इतिहास और भूगोल से असम्बद्ध रखकर सोचा जाए। मौजूदा प्रौद्योगिकी, जो बाकी दुनिया पर यूरोप के साम्राज्यवादी नियन्त्रण के कारण सम्भव हुई, अब जारी नहीं रखी जा सकती। उदाहरण के लिए, यूरोप में उद्योग-धन्धों के विकास के एक आधार, बेसमर प्रक्रिया के फल स्वेज नहर खुलने पर प्राप्त हुए और स्वेज नहर समृद्धि का साधन तब बनी जब भारत की खेती के एक अंग का व्यवसायीकरण कर दिया गया। यह ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार चला कि पश्चिमी यूरोप में हर औद्योगिक और मशीनी विकास के समकक्ष, जिसके फलस्वरूप पूँजी का अधिकाधिक केन्द्रीकरण हुआ, साम्राज्य-उपनिवेश सम्बन्धों में भी सम्बद्ध प्रक्रिया चली। आधुनिक यूरोप की प्रौद्योगिकी मूल रूप में एक साम्राज्यवादी प्रौद्योगिकी है और उसे सारी दुनिया में लागू नहीं किया जा सकता, बशर्ते कि अन्य ग्रहों पर बहुत से उपनिवेश न मिल जाएँ।

आधुनिक सभ्यता अपनी प्रभुता के क्षेत्र में भी अपने अस्त पर पहुँच गयी है। अब यूरोपीय व्यक्ति रहन-सहन के बढ़ते हुए स्तर की अपनी भूख मिटाने में असमर्थ है। पिछले चालीस वर्ष या अधिक समय से फ्रांस में स्थिरता रही है। पिछले लगभग बीस वर्षों से इंगलिस्तान में जीवन-स्तर के अनुपात में उत्पादकता बिल्कुल नहीं बढ़ी। इस सभ्यता का

राजा और उसकी शान, पश्चिमी यूरोप, दौड़ में पीछे रह गया है और आज उसकी स्थिति बहुत कुछ वही है जो पिछली दो सदियों में यूरोप के सन्दर्भ में एशिया की रही है। यूरोप के बारे में एशिया जो कुछ सोचता था आज यूरोप वही अमरीका के बारे में सोचता है। अपने विकास के प्रथम और मुख्य स्थान में आधुनिक सभ्यता अपने मार्ग के अन्त पर आ गयी है, इस दृष्टि से कि प्रौद्योगिकी अब क्रान्तिकारी नहीं रही, उपभोग की वस्तुओं के कुल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि नहीं होती और यद्यपि रहन-सहन के स्तर में वृद्धि की आकांक्षा बराबर मौजूद रहती है, लेकिन अब कोशिश सिर्फ़ इसी की होती है कि मौजूदा स्तरों को अधिक मेहनत करके और कष्ट उठाकर भी कायम रखा जाए। इसके अलावा, आधुनिक सभ्यता के गोरे लोगों में इस हद तक आर्थिक और सामाजिक समानता तो हासिल कर ली गयी है कि सभी पिछड़ी सभ्यताओं को उसके आगे झुकना पड़ेगा, लेकिन मूल स्रोत अब सूखता मालूम पड़ता है। व्यक्ति की गरिमा के रूप में जो कुछ शुरू हुआ था, वह अब केवल एक अंक और एक बिल्ला मात्र रह गया है। यूरोप में आज व्यक्ति की यही हालत हो गयी है। वह न केवल कैदी होने पर ही एक अंक रह जाता है, बल्कि जीवन के सभी अंगों में उसकी वही स्थिति है। व्यक्ति की गरिमा से शुरू होकर, ऐसा मालूम पड़ता है कि सभ्यता पूरा चक्कर चलकर उस जगह आ गयी है जहाँ व्यक्ति समूह की मशीन के एक पुर्जे से अधिक कुछ नहीं रह गया। हो सकता है कि आर्थिक और सामाजिक समानता की खोज में आधुनिक सभ्यता आध्यात्मिक समानता का विचार रखना भूल गयी। अब यह अपने ही बोझ से टूट रही है, उसी तरह जैसे पिछली मानवी सभ्यताएँ जिन्होंने आध्यात्मिक समानता की अपूर्व ऊँचाइयाँ हासिल की थीं, टूट गयीं क्योंकि वे गिर कर सामाजिक और आर्थिक विषमता की बुरी-से-बुरी अतियों में फँस गयी थीं। अगर पिछली सभ्यताएँ आध्यात्मिक समानता और सामाजिक विषमता के अनमेल बोझ से टूट रही हैं। इसलिए कि क्रान्तिकारी प्रौद्योगिकी के अत्यधिक विकास से आधुनिक मनुष्य उस मानसिक स्थिति में पहुँच गया है जहाँ वह अन्य मनुष्यों के साथ प्रत्यक्ष और नज़दीकी अपनापन नहीं महसूस कर पाता।

आधुनिक सभ्यता का रुझान शुरू में चाहे जो भी रहा हो, अब वह एक ऐसी उलझी हुई व्यवस्था बन गयी है जिसमें दूरस्थ फल का उत्पादन, दूरस्थ उत्पादन के औज़ार, दूरस्थ अप्रत्यक्ष व्यवहार का लोकतन्त्र और यहाँ तक कि दूरस्थ औचित्य का वर्ग-संघर्ष होता है। आधुनिक सभ्यता में रोक और नियन्त्रण तात्कालिक नहीं बल्कि दूरस्थ होते हैं। चाहे कारखाने की पैदावार हो, वर्ग-संघर्ष हो या लोकतन्त्र, यह बात कसौटी पर पूरी तरह परखी जा सकती है। वर्ग-संघर्ष को इस तरह विकृत कर दिया गया है कि गलती का परिणाम सचाई, हत्या का स्वास्थ्य, लोकतन्त्र की मृत्यु का लोकतन्त्र की पूर्णता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के बलिदान का परिणाम विश्व-एकता आदि सिद्ध किया जा सकता है। ऐसी हालत में आदमी तात्कालिक परख की कसौटी को छोड़ देता है और सिर्फ आने वाले स्वर्ण युग की सोचता है। उस स्वर्ण युग की सेवा में आदमी सभी तात्कालिक औचित्यों का बलिदान करने को तैयार हो जाता है और दूरस्थ कसौटियों का सेवक बन जाता है। लक्ष्य-प्राप्ति की नेकनीयत लेकिन झूठी आशा में बुराई के साथ एक बड़ा जुआ खेला जाता है। नयी सभ्यता दूरस्थ कसौटियों के विश्वास को खत्म कर देगी और सभी कुछ में प्रत्यक्ष साक्षात्कार का सिद्धान्त लागू होगा।

शायद दूरस्थ कसौटियों पर अपने अटल विश्वास के कारण ही आधुनिक दुनिया ने भयावह प्रकार की द्विविधाओं और विरोधों को जन्म दिया है, जैसे प्रकृति और पुरुष, व्यक्ति और समाज, रोटी और संस्कृति इत्यादि। ऐसे हर जोड़े में जो विरोध मान लिया गया है, वह बनावटी और अयथार्थ है। जहाँ तक प्रकृति और पुरुष का सवाल है, मुझे उनमें कोई विरोध नहीं नज़र आता सिवाय इसके कि आम तौर पर मुझे भौतिकवादियों के बीच परेशानी होती है और मैं

अध्यात्मवादी बन जाना चाहता हूँ और अध्यात्मवादियों के बीच भी उतना ही परेशान होता हूँ और भौतिकवादियों की तरह सोचने लगता हूँ। ये द्विविधाएँ आधुनिक दिमाग का एक बड़ा रोग हैं जिसने विचार के क्षेत्र में कुछ प्रेत पैदा कर दिए हैं जिनका संहार करने में वह असमर्थ है। ये द्विविधाएँ इस कारण उत्पन्न हुई हैं कि प्रत्यक्ष साक्षात्कार की उपेक्षा की जाती है, इतिहास कथाओं के विरुद्ध है और कथाएँ इतिहास के।

हिन्दुस्तान में ऐसा कौन है जो अशोक या बुद्ध या अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों की अपेक्षा राम और शिव की कथा ज़्यादा अच्छी तरह नहीं जानता। राम शायद एक काल्पनिक व्यक्ति थे और शिव निश्चय ही कल्पना की उपज हैं। फिर भी हिन्दुस्तान के लोगों के दिमाग पर उनका कितना बड़ा असर है। उनके असर की तुलना में ऐतिहासिक व्यक्तियों की कोई गिनती ही नहीं। दूसरे देशों में भी कथाएँ और पुराकथाएँ हैं। यूरोपीय लोगों के लिए अपोलो और डायोनीसियस या कोई स्थानीय ब्रुनहिल्दे हैं। कभी-कभी ऐतिहासिक व्यक्ति भी कल्पना की अग्नि में पड़कर पौराणिक बन जाते हैं। ऐसे एक व्यक्ति अरब के हुसेन हैं, जो शिया लोगों में ईश्वर से भी अधिक प्यार और बलिदान की भावना उत्पन्न कर सकते हैं। ईश्वर की निन्दा शिया सुन लेगा, लेकिन उसके सामने हुसेन की निन्दा करने की गलती कभी न करनी चाहिए। सारी दुनिया में ही इनसान के दिमाग ने कथाओं और पुराकथाओं का सृजन किया है।

मुझमें स्वयं शिव की कथा के प्रति बहुत अधिक आकर्षण है शायद इस कारण कि इनसान का दिमाग इसी एक ऐसे व्यक्ति को जानता है जो किन्हीं सीमाओं में बँधा हुआ नहीं है या यह कि उसके हर कार्य का औचित्य स्वयं उस कार्य में ही है या पार्वती के साथ उनके सम्बन्धों के असंख्य रूपों और रंगों के कारण। स्त्री और पुरुष के बीच प्रेम की इससे अधिक आकर्षक और दिलचस्प कथा मैं नहीं जानता। या शायद यह प्रेम देवी और देवता के बीच था, इससे कोई फ़र्क नहीं पड़ता। स्त्री और देवी में अधिक अन्तर नहीं होता, और अगर किसी को कोई सन्देह हो तो वह काहिरा का अजायबघर जाकर देख सकता है, जो बहुत प्राचीन लेकिन उद्वेलित कर देने वाली वस्तुओं और स्मृतियों का अद्वितीय भण्डार है। ४००० वर्ष पहले मरने वाले तुख़मान की समाधि पर जिसका शरीर अब भी ताबूत में बन्द है, शोक के कारण विचारपूर्ण मुद्रा में लेकिन एक पैर थोड़ा-सा उठाये, अपने गोल अंगों में अनुपम सौन्दर्य भरे देवी आइसिस की छोटी-सी मूर्ति देखकर खून में एक ऐसा पागलपन दौड़ जाएगा जिसकी कोमल उष्णता हमेशा बनी रहेगी। कोई मनुष्य नहीं जिसके मन में उसे देखकर यह भावना न पैदा हो जिसे ''मनुष्य प्यार कहते हैं और देवता व्यभिचार।'' इन कथाओं और पुराकथाओं में क्या आकर्षण है कि दिमाग में इनका स्थान इतिहास से भी अधिक है? ये किसी अनश्वर वस्तु की बात कहती हैं जिसका रूप और शक्ल बदल सकती है, लेकिन जो सार रूप में हमेशा वही रहेगी। विचारों में ये सारी सृष्टि के साथ प्यार और सहानुभूति और हमदर्दी और एकता प्राप्त करती हैं।

हर क्षण प्रवाह भी है और शाश्वत भी। मनुष्यों ने अब तक क्षण के इन दो अलग रूपों को न पहचानने की गलती की है। इतिहास के सभी दार्शनिकों ने, जो आने वाले स्वर्ण युग के बारे में सोचते रहे हैं, क्षण को केवल प्रवाह रूप में देखा है और उसके शाश्वत स्वरूप को भूल गए हैं। सभी नीतिज्ञों ने जो व्यक्ति के चरित्र और उच्च आदर्शों के उपदेश देने की कोशिश करते रहे हैं, क्षण को शाश्वत रूप में ही देखा है और उसके प्रवाह की ओर ध्यान देना भूल गए। लेकिन क्षण प्रवाह भी है और शाश्वत भी। प्रवाह रूप में वह इतिहास के क्षेत्र में है, वह क्षेत्र जहाँ चालक शक्तियों को खोजकर उन्हें रोका या बढ़ाया जा सकता है। शाश्वत रूप में उसका क्षेत्र कथाएँ और पुराकथाएँ, साहित्य और कला, धर्म और दर्शन हैं। इतिहास की कोई भी व्याख्या जो केवल यथार्थ घटनाओं का ही ध्यान रखती है, एकतरफा होगी। अगर इतिहास जीवन का महान गद्य है तो कथाएँ और पुराकथाएँ उसका काव्य हैं और कथा का सम्बन्ध पुराकथा से

वही है जो गीत का महाकाव्य से। जीवन के महान गद्य से बहुत कुछ सीखना है और उसके वर्णन में अनुक्रम भी हो सकता है। लेकिन इस क्रम का कोई मूल्य नहीं, अगर उसे एक ऐसे तत्त्व से चमकाया नहीं जाता जो इतिहास के क्षेत्र से बाहर है। इतिहास को युगों में बाँटने का दृष्टिकोण अब भी सही साबित हो सकता है, न सिर्फ़ उस गद्य से, जिससे वह बना है, बल्कि उस दुःखद स्थिरता से भी जिसने चक्र सिद्धान्त को जन्म दिया। मनुष्य के भाग्य को न सिर्फ़ इतिहास के पृष्ठों में पढ़ना होगा, बल्कि हर क्षण की अनश्वर शाश्वतता में भी जो इतने शानदार ढँग से ऐसी कहानियों में अंकित है, जो कभी होती नहीं, फिर भी हमेशा के लिए सच हैं। अगर यह ज़रूरी है कि मनुष्य इतिहास में रहना सीखे तो उसे इतिहास के बाहर रहने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

अगर मनुष्य के लिए यह सम्भव हो कि वह अपने जीवन में क्षण के इन दो पहलुओं को मिला सके और एक नयी सभ्यता प्राप्त कर सके, तो सचमुच एक स्वर्ण युग आ सकता है, लेकिन यह स्वर्ण युग बिल्कुल भविष्य का ही नहीं होगा। मानवी विकास में भविष्य के स्वर्ण युग का विचार वैसा ही है जैसे कोई लालची मनुष्य जो वर्तमान में इस आशा से कष्ट उठाता है कि सुदूर भविष्य में कभी अमीर हो जाएगा। यह विचार क्षण के शाश्वत रूप से बिल्कुल इनकार करता है, और साथ ही व्यक्ति के महत्त्व से भी, जबकि वह कला और साहित्य, कथा और पुराकथा, धर्म और दर्शन के द्वारा स्थापित हो चुका है। व्यक्ति चाहे वह किसी भी देश या युग का हो, सौन्दर्य और विश्वास तथा प्रेम के आदर्श और आकाँक्षाएँ व्यक्त करना चाहेगा और सहानुभूति तथा हमदर्दी और एकात्मकता की ओर बढ़ना चाहेगा। मानव-जीवन के ये प्रतिमान इतिहास के क्षेत्र के बाहर हैं और कोई मूर्ख ही इन्हें उसमें जबरदस्ती बिठाने की कोशिश करेगा।

हम सचमुच एक स्वर्ण युग की ओर बढ़ सकते हैं अगर हम तत्काल ही उसे पाने की कोशिश करें। जिस हद तक हम उसे तत्काल पाते हैं और प्रत्यक्ष साक्षात्कार के सिद्धान्त को व्यवहार में लाते हैं उस हद तक क्षण के लिए प्रवाह और शाश्वत रूपों के बीच कड़ी भी जोड़ी जा सकती है। अगर इन दोनों को अलग-अलग श्रेणियों में रखा गया, एक प्रकृति के क्षेत्र में और दूसरा पुरुष के, तो हमारे ऊपर बड़ी विपत्ति और विनाश आ सकता है। इन्हें एक-दूसरे से जोड़ना पड़ेगा और प्रत्यक्ष साक्षात्कार का सिद्धान्त दोनों को जोड़ने वाली कड़ी है। वर्ग-संघर्ष में, उत्पादन में, विश्व-पंचायत में, और सामीप्य में प्रत्यक्ष साक्षात्कार। प्रत्यक्ष साक्षात्कार के इस सिद्धान्त के अनुसार हर काम का औचित्य स्वयं उसमें ही होता है और यहाँ, अभी जो काम किया जाता है उसका औचित्य सिद्ध करने के लिए बाद के किसी काम का हवाला देने की जरूरत नहीं। हर काम का औचित्य स्वयं उसमें ही होना चाहिए लेकिन इतिहास की चालक शक्तियों को समझने की और उनमें जो सहायक हों उन्हें मनुष्य के भाग्य के हित में बढ़ाने की भी उतनी ही ज़रूरत है। करुणा और क्रान्ति को एक-दूसरे से जोड़ना होगा और एक के बजाय दूसरे का पक्ष लेने से आध्यात्मिकता और भौतिकता दोनों में ही बरबादी होगी।

जो सुदूर भविष्य के स्वर्ण युग में विश्वास करते हैं, वे अक्सर एक अजीब भ्रम के शिकार होते हैं, जिसके फलस्वरूप वे उच्च आदर्शों के लिए नीच काम करते हैं और सोचते हैं कि इन नीच कर्मों का औचित्य सुदूर भविष्य के परिणाम में है। ऐसा स्वर्ण युग कभी नहीं आएगा। लेकिन अगर हम अपने कामों में प्रत्यक्ष साक्षात्कार का सिद्धान्त लागू करें; चाहे पैदावार के बारे में हो या वर्ग-संघर्ष के बारे में, चाहे वर्ग-विहीन और वर्ण-विहीन समाज की स्थापना के बारे में हो चाहे ऐसी मानवता के बारे में जिसमें शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रीय बदलाव न हों तो क्षण के प्रवाह और शाश्वत रूपों को मिलाना सम्भव हो सकता है। यहाँ और अभी स्वर्ण युग प्राप्त करने की कोशिश करके शायद हम अगली पीढ़ी के लिए एक ऐसी हालत मुमकिन बना सकें जिसमें युद्ध, गरीबी और भय न रह जाए।

धार्मिक आन्दोलनों में एकता का आधार

आचार्य नरेन्द्र देव

भारत में इतिहास के आरम्भ से ही विभिन्न जातियों और संस्कृतियों के लोग बाहर से आकर बसते रहे हैं। वे भारतीय समाज में घुल-मिल कर एक हो गये। यहाँ का धर्म उनके बहुत से रीति-रिवाज़ों और विचारों को आत्मसात् करता रहा। विभिन्न समुदाय जीवन व्यापार और रीति-रिवाजों में भिन्नता रखते हुए भी मेलजोल से रहते थे। वस्तुतः भारतीय इतिहास में धार्मिक झगड़ों का अभाव-सा है। इतिहास के लम्बे काल में भारतीय समाज ने अनेकता में एकता का प्रदर्शन किया है। विसेण्ट स्मिथ के शब्दों में ''यह एकता रक्त, रंग, भाषा, वेशभूषा, आचार-विचार और सम्प्रदाय आदि की अगणित विभिन्नताओं के ऊपर प्रतिष्ठित है।''

इस आश्चर्यजनक प्राप्ति का श्रेय हिन्दू धर्म की भावना को है। हिन्दू धर्म किसी विशिष्ट विश्वास पर केन्द्रित नहीं है। यह अपने जीवन दर्शन और जीवन पद्धति को दूसरों पर बरबस लादने में विश्वास नहीं करता। इसमें यह भी नहीं माना जाता कि इसके द्वारा प्रतिपादित मार्ग ही जीवन का एक मात्र सच्चा मार्ग है। इसमें माना जाता है कि सुझाव और स्वभाव की विशिष्टता के कारण लोग विभिन्न सीधे और टेढ़े मार्गों का अनुसरण करते हैं, परन्तु सबका उद्देश्य स्थान एक ही होता है। सच्चाई का प्रकाश अनेक रूपों में प्रकट होता है, अतः किसी एक धर्म को अपने को सच्चाई का एकाधिकार कहने का अधिकार नहीं है।

सम्भवतः हिन्दू धर्म ही एकमात्र ऐसा धर्म है जो यह विश्वास करता है कि अन्य धर्मों के अनुयायियों को भी मुक्ति

प्राप्त हो सकती है। आम तौर पर, एक सत्ता में विश्वास करने वाले धर्म झगड़ालू और संघर्षशील होते हैं और धर्मयुद्ध में विश्वास करते हैं। हिन्दू धर्म वेदान्तदर्शन और 'समस्त जगत ब्रह्ममय है' में विश्वास करता है और इस कारण अन्य धार्मिक विश्वासों के प्रति असहिष्णु न होकर उदार है। धर्मयुद्ध का विचार ही हिन्दू धर्म में नहीं है।

एक ईश्वर में विश्वास करने वाले धर्म भी भारत में हिन्दू धर्म की उदार भावना से प्रभावित रहे हैं। भारत में इस्लाम धर्म पर भी हिन्दू संस्कृति का बहुत प्रभाव पड़ा। मुस्लिम दरवेश और उलेमा कुछ भी विश्वास करें और कुछ भी शिक्षा दें, किन्तु भारत में मुस्लिम जनता का यही विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने बाप-दादा के धर्म का अवलम्बन करना चाहिए। उनमें धार्मिक कट्टरपन का अन्धा जोश नहीं मिलता। इसका एक कारण यह भी है कि उनमें से एक भारी संख्या ने हिन्दू समाज की पतनोन्मुख अवस्था के कारण इस्लाम धर्म कबूल किया है। इस्लाम के धार्मिक सिद्धान्तों में आसक्ति के कारण भारत में इस्लाम मुख्यतः तलवार से नहीं फैला, ऐसा सोचना गलत है। हाँ इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि मुख्यतः आरम्भिक काल में धर्म परिवर्तन के लिए तलवार का भी इस्तेमाल किया गया। परन्तु धर्म परिवर्तन करने वालों में भारी संख्या उन लोगों की है जिन्होंने खुशी से इस्लाम कबूल किया। भारत में इस्लाम और ईसाई धर्मों की धार्मिक आस्था का जनता पर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा है।

इस प्रकार निस्सन्देह हिन्दू धर्म की उदार भावना के कारण ही भारत सांस्कृतिक एकता हासिल करने में सफल हुआ। इसकी विशिष्टताओं की व्याख्या करना कठिन है। इसके विषय में हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि यह कोई विशिष्ट मतवादिक विश्वास नहीं है और न इसका दृष्टिकोण मतविशेष के कारण संकुचित हुआ। इसका दृष्टिकोण अति व्यापक है और इसलिए रीति रिवाजों और कर्मकाण्ड की भिन्नता के प्रति सहिष्णु है। यह बाह्य रूपों को अधिक महत्त्व नहीं देता और मनुष्य के अन्तर में प्रतिष्ठित होता है। यह विभिन्न धर्मों को ईश्वर तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग समझता है। यही ईश्वर की वास्तविक सत्ता है और विभिन्न ऋषि मुनियों ने उसी को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। स्वभाव से यह रहस्यात्मक है और हमारी पकड़ से निकल जाता है।

सभी धर्मों के रहस्यवादी एक ही प्रकार के होते हैं। रहस्यवादियों की आत्मा-परमात्मा विषयक विद्या यद्यपि एक ही प्रकार की नहीं होती परन्तु उनका अनुभव उन्हें सदा उसी जगत में पहुँचाता है जिसमें युग-युग से सभी रहस्यवादी पहुँचे और जिसे इधर-उधर होना उनके लिए असम्भव हो जाता है। रहस्यात्मक अनुभव विशिष्ट विश्वासों और मतमतान्तरों के ऊपर होता है। हिन्दू धर्म की ऐसी ही कुछ खासियत है। यह धर्म सभी मतमतान्तरों और मतवादों से ऊपर है और इसी कारण विभिन्न विश्वासों और पूजन-पद्धतियों को मिलाये हुए है। यह जिन सच्चाईयों की घोषणा करता है वे इसे रहस्यात्मक अनुभव से प्राप्त हुए हैं, जो एक ही सच्चाई को सब जगह देखता है।

भारत में जितने भी विश्वासों और मतों ने जन्म लिया है उन सभी का इससे उद्धार हुआ है, और उन्होंने सभी के प्रति उदारता और मैत्री प्रदर्शित की है। बौद्धमत इसी गुण के कारण दूर-दूर तक फैला और आज मानव जाति का पंचम अंश उसका अनुयायी है। विभिन्न मतावलम्बियों के सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के उद्देश्य से ही विष्णु और बुद्ध को शिव के व्यक्तित्व से अभिन्न करने के प्रयत्न किये गये। हिन्दू धर्म शुद्धि में भी विश्वास नहीं करता। इसका एक कारण इसकी व्यापक उदारता है। हिन्दू धर्म का विश्वास है कि बाह्यावरण किसी भी मत का क्यों न हो,

आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है। हिन्दू धर्म में साधुओं ने अपने मुस्लिम और ईसाई अनुयायियों को भी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग दिखलाया है। यही कारण है कि हिन्दू साधुओं ने अपने मुस्लिम और ईसाई अनुयायियों को आध्यात्मिक साधन को दीक्षा देने पर भी उनके धार्मिक विश्वासों और रीति रिवाजों को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचायी।

हिन्दू धर्म की सहिष्णुता की इस भावना का ही परिणाम था कि मुसीबत के मारे यहूदियों और पारसियों को भारत में आश्रय मिला, जहाँ वे अपने विश्वास और रीतिरिवाजों के अनुसार जीवन व्यतीत कर सकते थे। बाहर से आये हुए धर्म भी हिन्दू धर्म की इस उदार भावना के शक्तिशाली प्रभाव से अछूते न रहे। यह भावना भारतीय वातावरण में समा गयी थी और कोई भी धर्म अधिक समय तक इसके असर की अवहेलना नहीं कर सकता था।

यह परम्परा अन्य के अलावा सम्भवतः अशोक ने प्रतिष्ठित की थी। उसने प्रजा की जानकारी के लिए शिक्षाएँ शिलाओं और स्तूपों पर अंकित करा दी थी। उसके उद्देश्यों का एक मर्म धार्मिक सहिष्णुता थी। वह सब धर्मों का समान रूप से सम्मान करता था। उसका कहना था कि जो दूसरे के धर्म की निन्दा करता है, वह स्वयं अपने धर्म को हानि पहुँचाता है। इस परम्परा का पालन बाद के सभी हिन्दू राजाओं ने किया और दान देने एवं राजकीय सम्मान प्रदान करने में कभी किसी धर्म के विरुद्ध भेदभाव प्रदर्शित नहीं किया।

मुस्लिम बादशाहों को भी अपने राज के स्थायित्व के लिए इसे स्वीकार करना पड़ा। उत्तर पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारी मुसलमान तलवार और आग लेकर यहाँ आये। उनके आक्रमण का उद्देश्य लूटना अथवा भूखण्डों पर कब्ज़ा करना था। उनके विचार कट्टर धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत थे और इसी धर्मान्धता के आधार पर उन्होंने गैरमुसलमानों के विरुद्ध जेहाद छेड़ दिया। कुछ आक्रमणकारी हिन्दुओं के कत्लेआम का फरमान जारी करने और काटे गये सिरों के प्रदर्शन के लिए मीनार बनाने का आदेश देने में आनन्द का अनुभव करते थे। प्रारम्भ में जेहाद का मुख्य उद्देश्य गैरमुसलमानों को मुसलमान बनाना नहीं प्रत्युत उन्हें बिलकुल समाप्त ही कर देना था। किन्तु कुछ काल के अनुभवों के पश्चात उन्हें ज्ञात हुआ कि इतनी बड़ी जनसंख्या का कत्ल करना न तो सम्भव ही है और न व्यवहारिक दृष्टि से लाभदायक ही। विदेशी आक्रमणकारी समय-समय पर सीमा-स्थित प्रदेशों में बसते गये, किन्तु ज्यों-ज्यों उनका साम्राज्य पूर्व में फैलता गया त्यों-त्यों इन क्षेत्रों की आबादी के एक अंग विशेष से सम्बन्ध रखना और उनका समर्थन प्राप्त करना उनके लिए आवश्यक होता गया। एक निश्चित सामाजिक आधार का निर्माण किये बिना विदेश में जाकर स्थायी शासन व्यवस्था स्थापित करना सम्भव नहीं है। फलतः विनाशलीला का लक्ष्य त्याग कर धर्मपरिवर्तन और समझौते की नीति उन्हें अपनानी पड़ी। अपना धर्म त्याग कर मुसलमान बनने के लिए अनेक प्रलोभन दिये जाने लगे। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति इसलाम धर्म स्वीकार कर लेता उसे जज़िया से मुक्त कर दिया जाता था। धर्म परिवर्तन के कार्य में दरवेशों तथा सूफी लोगों का महत्त्वपूर्ण भाग रहा। उनके पवित्र जीवन तथा आश्चर्य में डाल देने वाले मानवेतर कार्यों से लोग प्रभावित हुए। मुगल शासक उदार विचार के थे और वे और मुसलमान, दोनों को मिला कर एक राष्ट्र की भावना उत्पन्न कराना चाहते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही अकबर ने 'दीन-ए-इलाही' नामक एक नया धर्म चलाया। इस देश में शासक द्वारा धर्मप्रवर्तन कभी सम्भव नहीं हुआ है। फलतः

'दीन -ए-इलाही' का भी वही भविष्य हुआ। साधुओं और महात्माओं का धर्मोपदेश इस देश में सदा अनुकरणीय रहा है।

देशवासियों द्वारा दीन-ए-इलाही तो स्वीकार न किया जा सका, किन्तु उदारतापूर्ण विचारों तथा सभी धर्मों के प्रति सद्भावना रखने के कारण अकबर हिन्दुओं का प्रियपात्र बन गया। इसके विपरीत मुसलमान उसकी आज भी निन्दा करते हैं तथा औरंगज़ेब को जो असहिष्णुता और धार्मिक पक्षपात के लिए प्रसिद्ध था, एक आदर्श मुसलमान बादशाह के नाम से याद करते हैं। हिन्दुओं के धर्मस्थानों की रक्षा एवं व्यवस्था के लिए अकबर आर्थिक सहायता दिया करता था। अक़बर के उत्तराधिकारियों ने भी इसी नीति का अनुसरण किया। यहाँ तक कि धर्मान्ध औरंगजेब ने भी इस कार्य के लिए कुछ अनुदान स्वीकृत किये थे।

बाहर से आये हुए विदेशी यहाँ के जीवन और यहाँ की परम्पराओं में धीरे-धीरे घुल मिल गये। भारत को उन्होंने अपना निवास स्थान बना लिया और यहाँ की भाषा भी वे बोलने लगे। समय की गति ने मुसलमानों को सिखला दिया कि धार्मिक सहिष्णुता तथा अन्यान्य धर्मों के प्रति सम्मान ही भारत में सफल शासन व्यवस्था स्थापित करने की कसौटी है। मध्य युग में साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए बड़ा काम हुआ और बहुत हद तक सफलता भी मिली। सूफ़ियों, मुसलमानों, फक़ीरों तथा हिन्दू साधु-महात्माओं द्वारा धार्मिक एकता के आन्दोलनों को प्रेरणा प्राप्त होती थी। ये फक़ीर और महात्मागण बड़े ही उदार विचार के थे। इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित वे अवश्य थे किन्तु उनके आन्दोलनों का आधार वेदान्त तथा एकेश्वरवाद था। सूफ़ियों का मेलजोल हिन्दू साधु महात्माओं से हो गया। वे सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखते थे और उनके विचार भी कट्टर नहीं थे। फलतः हिन्दू और मुसलमान दोनों उनके अनुयायी थे।

ये आन्दोलन धार्मिक भावनाओं से प्रेरित थे और मूर्तिपूजा के भी विरोधी थे। आन्दोलनों को चलाने वाले वेद और कुरान को नहीं मानते थे। हिन्दू और इस्लाम, दोनों धर्मों में निहित अन्धविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। नैतिक शुद्धता और सच्ची भक्ति पर इन्होंने जोर दिया और एतत्सम्बन्धी प्रदर्शनों तथा विभिन्न आयोजनों को ढोंग की संज्ञा प्रदान की। इन आन्दोलनकर्ताओं में कबीर और नानक जैसे व्यक्तियों के दोनों सम्प्रदायों के लोग अनुयायी बन गये। जातपाँत पर इनका विश्वास नहीं था और छोटे बड़े सभी जातियों के लिए इन्होंने मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यही कारण था कि इनमें से कुछ सम्प्रदाय हिन्दुओं की निम्न श्रेणी की जातियों के अधिक प्रिय बन गये। इन मतावलम्बियों में कबीर का स्थान सर्वाधिक प्रमुख था।

यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि उस समय के अनेक मतप्रवर्तकों ने कबीर के विचारों से ही प्रेरणा प्राप्त की थी। कबीर रामानन्द के अनुयायी थे। इन मतावलम्बियों के अधिकांश सिद्धान्तों में पर्याप्त साम्यता पायी जाती है। ये सभी कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों पर विश्वास करते थे। वेदान्त की पवित्र शिक्षाओं में इनका अटूट विश्वास था। किन्तु मूर्ति पूजा और ईश्वर की अवतार सम्बन्धी बातों के वे उतने ही विरोधी थे। कबीर हिन्दू तथा मुसलमानों में व्याप्त अन्धविश्वासों के कटु आलोचक थे। इसलिए उन्हें स्थापित-स्वार्थों से शत्रुता मोल लेनी पड़ी। इतने पर भी लोकमत ने उनके विचारों का स्वागत किया और उन्हें अपना लिया।

यही कारण था कि इनके विचारों से प्रेरणा प्राप्त करके विभिन्न मतों का प्रादुर्भाव हुआ। हालाँकि इन विभिन्न मतों का उद्‌भव देश के भिन्न-भिन्न भागों में हुआ। किन्तु इस समीक्षा का एकमात्र उद्‌देश्य धार्मिक विश्वासों का पुनर्नवीकरण तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही धार्मिक मंच पर लाकर एक सूत्र में आबद्ध करना था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के लोगों में एक दूसरे के अधिकाधिक निकट आने की भावना का जोर था और वे एकता का कोई नया आधार ढूँढ रहे थे। इन आन्दोलनों का जनता पर व्यापक प्रभाव था और दोनों समुदायों के बीच एकता स्थापित करने में सन्तोषजनक सफलता भी मिली।

जनता के मन पर इन विचारों का कैसा प्रभाव पड़ा, यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों ने इन नये धर्मों का अनुकरण नहीं किया वे भी अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु तो हो ही गये; क्योंकि वे समझने लगे थे कि दोनों समुदायों के दृष्टिकोण संकुचित हैं और ऐसी-ऐसी परम्पराएँ कायम हैं जो अन्धविश्वासों पर आधारित हैं तथा जिनका बुद्धि से कोई मतलब नहीं है। इन सम्प्रदायों ने ब्राह्मण- पुजारियों और मुसलमान मुल्लाओं के अधिकारों पर आक्रमण किया। ये पुजारी और मुल्ले अपने को धर्म के ठेकेदार कहते थे और दोनों सम्प्रदायों के बीच में खाई की तरह बने हुए थे। धर्म के आधार पर दोनों सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए इन प्रवर्तकों ने समुचित मंच प्रदान किया। समाज में इनकी जड़ें काफी गहरी थीं। उनके कुछ बुनियादी धार्मिक विश्वास वही थे जो समस्त हिन्दुओं की समान सम्पत्ति हैं और जो इन सम्प्रदायों के लिए पृष्ठाधार का काम करते हैं। वे मुसलमानों के अद्वैतवाद (एक ईश्वर में विश्वास) को भी मानते थे और प्राचीन 'श्रमण' परम्परा पर जोर देते थे और अपौरुषेय ग्रन्थों के अधिकृत सूत्रों को नहीं मानते थे। वे केवल नैतिक शुद्धता में विश्वास करते थे। मुक्ति की प्राप्ति के लिए तपस्या, प्रायश्चित्त तथा यज्ञ आदि उपायों के विरोधी थे। भारत के उन तमाम प्राचीन धर्मों का भी वे समर्थन करते थे जिनके अनुसार बिना किसी जाति-धर्म का ख्याल किये ही आध्यात्मिक मुक्ति का द्वार खुला था। इससे यह स्पष्ट हो गया कि इन सम्प्रदायों के विचारों के स्रोत भी वे ही थे जो बौद्ध और वैष्णव धर्मों के रहे हैं। अन्तर केवल इतना ही था कि ये लोग इस्लाम धर्म के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों से प्रभावित थे।

भारत में अँग्रेज़ी सत्ता की स्थापना के पश्चात् हमारा सम्पर्क पाश्चात्य विज्ञान तथा विचारकों से हुआ। फलतः हिन्दू तथा मुसलमान धर्मों को पश्चिमी वैज्ञानिक विचारधाराओं के प्रति सहिष्णु बनने के लिए प्रयत्न करना पड़ा। अँग्रेज़ों ने हमारे ग्राम्य जीवन में हस्तक्षेप किया और भारतीय समाज की अर्थ-व्यवस्था के आधार को नष्ट कर दिया। एक ओर तो यह हुआ और दूसरी ओर भारतीय दस्तकारियों के लोप के साथ ही ऐश्वर्यपूर्ण नगरों के अस्तित्व को भी धक्का लगा। हमारी संस्कृति पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। अँग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भारतीय युवक अपने पूर्वजों के धार्मिक विचारों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। पश्चिमी संस्कृति के सम्पर्क में आ जाने के फलस्वरूप हिन्दू तथा इस्लाम धर्मों की शुद्धि के हेतु देश में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज तथा आर्य समाज इसी युग की देन हैं। वहाबी आन्दोलन भी एक सुधारवादी आन्दोलन था और सर सैयद अहमद ने इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या पश्चिमी दृष्टिकोण से की।

ये सभी आन्दोलन सुधारवादी आन्दोलन थे और धर्मों के बिगड़े हुए रूप को पुनः मौलिक स्तर प्रदान करना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत के सभी वर्ग जो एक सूत्र में आबद्ध थे, छिन्न, भिन्न होने लगे। आर्य समाज

तथा सिख धर्म ने इस्लाम धर्म के सैनिक तत्त्वों को ग्रहण कर लिया। इसका प्रभाव विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों पर अच्छा नहीं पड़ा। शनैः शनैः एक दूसरे के बीच अन्तर बढ़ता गया और कुछ दिनों पश्चात एक दूसरे के धार्मिक समारोहों में भाग लेना लोगों ने बन्द कर दिया। समाज में ज्यों-ज्यों राजनैतिक जागृति बढ़ती गयी, त्यों-त्यों क्षुद्र मनोवृत्ति के राजनीतिज्ञों ने अपनी उद्देश्य पूर्ति के लिए जनता की धार्मिक भावनाओं का दुरुपयोग करना आरम्भ कर दिया। इन कार्यों में उन्होंने राष्ट्रीय एकता और साम्प्रदायिक शान्ति का तनिक भी विचार नहीं किया।

आज युग बदल चुका है। धार्मिक भावनाओं का दिनोंदिन ह्रास होता जा रहा है और उनके स्थान पर जनजीवन में राजनीतिक और आर्थिक भावनाएँ जड़ पकड़ती जा रही हैं। ऐसी स्थिति में साम्प्रदायिक समस्याओं का धार्मिक समाधान नहीं किया जा सकता। हमारे नवीन विचार राष्ट्रवाद और लोकतन्त्र के सिद्धान्तों को कार्यान्वित देखने के लिए लालायित हो रहे हैं। जात-पाँत की कट्टरता लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल है। जाति-पद्धति तत्त्वहीन भी हो चुकी है और अब इससे कोई लाभप्रद कार्य नहीं हो सकता है।

यही कारण है कि हिन्दू समाज की व्यवस्था का ह्रास, फलतः विघटन होता जा रहा है। आज के बदले हुए युग में हिन्दू समाज तथा राष्ट्रीय एकता, दोनों के हित में एक ऐसे नये आधार पर व्यवस्थाएँ पुनर्निमित होनी चाहिए, ताकि विघटन रुके और नया संगठन बने।

भारतीय धर्म

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय धर्म एक उदार और विशाल धर्म है। यह सम्प्रदाय विशेष का नहीं है। यह ठीक है कि इसके गर्भ से समय-समय पर अनेक सम्प्रदायों का जन्म हुआ किन्तु यह भी ठीक है कि इन विविध सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक ऐसा भी धर्म है जिसको सम्प्रदाय की आख्या नहीं प्रदान की जा सकती। सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति विशेष प्रवर्तक होता है, उसके निश्चित पवित्र ग्रन्थ होते हैं जो उस प्रवर्तक की कृति हैं अथवा जिसको आदि प्रवर्तक की वाणियों या संवादों का संग्रह समझा जाता है। यह ग्रन्थ पवित्र और प्रामाणिक माने जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि सब बातों का अन्तिम उत्तर इनमें दिया गया है। जो उस आदि सम्प्रदाय के मानने वाले हैं, वह अपने अपने पक्ष का समर्थन उसी ग्रन्थ का उद्धरण देकर करते हैं। कभी-कभी सम्प्रदाय के भीतर भी अनेक वाद प्रचलित हो जाते हैं किन्तु इनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो ग्रन्थ की प्रामाणिकता को स्वीकार न करता हो।

अपने-अपने पवित्र ग्रन्थ के अतिरिक्त वह आदि प्रवर्तक को पैगम्बर या गुरु मानते हैं। पैगम्बर या गुरु का जीवनचरित्र अनुयायियों के लिए पथप्रदर्शक होता है। साथ-साथ प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ संस्कार और अनुष्ठान होते हैं जो उसको अन्य सम्प्रदायों से व्यावृत्त करते हैं। इन्हीं के आधार पर हम बता सकते हैं कि अमुक सम्प्रदाय के कुछ लक्षण हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि इस्लाम का मानने वाला वह है जो एक ईश्वर में विश्वास करता है और मुहम्मद साहब को उनका पैगम्बर मानता है तथा कुरान और हदीस को प्रामाणिक मानता है। नमाज़, ज़कात, रोज़ा आदि उसके अनुष्ठान और धार्मिक कृत्य हैं।

इन सम्प्रदायों में से कुछ ऐसे हैं जो सार्वभौमिक होते हैं, अर्थात् उनमें सब देश और जाति के लोग सम्मिलित हो सकते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्थानीय हैं, उनका प्रभाव देश विशेष तक ही सीमित रहता है। जो सार्वभौमिक हो जाते हैं उनमें कुछ ऐसी विशेषता अवश्य होती है जो उनको जाति और देश का अतिक्रमण करने में समर्थ बनाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह सब धर्म सम्प्रदाय विशेष हैं। इसका अर्थ यह है कि जहाँ इनमें उदारता है वहाँ इनमें एक प्रकार की संकीर्णता भी है। अपने सम्प्रदाय के लोगों को ही यह स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी समझते हैं। चरम लक्ष्य प्राप्ति का यह एक ही मार्ग मानते हैं और यह मार्ग वही है जिसका अन्वेषण या निर्देश सम्प्रदाय के आचार्य, प्रवर्तक, शास्ता या पैगम्बर ने किया है। जो सम्प्रदाय से बाहर के हैं, उनके लिए स्वर्ग या मोक्ष नहीं है। इसके अतिरिक्त यह तीर्थिकों को अर्थात् अन्य सम्प्रदाय के मानने वालों को हीन समझते हैं और कभी-कभी उनके साथ विद्वेष भी करते हैं।

जिस भारतीय धर्म का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वह ऐसा नहीं है। उसका न कोई आदि प्रवर्तक है और न उसके कोई ऐसे अनुष्ठान या कृत्य विशेष हैं जिनको हम उसका लक्षण ही बता सकें। उसका कोई एक पवित्र ग्रन्थ भी नहीं है जिसको वह एकमात्र प्रमाण माने। वह दूसरों के पवित्र ग्रन्थों को अपना लेता है, यही कारण है उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे ब्रह्म के लिए हम नेति-नेति कहते हैं वैसे ही इसके लिए भी हम इतना ही कह सकते हैं कि यह अमुक धर्म नहीं है, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह क्या है। इसका कोई स्थिर रूप नहीं बता सकते तथापि हम इसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यदि इसे कोई नाम देना चाहें तो हम व्यापक रूप में इसे सनातन धर्म के नाम से संकीर्तित कर सकते हैं।

सनातन धर्म नाम भी आज एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होता है इसीलिए इसे भारतीय धर्म कहना पसन्द करता हूँ। भारत की अधिकांश जनता इसी धर्म को मानती है यद्यपि सम्प्रदायों का उस पर प्रभाव पड़ा है, तथापि मुख्य-मुख्य बातों में यह आज भी उदार है। इस धर्म का विश्वास है कि स्वर्ग और मोक्ष लाभ के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म में रह कर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टि नहीं है। यह मानता है कि लोगों की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और विविध मार्ग पर चल कर भी एक ही लक्ष्य पर पहुँचा जा सकता है। पुनः इसकी मान्यता है कि अनुष्ठान, संस्कार विशेष सम्प्रदाय विशेष के चिह्न हैं। अमुक-अमुक सम्प्रदाय के लोगों को इन कृत्यों को करना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरों के लिए भी इनका कोई मूल्य है अथवा चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता पड़ती है।

प्रत्येक धर्म के लिए कुछ अनुष्ठान और कृत्यों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं के द्वारा जनसमूह का आचरण व्यवहार बनता है। यह देश और काल पर निर्भर करता है, किन्तु यह सत्य, अहिंसा आदि का स्थान नहीं ले सकते। किन्तु सम्प्रदायवादी अपने-अपने अनुष्ठानों को बड़ा महत्त्व देते हैं और जो उनको नहीं मानते उनके लिए सुख और निःश्रेयस् का मार्ग अवरुद्ध समझते हैं। सम्प्रदाय न होने के कारण इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नहीं मानता। दूसरे सम्प्रदायों के गुरुओं को अपनाने में इसे झिझक नहीं होती। जहाँ-जहाँ वह विभूति, श्री और ऐश्वर्य देखता है उसी को वह ईश्वर के तेज का अंश समझता है। हिन्दुओं ने भगवान् बुद्ध को भी अवतार माना। वह सब सन्तों को मानता है, उनकी दरगाह पर भी विभिन्न मिन्नत करता है। यदि राजनीतिक कारण उपस्थित न हो गये होते तो आज भी वह ऐसा ही करता। क्योंकि यह सब धर्मों को मोक्ष का उपाय मानता है, इसलिए वह किसी धर्म के विरुद्ध प्रचार नहीं करता। दूसरों को अपने धर्म में दीक्षा देने का प्रयत्न नहीं करता। यदि किसी सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति को उसकी साधना पसन्द है तो वह उसे अपने सम्प्रदाय में रहते हुए उस साधना का

साधक बना लेता है, धर्म परिवर्तन की अनुमति नहीं देता। यदि उसकी बस्ती के चारों ओर रहने वाले लोग किसी धर्म विशेष में दीक्षित नहीं हैं, और उसके प्रभाव में आकर उसके आचार-विचार को स्वीकार करना चाहते हैं, तो वह इसकी सुविधा उत्पन्न कर देता है।

इन्हीं गुणों के कारण दूसरे जो उससे अलग होते हैं और अपना एक पृथक सम्प्रदाय बना लेते हैं उनको यह अपने से अलग नहीं होने देता। भारतीय धर्म में अनेक पन्थ उत्पन्न हुए। भारतीय जनता ने उनके गुरुओं का आदर किया और अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाये। अन्त में भारतीय धर्म की विजय हुई और समाज से अलग हुए यह सम्प्रदाय भारतीय धर्म के दायरे में फिर आ गये। यहाँ एक दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सिख सम्प्रदाय के दशम् गुरु ने सिखों का संगठन किया और उनको कुछ विशेष चिह्न धारण करने की आज्ञा दी। धीरे-धीरे साधारण समाज से सिखों का पार्थक्य होने लगा, किन्तु हिन्दुओं ने गुरुओं की उपासना को और उनको समाज का रक्षक समझ अपने प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गुरु ग्रन्थ साहब का भी पाठ कराया। धीरे-धीरे यह पार्थक्य दूर होने लगा और सिख अपने को हिन्दू समझने लगे। मैकोलिफ जिसने ६ जिल्दों में सिखों का इतिहास लिखा है, पुस्तक की भूमिका में लिखता है सन् १९०८ में सिख युवकों को यह कहते देख कर कि वह हिन्दू है मुझे आश्चर्य हुआ और अन्त में वह इस निश्कर्ष पर पहुँचता है कि भारतीय धर्म में एक ऐसी शक्ति है जो उन लोगों को भी अपने पास ले आती है जो उससे दूर रहना चाहते हैं।

मध्य युग में सन्तों और सूफियों ने जो हिन्दू-मुसलमानों को मिलाने का सफल प्रयत्न किया वह भी इसी भारतीय धर्म की अन्तरात्मा का प्रदर्शन है। भारतीय मुसलमानों को भी यह मानना पड़ा कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म का आचरण करना चाहिए। दूसरा उदाहरण आर्यसमाज का है। एक समय था जब आर्यसमाज के उपदेशक अपनी सारी शक्ति सनातन धर्म की (जिसे यह पौराणिक धर्म कहते हैं) टीका-टिप्पणी में व्यय करते थे। आये दिन सनातनियों से उनके वाद-विवाद होते थे। इन्हीं के कटु प्रचार ने भारत धर्म महामण्डल को जन्म दिया था। अब आज यह टीका-टिप्पणी नहीं के बराबर है और शास्त्रार्थ भी बन्द हो गये हैं। समाज-सुधार की जो शिक्षा आर्यसमाज ने दी उसे भारतीय समाज ने स्वीकार सा कर लिया और आर्यसमाज के प्रवर्तक के प्रति अपना आदर प्रकट कर आर्यसमाज के धार्मिक प्रचार के कार्य को एक प्रकार से कुण्ठित-सा कर दिया।

जब तक हम भारतीय धर्म के इस महत्त्व को नहीं समझेंगे, यह समझना कठिन है कि हमने विविधता में एकता का कैसा सफल अन्वेषण किया। हमारा देश विशाल है। इसमें अनेक जातियाँ बसती थीं। बाहर से भी समय-समय पर अनेक जातियाँ आक्रमणकारी के रूप में आयीं और यहाँ बस गयीं तथा भारतीय समाज में घुल-मिल गयीं। विभिन्न जातियों के अपने-अपने विश्वास थे। इन सब में सामंजस्य करना एक दुष्कर कार्य था और बिना किसी प्रकार का समन्वय किये परस्पर के संघर्ष से समाज की रक्षा करना सम्भव न था। दो ही उपाय थे। या तो सबको चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, एक किसी धर्म में दीक्षित कर लिया जाता, विविधता की रक्षा करते हुए एकता प्रतिष्ठित की जाती।

भारत ने दूसरा मार्ग अपनाया। उस समय पहला मार्ग स्वीकार करना सम्भव भी न था, और यह मार्ग श्रेयस्कर भी न था। इसलिए कुल, देश, जाति के आचार मान्य किये गये तथा धार्मिक विश्वासों और सिद्धान्तों की अपेक्षा समाज-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम के सिद्धान्त को समाज-व्यवस्था का आधार बनाया गया और जब देखा कि चार से कहीं अधिक जाते हैं तो उनको चार वर्णों के परस्पर अनुलोम प्रतिलोम विवाह के आधार पर बना हुआ माना। समाज व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय धर्म के तत्त्वों पर ज़ोर दिया गया अर्थात एक

ओर विविधता को मान्यता देते हुए समाज के प्रचलित विभागों को चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी, जिससे वह एक ही समाज के अंग माने जा सकें और दूसरी ओर प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों में भारतीय धर्म के उदार तत्त्वों को निहित करने का प्रयत्न किया गया। यह उदार तत्त्व किसी एक ग्रन्थ में उपनिबद्ध नहीं है। आप इनको उपनिषदों में, सन्तों की वाणी में, और इनसे भी कहीं अधिक, सामान्य जनता के जीवन में बिखरा हुआ पायेंगे।

आध्यात्मिक शिक्षा के क्षेत्र में एकत्त्व की इसी बुद्धि ने योग द्वारा ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी को मिलाया और एक लक्ष्य पर पहुँचाया। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, जैन दर्शन सभी योग द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति बताते हैं। सामंजस्य की इसी बुद्धि के कारण भारत में धर्म के नाम पर बहुत कम रक्तपात हुआ। प्रायः सब राजाओं ने सब धर्मों का सत्कार किया और धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी। इसी भाव के प्रताप से मुसलमान बादशाहों ने भी हिन्दू मन्दिरों को जागीरें दीं और आरम्भ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी हिन्दू-मुसलमानों के पवित्र स्थानों की देख-रेख करती थी।

भारतीय धर्म का यह उदार भाव कभी-कभी दुर्बल हो जाता है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि बार-बार विताड़ित होने पर भी नष्ट नहीं होता। जब भारत का बँटवारा हुआ और उसके फलस्वरूप हिंसा और बर्बरता का नग्न रूप देखने को मिला तब मन में विचार आया कि उस उदार भाव की अन्त्येष्टि हो रही है, किन्तु थोड़े समय के पश्चात् ही भारतीय हृदय बहुत कुछ निर्मल और स्वच्छ होने लगा और यह प्रतीति हुई कि वह पुराना उदार भाव अब भी जीवित है। पण्डितों की पाठशाला और विद्वानों की गोष्ठी में तथा तीर्थों में यह उदार भाव नहीं मिलेगा। यदि इसे देखना है तो अनपढ़ ग्रामीणों के खेतों और चौपालों में इसे ढूँढिए।

यही उदार भाव सब प्राणियों में अपने को और अपने में सब प्राणियों को देखने के लिए विवश करता है। यही समत्व का योग है। यही उपनिषदों की शिक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है।

किन्तु आज की अवस्था में यह पूर्णरूपेण सफल नहीं हो सकता। यह ठीक है कि सर्वरूपेण एकरूपता कभी नहीं हो सकती। विविधता का होना स्वाभाविक है, अतः समन्वय की बुद्धि की सदा आवश्यकता रहेगी। किन्तु राष्ट्रवाद के युग में एक देश में रहने वाले लोगों के आचार में अधिक से अधिक साम्य होना चाहिए। रेल, तार और विज्ञान विविधता को मिटा रहे हैं। धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। आधुनिक सुविधाओं के कारण जनता बड़े-बड़े समुदायों में संगठित हो रही है। प्रचार के अनेक साधन एकता के कार्य को सुलभ बना रहे हैं। हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। यह जन-जागरण का युग है। सब अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहे हैं। ऐसे युग में जब तक एकता के नये साधन नहीं निकाले जायेंगे, तब तक संघर्ष और विद्रोह की सम्भावना बनी रहेगी। भिन्न-भिन्न आचार के समुदायों में तीव्र संघर्ष हो सकता है।

जब तक सबके लिए कुछ ऐसे प्रतीक और उद्देश्य न हों जो समान है तब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के बीच होने वाले संघर्ष आज के युग में बड़े भीषण होंगे। जहाँ एक ओर शान्ति और सहयोग के साधन बढ़ रहे हैं वहाँ दूसरी ओर विद्वेष और विद्रोह के लिए भी सुविधाएँ बढ़ रही हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र को आचार-साम्य को चेष्टा करनी चाहिए। जब धर्म के क्षेत्र से जीवन के विविध अंग बहिष्कृत हो रहे हैं तब धर्म या सम्प्रदाय का विचार न कर सबके लिए एक ही कानून होना चाहिए। एकरूपता का यह कार्य बलपूर्वक नहीं हो सकता क्योंकि बल का प्रयोग करने से तीव्र

प्रतिक्रिया होती है और विरोध बढ़ जाता है। यह कार्य सब बालक-बालिकाओं को समान शिक्षा-दीक्षा से होना चाहिए तथा धीरे-धीरे एक वेशभूषा, एक राष्ट्र भाषा, एक कानून का प्रवर्तन होना चाहिए।

आचारों की विभिन्नता राष्ट्रीयता को दुर्बल करती है। अतः उनमें यथाशक्य एकरूपता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। पश्चिम की शिक्षा के द्वारा यह कार्य थोड़ा-बहुत सम्पन्न हुआ था, अब नये ढँग से इस काम को करना है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, विविधता सर्वथा नहीं मिट सकती। एक राष्ट्र के भीतर एकरूपता का यह काम हो सकता है, किन्तु संसार में तो यह विविधता बहुत दिनों तक रहेगी। शान्ति-रक्षा के लिए तथा युद्ध को रोकने के लिए भारतीय उदार धर्म के तत्त्व की अब भी आवश्यकता है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द्र और सहयोग स्थापित करने में इससे सहायता मिलेगी। इस उदात्त भाव की आज विशेष आवश्यकता है। केवल युग के अनुरूप उसके बाह्य रूप और आकार को बदलना है।

रसोई में नमक : योगवासिष्ठ पर कुछ मनमानी*

वागीश शुक्ल

बद्धा खट्वाङ्गशृङ्गे कपिलमुरुजटामण्डलं पद्मयोनेः
कृत्वा दैत्योत्तमाङ्गैः स्रजमुरसि शिरःशेखरं तार्क्ष्यपक्षैः
या देवी भुक्तविश्वा पिबति जगदिदं सार्द्रिभूपीठभूतं
सा देवी निष्कलङ्का कलिततनुलता पातु नः पालनीयान्।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - १३३ (महाशववर्णन-सर्ग)-३०

डिम्बं डिम्बं सुडिम्बं पच पच सहसाझम्य झम्यं प्रझम्यं
नृत्यन्ती शब्दवाद्यैः स्रजमुरसि शिरःशेखर तार्क्ष्यपक्षैः
पूर्णं रक्तासवानां यममहिषमहाशृङ्गमादाय पाणौ
पायाद्वो वन्द्यमानः प्रलयमुदितया भैरवः कालरात्र्या।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - ८१ (कालरात्रिवर्णन-सर्ग)-१०२

---

*योगवासिष्ठ पर साहित्य अकादमी द्वारा १८-२० फरवरी २०१४ को वाराणसी में आयोजित संगोष्ठी में बीज-भाषण के लिए।

१

योगवासिष्ठ-कार

ऊपर मैंने जिन दो स्रग्धरा-निबद्ध आशीःपद्यों को इस आलेख के मंगलाचरण के रूप में दिया है वे योगवासिष्ठ में से अलग-अलग जगहों से लिये गये हैं किन्तु दोनों ही पद्य महाप्रलय के समय नृत्य करती, वैश्विक महाशव का सबकुछ खाती-पचाती देवी की स्तुति में हैं। इस देवी का नाम योगवासिष्ठ के अनुसार ''कालरात्रि'' है और इसकी रूपाकृति में सिर पर 'तार्क्ष्य' अर्थात गरुड (जिसे हम चील मान सकते हैं) के पंखों का मुकुट बताया गया है। मोरपंखों के मुकुट वाली ऐसी ही एक घोर आचार वाली देवी योगवासिष्ठ के 'उपशम-प्रकरण' के सर्ग ५५ (उद्दालकनिर्वाण) में अपने परिजनों के साथ नाचती-गाती आकाश से उतरती है जिसका नाम 'खिंखिनी' है; इस देवी के मुकुट में खंग तथा खट्वांग बँधे हुए हैं जिनके बीच में उद्दालक मुनि का कंकाल भी देवी द्वारा कृपापूर्वक बाँध लिया जाता है। योगवासिष्ठ में आने वाली एक अन्य देवी 'अलम्बुसा' नाम की मातृका है जिसका वाहन 'चण्ड' नामक काक है। यह देवी भी घोर आचरण वाली है, पार्वती को मारकर उनका मांस शिव को भोजनार्थ देवे वाली मातृकाओं में से एक। यह करने के बाद जब सभी मातृकाएँ और उनके परिजन मदिरा के नशे में नाच-गा रहे होते हैं, ब्राह्मी देवी का रथ खींचने वाली हंसिनियाँ चण्ड काक से गर्भवती हो जाती हैं और फलस्वरूप 'भुशुण्ड' नामक काक का जन्म होता है।

महाकाली के इस स्वरूप का निकट सम्बन्ध काक से है जैसा कि कालरात्रि-वर्णन सर्ग के इस श्लोक २७ से पता चलता है :

इन्द्रनीलाद्रितुल्योच्चतोरणोच्चैः प्रभाम्बरे
विश्रान्तकाचशैलाभभगभीषणवायसी

तन्त्रशस्त्र बहुत सा लुप्त हो चुका है और जो उपलब्ध है उसकी भी विस्तृति कम नहीं है। इस देवी के रूप को उपलब्ध तन्त्र साहित्य में से ढूँढ निकालना बेहद मुश्किल है। अगर 'काक' के आधार पर खोजना शुरू करते हैं तो धूमावती के रथ की ध्वजा पर काक बैठा हुआ है और 'काकिनी' नाम की एक देवी रूद्रयामल में वर्णित है। इस 'काकिनी' देवी को 'भूषण्ड-काक-महिषी' कहा गया है[१] और भुशुण्ड का उल्लेख (फ़ादर कामिल वुल्के के अनुसार) रामकथा में पहली बार योगवासिष्ठ में ही दिखायी पड़ता है, इसलिए इस 'काकिनी' देवी या इनके किसी रूप की ओर भी संकेत हो सकता है। ठीक-ठीक नाम खोज पाना सम्भव नहीं लगता किन्तु यह देवी का कोई अत्यन्त उग्र रूप है इसमें सन्देह नहीं।

जब हम यह ध्यान देते हैं कि निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध के देवपरिदेवन नामक सर्ग १३४ में 'शुष्का' नाम की देवी आती है, और इसके कुछ पहले शिवशक्तिवर्णन नामक सर्ग ८४ में यह कालरात्रि का नाम बताया गया है जहाँ कालरात्रि के दुर्गा, सरस्वती, उमा, जया, विजया, काली आदि अधिक प्रचलित नाम भी बताये गये हैं और इसी देवी को 'चिच्छक्ति', 'क्रियाशक्ति', 'इच्छाशक्ति' आदि भी कहा गया है, तो इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि यह महाशक्ति का किसी ऐसे सम्प्रदाय-विशेष में उपास्य रूप है जिससे योगवासिष्ठ-कार का निकट सम्बन्ध है। मूसल, ओखली, सूप जैसे कुछ घरेलू उपकरणों और अन्य अनेक हथियारों की माला पहने, हिमालय, मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र आदि के

कुण्डल लटकाये विश्व के संहार के समय नृत्य करती यह देवी वैराग्य-प्रकरण के पच्चीसवें सर्ग से लेकर योगवासिष्ठ में अनेक बार उपस्थित होती है। यह अनुमान उचित जान पड़ता है कि योगवासिष्ठ-कार किरात-शबर-देवमाला में से महाकाली के किसी अत्युग्र स्वरूप के उपासक थे और यही देवी उनके मन में है जब वे बार-बार चिच्छक्ति के नाते सृष्टि होने का अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। असम्भव नहीं कि उत्पत्ति-प्रकरण के कर्कटी-उपाख्यान में जिस कर्कटी नामक नरबलि स्वीकार करने वाली राक्षसी-देवी का जिक्र आया है और (सर्ग ८३ में) जिसका नाम मंगला भी बताया गया है, वह योगवासिष्ठ-कार की आराध्या देवी हो या उनकी आराध्या देवी के परिवार की कोई देवी हो। इस देवी को बार-बार 'शुष्का' और 'कृशा' कहा गया है : क्रम-दर्शन में विश्व को सम्पूर्णतः निगल जाने वाली 'कृशा' नाम्नी एक देवी का उल्लेख आता है।

लीलोपाख्यान में सरस्वती देवी को छोड़कर योगवासिष्ठ में परा देवी की जितनी भी उपस्थितियाँ हैं, संहार के समय की हैं और उनके आचार-व्यवहार अतिवाममार्गी साधना के अनुरूप हैं। योगवासिष्ठ के प्रवचनकर्ता के विषय में सम्भवतः रुद्रयामल (जीवानन्द संस्करण, सत्रहवाँ पटल) का यह कथन अप्रासंगिक नहीं है कि वसिष्ठ 'चीनाचार' नामक काली-सम्प्रदाय की एक उग्र वामपन्थी शक्तिसाधना के प्रमुख आचार्य हैं। हम यह भी ध्यान में रख सकते हैं कि आज भी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार कामाख्यापीठ के आस-पास वसिष्ठ की साधनास्थली मानी जाती है और वसिष्ठ तथा कामाख्या-पीठ के इस घनिष्ठ सम्बन्ध की पुष्टि कालिकापुराण भी करता है। तारा की उपासना से भी वसिष्ठ का बहुत निकट सम्बन्ध है।

निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्द्ध के समापन में वसिष्ठ राम को 'क्रमयोग' की शिक्षा देते हैं। इसी 'क्रमयोग' की शिक्षा वाल्मीकि भारद्वाज के प्रति अपने उपदेश के अन्त में भारद्वाज को देते हैं। यह 'क्रमयोग' अभिनवगुप्त-कृत तन्त्रालोक के पाँचवें आह्निक में तीसवें श्लोक में आया हुआ है और इसके आधार पर मेरा यह अनुमान है कि योगवासिष्ठ-कार का निजी सम्प्रदाय क्रम-सम्प्रदाय की किसी शाखा का था। हम यहाँ यह याद कर लें कि क्रम-सम्प्रदाय को 'काली-नय' भी कहते हैं क्योंकि उसमें महाकाली के विविध उग्र रूपों की उपासना का साधना-पथ में बहुत महत्त्व है। शायद यह भी अप्रासंगिक न हो कि क्रम-दर्शन के एक प्रमुख ग्रन्थ महार्थमंजरी के लेखक महेश्वरानन्द ने इस ग्रन्थ पर अपनी परिमल टीका में मोक्षोपाय नामक एक ग्रन्थ से एक प्रमाण-वचन उद्धृत किया है[२] और मोक्षोपाय का ही दूसरा नाम योगवासिष्ठ है।

यह देखते हुए कि अद्वैत वेदान्त के सभी प्रमुख विचारक श्रीविद्या के महत्त्वशाली साधक भी रहे हैं, योगवासिष्ठ-कार का काली-नय की परम्परा में आना बहुत दिलचस्प होता यदि मैं अपने इस अनुमान को और प्रमाणपुष्ट कर सकता क्योंकि अभी तक भगवान पतंजलि के अतिरिक्त कोई नाम सामने नहीं है जो कालीनय और शांकर वेदान्त में समान रूप से प्रमाण माना जाता हो। भगवान पतंजलि का यहाँ नामोल्लेख करने के पीछे मेरा तर्क यह है कि कालिदास ने चिद्गगनचन्द्रिका में क्रमदर्शन के प्रमुख आचार्य के रूप में उनका स्मरण किया है तथा उनका परमार्थसार एक साथ शांकर अद्वैत और काश्मीर शैव दर्शन में आगमस्थानीय प्रमाण माना जाता है।

योगवासिष्ठ-कार ने एक से अधिक स्थानों पर गिरिग्राम का जिस लगाव से वर्णन किया है उसके आधार पर यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्मस्थान कोई गिरिग्राम ही था।

योगवासिष्ठ-कार कालिदास से परिचित हैं क्योंकि उत्पत्ति-प्रकरण १६-५० को कुमारसम्भव के रतिविलाप में से एक श्लोक पर ढाला गया है, उसी प्रकरण के ५८-४० में दम्पती के लिए रघुवंशी के मंगलाचरण की प्रसिद्ध उपमा, वागर्थ की सम्पृक्तता, का इस्तेमाल हुआ है, निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध के विपश्चिदनुकृतपदार्थवर्णन नामक सर्ग ११५ का श्लोक १६ मेघदूत के एक श्लोक पर बना है तथा पथिकविरहवृत्तवर्णन नामक सर्ग ११६ में उन्होंने मेघदूत की पैरोडी सी की है। वे ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन से भी परिचित जान पड़ते हैं क्योंकि न केवल उन्होंने ब्रह्मा की प्रतीति के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग किया है अपितु इस बात को समझाने के लिए यह कहा है कि यह प्रतीति 'स्त्री में नमक' की तरह है; यह वही उपमा है जो आनन्दवर्धन ने इस्तेमाल की है। योगवासिष्ठ-कार संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना-शैली से सुपरिचित और उसके श्रेष्ठ अभ्यासी जान पड़ते हैं। काल-निर्धारण के समय यह भी ध्यान में रखना होगा कि जिस समय उत्पत्ति-प्रकरण के अंतर्गत लीलोपाख्यान में सिन्धु और विदूरथ की लड़ाई का वर्णन है और दोनों पक्षों से लड़ने वाले योद्धाओं के जनपदों की सूची दी गयी है, उस समय हूणों और ताजिकों का उल्लेख आया है।

योगवासिष्ठ में आर्ष प्रयोग भी उपलबध हैं; उदाहरण के लिए 'ऋषि-कृत' के अर्थ में 'आरुषेय' अथवा 'आऋषेय'[३]। व्याकरण की कुछ और छूट भी यदा-कदा ली गयी है जो शायद व्यवहार में रही होगी। उदाहरण के लिए 'प्रतिदिशं' की जगह -दिशं प्रति' आया है[४] जबकि 'दिशं दिशं' होना चाहिए। इसी प्रकार 'अ-चराचराधरमयी' की जगह -चराचराधरामयी' का प्रयोग है[५] यानी मयडन्त नञ् समास में मयट् के ठीक पहले नञ् को रख दिया गया है जो कि व्याकरण-विरुद्ध है।

यह भी प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ-कार वाक् की चार स्थितियाँ नहीं स्वीकार करते अर्थात परा को अस्वीकार करते हुए पश्यन्ती को ही सर्वोच्च अवस्था मानते हैं क्योंकि उनका कहना है कि ''पश्यन्ती पश्यन्ती में ही झलकती है''[६] अतः वे भर्तृहरि जैसे प्राचीन वैयाकरणों का सिद्धान्त मानने लगते हैं और कश्मीर शैव-सिद्धान्त का यहाँ अनुगमन करते नहीं जान पड़ते।

विद्वानों द्वारा योगवासिष्ठ का रचनाकाल पाँचवीं सदी ईसवी से लेकर चौदहवीं सदी तक निश्चित किया गया है किन्तु मेरी समझ में यह मानने का पर्याप्त कारण है कि इसकी रचना दसवीं सदी के मध्य में काश्मीर में हुई। यह इस नाते कि इसमें स्थिति-प्रकरण के बत्तीसवें 'सदाचार निरूपण' नामक सर्ग में काश्मीर के यशस्कर नामक राजा का उल्लेख आया है। यशस्कर का राज्यकाल ६३६-६४८ ईसवी है। इस प्रकार योगवासिष्ठ-कार अभिनवगुप्त (जिनके जन्म का समय डा कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अनुमानतः ६५० ईसवी निश्चित किया है) से ठीक एक पीढ़ी पहले वर्तमान हैं। यशस्कर के साथ ही उसके अमात्य नरसिंह का उल्लेख है जो अधिष्ठानपुर में रत्नावली-विहार में रहते थे और एक मकान का भी जो प्रद्युम्न-गिरि पर था। जब हम याद करते हैं कि प्रद्युम्न-गिरि वही जगह है जो आजकर 'हरि परबत' के नाम से प्रसिद्ध है और श्रीनगर के पास है तो यह लगभग निश्चित सा हो जाता है कि योगवासिष्ठ-कार अपने ग्रन्थ का रचनाकाल और अपना निवास बता रहे हैं। मेरा यह भी मानना है कि यहाँ योगवासिष्ठ-कार अपना नाम भी बता रहे हैं क्योंकि यहाँ 'नृपामात्यश्लोकों' का जिक्र आया है अर्थात् ये श्लोक इन्हीं नरसिंह नामक मन्त्री के हैं।'[७]

नरसिंहगुप्त अभिनवगुप्त के पिता का नाम था। यह सोचना आकर्षक है कि योगवासिष्ठ-कार ये ही हों किन्तु तब अभिनवगुप्त इसका उल्लेख अवश्य करते और यों भी नरसिंहगुप्त के अमात्य होने का कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। योगवासिष्ठ से अभिनवगुप्त अपरिचित भी जान पड़ते हैं। अतः इस ओर आगे सोचना अभी बन्द करते हैं।

योगवासिष्ठ-कार का स्थान संस्कृत साहित्य में शीर्ष पर है। हमारी परम्परा जब उन्हें 'वाल्मीकि' का नाम देती है और योगवासिष्ठ को 'महा-रामायण' तथा 'उत्तर रामायण' का अभिधान देते हुए यह मानती है कि चौबीस हजार श्लोकों वाली रामायण के बाद वाल्मीकि ने बत्तीस हजार श्लोकों वाली यह रामायण लिखी एवं इस प्रकार पूरी वाल्मीकि-कृत रामायण छप्पन हजार श्लोकों की है, तो वह ऐसी आलोचनात्मक सूझ-बूझ वाली बात कहती है जिसे हम अपनी आधुनिक साहित्यिक समझ के आधार पर भी खारिज नहीं कर सकते।

२

ग्रन्थ-विस्तार और संरचना

योगवासिष्ठ छह प्रकरणों में विभक्त है जो क्रमशः (१) वैराग्य-प्रकरण, (२) मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण, (३) उत्पत्ति-प्रकरण, (४) स्थिति-प्रकरण, (५) उपशम-प्रकरण, और (६) निर्वाण-प्रकरण, के नाम से जाने जाते हैं। किन्तु निर्वाण-प्रकरण दो भागों में विभक्त है जिन्हें उसके 'पूर्वार्ध' और 'उत्तरार्ध' के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार ग्रन्थ के कुल सात भाग होते हैं और यद्यपि निर्वाण-प्रकरण आकार में बहुत बड़ा है, क्योंकि कुल बत्तीस हजार श्लोकों में से साढ़े चौदह हजार श्लोक इसी में हैं, उसको दो भागों में विभाजित करने का आधार उसका आकार तो नहीं हो सकता। यह सप्तधा विभाजन टीकाकार को मालूम था और उन्होंने इसके कारण का कुछ संकेत भी किया है। उसके आधार पर जैसा मुझे समझ में आया मैं लिख रहा हूँ।

माण्डूक्योपनिषद् आदि अनेक उपनिषदों में जीव के लिए जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति की तीन तथा इन्हीं के साथ 'तुर्य' की जो कुल चार दशाएँ बतायी गयी हैं उनका ज्ञान की सप्तभूमिकाओं में विभाजन योगवासिष्ठ में अनेक स्थानों पर है। इसके अनुसार पहली तीन मिलकर जाग्रत, चौथी स्वप्न, पाँचवीं सुषुप्त, छठीं तुर्य और सातवीं तुर्यातीत भूमिका है। कभी ज्ञान और कभी योग की ये ही सप्त भूमिकाएँ कुछ शब्दान्तर के साथ इस ग्रन्थ में अन्यत्र भी हैं और सामान्यतः अद्वैत वेदान्त में सर्वस्वीकृत हैं। योगवासिष्ठ ६। (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-१२६ (परमार्थस्वरूपवर्णन-सर्ग) में ये ही सप्तभूमिकाएँ योग की बतायी गयी हैं, किन्तु यहाँ एक बात यह है कि प्रथम तीन भूमिकाओं के समवेत से 'आर्यत्व' प्राप्त होना बताया गया है। यह शब्द बौद्ध चिन्तन से लिया गया हो भी सकता है और नहीं भीः इसका विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं। जिस ओर मैं यहाँ ध्यान दिलाना चाहता हूँ वह यह है कि निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध की समाप्ति के समय वसिष्ठ का राम के प्रति उपदेश पूरा हो चुका है और इस उपदेश के परिणाम-स्वरूप राम में शक्तिपात हो जाता है। यह शक्तिपात शाम्भव शक्तिपात है। यह शब्दावली कश्मीर शैव दर्शन की है जिसके फलस्वरूप शिवता प्राप्त होती है। अब राम को उस स्थिति से वापस लाकर अपने लौकिक कार्यों में लगाने के लिए

वसिष्ठ प्रयास करते हैं जिसके बाद स्वाभाविक है कि राम यह जानना चाहते हैं कि जीवित रहते ही ब्रह्मस्थ रहना कैसे सम्भव है। यही तुर्यातीत या जीवन्मुक्त होने की स्थिति है और इसी के लिए निर्वाण-प्रकरण का उत्तरार्ध लिखा गया है।

इस प्रकार मेरा कहना है कि प्रथम तीन प्रकरणों, अर्थात (१) वैराग्य-प्रकरण, (२) मुमुक्षुव्यवहार- प्रकरण, तथा (३) उत्पत्ति-प्रकरण का समुच्चय, जाग्रत दशा को ध्यान में रखकर, चतुर्थ प्रकरण, अर्थात (४) स्थिति-प्रकरण, स्वप्न दशा को ध्यान में रखकर, पंचम प्रकरण, अर्थात (५) उपशम-प्रकरण, सुषुप्ति दशा को ध्यान में रखकर, (६) निर्वाण-प्रकरण का पूर्वार्ध तुर्य दशा को ध्यान में रखकर, और (७) निर्वाण-प्रकरण का उत्तरार्ध तुर्यातीत दशा को ध्यान में रखकर लिखे गये हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि क्रमशः इन्हीं दशाओं का इन प्रकरणों में प्रतिपादन हैः यह एक प्रारूप है जैसे अभिनवगुप्त ने यह माना है कि भरत के नाट्यशास्त्र में ३७ अध्याय हैं और ये शैव दर्शन में प्रतिपादित ३६ तत्त्वों में सैंतीसवाँ 'अनुत्तर' जोड़कर बनी संख्या के अनुरूप हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि रामायण में चौबीस हज़ार श्लोक इसलिए हैं कि त्रिपदा गायत्री में चौबीस अक्षर हैं, या योगवासिष्ठ में बत्तीस हज़ार श्लोक इसलिए हैं कि चतुष्पदा गायत्री में बत्तीस अक्षर हैं।

जहाँ तक कथा का प्रश्न है, ग्रन्थ को रामकथा के भीतर वहाँ जगह दी गयी है जहाँ विश्वामित्र राम को अपने यज्ञों की रक्षा के लिए दशरथ से माँगने आते हैं। निर्वाण-प्रकरण के अन्तिम अर्थात एक सौ अट्ठाईसवें सर्ग की पुष्पिका में मुझे 'बालकाण्डे' भी लिखा मिला किन्तु योगवासिष्ठ का काण्डों में कोई विभाजन नहीं है; यह 'बालकाण्ड' प्रचलित रामकथा की समय-सारणी को पुष्ट करने के लिए लिखा जान पड़ता है। इसके पूर्व यह कल्पना की गयी है कि राम ने अपने यौवन के प्रारम्भ में ही एक तीर्थाटन किया था और सब तरफ दुख देखकर उनका मन संसार से उचट गया था, अतः सबके लिए पहली प्राथमिकता यह हुई कि उन्हें अपनी नियत भूमिकाओं, अर्थात राक्षस-वध आदि के लिए तैयार किया जाए। वैराग्य का कारण तो भगवान बुद्ध के वैराग्य के कारण से मिलता-जुलता है किन्तु समाधान ठीक विपरीत है- संसार से पलायन नहीं संसार में अपना कर्तव्य-निर्वाह। इस प्रकार यह ठीक वही स्थिति है जो महाभारत में ऐन लड़ाई शुरू होने के पहले अर्जुन की हुई थी और समाधान भी वही है, अर्थात ब्रह्मज्ञान का उपदेश जो जीवन्मुक्त बनाता है और जिसके बाद अकर्म से विमुख होकर व्यक्ति निष्काम कर्म करना प्रारम्भ कर देता है। भगवान बुद्ध की कथा का विरोध हमें चूडालोपाख्यान में भी मिलता है जहाँ शिखिध्वज अपनी पत्नी चूडाला को रात में सोते समय छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है और बाद में चूडाला ही शिखिध्वज को ब्रह्मज्ञानोपदेश द्वारा जीवन्मुक्ति तक पहुँचा कर अकर्म से विरत करती है; इसे बुद्ध की कहानी में यशोधरा के पक्ष में हस्तक्षेप भी मान सकते हैं।

किन्तु योगवासिष्ठ में गुरु-शिष्य की भूमिकाएँ श्रीमद्भगवद्गीता से उलट दी गयी हैं, अर्जुन की जगह राम हैं और कृष्ण की जगह वसिष्ठ, ईश्वर शिष्य है और मनुष्य गुरु। इस बात ने योगवासिष्ठ-कार को एक अवसर ज्ञान के उपदेष्टा और उपदेश्य के बारे में कुछ कहने का दिया : राम विष्णु-स्वरूप होते हुए भी शापवश अपनी सर्वज्ञता कुछ समय के लिए भूल गये हैं अतः उन्हें ज्ञानोपदेश की आवश्यकता है ताकि वे अपना वास्तविक स्वरूप समझें। यही साधारण जीव की स्थिति है : ज्ञानप्राप्ति के बाद ही वह समझता है कि वह स्वयं ब्रह्म है। दूसरी ओर मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण के दसवें 'ज्ञानावतरण' नामक सर्ग में यह बताया गया है कि वसिष्ठ ने यद्यपि ज्ञानमूर्ति के रूप

में ही जन्म लिया था, चूँकि उन्हें आगे ज्ञान का उपदेश करना है इसलिए उनके पिता ब्रह्मा उन्हें शाप देते हैं कि वे कुछ समय के लिए अपना ज्ञान भूल जाँय ताकि उन्हें ब्रह्मा द्वारा ज्ञानोपदेश किया जा सके और इस प्रकार वे अपने ज्ञान को एक गुरु से प्राप्त बता सकें न कि स्वतःस्फूर्ति के रूप में : संक्षेप में यह कि ज्ञान मौलिक नहीं होता गुरु के द्वारा अधिकारी शिष्य को दिया जाता है।

मौलिकता का यह अस्वीकार मानवीय इतिहास को भारतीय सर्जना की एक विशिष्ट साभ्यतिक देन है जिसका एक छोटा सा प्रमाण यही है कि हमारे सारे लेखक गुमनाम हैं और स्वयं योगवासिष्ठ-कार अपनी बातें वाल्मीकि और वसिष्ठ के नाम पर कहते हैं। जिसे अभी बीती सदी में 'लेखक की मृत्यु' कहा गया है उसका एक उदात्त संस्करण हमारे सामने ज्ञान-परम्परा की इस समझ में शुरू से मौजूद है।

शापग्रस्त ब्रह्म ही जीव है, इस बात को रेखांकित करते हुए शापग्रस्त गुरु और शापग्रस्त शिष्य की मुक्ति का साधन यह मोक्षोपाय नामक ग्रन्थ उत्पत्ति-प्रकरण के आठवें सर्ग में की गयी वसिष्ठ की घोषणा के अनुसार वर और शाप की तरह ही यथार्थ है, अन्यथा नहीं हो सकता। 'वर' और 'शाप' के यथा-अर्थ की इस समस्या पर ग्रन्थ लगभग अन्त में एक बार फिर लौटता है जहाँ निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध के सर्ग १८३ में न केवल वर और शाप एक-दूसरे के भीतर घुस जाते हैं, अपितु निवर्तमान शापों की जगह वरों का एक समूह वैसे ही ले लेता है जैसे संस्कृत व्याकरण में स्थानी की जगह आदेश ले लेता है, अर्थात जैसे कहीं-कहीं 'अस्' की जगह 'भू' ले लेता है। इस सटीक उपमा को, जिसका उपयोग कालिदास ने रघुवंश में वालि-वध के समय किया है, काम में लाते हुए योगवासिष्ठ-कार ने वर और शाप की इयत्ता, सत्ता, और अ-सत्ता के बारे में जो कहना चाहा है उसमें से कई प्रश्नों के उत्तर खोजने की शुरुआत की जा सकती है, मसलन यही कि 'शब्द' और 'शाप' या वर और शाप का परस्पर सम्बन्ध क्या है।

यों तो योगवासिष्ठ अगस्ति द्वारा सुतीक्ष्ण के संशय के समाधान की कहानी है, पर यह समाधान अग्निवेश्य द्वारा कारुण्य के संशय के समाधान की कहानी है, फिर यह समाधान सुरुचि नाम की अप्सरा को देवदूत द्वारा सुनायी गयी कहानी है और यह कहानी वाल्मीकि द्वारा अरिष्टनेमि के संशय के समाधान की कहानी है, जो वाल्मीकि द्वारा भरद्वाज के संशय के समाधान की कहानी है, और यह समाधान वसिष्ठ द्वारा राम के संशय के समाधान की कहानी है। इन सबके पीछे की कहानी सृष्टिकर्ता द्वारा वसिष्ठ को ज्ञानोपदेश की कहानी है जिनका जन्म ही इस कहानी को औरों को सुनाने के लिए हुआ है। प्रत्येक कहानीकार ने अपनी कहानी किसी वाचक से ली है।

शुरुआत कुछ यों है कि सुतीक्ष्ण नामक जिज्ञासु अगस्ति नामक महर्षि के पास जाकर यह जानना चाहता है कि मोक्ष का कारण क्या है, ज्ञान अथवा कर्म अथवा दोनों का समुच्चय। यह प्रश्न वेदान्त-चिन्तन में केन्द्रीय है। योगवासिष्ठ का प्रारम्भ कुछ इस तरह हुआ है कि उसे आसानी से ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वादी माना जा सकता है किन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो जाता है कि शांकर अद्वैत का पक्ष, अर्थात मुक्ति केवल ज्ञान से है और कर्म निष्काम होना चाहिए, ही योगवासिष्ठ का पक्ष है।

यह ग्रन्थ यद्यपि स्वपक्ष के प्रतिपादन में दृढ़ है, इसकी रुचि परपक्ष के खण्डन में नहीं है। किन्तु इसका मत, अर्थात 'अजातवाद', स्वयं ही कुछ ऐसे खण्डनात्मक तत्त्वों का बना है कि अद्वैतेतर मत ही नहीं, अद्वैत के भीतर भी इससे

भिन्न मत निरस्त माने जाते हैं। और यह दिलचस्प है कि ग्रन्थ के भीतर ही आगे चलकर भुशुण्डोपाख्यान में भुशुण्ड ने वसिष्ठ से यह कहा है कि उनकी देखी हुई सृष्टियों में से अनेक ऐसी भी थीं जिनमें अगस्ति का अस्तित्व नहीं था और इस प्रकार इशारे से यह बता दिया गया है कि इस मोक्ष-जिज्ञासा और फलतः इसके समाधान के रूप में जो यह मोक्षोपाय नामक ग्रन्थ रचा गया है उसकी सम्भावना भी सार्वत्रिक सार्वकालिक सत्य नहीं है। एक बहुत ही विखण्डनात्मक विधि से उत्पत्ति-प्रकरण के लीलोपाख्यान में वसिष्ठ ने अपनी मृत्यु की सूचना भी दी है, एक पहाड़ी गाँव के जिस ब्राह्मण ने मृत्यु के बाद पद्म और फिर विदूरथ नामक राजा के रूप में जन्म लिया, उसका नाम वसिष्ठ है।

भारतीय साहित्य-दृष्टि और आख्यान-परम्परा में यह विलोपन नितान्त स्वाभाविक है, बल्कि एक अभिलक्षण सा है। हमारे साहित्य-ग्रन्थ, चाहे वे धर्म-ग्रन्थ या दर्शन-ग्रन्थ के रूप में ही क्यों न प्रसिद्ध हों, सीधे-सीधे या प्रकारान्तर से अपने श्रोता-वक्ता के लिए मृत्यु के आरपार एक पुल बनाते हैं। मैं इस पर अन्यत्र संकेत के रूप में कुछ लिख चुका हूँ; यहाँ भी विस्तार से कुछ कहने का अवकाश नहीं है किन्तु उदाहरण के लिए अगर हम श्रीमद्भागवत को देखें तो उसमें वक्ता शुकदेव अपनी 'छाया' में उपस्थित हैं और हमें याद करना पड़ता है कि शुकदेव की ख्याति में उनकी अकाल-मृत्यु शामिल है, श्रोता परीक्षित मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है, बाँस में बैठा धुन्धुकारी का प्रेत इन्तिजार में है कि कथा समाप्त हो और वह प्रेत-योनि से मुक्ति पाये। यही चोला-बदल कथासरित्सागर की बुनावट में है, यही सारे पुराणों की रचना-युक्ति है। योगवासिष्ठ तो खैर घोषित रूप से मोक्षोपाय है।

३

इतिहास के प्रवचनकर्ता

योगवासिष्ठ अपने को 'इतिहास' कहता है, वसिष्ठ की राम के प्रति उक्ति है :

इतिहासों में उत्तम इस ग्रन्थ को सुनने से बोध-प्रवर्तन होता है। सभी इतिहास-ग्रन्थों का यह ग्रन्थ सारभूत है।[६] जहाँ पर वसिष्ठ इसे 'इतिहास' कहते हैं वहीं इसे महारामायण भी कहते हैं और इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि उत्तर-रामायण तथा वासिष्ठ-रामायण आदि नामों से भी है। वाङ्मय का हमारा पारम्परिक वर्गीकरण कुल दो ग्रन्थों को 'इतिहास' की संज्ञा देता हैः रामायण और महाभारत। अब हम यह स्मरण कर सकते हैं कि एक श्रुति-परम्परा के अनुसार एक महाभारत महर्षि जैमिनि ने भी लिखी थी जिसका इस समय केवल एक पर्व अश्वमेघपर्व उपलब्ध है। फिर हमें ऐसी उड़ान भरने के लिए अवकाश है कि इस देश में कभी 'इतिहास' नामक काव्यविधा की रचनाएँ थीं। इस काव्यविधा के लक्षणों में मैं 'महर्षि-कर्तृत्व' को शामिल करने का प्रस्ताव करता हूँ और यह मानना चाहता हूँ कि हमारे पास उदाहरण के रूप में वाल्मीकि-कृत तथा वसिष्ठ-कृत दो रामायण-इतिहास और व्यास-कृत तथा (अधूरे रूप में) जैमिनि-कृत दो महाभारत-इतिहास उपलब्ध हैं। यद्यपि यह प्रस्ताव मुझे आकर्षक लगता है, मैं इसके पक्ष में न तो प्राचीन और न ही आधुनिक गुणीजनमत में से कोई संकेत जुटा पाया हूँ और इसका तिरस्कार ही करने पर विवश हूँ।

योगवासिष्ठ अपने कर्तृत्व के बारे में जो स्वयं कहता है वह यह है कि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना दो किश्तों में कीः पहली किश्त में चौबीस हजार श्लोकों वाली रामायण जो कथोपाय था और दूसरी किश्त में बत्तीस हजार श्लोकों वाली उत्तर रामायण जिसे हम योगवासिष्ठ के नाम से जानते हैं[९०] और जो मोक्षोपाय है। इस मोक्षोपाय नाम ने कुछ विद्वानों में बहुत उत्साह जगाया है और उन्होंने उपलब्ध योगवासिष्ठ में से काट-छाँट कर के मोक्षोपाय नामक 'मूलग्रन्थ' खोज ही निकाला है।[९१] जिसके पीछे यह विचार भी केन्द्रीय है कि मूलतः मोक्षोपाय एक 'बौद्ध ग्रन्थ' था जिसका 'ब्राह्मणीकृत' रूप वर्तमान उपलब्ध योगवासिष्ठ है।

योगवासिष्ठ के प्रवचनकर्ता वसिष्ठ का श्रोता राम से इस ग्रन्थ के बारे में यह कहना है कि 'जो यहाँ है वही और जगह है और जो यहाँ नहीं है वह कहीं नहीं है'।[९२] ठीक यही बात महाभारत के बारे में बताते हुए प्रवचनकर्ता वैशम्पायन ने श्रोता जनमेजय से कही है।[९३]

इतनी चर्चा से हम इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि योगवासिष्ठ की आकांक्षा केवल वाल्मीकि-कृत कहे जाने की नहीं अपितु वाल्मीकि-कृत रामायण में समाहित हो जाने की है और इसी गरिमा के अनुरूप महाभारत के दावे को अपना लेने की है। इस प्रकार 'सभी इतिहासों का सार' होने का दावा गम्भीरता-पूर्वक किया गया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस ग्रन्थ के अनुसार हुआ यह है कि चौबीस हजार श्लोकों वाली प्रचलित रामायण को वाल्मीकि ने रचने के बाद अपने शिष्य भरद्वाज को सौंप दिया और भरद्वाज ने एक बार उसे ब्रह्मा जी को सुनाया जिस पर ब्रह्मा जी ने उनसे वर माँगने को कहा। भरद्वाज ने वह उपाय पूछा जिससे जनता दुःख से छुटकारा पा सके। ब्रह्मा ने फिर वाल्मीकि को आदेश दिया कि वे अपनी रामायण को अधूरा न छोड़ें, उसे पूरा करें। वर्तमान उपलब्ध रामायण राम को कुश और लव द्वारा सुनायी गयी है और वाल्मीकि ने योगवासिष्ठ के प्रारम्भ में अरिष्टनेमि से कहा है कि इसी ग्रन्थ के फलस्वरूप सीता, विभीषण, हनूमान, राम के आठ मन्त्री, आदि भी मुक्त हुए जबकि जिस वसिष्ठ-राम-संवाद के रूप में योगवासिष्ठ है उसके समय राम का विवाह भी नहीं हुआ था, यद्यपि यह सच है कि ऐसा भी नहीं कहा गया कि सीता, विभीषण, हनूमान, आदि उसी वसिष्ठ-राम-संवाद के समय मौजूद थे जिस की चर्चा योगवासिष्ठ में है, अर्थात यह कहने की गुंजाइश है कि सीता, विभीषण, हनूमान, आदि ने योगवासिष्ठ का श्रवण किसी अन्य समय में बाद में चल कर किया। जो भी हो, कालक्रम में इस प्रकार की कुछ कठिनाइयाँ हैं, किन्तु यह भारतीय साहित्य की रचना-प्रक्रिया के लिए कोई अपरिचित बात नहीं और हम यह संकेत मान सकते हैं कि योगवासिष्ठ का अवतरण किसी ऐसे कल्प में हुआ होगा जिसमें वाल्मीकि ने भरद्वाज को रामायण धारण और प्रचार के लिए सौंपी होगी। रामायण का एक अद्भुतोत्तरकाण्ड, जो अद्भुत-रामायण भी कहलाता है, भी वाल्मीकि-भरद्वाज-संवाद के रूप में है।

इतिहास होने के दावों के बावजूद, योगवासिष्ठ का पूरा ढाँचा श्रीमद्भागवद्गीता के आधार पर है; जैसे वह पूरा ग्रन्थ ज्ञानोपदेश है वैसे ही यह पूरा ग्रन्थ भी ज्ञानोपदेश है और अगर इसमें कथाएँ हैं तो उसी ज्ञानोपदेश के दृष्टान्तों के रूप में हैं। जिस प्रकार श्रीमद्भागवद्गीता में प्रत्येक अध्याय अपनी पुष्पिका में कोई न कोई 'योग' कहलाता है, उसी प्रकार योगवासिष्ठ के भी अनेक अध्याय किसी न किसी 'योग' के नाम से पुष्पिकाओं में अंकित हैं। ग्रन्थ के भीतर

'ब्रह्म-गीता', परमार्थ-गीता', 'वसिष्ठ-गीता' आदि नामों से कई 'उप-गीताएँ' हैं। एक 'अर्जुनोपाख्यान' भी है जो श्रीमद्भागवद्गीता का पुनर्लेखन है।

योगवासिष्ठ में 'योग', प्रचलित अर्थ में भी थोड़ा सा है, चूडालोपाख्यान में और कुछ अन्य जगहों पर कुण्डलिनी-जागरण, प्राणायाम आदि का वर्णन है, और राम द्वारा क्रमयोग की साधना, शक्तिपात, व्युत्थान आदि की भी चर्चा आती ही है किन्तु मुख्यतः इस ग्रन्थ में श्रीमद्भागवद्गीता की तरह ही 'योग' का अर्थ 'ज्ञान' है। इसका एक नाम ज्ञानवासिष्ठ भी है। यहाँ हम स्मरण कर सकते हैं कि श्रीमद्भागवद्गीता का प्रामाण्य क्रमदर्शन में आगम की तरह है।

योगवासिष्ठ के उस प्रकार से कई पाठ नहीं हैं जिस प्रकार से महाभारत और रामायण या अभिज्ञानशाकुन्तल के ही, दाक्षिणात्य पाठ, गौड पाठ आदि हैं। यह ग्रन्थ विद्वत्प्रिय रहा है, कई सार-संक्षेप हुए हैं, सार-संक्षेप के फारसी में कई अनुवाद भी हुए हैं, साधु-सन्त इस पर प्रवचन करते रहे हैं, विद्वान कई टीकाओं का नाम गिनाते हैं किन्तु मेरी जानकारी में पूरे ग्रन्थ पर एकमात्र टीका १७६६ शक अर्थात् १८४४ ईसवी में लिखी गयी आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती की तात्पर्यप्रकाश है और उन्होंने यह लिखा है कि उनकी टीका के पहले कोई टीका नहीं थी। हमारा सौभाग्य है कि यह टीका निर्णयसागर प्रेस से मुद्रित हुई थी और फिर भारत सरकार द्वारा पुनर्मुद्रित हुई। तात्पर्यप्रकाश-कार के पास शायद योगवासिष्ठ की कई पाण्डुलिपियाँ थीं क्योंकि उन्होंने बराबर पाठभेदों की सूचना दी है। ये शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान थे और टीका लिखने का काम उन्होंने अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया है। एक उदाहरण से ही इनके परिश्रम का अनुमान किया जा सकता है : निर्वाण-प्रकरण', उत्तरार्ध के जीवत्वसंसृतिप्रतिपादन नामक सर्ग १८७ के श्लोक ४१ में 'तामिमाः' शब्द आया है जिसे पहले तो उन्होंने 'तमु ग्लानौ' से निष्पन्न किया फिर चूँकि 'ताभिमाः' भी पाठ इन्हें किसी पाण्डुलिपि में मिला होगा, उसका तिरस्कार न करते हुए इन्होंने 'ताः अभिमाः' के रूप में पदच्छेद किया, सन्धि को 'आर्ष' माना और 'अभिमाः' को 'अभिमान आदि' के अर्थ में लिया।

अँग्रेज़ी में विहारीलाल मित्र का अनुवाद १८६६ में छपा था किन्तु मेरी नजर से नहीं गुजरा। हिन्दी में एक से अधिक अनुवाद इस बीच उपलब्ध हुए हैं जिनमें अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित अनुवाद का पुनःप्रकाशन विशेष स्वागत-योग्य है।

४

अन्तःपाठीयता

योगवासिष्ठ में बहुत से वाक्य ऐसे हैं जो अन्यत्र भी मिलते हैं। कालिदास से ली गयी पंक्ति की चर्चा ऊपर आ ही चुकी है, तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध, सर्ग १६३ का अन्तिम श्लोक) भी योगवासिष्ठ में पिरोया हुआ है। योगवासिष्ठ-कार द्वारा इस तरह अपनाये गये वाक्यों और वाक्यांशों के स्रोत विविध हैं और उन्होंने इस प्रविधि को अलंकार की तरह अपने काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने के लिए इस्तेमाल किया है किन्तु स्रोत-वैविध्य के बावजूद ग्रन्थ की विषयवस्तु को देखते हुए उन वाक्यों की ओर सबसे अधिक ध्यान जाता है जो उपनिषदों और श्रीमद्भागवद्गीता आदि से लिए गए हैं। यही बात यों भी कही जा सकती है कि सम्बद्ध ग्रन्थों में

ये वाक्य योगवासिष्ठ से लिए गए हैं। यह अन्तःपाठीयता स्पष्ट ही एक घोषणा है कि योगवासिष्ठ का कहना वही है जो उपनिषदों का कहना है।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य ग्रन्थों से लिए गए वाक्य केवल ग्रन्थ की कलेवर-वृद्धि के लिए या ग्रन्थकार के पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए हैं। प्रायः योगवासिष्ठ-कार दूसरे ग्रन्थ के वाक्यों को इसलिए उद्धृत करते हैं कि उन्हें उसी विषय पर कुछ और कहना है। मेरा तात्पर्य निम्नलिखित उदाहरण से कुछ स्पष्ट हो जायेगा।

योगवासिष्ठ में दो श्लोक हैं :

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा
योऽभिवाञ्छत्यसद्ग्राम तस्यासत्तैव दृश्यते।।
आदावन्ते च यत्सत्यं वर्तमाने सदेव तत्
सस्य सर्वं सदेव स्यात्तस्य सत्तैव दृश्यते।।

-योगवासिष्ठ ४(स्थिति-प्रकरण) - ४५ (यथाभूतार्थयोगोपदेश-सर्ग)-४५, ४६

[जो प्रारम्भ में और अन्त में विद्यमान नहीं है वह वर्तमान में भी विद्यमान नहीं है। (वसिष्ठ राम से कहते हैं) राम, जिसकी चाहत 'विद्यमान नहीं है' की है, उसे 'विद्यमान नहीं है' ही दिखायी देता है। जो प्रारम्भ में और अन्त में विद्यमान है वह वर्तमान में भी विद्यमान है। जिसकी चाहत 'विद्यमान है' की है, उसे 'विद्यमान है' ही दिखायी देता है।]

इस उद्धरण की पहली पंक्ति गौडपाद-कृत माण्डूक्य-कारिका की एक कारिका में भी है :

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।

-माण्डूक्यकारिका २(वैतथ्य-प्रकरण) - ६; ४(अलातशान्ति-प्रकरण)-३१ के रूप में पुनःपठित।

[जो प्रारम्भ में और अन्त में मौजूद नहीं है वह वर्तमान में भी मौजूद नहीं है। चीजें झूठ के बराबर हैं लेकिन सच की तरह दीखती हैं।]

ज़ाहिर है कि योगवासिष्ठ 'है' और 'नहीं है' के बीच किसी एक का पक्षधर नहीं है अपितु उसका कहना कुछ यह है कि 'कुछ भी मान लो क्या फर्क पड़ता है' जब कि माण्डूक्यकारिका 'नहीं है' की पक्षधर है। दोनों ही यही कह रहे हैं कि सृष्टि भ्रम है किन्तु दोनों की कथन-शैली में अन्तर है और इस नाते योगवासिष्ठ का कथन अधिक ज़ोरदार और कुछ हद तक आगे बढ़ा हुआ लगता है।

एक और उदाहरण यह है :

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे
असंकल्पः परं श्रेयः स किमन्तर्न भाव्यते।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - १ (इच्छादिचिकित्सायोगोपदेश-सर्ग)-११

[(वसिष्ठ का कथन) मैं हाथ उठाये चिल्ला रहा हूँ कि संकल्प न करना ही सर्वाधिक कल्याणकारी है, अ-संकल्प को क्यों नहीं अपने भीतर ले आते, किन्तु कोई मेरी सुनता ही नहीं।]

इसकी पहली पंक्ति इस प्रसिद्ध श्लोक की है :

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येतत् न कश्चिच्छृणोति मे
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते।।

-भारतसावित्री ८६

[(व्यास का कथन) मैं हाथ उठाये चिल्ला रहा हूँ कि धर्म से ही अर्थ और काम सिद्ध होते हैं, उस धर्म को क्यों नहीं अपनाते, किन्तु कोई मेरी सुनता ही नहीं।]

उपदेश-प्राप्ति के बाद योगवासिष्ठ की समाप्ति पर राम के और भगवद्गीता की समाप्ति पर अर्जुन के कृतज्ञता-ज्ञापनों में लगभग एक से शब्द प्रयुक्त हैं :

नष्टो मोहः पदं प्राप्तं त्वत्प्रसादान्महीश्वर
सम्पन्नोऽहमहं सत्यमत्यन्तमवदातधीः।।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि
निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - २१४ (महोत्सववर्णन-सर्ग)-१४, १५

[(वसिष्ठ से राम कहते हैं) आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं अपनी जगह पा गया, मैं अत्यन्त निर्मल बुद्धि वाला हो गया, मैं सम्पन्न हो गया।]

मेरा सन्देह दूर हो गया, मैं अपने ब्रह्म-रूपी स्वभाव में स्थिर हो गया, मेरे सामने ज्ञान से आवरण हट गया, मैं आप का कहना मानूँगा।]

से तुलनीय है

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।

-भगवद्गीता १८-७३

[(कृष्ण से अर्जुन कहते हैं) हे अच्युत, आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे मेरी स्मृति वापस मिल गयी, मेरा सन्देह दूर हो गया, मैं आपका कहना मानूँगा।]

इसी प्रकार भगवद्गीता का यह श्लोक

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

-भगवद्गीता १०-६

और योगवासिष्ठ का यह श्लोक

तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्
कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।

-योगवासिष्ठ ३(उत्पत्ति-प्रकरण) - ६ (परमकारणवर्णन-सर्ग)-१

लगभग एक ही हैं।

भगवद्गीता में आये

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

-भगवद्गीता २-१६

में का नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः योगवासिष्ठ में सैकड़ों बार आया होगा। उदाहरण के लिए :

जगद्दृश्यं तु यद्यस्ति, न शाम्यत्येव कस्यचित्
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।।

-योगवासिष्ठ ३(उत्पत्ति-प्रकरण) - १ (बन्धहेतुवर्णन-सर्ग)-२६

इसी प्रकार महोपनिषत् और योगवासिष्ठ में यह श्लोक समान है:

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्।।

-महोपनिषत् ३-४८ तथा योगवासिष्ठ १ (वैराग्य-प्रकरण) - २१ (स्त्रीजुगुप्सा-सर्ग)-३५

५

प्रस्थानत्रयी और योगवासिष्ठ

ऊपर दिये गये दिङ्मात्र उदाहरणों की संख्या बढ़ाना तकनीक के लिहाज से बहुत आसान है यद्यपि इसके लिए समस्त औपनिषदिक वाङ्मय की गहरी छान-बीन आवश्यक है और इस प्रकार यह कठिन परिश्रम चाहता है। ऐसा एक 'कन्कार्डैंस' (= concordance) बने तो भारतीय दर्शन के लिए अध्ययन हेतु वह अत्यन्त उपयोगी सामग्री होगी। मैं यहाँ कहना यह चाहता हूँ कि यह अन्तःपाठीयता सोद्देश्य है और इसका तात्पर्य यह दिखाना है कि योगवासिष्ठ में जो कहा गया है वह प्रस्थानत्रयी-अर्थात् भगवद्गीता, उपनिषदों, और ब्रह्मसूत्र- से सुसंगत है। भगवद्गीता से सुसंगति सबसे सतह पर है, पंक्तियाँ, उपदेश, ढाँचा, सबकुछ इतना मिलता है कि लगता है इसे भगवद्गीता के विस्तृत संस्करण के रूप में ही लिखा गया है। उपनिषदों से सुसंगति कुछ वाक्यों की उपस्थिति तक ही सीमित नहीं, टीकाकार आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती ने पग-पग पर अपनी टीका में यह दिखाया है कि योगवासिष्ठ में जो कुछ कहा गया है वह उपनिषदों द्वारा समर्थित है। स्वयं योगवासिष्ठ के मूल पाठ में ही अपने को श्रुतिसम्मत सिद्ध करने की बहुत स्पष्ट इच्छा है। उसका प्रारम्भ-श्लोक है:

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः।।

-योगवासिष्ठ १ (वैराग्य-प्रकरण) - १ (सूत्रपातनिका-सर्ग)-१

जो सीधे-सीधे इस श्रुतिवाक्य पर आधारित है

यततो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति,
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।।

-तैत्तिरीयोपनिषत् ३ - १

और इसका समापन इस अन्तिम श्लोक से होता है:

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम्
श्रुत्वा ह्युदीर्यते साम्नि, तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - २१६ (आत्मनिवेदन-सर्ग)-२५

जो निम्नांकित श्रुतिवाक्यः

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्तमुपासीत।।

-छान्दोग्योपनिषत् ३ (अध्याय)-१४ (शाण्डिल्यविद्या-खण्ड)-१[१४]

में अपना आश्रय ढूँढता है। इस प्रकार योगवासिष्ठ यह कहता है कि उसका कथ्य वही है जो उपनिषदों का है। ब्रह्मसूत्र से सम्बन्ध थोड़ा कम प्रत्यक्ष है किन्तु मेरा मानना है कि योगवासिष्ठ में आतिवाहिक देहों द्वारा जो विविध लोकों की यात्राएँ बार-बार दिखायी गयी हैं उनके मूल में ब्रह्मलोक, देवलोक, आदि की वे यात्राएँ हैं जिनका संकेत ब्रह्मसूत्र के ''आतिवाहिकास्तल्लिंगात्'' (४-३-४) में किया गया है। टीकाकार ने अनेक स्थलों पर दिखाया है कि ब्रह्मसूत्र का कौन सा सूत्र योगवासिष्ठ के किस वक्तव्य का समर्थन करता है।

६

दर्शन

योगवासिष्ठ का विचारणीय विषय ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या पर भारतीय परम्परा में जो गुरुशिष्यसंवाद होता है उसमें प्रायः शिष्य को घबड़ाहट होती है। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में मैत्रेयी ने कहा, ''आप मुझे मोह में डाल रहे हैं'' और याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा ''मैं तुम्हें मोह में नहीं डाल रहा हूँ।''[१५] भगवद्गीता में भी अर्जुन की शिकायत है कि कृष्ण उसे भरमा रहे हैं।

ठीक ऐसी ही बात गौडपाद ने कही है : ''(मैं जिस योग की बात कर रहा हूँ वह) अस्पर्शयोग ऐसा है कि उसे देखना सभी योगियों के लिए कठिन है। योगी उससे डरते हैं और इस प्रकार वे अभय में भय के दर्शन करते हैं।''[१६]

ये बातें रस्मी नहीं है और योगवासिष्ठ में तो इनकी जगह स्वाभाविक और अनिवार्य सी लगती है। देखिए क्या कहा जा रहा है :

वसिष्ठ ने राम से कहा-

> ''राम, तुम इस भीषण प्रतिज्ञा को सुनो जिसे तुम इस ग्रन्थ में आगे समझ जाओगे।
>
> यह मैं आकाश आदि पंच-महाभूतों से बताया जाता हूँ किन्तु 'जगत्' शब्द का कोई अर्थ है ही नहीं।

यह जो सामने दिखायी देता है वह वस्तुतः अमर अजर अव्यय परब्रह्म ही है।

पूर्ण का प्रसार पूर्ण में ही होता है, शान्त की व्यवस्थिति शान्त में ही है, (रिक्त) आकाश से आकाश ही उदित होता है, और ब्रह्म की स्थिति ब्रह्म में ही है।

कुछ भी ऐसा नहीं है जो दिखायी दे; न कुछ ऐसा है जिसका रूप हो, न कोई देखने वाला है न 'देखना' जैसा कुछ होता है। न शून्य कुछ है, न जड कुछ है, न चेतन कुछ है; बस एक शान्त है जो फैला हुआ है।''

श्री राम ने कहाः

''आप मुझसे कह रहे हैं कि बाँझ के बेटे ने पहाड़ पीस डाला, खरगोश का सींग गा रहा है, बाँह फैलाये चट्टान नाच रही है।

आप की बातें ऐसी हैं जैसे आप कह रहे हों कि बालू में से तेल टपक रहा है, पत्थर की पुतलियाँ बोल रही हैं, तसवीर में के बादल गरज रहे हैं।

यह जो बुढ़ापे से, मौत से, दुःखों से भरी दुनिया है, पहाड़ों और आसमान से बनी दुनिया है इसको आप कहते हैं कि है ही नहीं। यह आप क्या कह रहे हैं? और मुझसे कह रहे हैं?

तो ठीक है ब्राह्मण देवता, बताइये जिससे निश्चय हो कि यह दुनिया बनी ही नहीं, न पैदा हुई, न है।''

वसिष्ठ ने कहा :

''मैं ऊलजलूल नहीं बक रहा हूँ ; राम, सुनो -

मैं कहता हूँ कि यह दुनिया वैसी ही है जैसे कि बाँझ का बेटा रो रहा हो।''[९७]

योगवासिष्ठ-कार को यह भय भी है कि उनका ग्रन्थ 'अनार्य' समझा जायेगा और वे राम से कहते हैंः

''राम, यह मेरा कहा आख्यान (कविता होने के नाते) अनार्य है यह सोचकर इसका अनादर मत करना, जो दीखता है उसी को सच न मानना, इस संसार में जन्म लेने और मरने की हिस्सेदारी तक अपने को सीमित मत रखना।''[९८]

योगवासिष्ठ में आखिर ऐसा क्या कहा गया है?

एक बात तो शायद यह हो सकती है कि इसमें ब्रह्म और जगत् का ऐक्य बहुत कठोरता से प्रतिपादित किया गया हैः

सृष्टियाँ ही परब्रह्म हैं, परब्रह्म ही सृष्टि है। यहाँ कोई द्वैत नहीं है, जैसे अग्नि का या सूर्य का उष्णता से द्वैत नहीं है।

ये सृष्टियाँ हैं, यह ब्रह्म है, ये सब अत्यन्त अकथनीय बातें हैं। ये आवाज़ें ऐसी ही अर्थहीन हैं जैसी लकड़ी फाड़ते समय कुल्हाड़ी की चोट से निकलती आवाज़ें।[९९]

इसी बात को कुछ और उत्तेजक ढँग से यों कहा गया है :

> मैं ईश्वर नाम के किसी सृष्टि-कारण को नहीं मानता सिर्फ उसी निर्मल शून्य को मानता हूँ जिसका कोई आदि नहीं, कोई मध्य नहीं, (और इस प्रकार कोई अन्त भी नहीं है) उसी में से सृष्टियाँ वैसे ही (अपने आप) आती, जाती, गिरती, उठती रहती हैं, जैसे आग में से (अपने आप) चिनगारियाँ फूटती रहती हैं।[२०]

यहाँ गौरतलब यह है कि सामान्यतया एक सृष्टिकर्ता ईश्वर के लिए सभी दर्शनों में जगह होती है और इतनी कड़ाई से ईश्वर में अविश्वास नहीं व्यक्त किया जाता।

योगवासिष्ठ सम्भवतः सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन में अकेला ग्रन्थ है जो सृष्टि को काकतालीय बताता है। हो सकता है कि यह न रुचता हो। गीताप्रेस ने योगवासिष्ठ का जो संक्षिप्त संस्करण निकाला है वह गीताप्रेस से प्रकाशित होने वाला सम्भवतः अकेला ग्रन्थ है जिसमें यह प्रकाशकीय अनुरोध किया गया है कि प्रकाशित हो रहे ग्रन्थ का दुरुपयोग न किया जाय। मुझे लगता है कि जैसे कुमारिल भट्ट के अनुसार धर्म-जिज्ञासा से प्रारम्भ होने वाले कर्म-मीमांसा शास्त्र का कुछ आचार्यों ने लोकायतीकरण कर दिया था वैसे ही अद्वैत वेदान्त के अनेक विद्वानों की सोच यह है कि योगवासिष्ठ ने ब्रह्म-जिज्ञासा से प्रारम्भ होने वाले ज्ञान-मीमांसा शास्त्र का लोकायतीकरण कर दिया है।

जो भी हो, योगवासिष्ठ अपने को पातंजल महाभाष्य में व्याकरण-शास्त्र के लिए चुनी गयी भूमिका में रखते हुए सर्वशास्त्रपरिषद होने की घोषणा करता है : उसका आग्रह यह है कि उसे इसलिए पढ़ा जाये कि उसे पढ़ने के बाद सारे शास्त्रों में एक नया स्वाद वैसे ही पैदा हो जायगा जैसे नमक विभिन्न व्यंजनों में स्वाद पैदा कर देता है।[२१] टीकाकार ने भी अपनी टीका प्रारम्भ करते हुए एक श्लोक इसी आशय का लिखा है।[२२]

इस प्रकार योगवासिष्ठ का आग्रह चिन्तन-मनन की रसोई में नमक की जगह लेने का है। मेरी समझ में इससे सटीक उपमा इस ग्रन्थ के लिए नहीं हो सकती। अगर ब्रह्म-चिन्तन में मलाहत या लावण्य जैसी चीज है तो वह योगवासिष्ठ है।

७

अद्वैत, किन्तु कौन-सा ?

योगवासिष्ठ शांकर अद्वैत का मूर्धन्य ग्रन्थ माना जाता है और इसका ध्यान गौडपाद की माण्डूक्यकारिका के समकक्ष है। इसका प्रतिपाद्य माण्डूक्यकारिका की तरह ही 'अजातवाद' है किन्तु वेदान्त के अनेक ग्रन्थों में, उदाहरण के लिए, वेदान्तसार की टीकाओं में, इसके उद्धरण प्रमाण के रूप में पाये जाते हैं और यह इस अर्थ में एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ नहीं माना जाता कि इसमें आभासवाद, या प्रतिबिम्बवाद, या अवच्छेदवाद में से किसी एक का प्रतिपादन माना जाय। इतना ही नहीं, ऊपर-ऊपर से यह ग्रन्थ वेदान्तेतर अन्य दर्शनों के प्रति भी बड़ा उदार दीखता है और माण्डूक्यकारिका की तरह ही यह प्रदर्शित करता है कि इसका किसी मत से विरोध नहीं है किन्तु वस्तुतः यह सभी भिन्न मतों का तिरस्कार करता है, जैसा टीकाकार ने स्थान-स्थान पर दिखाया है, उनका युक्तिपूर्वक खण्डन भी करता है और प्रायः भेदवादियों के विरुद्ध बहुत कठोर शब्दावली भी अपनाता है। उदाहरण के लिए विद्वान टीकाकार ने सिद्ध किया है कि निम्नलिखित तीन आर्याओं में युक्तिपूर्वक विवर्तवाद की स्थापना की गयी है, स्वभाववाद का खण्डन किया गया है, और अपने सिद्धान्त के शून्यवाद बन जाने की आशंका का समाधान किया गया हैः

शान्तत्वे चित्तत्वे नानानानात्मनीह शिवे
अवयविनोऽवयवित्वे त्विह युक्तिर्विद्यते नान्या।।
अर्थागतस्वभावस्य च नैव च सम्भवादमले
एतस्मिन्सर्वगते ब्रह्मणि नास्ति स्वभावोक्तिः।।
न च नास्तिकोपलम्भात्संवित्तेरस्तिता च नैवाजे
ग्राह्यग्राहकदृष्टेरसम्भवादस्ति किंचिदपि।।

–योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-२६ (भावनाप्रतिपादन-सर्ग)-७६,७७,७८

इन सबके बावजूद, योगवासिष्ठ का मानना यही है कि जब आपको ज्ञान हो जाय तो आप उसे व्यक्त नहीं कर सकते। ऊपर की तीन आर्याएँ जिस सर्ग से उद्धृत हैं उसमें उनके आने के ठीक पहले ही राम ने पूछा है कि यदि कोई द्वैत नहीं है तो आप कौन हैं, मैं कौन हूँ और ये बातें क्या हो रही हैं? इसके उत्तर में वसिष्ठ चुप हो जाते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं कि प्रश्न की 'कोटि' यही है। बरबस हमें याज्ञवल्क्य की याद आती है जिन्होंने गार्गी से कहा था, ''अतिप्रश्न मत करो।'' वसिष्ठ का कहना है कि वाक् में कुछ दोष रहता है, वह 'प्रतियोगि-व्यवच्छेदादिसङ्कल्पनाङ्किता' होती है। तब राम कहते हैं कि ठीक है आप वाणी के दोष हटा कर ही बोलिए, इस 'प्रतियोगि-व्यवच्छेदादिसङ्कल्पनाङ्किता' वाणी[२३] का ही व्यवहार कीजिए और बोलिए।

वास्तविकता यह है कि शांकर अद्वैत की अध्ययन-परम्परा में योगवासिष्ठ का स्थान बहुत बाद में और बहुत ऊँचाई पर आता है, दूसरी तरह से इसे यों कहा जाता है कि इसे केवल अधिकारी विद्वानों द्वारा ही पढ़ा जाना चाहिए।

किन्तु शांकर अद्वैत के लोगों को भी योगवासिष्ठ-कार की अनेक उक्तियों को स्वीकार करना भारी पड़ता होगा। उदाहरण के लिए ''ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)'' एक ऐसा वाक्य है जिससे शांकर अद्वैत पहचाना जाता है। अब इसके सामने योगवासिष्ठ-कार की उक्ति हैः

यह जगत् असत्य है और ब्रह्म सत्य, ऐसा जो कहता है उस पागल जैसे पर तो मूर्ख और पागल भी हँसते हैं।[२४]

इसी प्रकार विवर्तवाद शांकर अद्वैत का स्वीकृत सिद्धान्त है और टीकाकार ने स्थान-स्थान पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि योगवासिष्ठ का अपना सिद्धान्त विवर्तवाद ही है। कहीं-कहीं लगता है कि योगवासिष्ठ-कार इसे स्पष्ट स्वीकार करते हैं :

> कहीं भी कोई भी चीज न मरती है न जन्म लेती है। जगत् नाम के इस विवर्त के रूप में केवल ब्रह्म ही जँभाई ले रहा है।[२५]

किन्तु यदि आप यह कहना चाहते हैं कि योगवासिष्ठ का सिद्धान्त-पक्ष विवर्तवाद है, तो इस उक्ति का भी सामना करना आपके लिए अनिवार्य होगाः

> यह कहना कि यह सम्पूर्ण संसार ब्रह्म का विवर्त है, केवल बच्चों को समझाने के लिए है। जो समझदार हैं वे तो अविवर्तित आनन्द (अर्थात् ब्रह्म) में ही स्थित हैं।[२६]

आगे बढ़ने के पहले मैं यह कहना चाहता हूँ कि विद्वानों द्वारा जो यह कहा जाता है कि योगवासिष्ठ-कार शंकराचार्य

से परिचित नहीं जान पड़ते, उस पर कुछ पुनर्विचार की ज़रूरत मुझे जान पड़ती है। अभी दिये गये ऊपर के उदाहरणों में हम शांकर वेदान्त की शब्दावली से निकट परिचय देख चुके हैं। निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध के 'जाग्रत्स्वन्पैक्योपदेश' नामक एक सौ पैसठवें सर्ग की टीका के प्रारम्भ में टीकाकार ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि इस सर्ग में सुरेश्वराचार्य द्वारा प्रतिपादित इस बात का खण्डन किया गया है कि जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्ति, इन तीनों की तीन-तीन अवस्थाएँ, 'जाग्रज्जाग्रत्', 'जाग्रत्स्वप्न' आदि होती है। इन सब कारणों से मेरा मानना यह है कि योगवासिष्ठ-कार शांकर-वेदान्त के अन्दर की बहसों से भी अच्छी तरह परिचित थे और उनकी रुचि उनसे टकराने में भी थी।

ब्रह्म से उद्भूत सृष्टि-प्रक्रिया को बताने के लिए योगवासिष्ठ-कार की प्रिय क्रिया कचन है जिसका उन्होंने हजारों बार पूरे ग्रन्थ में प्रयोग किया होगा और जैसा वे उत्पत्ति-प्रकरण के 'स्वयम्भूत्पत्ति' नामक तेरहवें सर्ग में (श्लोक ५१) कहते हैं, उनका मानना यह है कि ''ब्रह्म ही स्वयं अपने में अपने को अपने द्वारा 'कचित' करता है'' (ब्रह्मैव कचति स्वच्छमित्थमात्मात्मनात्मनि)। इस सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'कचति' पुनः आया है और टीकाकार ने इसका अर्थ किया है 'प्रथते' अर्थातृ 'फैलाता है।' एक अन्य स्थल पर टीकाकार ने 'स्फुरण' अर्थ भी इस क्रिया का बताया है। किन्तु हम देखते हैं कि भ्वादिगण में पठित सहोदर तथा लगभग समार्थी धातुओं 'कच्' और 'कचि' से बनने वाले शब्द 'बन्धन', 'दीप्ति', 'भासन', 'नेत्रदोष के कारण उत्पन्न दृष्टिभ्रम' और 'आवरण' आदि अर्थों को बताने वाले हो सकते हैं। जो शब्द इनसे बनते हैं वे हैं 'काच', 'कच', 'कंचन', और 'कांची'। योगवासिष्ठ-कार ने इस 'कच्' धातु का प्रायः सर्वत्र परस्मैपदी उपयोग किया है जबकि धातुपाठ के अनुसार यह आत्मनेपदी धातु है और इसका क्या महत्त्व हो सकता है यह मैं नहीं बता सकता किन्तु इतना तो फिर भी स्पष्ट है कि इस प्रकार 'अवच्छेद', 'आभास', 'प्रतिबिम्ब' 'भ्रान्ति' आदि जगद्वर्णन के सभी वेदान्ती सिद्धान्त इससे निकाले जा सकते हैं जिनमें से प्रत्येक का स्थान-स्थान पर ग्रन्थ में प्रतिपादन भी हुआ है। जो भी हो, योगवासिष्ठ-कार इस जगत् को 'चित्काचकाचकच्य' कहते हैं :

चित्काचकाचकच्यं यज्जगन्नाम्ना तदुच्यते
अत्यच्छे परमाकाशे बन्धमोक्षदृशः कुतः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - ५५ (जगतःपरमार्थमयत्ववर्णन-सर्ग)-१८

योगवासिष्ठ-कार का लगभग कचन जितना ही प्रिय शब्द कलना है जो सम्भवतः काश्मीर शैवदर्शन से आया है। वहीं से योगवासिष्ठ-कार के प्रयोग में स्पन्द और नियति भी आये लगते हैं। योगवासिष्ठ-कार की काश्मीर शैवदर्शन से अन्तःपाठीयता पर थोड़ा आगे भी कहा जायेगा किन्तु यहाँ मैं इतना दर्ज करना चाहूँगा कि योगवासिष्ठ का प्रतिपाद्य 'अजातवाद' अभिनवगुप्त के निम्नलिखित श्लोक में प्रतिपादित 'शैव अजातवाद' से भिन्न नहीं है :

मणाविन्द्रायुधे भास इव नीलादयः शिवे
परमार्थत एतेषां नोदयो नो व्ययः क्वचित्।।

-तन्त्रालोक ११-११०

[इन्द्रायुध मणि में जैसे नीलता दिखती है (किन्तु है नहीं, जैसे कि स्फटिक में लाल रंग नहीं होता, बगल में रखे जपापुष्प के नाते दीखता है) वैसे ही शिव में भी विविध पदार्थ झलकते हैं। वस्तुतः इनका न उदय है न इनकी समाप्ति है।]

जैसा कि योगवासिष्ठ-कार बराबर कहते हैं, ब्रह्म में जगत् वैसे ही है जैसे जल में द्रवत्व, आकाश में शून्यत्व और वस्तु में वस्तुत्व रहता है।[२७]

८

सिद्धान्त-पक्ष क्या है?

योगवासिष्ठ की रचना का एक आन्तरिक चक्र जो वाल्मीकि-भरद्वाज-संवाद के रूप में है, निर्वाणप्रकरण के पूर्वार्द्ध के अन्त में समाप्त हो जाता है। वहाँ ग्रन्थ-समापन की लगभग स्पष्ट घोषणा है, वाल्मीकि ने भरद्वाज को सूचना दी है कि राम को सिद्धि प्राप्त हो गयी और एक फलश्रुति भी दी हुई है :

> भरद्वाज, यह सारी रामचन्द्र की कहानी मैंने तुमसे कही। इसी क्रमयोग से तुम सुखी रहो।
>
> यह जो वसिष्ठ की रत्नों की माला जैसी सुन्दर बातों के माध्यम से राम द्वारा प्राप्त सिद्धि का बयान मैंने तुमसे किया, वह सभी कवियों और योगियों द्वारा अपनाने योग्य है और परमगुरु भगवान् शिव के कृपाकटाक्ष से मुक्ति देती है।
>
> जो इस राम-वसिष्ठ-संवाद को सुनता है, वह किसी भी दशा में हो, मुक्त होता है और ब्रह्म को प्राप्त होता है।[२८]

इसमें 'क्रमयोग' शब्द महत्त्वपूर्ण है। यह शब्द तन्त्रालोक के पाँचवें आह्निक में आया हुआ है और क्रमदर्शन के भीतर एक 'आणव उपाय' है। योगवासिष्ठ में उपरिलिखित उद्धरण के पूर्व की कहानी यह है कि वाल्मीकि ने भरद्वाज को एक यौगिक प्रक्रिया का उपदेश दिया है; यही यौगिक प्रक्रिया 'क्रमयोग' कही गयी है। इसी क्रमयोग का उपदेश वसिष्ठ ने राम को दिया है।[२९]

विश्वामित्र ने वसिष्ठ द्वारा इस क्रमयोग का उपदेश राम को दिए जाने के फलस्वरूप राम में शक्तिपात होना बताया है और वसिष्ठ से राम के व्युत्थान (समाधि से योगी का उठना) हेतु प्रार्थना की है। वसिष्ठ के आवाज़ देने का राम पर कोई असर नहीं होता फिर वसिष्ठ राम के शरीर में यौगिक विधि से प्रवेश करके उन्हें समाधि से जगाते हैं। इस प्रसंग में 'शाम्भव समावेश' समेत ठेठ त्रिक-सिद्धान्त के शब्द प्रयोग में आये हैं।[३०] यह महत्त्वपूर्ण है कि यहाँ 'मलत्रय के पाक' की बात है। यह अभिनवगुप्त को स्वीकार नहीं अर्थात् अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'मलपाक' जैसा कुछ नहीं होता। इससे प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठ-कार को त्रिक दर्शन का जो सम्प्रदाय प्राप्त था वह अभिनवगुप्त द्वारा स्वीकृत सम्प्रदाय से भिन्न था।

कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि योगवासिष्ठ त्रिक-दर्शन का ग्रन्थ है। ऐसा ग्रन्थ में आये कुछ

शब्दों के आधार पर किया गया है। उदाहरण के लिए त्रिक-दर्शन, अर्थात काश्मीर शैव दर्शन, के छत्तीस तत्त्वों का ज़िक्र निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्ध[३१] में है, इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि योगवासिष्ठ को त्रिक-दर्शन स्वीकार था, शांकर अद्वैत नहीं स्वीकार था। किन्तु इस श्लोक में छत्तीस तत्त्वों की पहचान केवल आधुनिक विद्वानों ने नहीं की, टीकाकार आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती ने भी की है, उन्होंने 'शैवशास्त्र में प्रसिद्ध' इन तत्त्वों की बात यहाँ की है, इसी श्लोक में आये 'उन्मनी' के 'शिवयोग' का शब्द होना स्वीकार किया है और उन्हें इसमें कोई अन्तर्विरोध नहीं दीखा कि शांकर वेदान्त के इस ग्रन्थ में यह 'शैव शास्त्र' की बातें कहाँ से आ गयीं। कुछ अन्य विद्वान् इसे एक बौद्ध ग्रन्थ सिद्ध करने पर तुले हुए हैं। चाहने पर, इसे अन्य किसी सम्प्रदाय का भी सिद्ध कर सकते हैं, उदाहरण के लिए इसमें कहा गया है कि ''सृष्टि शब्दतत्त्व से उत्पन्न होती है''[३२] और इस आधार पर इसे हम 'शब्दब्रह्मवादी' भी घोषित कर सकते हैं।

वस्तुतः योगवासिष्ठ के दर्शन को शांकर अद्वैत की ही एक ऐसी धारा के रूप में स्वीकार करना चाहिए जिसका अन्य अद्वैतवादी दर्शनों से सहकार और विनिमय का सम्बन्ध है। योगवासिष्ठ-कार की त्रिक-दर्शन के प्रति भी उदार और सम्मानजनक दृष्टि है, त्रिक-दर्शन के शिव उपाध्याय और साहिब कौल जैसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी शांकर अद्वैत के प्रति उदार और सम्मानजनक दृष्टि अपनायी थी। यह समंजसता की एक प्रक्रिया है, कोई 'धर्म-परिवर्तन' नहीं। मेरा अपना मानना यह है कि यदि शांकर अद्वैत के आचार्यों की इतनी लम्बी परम्परा योगवासिष्ठ को अपना सिद्धान्त-ग्रन्थ स्वीकार करती है, यदि आनन्दबोधेन्द्र सरस्वती इसे बिना संकोच के अपना सिद्धान्त-ग्रन्थ स्वीकार करते हैं तो हमें भी निस्संकोच योगवासिष्ठ को शांकर अद्वैत का सिद्धान्त-ग्रन्थ स्वीकार करना चाहिए।

किन्तु यह एक मुश्किल-पसन्द सिद्धान्त-ग्रन्थ है। उदाहरण के लिए निर्वाण-प्रकरण के उत्तरार्ध में एक विपश्चित्-उपाख्यान है जिसमें एक विपश्चित् नामक राजा अपने चार शरीर बना लेता है[३३] और इस प्रकार चार विपश्चित् हो जाते हैं। इनमें से एक निर्वाण पा लेता है, शेष तीन की कुछ और गति होती है। यहाँ वेदान्त की दृष्टि से समस्या यह है कि चार शरीर बन जाने के बावजूद उनमें जीव तो एक ही है फिर कैसे एक मुक्त हो गया और कैसे शेष तीन नहीं हुए? टीकाकार ने निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध के १२६-१८ की टीका में यहाँ ''भगवान् वसिष्ठ का आशय'' समझने की चेष्टा करते हुए बहुत विस्तृत विमर्श किया है और उन्हें अद्वैत के भीतर कोई बना-बनाया समाधान नहीं मिला है, जो कुछ हल वे निकाल पाये हैं, अपनी ऊहा के बल पर ही। कुछ ऐसी ही समस्या स्थिति-प्रकरण के दाम-व्याल-कटोपाख्यान की है जहाँ शम्बरासुर के बनाये कृत्रिम पुरुष वैसे ही जन्म-मरण-पुनर्जन्म से गुज़रते हुए मोक्ष तक पहुँचते हैं जैसे ब्रह्मा की बनायी सृष्टि के जीव।

थोड़ी स्थूल दृष्टि से समेटना चाहें तो योगवासिष्ठ के अपने शब्दों में उसका सिद्धान्त यह है:

विस्मृत्याहं त्वमास्त्व प्रतिसृतविभवः पूरिताशेषविश्वो
विष्वक् शैलान्तरिक्षक्षितिजलधिमरुन्मार्गरूपोऽमलात्मा
स्वस्थः शान्तो विशोकः करणमलकलावर्जितो निष्प्रपंचो
निःसंचारश्चरात्मा सकलमसकलं चेति सिद्धान्तसारः।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - ४ (अहन्तानिरास-सर्ग)-४६

[अपने 'अहं' को भूल जाओ, अपने को फैलाकर सम्पूर्ण विश्व में भर दो। पहाड़, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, समुद्र, सबमें निर्मल आत्मा वाले तुम ही हो जाओ, स्वस्थ हो, शान्त हो, शोकरहित हो। सभी मलों प्रपंचों से रहित रहो, संचार से हीन हो, चर आत्मा वाले हो, सकल हो जाओ, अ-सकल हो जाओ।]

मुख्य उपदेश यह है :

सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदैवात्र विद्यते
सर्वं सर्वेण सर्वत्र सर्वदात्र न विद्यते।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-२१३ (प्राक्तनरामशिष्यत्वोपाख्यान-सर्ग)-३६

[सबकुछ, सबकुछ से, सब जगह, सब समय, वर्तमान है। सबकुछ, सबकुछ से, सब जगह, सब समय, वर्तमान नहीं है।]

६

अध्यात्मनिबन्ध की कविता

योगवासिष्ठ ने बहुत स्पष्ट कहा है कि शास्त्र से त्रिवर्ग- अर्थात् धर्म, अर्थ और काम- की प्राप्ति का ही उद्देश्य सिद्ध हो सकता है, ब्रह्मप्राप्ति- अर्थात् मोक्ष-शास्त्रों से नहीं सम्भव है। तब वह सम्भव कैसे है, इसके लिए उसका कहना है कि वह अनुभव की चीज है, जैसे कविता का रस-ग्रहण करने के लिए शब्द की अभिधा और लक्षणा से भिन्न एक तीसरी शब्दशक्ति-व्यंजना-की कल्पना करनी पड़ती है, जैसे काव्यार्थ कविता के शब्दसमूह का व्यंग्यार्थ है वैसे ही मोक्ष इस त्रिवर्ग का व्यंग्यार्थ है, वह इस त्रिवर्ग (गोचर जगत्) में वैसे ही है जैसे 'स्त्री में नमक'[३४] जिसे स्त्री पर रचे गये किसी शास्त्र से नहीं समझा-समझाया जा सकता।

हमारे परिचित कथनों से अलग यह एक सर्वथा नवीन बात है, और बेहद सटीक। हम यह याद कर लें कि योगवासिष्ठ मोक्षोपाय है किन्तु उसका उपदेश जीवन्मुक्त होने का है, इसी दुनिया में रहते हुए इस दुनिया से निरपेक्ष ब्रह्मानन्द में मग्न होने का। इसलिए योगवासिष्ठ जो भी दृश्य है, उसे जगत कहिए या त्रिवर्ग या शरीर, उसी में ब्रह्म को खोजता है और दोनों को पर्यायवाची बताता है। इस प्रकार, मेरी समझ में इस श्रुतिवाक्य,[३५] ''देखो, कि यह दृश्य एक अजर और अमर देवकाव्य है'', का योगवासिष्ठ ने यह भाष्य किया है : इस देवकाव्य का वाच्यार्थ जगत् है और व्यंग्यार्थ ब्रह्म। इसे एक दूसरी तरह से भी कहना मैं पसन्द करूँगा : योगवासिष्ठ पुरुषार्थ की ही चर्चा करता है और उसकी बात को इससे अच्छी तरह नहीं कहा जा सकता कि पुरुष का वाच्यार्थ त्रिवर्ग है और व्यंग्यार्थ मोक्ष। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द का सहोदर हमारे काव्यशास्त्री बताते रहे हैं, योगवासिष्ठ ने ब्रह्मानन्द को काव्यानन्द से समझाना चाहा है। ब्रह्मचिन्तन में यह पहल जिज्ञासु के लिए सहायक है।

जहाँ तक योगवासिष्ठ के शब्द-समूह की बात है, इस ग्रन्थ ने अपने को 'शास्त्र' तो कहा ही है, 'सालंकार, विभूषणयुक्त, रसमय काव्य'[३६] भी कहा है। टीकाकार ने यहाँ लिखा है कि दो लगभग समानार्थी शब्दों, 'अलंकार' और 'विभूषण', का प्रयोग करने के पीछे योगवासिष्ठ-कार का आशय रचना में उपस्थित 'माधुर्य' जैसे गुणों और उपमा जैसे अलंकारों में अन्तर स्थापित करना है। इस प्रकार योगवासिष्ठ अपने में काव्य के शास्त्रीय लक्षणों- रस,

अलंकार, गुण आदि- की उपस्थिति बताता है और हमें आमन्त्रित करता है कि हम उसे काव्य होने के निकष पर जाँचें।

हमारे यहाँ एक विधा 'शास्त्र-काव्य' की रही है जिसमें वे शास्त्र-ग्रन्थ आते हैं जिन्होंने अपनी बातें ललित पदावली में अलंकार-योजना के साथ रखी हैं। तन्त्र-शास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के कुछ शास्त्र-ग्रन्थ इस तरह भी लिखे गये हैं। किन्तु उनका प्रतिपाद्य व्यंजना-गम्य न होकर अभिधा-गम्य होता है जबकि योगवासिष्ठ अपने प्रतिपाद्य 'ब्रह्म' को अपना व्यंग्यार्थ बताता है और इसलिए इसका काव्य होने का दावा अधिक गम्भीर है। हम पहले देख आये हैं कि योगवासिष्ठ-कार को यह आशंका है कि उनका ग्रन्थ 'अनार्य' माना जायेगा और यह भी देख आये हैं कि टीकाकार के अनुसार यह आशंका इसलिए उपजती है कि यह ग्रन्थ 'काव्य' है। योगवासिष्ठ को 'काव्य' कह पाने के लिए हमें इसका भी ध्यान रखना होगा।

'काव्य' की यह 'अनार्यता' क्यों सम्भावित है? टीकाकार का आशय यह तो न होगा कि इसकी मोहक शब्दावली पाठकों को अपने जाल में फँस कर ज्ञान से विमुख कर देगी क्योंकि उन्होंने तो शुरू में ही कुबूल किया है कि टीका लिखने के पीछे उनका कुल मतलब यह है कि ''इस बहाने वसिष्ठ की बातों के रस से भरे समुद्र में प्रतिदिन डुबकी लगाऊँ, लोग बुरा कहें या भला''[३७]; लेकिन मेरा कहना यह है कि इस ''लोग बुरा कहें या भला, मैं तो योगवासिष्ठ पढ़ूँगा'' में ही कहीं न कहीं इस 'अनार्यत्व काव्यत्व' का रहस्य भी छिपा हुआ है। मैं अपना आशय स्पष्ट करने के लिए उदाहरण देता हूँ।

उत्पत्ति-प्रकरण में एक कहानी इस प्रकार है :

> एक राजा की रानी का नाम अहल्या था। एक बार पुराण सुनते हुए अहल्या ने पौराणिक अहल्या पर पौराणिक इन्द्र के आसक्त होने की कहानी सुनी और उसके मन में आया कि 'मैं भी तो अहल्या हूँ, मेरे ऊपर इन्द्र क्यों नहीं आसक्त होता'। उसने यह बात अपनी सखी से कही जो शहर से इन्द्र नाम के एक लफंगे को पकड़ कर ले आयी कि लो तुम्हारा इन्द्र आ गया। इन्द्र और अहल्या परस्पर विहार करने लगे। राजा को पता चला, उसने इन्हें सजा देनी चाही, नदी में डुबाया, आग में जलाया, इनका कुछ न बिगड़ा। फिर हार-थक कर राजा ने भरत नामक ऋषि से अनुरोध किया कि इन दुष्टों को दण्ड दीजिए। उन्होंने शाप दे दिया जिस पर ये दोनों बोले कि आप ने अपना तप व्यर्थ नष्ट किया, आप केवल शरीर नष्ट कर पायेंगे, हमारा मन कैसे नष्ट करेंगे। योगवासिष्ठ-कार कहते हैं कि उनके तन तो नष्ट हुए, मन नहीं नष्ट हो सकता था सो उन्होंने सैकड़ों जन्म लिए, हर जन्म में दम्पती हुए और आज भी यह जोड़ा जहाँ रहता है पेड़-पौधे तक शृँगार-रस में सराबोर रहते हैं।

इस कहानी का सन्दर्भ यह है कि एक ब्राह्मण के दस बेटे हैं और वे सब सृष्टिकर्ता बनना चाहते हैं सो बन जाते हैं और दस नयी सृष्टियाँ तैयार हो जाती हैं। ब्रह्मा जी को पता लगता है कि दस और सृष्टिकर्ता पैदा हो गये हैं तो वे क्रुद्ध होकर इन सृष्टियों को नष्ट करना चाहते हैं। उनको बताया जाता है कि जो दूसरे के संकल्प से बना है उसे आप अपने संकल्प से नहीं नष्ट कर पायेंगे। इसी को समझाने के लिए यह कहानी सुनायी गयी है।

दार्शनिक प्रतिपाद्य यहाँ क्या है, इसे छोड़िये। ''जो दूसरे के संकल्प से बना है उसे आप अपने संकल्प से नहीं नष्ट कर पायेंगे'' को समझाने के लिए योगवासिष्ठ-कार ने यही कहानी क्यों रची? वे कुछ और भी रच सकते थे, कुछ ऐसा जो पातिव्रत्य की अवधारणा पर आघात न पहुँचाता, कुछ ऐसा जो पुराण में अहल्या और इन्द्र की कथा सुनने से कोई ख़तरा भी है, इसे यों न सामने ले आता। कुछ ऐसा जो ब्रह्मा जी की इस तरह बेइज़्ज़ती न करता कि जो चाहे वही ब्रह्मा बनने की कोशिश करने लगे। योगवासिष्ठ-कार ने यह नहीं किया। उन्होंने अपने आख्यान-जगत् में 'मर्यादा' का निर्धारण स्वयं किया है। यह मर्यादा उनके सन्देश की है, उन्होंने दृष्टान्त हेतु आख्यान का चुनाव ऐसे किया है कि वह जो कहना है उस पर अधिक से अधिक ध्यान खींच सके, और किसी अन्य पक्ष, जैसे दाम्पत्य की शुचिता, का सहारा इस ध्यान के लिए टेक न साबित हो। इस प्रविधि को रचना के लिए एक अलंकार मान सकते हैं।

एक और बात। यह स्थूल शरीर पाँच महाभूतों[३८] का बना होता है, ऐसा ही माना-समझा जाता है किन्तु योगवासिष्ठ के उपदेष्टा वसिष्ठ बताते हैं कि आकाश में उनके संकल्प से बनी कुटी और उसमें रखी उनकी देह जब समाप्त हो गये और वे सूक्ष्म शरीर से देवनगरी में पिशाच की तरह उड़ने लगे तो उनकी इच्छा हुई कि देवता उन्हें देखें और तब जिसने उन्हें मिट्टी से उठता देखा उसने उन्हें मिट्टी का बना समझा, जिसने उन्हें पानी से उठता देखा उसने उन्हें पानी का बना समझा, और इस तरह उनका 'शरीर' देखने वालों की समझ के अनुसार परिभाषित है। फिर जाहिर है कि हम यह मानेंगे कि जो वसिष्ठ राम को उपदेश दे रहे हैं उनका शरीर राम की समझ के अनुसार और जिन वसिष्ठ का उपदेश हम पढ़ रहे हैं उनका शरीर हमारी समझ के अनुसार परिभाषित है।

ऐसा सोच-विचार हमें लेखक, पाठ और पाठक के परस्पर सम्बन्ध पर नये ढँग से सोचने के लिए विवश करता है और साहित्यशास्त्र में एक नये प्रस्थान की सम्भावना जगाता है। फिलहाल हम उपलब्ध ग्रन्थ पर ठेठ पारम्परिक विधि से काव्यालोचन करने के क्रम में कुछ बातों की ओर ध्यान देते हैं।

योगवासिष्ठ एक विशालकाय किन्तु संश्लिष्ट ग्रन्थ है। अगर आख्यानों की बात करें तो जिस विदूरथ और सिन्धु का नाम प्रारम्भिक लीलोपाख्यान में आया है उसका एक छोर सिन्धु के निर्वाण के रूप में अन्त में आते हुए शवोपाख्यान में है, जिस ऐन्दव सृष्टि की चर्चा शुरुआती ऐन्दवोपाख्यान में आती है, उसका जिक्र आखीर में भी आता है। किन्तु इसे हम महाकाव्य या खण्डकाव्य नहीं कह पायेंगे। इसमें आख्यान है जरूर, किन्तु वे वसिष्ठोक्तियों को पुष्ट करने के लिए दृष्टान्तों के रूप में रचे गये हैं जैसे काव्यशास्त्र के ग्रन्थ में उदाहरणों के रूप में कुछ कविताएँ रख दी गयी हों। इस प्रकार यह कथासरित्सागर या पंचतन्त्र जैसी 'आख्यानजातीय' रचना नहीं है और इसे आचार्य दण्डी के आदेशानुसार 'कथा' और 'आख्यायिका' में कहीं रख देना सम्भव नहीं है। मेरा प्रस्ताव है कि टीकाकार से एक शब्द उधार लेते हुए इसे एक 'अध्यात्मनिबन्ध' कहा जाय जिसे फिलहाल एक स्वतन्त्र काव्यविधा मान कर हम चलेंगे।

हम देखें कि एक काव्यविधा के रूप में योगवासिष्ठ की अपने बारे में क्या कल्पनाएँ हैं। उसका कहना है कि

> दिल को छूने वाले उपमान तथा मधुर और सुसंगत शब्दार्थ जिस कथन में होते हैं वह सुनने वाले के हृदय में वैसे ही फैल जाता है जैसे पानी में तेल।
>
> जिस कथन में अच्छे उपमान नहीं होते, मनोहर और ठीक उच्चारण वाली पदावली नहीं होती, वह आग में

डाले गये घी की तरह नष्ट हो जाता है, सुननेवाले पर कोई असर नहीं डालता।

चाहे महाभारत जैसे आख्यान कहने हों, चाहे किसी सिद्धान्त को प्रमाण-पुष्ट करना हो, चाहे काव्य, नाटक, या कोई अध्यात्मनिबन्ध सिरजना हो, अगर रचना में दृष्टान्त होते हैं तो वह ऐसी स्पष्ट हो जाती है जैसे उस पर सूरज की रोशनी पड़ गयी हो।[३६]

इस प्रकार शब्दालंकार और अर्थालंकार का रुचिकर प्रयोग, प्रसंगानुकूल ललित पदावली, और निबन्धन के रीतिकौशल आदि से योगवासिष्ठ की काव्य-प्रस्तुति पहचानी जा सकती है। यह काव्य-प्रस्तुति इतनी मनोहर है कि जिस अध्येता का भी ध्यान इस ओर गया है, उसने सीधे इसकी कविता की तुलना कालिदास की कविता से की है। शब्द चयन और अलंकार-योजना में योगवासिष्ठ-कार का जोड़ कुमारसम्भव लिखने वाले कालिदास या नैषध लिखने वाले श्रीहर्ष से ही है और वैदर्भी रीति में निबन्धन के सर्वश्रेष्ठ कवियों की जो भी सूची संस्कृत कवियों की बनेगी, उसमें योगवासिष्ठ-कार का स्थान अनिवार्यतः होना ही चाहिए यद्यपि यह कुछ खेद के साथ कहना पड़ता है कि काव्य की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अध्ययन न के बराबर ही हुआ है।

इस सन्दर्भ में कुछ टिप्पणियों की एक कामचलाऊ सूची मैं नीचे बनाता हूँ।

१. रचना के पीछे की जिस मानसिक बुनावट का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसका प्रकटीकरण रचना में कुछ छोटी-छोटी शरारतों में भी देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए श्रीमद्भागवद्गीता के इस प्रसिद्ध श्लोक

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
सस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

-श्रीमद्भागवद्गीता २-६९

के आधार पर योगवासिष्ठ में नीचे दिए गए दो श्लोक रचे गए हैं :

या निशा सर्वभूतानामविद्यास्तमयात्मिका
परो बोधः परा शान्तिस्तत्रासौ सममास्थितः।।
यस्मिञ्जाग्रति भूतानि दृश्येऽस्मिन्दुःखदायिनि
तत्रासौ सततं सुप्तस्तन्न पश्यत्यसौ सुखी।।

-योगवासिष्ठ ६ii(निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१६९ (विश्रान्तचित्तवर्णन-सर्ग)-१६, १७

यहाँ देखने की बात यह है कि यद्यपि दोनों ग्रन्थों से लिए गए उद्धरणों का प्रतिपाद्य एक ही है, जो गुण श्रीमद्भागवद्गीता में 'देखने वाले' के बताये गये हैं वे ही योगवासिष्ठ में 'न देखने वाले' के बताये गये हैं। उपजीव्य वाक्य की क्रिया के निषेध की क्रिया का प्रयोग योगवासिष्ठ में जान-बूझकर ही किया गया है, इसे ही मैंने 'शरारत' कहा है।

२. योगवासिष्ठ-कार की रुचि लम्बे-लम्बे समासों का उपयोग करने में विशेष है और प्रलयकालीन स्थितियों या रण और श्मशान के वर्णनों में उन्होंने जितनी सफलतापूर्वक, जितने प्रभावी ढँग से इसका उपयोग किया

है, संस्कृत साहित्य में उसका जोड़ कठिन है। प्रायः वे इन वर्णनों में बहुत विस्तार भी करते हैं जो अपने सूक्ष्म निरीक्षणों के नाते ध्यान आकृष्ट करता है और दैनन्दिन व्यवहार से लेकर वायवीय कल्पनाओं तक से कवि की निकट आत्मीयता को साबित करता है। अन्योक्तियाँ बेजोड़ हैं, पदशय्या अत्यन्त प्रांजल और मोहक है, शब्दचयन बेहद सधा हुआ और ललित है, उपमाएँ अनूठी हैं, उत्प्रेक्षाएँ ठिठक कर सोचने पर विवश करती हैं, शब्दालंकार कर्णप्रिय हैं, अर्थालंकार हृदयग्राही। पद-पद पर मन में आता है कि काश योगवासिष्ठ-कार का कुछ और परिचय ज्ञात होता तो भले ही कनिष्ठिका से कालिदास न हिलते, अनामिका पर रखने के लिए अपने पास एक नाम होता।

३. योगवासिष्ठ में 'रस' तो शान्त ही है किन्तु इसका आस्वाद कराने की इसकी प्रक्रिया कहीं-कहीं औसत से कुछ भिन्न प्रकार की है और उनकी कल्पनाएँ अनेक स्थानों पर मन में कुछ बेचैनी सी पैदा करती हैं। मैं एक उदाहरण के माध्यम से अपनी बात सामने रखता हूँ :

मृणालकोमलाच्छोरुमूलजालैः सुनिर्मलैः
स्वच्छाम्बरतलालक्ष्यैराकाशनलिनीनिभाः।।
आलोलमाल्यवसनाभरणाङ्गरागा बाष्पाकुलाततचलालकवल्लरीकाः
आनन्दमन्दरनिरन्तरमध्यमानात्कामार्णवात्समुदिता इव राजलक्ष्म्यः।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-४३ (अग्निदग्धगृहादिवर्णन-सर्ग)-६०, ६१

[वे स्त्रियाँ स्वच्छ झीने अन्तःवस्त्रों के नीचे से दीखते हुए मृणाल की तरह कोमल और चिकने साफ योनि-प्रदेशों के नाते आकाश में खिले हुए कमलों जैसी लगती थीं।

और

उन स्त्रियों की मालाएँ, उनके कपड़े, उनके आभूषण, उनके अंगों पर की गयी रंगयोजनाएँ, सब चंचल हो उठे थे। उनके जूड़े भाप से बिखर कर फैल गये थे और लताओं की तरह लटक रहे थे। वे स्त्रियाँ ऐसी लगती थीं जैसे काम के समुद्र में आनन्द के मन्दर-पर्वत से निरन्तर मथे जाने के परिणाम में निकलती हुई चन्द्रमा जैसी उज्ज्वल लक्ष्मियाँ हों।]

इन पंक्तियों की उद्दाम यौनिकता पर गौर कीजिए और तब यह देखिए कि यह वर्णन युद्ध में अभी-अभी पराजित किए गए राजा के अन्तःपुर में इधर-उधर भाग रही स्त्रियों का है जो विजयी सैनिकों द्वारा आगजनी और यौन हिंसा की दुहरी विपत्ति से जूझ रही हैं। यह 'शृँगार-रस' तो खैर नहीं ही है किन्तु 'शान्त' को भी कुछ असहज तरीके से ही उद्दीप्त करता है।

किन्तु अपने उद्देश्य में यह पूर्ण सफल है, इसमें सन्देह नहीं। हमें ऐसे झटकों की आदत न सही, किन्तु वैराग्य और निर्वेद को जगाने की यह विधि एक सक्षम विधि है। ''जलते हुए घर से ऊपर उठती हुई धुँए की लकीर यमुना है जो आकाश-गंगा से मिलने जा रही है'' जैसी उपमाएँ हो सकता है गंगा-यमुना के संगम की पवित्रता का सम्मान न कर सकें, अग्निदाह की भयावहता को अधिक उग्र रूप से सामने ले आती हैं।

४. योगवासिष्ठ की रचना प्रायः अनुष्टुप छन्द में हुई है किन्तु महाकाव्यों की तर्ज पर सर्गान्त में कभी एक कभी अनेक छन्द दिये गये हैं। वे द्रुतविलम्बित से लेकर स्रग्धरा तक में हैं यद्यपि योगवासिष्ठ-कार का प्रिय छन्द वसन्ततिलका जान पड़ता है। कहीं-कहीं, जैसे कि मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण सर्ग १२ में, और स्थिति-प्रकरण के सर्ग ३७, ३८, और ३९ में, कुछ गद्य भी मिलता है जैसे कि श्रीमद्भागवत में है। पद्य की तरह ही यह गद्य भी प्रभावशील है। भाषा प्रसन्न, गम्भीर, ललित पदावली से सम्पन्न है और दुहराना चाहिए कि किसी भी संस्कृत कवि के लिए यह भाषा काम्य है।

मैं एक उदाहरण इसकी कथनशैली का यहाँ दे दूँ। चिरंजीवी भुशुण्ड ने वसिष्ठ को बताया:

गरुडवाहनं विहगवाहनं विहगवाहनं वृषभवाहनं
वृषभवाहनं गरुडवाहनं कलितवानहं कलितजीवितः।।

-योगवासिष्ठ ६। (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध) - २१ (चिरजीवितवृत्तान्तकथन-सर्ग)-५२

[मैंने अपने दीर्घ जीवन में अनेकशः ऐसा होता पाया कि जो एक सृष्टि में गरुड पर चलते थे (अर्थात् जो सृष्टि के पालक विष्णु थे) वे ही दूसरी सृष्टि में एक-दूसरे पक्षी हंस पर चलने लग गये (अर्थात् सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा बन गये), जो एक सृष्टि में हंस पर चलते थे (अर्थात् जो सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा थे) वे ही दूसरी सृष्टि में वृषभ पर चलने लग गये (अर्थात् जो सृष्टि के नाशकर्ता शिव बन गये), जो एक सृष्टि में वृषभ पर चलते थे (अर्थात् जो सृष्टि के नाशकर्ता शिव थे) वे ही दूसरी सृष्टि में गरुड पर चलने लग गये (अर्थात् सृष्टि के पालक विष्णु बन गये)।

(कुल मिलाकर यह, कि मुनिवर, मैंने बहुत कुछ देखा है, उत्पत्ति, स्थिति, संहार का अर्थ बदलता रहता है, इसके करने वाले बदलते रहते हैं, आप इन सब भ्रमों में न जियें कि ये उत्पत्ति-स्थिति-संहार स्थिर सुनिश्चित प्रक्रियाएँ हैं या इनका तात्पर्य एक ही रहता है, अगर कोई कहे कि मैं पालन करता हूँ तो हो सकता है उसका मतलब यह हो कि मैं विनाश करता हूँ, जो आज आपको मारने पर उतारू हैं, हो सकता है वही कल आप को जीवन में अवतरित कर रहा हो। जैसे आदमियों की कथनी-करनी का ठिकाना नहीं, वैसे ही देवताओं की कथनी-करनी का भी ठिकाना नहीं।)]

यहाँ गरुडवाहन, विहगवाहन, वृषभवाहन की चाक्रिकता की ज्यामिति को पद्य के भीतर ही बेहद खूबसूरत ढँग से उतार दिया गया है। इस चाक्रिकता को आप देख सकते हैं भले ही यह 'चित्रकाव्य' नहीं है, और आप इस चाक्रिकता को सुन सकते हैं भले ही यह 'गीतिकाव्य' नहीं है; इस चाक्रिकता को देख-सुन तो खैर सकते ही हैं जब इस पर मनन करेंगे।

५. सृष्टि-स्थिति-संहार की त्रयी को एक नृत्यरत अभिनेत्री के रूप में देखना योगवासिष्ठ-कार की प्रिय कल्पनाओं में से है। प्रायः यह नृत्य एक प्रलय-नृत्य होता है जिसमें हर ताल पर कुछ टूट-बिखर रहा होता है किन्तु कहीं अस्तित्व को भी नृत्य में ढाला गया है। मैं ऐसे ही एक स्थल से कुछ पद्य उद्धृत कर रहा हूँ। उद्धरण देने का तात्पर्य मूल के काव्यास्वाद से परिचय कराना है; संस्कृत से परिचय न होने पर भी सिर्फ पढ़ना ही शब्दों के मनमोहक संगीत से प्रभावित करता है। साथ का अनुवाद केवल इशारे के लिए है।

आकाश एव रचिता प्रतिभैकरङ्गा मुग्धा जगत्तयमनोहरपुत्रिकेयम्
चिन्मात्रचक्रपरिरञ्जितसर्वलोका लीलाकुला चपलचित्तकचित्रकर्त्री।।
हेमाचलाङ्गलतिका घनकेशपाशा चन्द्रार्कलोचनविचालनदृष्टलोका
धर्मार्थकामविनियन्त्रितशास्त्रवस्त्रा पातालजालचरणोन्नतभूनितम्बा।।
ब्रह्मेन्द्ररुद्रहरिबाहुचतुष्टयोग्रा सत्त्वावृतोन्नतकुचस्फुरदङ्गयष्टिः
सुव्यालवेष्टितमहीतलपद्मपीठा पत्रीकृताचलमहाभुवनोदरी च।।
रात्र्यन्धकारचपलत्वहराक्षिचेष्टा ताराकरालपुलका पविदन्तपंक्तिः
चञ्चच्चतुर्दशविधातुलभूतजातरोमाञ्चना प्रलयवादकदम्बपुष्पा।।
जीवान्विता गगन एव कृता विचित्रा व्योमात्मिका चिरविलक्षणचित्रकर्त्री
चित्तेन चित्रपरिकर्मविदा त्रिलोकी नानाविलासवलिता वरपुत्रिकेति।।
वृषभवाहनं गरुडवाहनं कलितवानहं कलितजीवितः।।

–योगवासिष्ठ ६। (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-५७ (चित्तवर्णन-सर्ग)-३३ से ३७

[मेरे इस शरारती मामूली से मन ने चित्र बनाने की सोची तो सूने आसमान को ही चित्रफलक मानकर चेतना के रंगों से यह त्रिलोकी नाम की अल्हड़ पुतली बनायी जिसने प्रतिभा को ही अपनी नृत्यशाला माना।

देह इसकी कंचन से बना सुमेरु पर्वत है। सूर्य-चन्द्रमा इसकी आँखें जिन्हें चंचलता से घुमाती यह सबकुछ देखती है। पाताल इसके दोनों पैर है, पृथिवी इसका नितम्ब; शास्त्र इसका वस्त्र है जिसे नाच में बेतरतीब खुलने से उसमें लगी धर्म-अर्थ-काम के त्रिवर्ग की गाँठें रोकती हैं।

इसकी थिरकती देह के उरोजों को उघड़ने से उन पर पड़ा सत्त्व का आवरण बचाता है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु इसकी चार बाँहे हैं, शेषनाग ने उस कमल को लपेटकर टिका-संभाल रखा है जो इसके नाच का मंच है, इसका डील-डौल इतना है कि बेहद छोटे पेट में चौदह भुवन समाये हैं और पहाड़ उस पर चित्रकारी जैसे लगते हैं। इसकी शरारती आँखों ने रात के अँधेरे को चुराकर अपने कटाक्ष बनाये हैं, वज्र की तरह सफ़ेद और तेज़ इसके दाँतों की कौंध ही ये तारे हैं।]

६. कही गयी बात को बार-बार दुहराना योगवासिष्ठ की एक अपनी विशेषता है। किस हद तक है, यह इसी से समझा जा सकता है कि सम्पूर्ण उपदेश सुनने के बाद राम ने वसिष्ठ से कहा कि जो आपको कहना था वह आप कह चुके और जो मुझे जानना था वह मैं जान चुका, अब आप की सरस्वती कृतकृत्य है, विश्राम करें।[४०] किन्तु वसिष्ठ ने फिर भी कहा[४१] कि मेरी बात दुबारा सुनो, आईना जितना ही माँजा जाय उतना ही चमकता है।

दुहराव पर यह आग्रह योगवासिष्ठ की खास पहचानों में से एक बन चुका है किन्तु हमारे शास्त्रोपदेशों में दुहराव की प्रवृत्ति है और इसे एक शैक्षणिक प्रविधि के रूप में मान्यता प्राप्त है। ब्रह्मसूत्र का एक सुत्र ही है : आवृत्तिरसकृदुपदेशात् (४-१-१)।

७. योगवासिष्ठ के टीकाकार ने एक श्लोक के एक से अधिक अर्थ कई जगह निकाले हैं। यह श्लेष की पारम्परिक तकनीक से तो है ही किन्तु प्रायः कुछ और भी इसके साथ जुड़ा होता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित

श्लोक को देखा जा सकता है :

यत्रान्तरालगहनेन विलासवत्या हेलाविलोलघनसर्जितयामलेन
मल्लेन पल्लवदलामलमालितानां लक्ष्मीलताऽविरलिता वलितेव मुष्टिः।।
इत्यादिकानां शब्दानामर्थश्रीः सत्यरूपिणि
तस्मिन्सर्वेश्वरे सर्वसत्तामणिसमुग्दके।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध) -३६ (परमेश्वरवर्णन-सर्ग)-१९ तथा अगले सर्ग का प्रथम श्लोक।

उद्धरण का प्रथम श्लोक अनर्थक है किन्तु उसका टीकाकार ने वृक्षपरक और विष्णुपरक अर्थ किया है और इन दो अर्थों के अतिरिक्त अन्य अर्थ निकालने के लिए पाठक को खुला निमन्त्रण दिया है। यहाँ बात कुछ दूसरी चली आ रही है, योगवासिष्ठ-कार को कहना यह है कि निरर्थक और सार्थक सभी वाक्यों से परब्रह्म का ही अर्थ निकलता है। इसकी पुष्टि के लिए टीकाकार ने इस श्लोक का तो अर्थ किया ही है, निरर्थक वाक्य-समूह से बने पण्डित-समाज में प्रसिद्ध निम्नलिखित श्लोक :

जरग्दवः कम्बलपादुकाभ्यां द्वारि स्थितो गायति मद्रकाणि
तं ब्राह्मणी पृच्छति पुत्रकामा राजन् रुमायां लशुनस्य कोऽर्घः।।
का भी लौकिक और पारमार्थिक अर्थ निकाला है।

एक श्लोक के दस अर्थ भी टीकाकार ने किए हैं। ऐसा श्लेष की जाँच से नहीं है, केवल दुरूहता के नाते है। वह श्लोक नीचे दे रहा हूँ :

वाग्भाभिर्ब्रह्मविद्भह्म भाति स्वप्न इवात्मनि
यदिदं तत्स्वशब्दोत्थैर्यो यद्वेत्ति स वेत्ति तत्।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण) - १ (बन्धहेतुवर्णन-सर्ग)-१

इसी प्रकार निम्नलिखित श्लोक के भी बिना श्लेष-परीक्षण के ही चार अर्थ टीकाकार ने केवल दुरूहता के ही आधार पर किये हैं :

चलार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवाप्रवेशवत्
अनेकजन्मनामन्ते विवेकी जायते पुमान्।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध) - १२६ (परमार्थस्वरूपवर्णन-सर्ग)-४

ऐसे उदाहरण कई हैं और शब्द-सम्पदा पर योगवासिष्ठ-कार के असाधारण अधिकार को तो दिखाते ही हैं, यह भी बताते हैं कि शब्द-सम्पदा पर अधिकार का जैसा प्रयोग माघ, भारवि, या श्रीहर्ष जैसे कवियों ने किया है उससे भिन्न दिशा में भी इस अधिकार का उपयोग किया जा सकता है।

८. लम्बे समासों के साथ ही अनुप्रास और कर्णप्रिय पदशय्या की योजना योगवासिष्ठ-कार की सहज प्रवृत्ति है। परिणामी मोहकता को केवल उदाहरण से ही समझा जा सकता है जिसके लिए योगवासिष्ठ से कोई भी अंश लेकर दे सकते हैं। मैं सिर्फ दो श्लोकों का एक छोटा सा अंश देकर इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। यह एक पहाड़ी गाँव का वर्णन है और मेरा दावा है कि सूक्ष्मता, विश्वसनीयता, और विस्तार में

योगवासिष्ठ-कार महाकवि बाण से कहीं न्यून नहीं है।

सौगन्ध्यमत्तपवनाहतविल्कवानां वप्रौषधिज्वलनविस्मृतदीपकानाम्
कोलाहलाकुलकुलायकुलाकुलानां कुल्याकुलाकलकलाश्रुतसंकथानाम्।।
मुक्ताफलप्रकरसुन्दरबिन्दुपातशीताखिलद्रुमलतातृणपल्लवानाम्
लक्ष्मीमनस्तमितपुष्पविकासभाजां शन्कोति कः कलयितुं गिरिमन्दिराणाम्।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण) - २८ (गिरिग्रामवर्ण-सर्ग)-६२, ६३

१०

खगोत्सादन का गीत

गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि ''रामकथा ताली की तरह है जिसका बजना संशय की चिड़िया उड़ाने के काम आता है'' (रामकथा सुन्दर करतारी : संसय विहग उड़ावनहारी)। योगवासिष्ठ-कार ने इस उपमा से दूसरा काम लिया है। उनका कहना है :

यथा कलमरक्षिण्या गीत्या वितततालया
खगोत्सादेन सहितं गीतानन्दः प्रसाध्यते।।

-योगवासिष्ठ २ (मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण) - २० (सदाचारनिरूपण-सर्ग)-१०

(जिस प्रकार धान के खेत की रखवाली करती स्त्रियाँ ताली बजाते हुए चिड़िया उड़ाती हैं किन्तु साथ-साथ गीत का आनन्द भी उठाती ही हैं, उसी प्रकार ज्ञान और सदाचार का एकसाथ लाभ उठाया जा सकता है।)

योगवासिष्ठ का पढ़ना इस ''चिड़िया उड़ाते हुए गीत का मजा लेना'' का स्वयं एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस बात को थोड़े व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने की ज़रूरत है।

पिछली दो सहस्राब्दियों में पेगन संस्कृतियों का सर्वतः उच्छेद हो चुका है किन्तु जिस संस्कृति को 'सनातन हिन्दू धर्म' के नाम से बताया जाता है वह बहुत सारे वैचारिक और भौतिक आक्रमणों को झेलती हुई एकमात्र निदर्शन के रूप में अभी साँस ले रही है और उसके अभिलक्षणों की धमनियों में अभी भी चेतना का संचार है। इस प्रकार हमारे सारे 'धर्मग्रन्थ' काव्यग्रन्थ भी हैं, रामायण पढ़ने से पुण्य तो मिलता ही है किन्तु यह विश्वसाहित्य का एक उत्कृष्ट महाकाव्य भी है। यही शिल्प, चित्र, नृत्य आदि कलाओं के साथ भी सच है, वे सब आराधना की विधियाँ हैं। पेगनोत्तर वैचारिकताएँ कला को उसी हद तक स्वीकार करती हैं जिस हद तक वे उन वैचारिकताओं की सेवा में काम आ सकती हैं। पेगन वैचारिकता कला-चेतना और धर्म-चेतना में एक ऐसी संश्लिष्टता को स्वीकार करती हैं जिसमें दोनों की अलग-अलग पहचान नामुमकिन है।

किन्तु इस कथन को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें अपने वर्तमान में ही नहीं, अपने अतीत में भी कुछ बातों पर बारीकी से गौर करना होगा। अश्वघोष ने अपने महाकाव्य सौन्दरनन्द के अन्त में 'काव्य' लिखने के लिए क्षमायाचना की है, उनका कहना है कि उन्होंने इस काव्य को 'उपशान्ति के लिए' लिखा है, 'रति के लिए' नहीं और जो कुछ इस उद्देश्य से विचलन हुआ है, वह काव्य होने के नाते हुआ है। ऐसी ही बातें थेरी-गाथा में मिलती हैं। इधर हम देखते

हैं कि वाल्मीकि और व्यास से लेकर श्रीहर्ष और अवधी में कविता लिखने वाले तुलसीदास तक सीना ठोंक कर कह रहे हैं कि लिखी तो उन्होंने कविता है किन्तु दावा यह भी है कि उनकी कविता पढ़ने-सुनने से मोक्ष मिलेगा। योगवासिष्ठ का कहना है कि है तो यह 'मोक्षोपाय' किन्तु काव्य भी है, और टीकाकार का कहना है कि योगवासिष्ठ-कार को यह भय है कि उनकी रचना काव्य होने के नाते 'अनार्य' मानी जा सकती है। हमें पूछना चाहिए, कौन लोग हैं जो काव्य को 'अनार्य' मानते हैं?

हम इसी के साथ संगीतरत्नाकर पर नज़र डाल सकते हैं जो यह कहता है कि यदि यह राग गाया जाए तो इस यज्ञ का फल मिलेगा, अर्थात संगीत की साधना अपनी पवित्रता और आध्यात्मिकता में वैदिक कर्मकाण्ड की हैसीयत रखती है। हम इसी के साथ दत्तपुराण पर नज़र डाल सकते हैं जो यह बताता है कि किसी भी कला-साधना से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। और जब हम देखते हैं कि दत्तपुराण में यह लिखा है कि कामशास्त्र की साधना से मोक्ष मिल सकता है और योगवासिष्ठ में इन्द्र तथा अहल्या की विवाह-ब्राह्य काम-साधना से सम्बन्धित कथा दी हुई है, तो हमें कुछ-कुछ समझ में आने लगता है कि वर्जनाओं की बैसाखियों पर टिकाये गए धर्मचिन्तन को उसकी पूरी ताकत में समझने के लिए उसके सहारे की बैसाखियाँ हटानी ही पड़ती हैं।

योगवासिष्ठ जब मोक्ष की बात करता है तो उसमें वर्जना-मोक्ष एक प्रौद्योगिकी के रूप में शामिल है। यह केवल उसी की विशेषता नहीं ज़रा-सा गौर करने पर हम यह समझ जायेंगे कि यही व्यावहारिकी सभी आगमिक और वैदिक शास्त्र-चिन्तनों तथा साधनाओं में अपनायी गयी है। चिन्तन के रास्ते में जो जहाँ ठिठक जाता है, उसकी वहीं मंज़िल हो जाती है।

शायद इसी नाते योगवासिष्ठ ने अनेक असुविधाजनक परिस्थितियों को अपने आख्यानों में स्थान दिया है। उदाहरण के लिए यौन नैतिकता की दृष्टि से न केवल अहल्या और इन्द्र का उपाख्यान वैवाहिक वफ़ादारी पर प्रेम को वरीयता देने के नाते आपत्तिजनक माना जायगा अपितु चूडाला और शिखिध्वज की कथा भी विवादास्पद मानी जायेगी क्योंकि उसमें शिखिध्वज के जीवन्मुक्त होने का प्रमाण इससे मिलता है कि वह अपनी पत्नी को परपुरुष के साथ रतिमग्न देखकर उद्विग्न नहीं होता। इसी प्रकार भुशुण्ड काक की जन्म-कथा भी अनेक नैतिक मानदण्डों को चुनौती देती है। प्रायः सर्वत्र ही योगवासिष्ठ-कार का यह प्रयास रहा है कि यदि उन्होंने कुछ कहा है, उदाहरण के लिए संसार की निस्सारता बतायी है या मन के संकल्प-मात्र से सृष्टि का होना बताया है तो उसका प्रस्तुतीकरण दृष्टान्त के उपाख्यानों में यथासम्भव कठिन शर्तों पर हो।

योगवासिष्ठ जीवन्मुक्ति की अवस्था तक पहुँचाने वाला ग्रन्थ हैं और अपनी आख्यायिकाओं और कथनों द्वारा यह बात बेबाक समझाता है कि निष्काम कर्म का व्यावहारिक रूप क्या हो सकता है। जिस नाते योगवासिष्ठ पढ़ने से थोड़ा बचने की सलाह दी जाती है वह भी यही है, और जिस नाते योगवासिष्ठ बार-बार पढ़ने की सलाह दी जाती है वह भी यही है।

वस्तुतः योगवासिष्ठ में क्या कहा गया है इसे सबसे अच्छी तरह योगवासिष्ठ-कार ने ही बताया है :

या व्यापारवती रसाद्रसविदां काचित्कवीनां नवा

दृष्टियां परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमखिलं निर्वर्णितं निर्वृतं
यावद्दृष्टिदृशो न सन्ति कलिता नो शून्यता नो भ्रमः।।

–योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१६३ (रामविश्रान्ति-सर्ग)-८९

[(रस के ज्ञाता कवियों की नयी दृष्टि रस से प्रेरित होकर जहाँ तक जाती है, और विद्वानों की परिनिष्ठिता दृष्टि अर्थ का उन्मीलन करने में जहाँ तक जाती है, उन दोनों दृष्टियों का अवलम्बन करके उतनी दूर तक जाकर मैंने इस सम्पूर्ण विश्व का आनन्दपूर्वक वर्णन किया है।

तबतक किया है जबतक दृष्टियाँ और देखनेवाले बचे रहे हैं, जबतक शून्यता का आकलन करने को कुछ बचा है, जबतक कोई भ्रम बचा रहा है। अब न दृष्टियाँ बचीं, न देखनेवाले, न ही शून्यता में समझने को कुछ बचा और न ही कोई भ्रम बचा रह गया।)]

किन्तु इस कथन के अन्तिम अंश को मैं इस तरह भी पढ़ सकता हूँ : ''जहाँ तक बन पड़ा किया, वैसे जितने नज़रिये हैं उतने नज़रवाले कहाँ हैं, न तो शून्यता ही समझी जा सकती है और न ही भ्रम को समझा जा सकता है।''

इसलिए मानना पड़ेगा कि योगवासिष्ठ पढ़ने के सही तरीके को स्वयं योगवासिष्ठ-कार ने ही सबसे अच्छी तरह बताया है : इसे बार-बार पढ़ना चाहिए क्योंकि

यस्त्वेकवारमालोक्य दृष्टमित्येव सन्त्यजेत्
इदं स नाम शास्त्रेभ्यो भस्माप्यान्प्रोति नाधमः।।

–योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१६३ (इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णन-सर्ग)-४९

(जो शास्त्र को एक बार पढ़कर ''इसे तो देख लिया'' कहकर एकतरफ रख देता है, उसको शास्त्र से खाक भी हासिल नहीं होती।)

टिप्पणियाँ और सन्दर्भ

१. एकाकिनीं त्रिजगतामतिनाशकालेः त्वां काकिनीं समरकालककाकपत्नीं
त्वां साक्षिणीं भुवनभङ्गविधौ सकान्तेः भूषण्डकाकमहिषीं सततं भजामि।।

–रुद्रयामल (जीवानन्द संस्करण, साठवाँ पटल)

२. यह उद्धरण महार्थमंजरी की आठवीं कारिका पर की परिमल टीका में है और इस प्रकार है :

मोक्षोपाये च- स्वापरामर्शमात्रोऽयमपराधः कियानसौ; तावन्मात्रेण तज्जातं यद् वक्तुं नैव पार्यते।।

मैंने निजी तौर पर यह परीक्षण नहीं किया कि वर्तमान उपलब्ध योगवासिष्ठ में यह उद्धरण उपलब्ध है या नहीं।

३. आरुषेय मिदमिति प्रमादाच्चेन्न रोचते; तदन्यदात्मविज्ञानशास्त्रं किंचिद्विचारयेत।।

[(यदि यह शास्त्र इसलिए न स्वीकार हो कि यह ऋषिकृत है (अर्थात इसका कोई रचनाकार है और यह कोई वैदिक ग्रन्थ, जैसे उपनिषद्, नहीं है) तो कोई अन्य अध्यात्मशास्त्र (जैसे उपनिषद्) पढ़ना चाहिए (और समय नहीं नष्ट करना चाहिए)]

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१७५ (अद्वैतयुक्ति-सर्ग)-७६

४. दृष्टानि कुन्दमन्दारकुमुदानि हिमानि च; मया कामाग्निदग्धानां भस्मानीव दिशं प्रति।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-६४ (विद्याधरीव्यसनवर्णन-सर्ग)-७०

५. चितिं परापरामजामरूपिकामनामिकाम्; चराचराधरामयीं विदन्ति ये जयन्ति ते।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-६१ (जगत्स्वरूपवर्णन-सर्ग)-३६

६. पश्यन्त्यामेव पश्यन्ती यथा भाति तथैव च; यथा शब्दास्तथा सर्वाश्चितैव चिति चिन्मयाः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१७७ (सत्यवर्णन-सर्ग)-४२

७. काश्मीरमण्डलस्यान्तर्नगरं नगशोभितं; नाम्नाधिष्ठानमित्येव श्रीमत्तस्य भविष्यति।।
प्रदुम्नशिखरं नाम तस्य मध्ये भविष्यति।।
तस्य मूर्ध्नि गिरेर्गेहं कश्चिद्राजा भविष्यति।।
तस्मिन्नेव तदा काले तत्र राजा भविष्यति; श्रीयशस्करदेवाख्याः शक्रः स्वर्ग इवापरः।।
अधिष्ठानाभिधे तस्मिन्नेवान्तर्नगरे तथा।।
तस्मिंस्तद्भूमिपामात्यो नरसिंह इति श्रुतः; करामलकवद्दृबन्धमोक्षो निवत्स्यति।।
स नृसिंहो नृपामात्यश्लोकैर्विरचितामिमाम्; दामव्यालकटादीनां कथयिष्यति सत्कथाम्।।

-योगवासिष्ठ ४ (स्थिति-प्रकरण)-३२ (सदाचारनिरूपण-सर्ग)-११ से २१

८. यह संख्या मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण के सत्रहवें 'ग्रन्थसंख्यादिवर्णन' नामक सर्ग में दी गयी है। पूरा विवरण यह है: कुल श्लोक-संख्या ३२,००० जिसमें से (१) वैराग्य-प्रकरण में १५००, (२) मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण में १००० (३) उत्पत्ति-प्रकरण में ७०००, (४) स्थिति-प्रकरण में ३०००, (५) उपशम-प्रकरण में ५०००, और (६) निर्वाण-प्रकरण में बचे हुए १४५००। जिन लोगों ने उपलब्ध ग्रन्थ से मिलान का कष्ट उठाया है उन्होंने बताया है कि वास्तविक संख्या केवल २९२८९ है : (१) वैराग्य-प्रकरण में ११४६, (२) मुमुक्षुव्यवहार-प्रकारण में ८०७, (३) उत्पत्ति-प्रकरण में ६३०४, (४) स्थिति-प्रकरण में २४१४, (५) उपशम-प्रकरण में ४३२२, और (६) निर्वाण-प्रकरण में बचे हुए १४२९६।

अब इसके आधार पर कोई कहना चाहे कि योगवासिष्ठ-कार झूठे हैं या डींग मारते हैं तो कह सकता है।

९. इतिहासोत्तमादस्माच्छुताद्बोधः प्रवर्तते; सर्वेषामितिहासानामयं सार उदाहृतः।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-८ (सच्छास्त्रनिरूपण-सर्ग)-९

१०. कथोपायान्विचार्यादौ मोक्षोपायानिमानथ; यो विचारयति प्राज्ञो न स भूयोऽभिजायते।।

-योगवासिष्ठ १ (वैराग्य-प्रकरण)-२ (सूत्रपातनक-सर्ग)-३

११. इस परियोजना में प्रो वाल्टर स्लाजे कुछ सहयोगियों के साथ बरसों से लगे हुए हैं। प्रकाशित होने पर इसका प्रमुख आकर्षण मेरी दृष्टि में भास्करकण्ठ की टीका का सामने आना होगा।

१२. यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कत्क्वचित्; इमं समस्तविज्ञानशास्त्रकोशं विदुर्बुधाः।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-८ (सच्छास्त्रनिरूपण-सर्ग)-१२

१३. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ; यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।।

-महाभारत १ (आदिपर्व)-६२ (अध्याय)-५३

१४. शांकर-भाष्यः ''कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वम्? इत्यत आह तज्जलानिति; तस्माद्ब्रह्मणो जात तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम्, अतः तज्जम्; तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेव स्थितिकाले अनिति प्राणिति चेष्टत इति। एवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेष्वविशिष्टं तद्भतिरेकेणाग्रहणात्। अतस्तदेवेदं जगत्।''

१५. सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्नमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति
स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय

-बृहदारण्यकोपनिषद्, २-४-१३

१६. अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वायोगिभिः; योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।।

-माण्डूक्यकारिका ३ (अद्वैत-प्रकरण)-३६

१७. तस्मादिमां प्रतिज्ञां त्वं शृणु रामातिभीषणाम्; यामुत्तरेण ग्रन्थेन नूनं त्वमवबुध्यसे।।
अयमाकाशभूतादिरूपोऽहं चेति लक्षितः; जगच्छब्दस्य नामार्थो ननु नास्त्येव कश्चन।।
यदिदं दृश्यते किंचिद्दृश्यजातं पुरोगतम्; परं ब्रह्मैव तत्सर्वमजरामरमव्ययम्।।
पूर्णे पूर्णं प्रसरति शान्ते शान्तं व्यवस्थितम्; व्योमन्येवोदितं व्योम ब्रह्मणि ब्रह्म तिष्ठति।।
न दृश्यमस्ति सद्रूपम् न द्रष्टा न च दर्शनम्; न शून्यं न जडं नो चिच्छान्तमेवेदमाततम्।।

श्रीराम उवाच

वन्ध्यापुत्रेण पिष्टोऽद्रिः शशशृङ्गं प्रगायति; प्रसार्य भुजसम्पातं शिला नृत्यति ताण्डवम्।।
स्रवन्ति सिकतास्तैलं पठन्त्युपलपुत्रिकाः; गर्जन्ति चि.जलदा इतीवेदं वचः प्रभो।।
जरामरणदुःखादिशैलाकाशमयं जगत्; नास्तीति किमिदं नाम भवताऽपि ममोच्यते।।

[तात्पर्यप्रकाश टीका... ''भवता प्रामाणिकमूर्धन्येनापि मम विवेकशालिनोऽप्रतार्यस्यापीति पामरातिशयसर्वस्वोक्तिः'']

यथेदं न स्थितं विश्वं नोत्पन्नं न च विद्यते; तथा कथय में ब्रह्मन्येनैतन्निश्चितं भवेत्।।

श्रीवसिष्ठ उवाच

नासमन्वितवागस्मि शृणु राघव कथ्यते; यथेदमसदाभाति वन्ध्यापुत्र इवाऽऽरवी।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-४ (उत्पत्तिप्रकरणार्थकल्पन-सर्ग)-६६ से ७५

१८. अनार्यमिदमाख्यानमित्यनादृत्य दृश्यधीः; मा भवन्त्वात्महन्तारो भवभागिनः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१६३ (इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णन-सर्ग)-५५

१९. सर्गा एव परं ब्रह्म परम्ब्रह्मैव सर्गता; मनागप्यस्ति न द्वैतमत्राग्न्यर्कौष्ण्ययोरिव।।
इमे सर्गा इदं ब्रह्म तेऽत्यन्तावाच्यदृष्टयः; विदार्यदारुरववद्भान्त्यर्थपरिवर्जिताः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-५८ (सर्गब्रह्मत्वप्रतिपादन-सर्ग)-१९, २०

२०. आयान्ति यान्ति निपतन्ति तथोत्पतन्ति सर्गाश्रियः कणघटा इव पावकोत्थाः
यत्रामलं तदहमेकमनादिमध्यं मन्ये खमेव न तु कारणमीश्वराख्यं।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-११६ (श्वकाककोकिलान्योक्तिवर्णन-सर्ग)-२७

२१. अस्माच्छास्त्रवराद्बोधा जायन्ते ये विचारितात्; लवणैर्व्यञ्जनानीव भान्ति शास्त्रान्तराणि तैः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१६३ (इन्द्रियजयोपायशास्त्रवर्णन-सर्ग)-५४

२२. स्थितमेकरसे युक्त्या नानारसविजृंभणम्; वासिष्ठं रोचयत्वेतत् सुभोज्यं लवणं यथा।

२३. यावान्कश्चित्किलोल्लेखो वाङ्मयो वदतां वर; सुक्ष्मार्थः परमार्थो वा बहुरल्पतरोऽपि वा।।
प्रतियोगिव्यवच्छेदसंख्यातीतादिविभ्रमैः; स च सर्वोऽन्वितः साधो भा इव त्रसरेणुभिः।।

[(वसिष्ठ ने राम से कहा) जो कुछ वाणी से कहा जाता है वह चाहे सुक्ष्मार्थ बताने वाला हो या परमार्थ बताने वाला हो, थोड़ा हो या अधिक हो, 'प्रतियोगी', 'व्यवच्छेद', 'संख्यातीत' आदि भ्रमों से उसी प्रकार युक्त होता है जैसे खिड़की से आती सूर्य की रोशनी में सूक्ष्म कण भरे दीखते हैं।]

प्रसंगवश, यह 'प्रतियोगी' और 'व्यवच्छेद' की शब्दावली नव्य न्याय की है और यह सन्देह होता है कि योगवासिष्ठ-कार का समय गंगेश उपाध्याय के बाद ही का, अर्थात् बारहवीं सदी के बाद ही का, होगा। किन्तु न्याय के विद्वानों ने मुझे बताया कि 'प्रतियोगी' और 'व्यवच्छेद' जैसे कुछ शब्द उदयनाचार्य के ग्रन्थों में भी मिलते हैं। उदयनाचार्य नवीं शताब्दी में हुए थे अतः योगवासिष्ठ-कार के पूर्वकथित समय, अर्थात दसवीं शताब्दी का मध्य, से कोई विरोध नहीं होगा।

यहाँ यह देखने की बात है कि न्याय-दर्शन अवच्छेदकावच्छिन्न वाली शब्दावली बोलचाल में सुस्पष्टता लाने के लिए प्रयुक्त करता है, योगवासिष्ठ-कार इन्हीं की संकल्पना को 'दोष' बता रहे हैं। कुल मिलाकर योगवासिष्ठ-कार का कहना यह है कि वाणी से व्यक्त करने की प्रक्रिया में ही खोट है, कभी भी वह जस-का-तस नहीं कहा जा सकता है जो कहना है।

२४. इदं जगदसद्ब्रह्म सत्यमित्येव वक्ति यः।
तमुन्मत्तमिवोन्मत्तो विमूढोऽपि हसत्यलम्।।

-योगवासिष्ठ ४ (स्थिति-प्रकरण)-३१ (सदसन्निराकरण-सर्ग)-२१

२५. न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन; जगद्विवर्तरूपेण केवलं ब्रह्म जृम्भते।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-११३ (मिथ्यापुरुषोपाख्यान-सर्ग)-१६

२६. बालान्प्रति विवर्तोऽयं ब्रह्मणः सकलं जगत्; अविवर्तितमानन्दमास्थिताः कृतिनः सदा।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-१२७ (भरद्वाजानुशासन-सर्ग)-२८

२७. द्रवत्वमम्भसि यथा शून्यत्वं नभसो यथा; यथा वस्तुनि वस्तुत्वं ब्रह्मणीदं जगत्तथा।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-२०५ (सर्गकारणनिरास-सर्ग)-३१

२८. एतत्ते सर्वमाख्यातं रामचन्द्रकथानकम्; अनेन क्रमयोगेन भरद्वाज सुखी भव।।

इति रघुपतिसिद्धिः प्रोदिता या मया ते, वरमुनिवचनालीरत्नमालाविचित्रा;
निखिलकविकुलानां योगिनां सेव्यरूपा, परमगुरुकटाक्षान्मुक्तिमार्गं ददाति।।
य इमं शृणुयान्नित्यं विधि रामवसिष्ठयोः; सर्वावस्थोऽपि श्रवणान्मुच्यते ब्रह्म गच्छति।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-१२८ (रामव्युत्थान-सर्ग)-१०६ से १११

२९. अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम्; वियोगेनासतामन्तः प्रयोगेणात्मसंविदाम्।।

यहाँ मूल पुस्तक में 'अनेकक्रमयोगेन' छप गया है किन्तु टीका से यह स्पष्ट होता है कि यह छपाई की भूल है और 'अनेन क्रमयोगेन' ही वास्तविक पाठ है।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-१२६ (परमार्थस्वरूपवर्णन-सर्ग)-३०

३०. हे वसिष्ठ महाभाग ब्रह्मपुत्र महानसि; गुरुत्वं शक्तिपातेन तत्क्षणादेव दर्शितम्।।

दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके; जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः।।
रामोऽप्ययं विशुद्धात्मा विरक्तः स्वात्मनैव हि; विश्रान्तिमात्राकाङ्क्षी च संवादात्प्राप्तवान्पदम्।।
शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यतः; मलत्रयमपक्वं चेत् कथं बुद्धाति पक्ववत्।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-१२८ (रामव्युत्थान-सर्ग)-६० से ६३

३१. षट्त्रिंशत्पदकोटिस्थमुनन्यन्तदशातिगम्; कुर्वन्तमन्तः शब्दादींश्चोदयन्तं मनःखगम्।।

-योगवासिष्ठ ६i (निर्वाण-प्रकरण, पूर्वार्ध)-३६ (देवार्चनविधि-सर्ग)-१५

३२. तस्मादुदेष्यत्यखिला जगच्छ्रीः शब्दतत्त्वतः; शब्दौघनिर्मितार्थौघपरिणामविसारिणी।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१८७ (जीवत्वसंसृतिप्रतिपादन-सर्ग)-४६

३३. यह माना जाता है कि योगी अपने एक-से अधिक शरीर बना सकते हैं। इस प्रकार उनकी काया एक 'काय-व्यूह' में बदल जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण इसी काय-व्यूह से ही अपनी सोलह हजार एक सौ आठ रानियों के अलग महलों में एक साथ रहते थे।

३४. वर्गत्रयोपदेशो हि शास्त्रादिष्वस्ति राघव; ब्रह्मप्राप्तिस्त्ववाच्यत्वान्नास्ति तच्छासनेष्वपि।।
केवलं सर्ववाक्यार्थैन्यमानावगम्यते; कालश्रीः प्रसवेनेव स्वयं स्वानुभवेन सा।।
सर्वार्थातिगतं शास्त्रे विद्यते ब्रह्मवेदनम्; सर्वगातिगतं स्वच्छं लावण्यमिव योषिति।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-१९७ (शास्त्रमाहात्म्य-सर्ग)-१५ से १७

३५. देवस्य पश्य काव्यं, न ममार न जीर्यति -अथर्ववेद १०-८-३२

३६. शास्त्रं सुबोधमेवेदं सालंकारविभूषितम्; काव्यं रसमयं चारु दृष्टान्तैः प्रतिपादितम्।।

-योगवासिष्ठ २ (मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण)-१८ (दृष्टान्तनिरूपण-सर्ग)-३३

३७. प्रशंसन्तु स्वैरं मतिभिरथ निन्दन्तु सुधियः
प्रवृत्तिर्मे यस्मान्न भवति जनाराधनकृते
अनेन व्याजेनामृतरसवसिष्ठोक्तिभरिते
विहर्तुं वाञ्छामि प्रतिदिवसमानन्दजलधौ।।

३८. ये पंचमहाभूत या पंचतत्त्व प्रसिद्ध हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। किन्तु वस्तुतः स्थूल शरीर में ये तत्त्व अपने शुद्ध रूप में नहीं, 'पंचीकरण' के बाद मौजूद होते हैं। 'पंचीकरण' की प्रक्रिया यह हैः प्रत्येक महाभूत का दो भाग करके सिर्फ आधा रहने दिया और बाकी आधे के चार भाग किए। इस प्रकार पाँचों महाभूतों के पाँच अर्धांश और बीस अष्टांश उपलब्ध हुए। अब एक महाभूत के अर्धांश में अन्य चार महाभूतों में से प्रत्येक का एक अष्टांश मिला कर एक नये तत्त्व की निर्मिति होती है; यही पंचीकरण है और देह की निर्मिति में यही पचीस तत्त्व काम में आते हैं। उदाहरण के लिए आकाश का मुख्य भाग शोक है, उसमें वायु का भाग काम है, अग्नि का भाग क्रोध है, जल का भाग मोह है, और पृथ्वी का भाग भय है- इस प्रकार शोक, काम, क्रोध, मोह और भय, ये मिलकर पाँच तत्त्व आकाश के हैं; यही पंचीकृत आकाश है और देह इसी आकाश से बनती है। इसी प्रकार अन्य तत्त्व के बारे में भी है। इसीलिए देह को पाँच महाभूतों-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से बना मानते हैं। चार्वाक दर्शन आकाश की सत्ता नहीं स्वीकार करता, और केवल चार तत्त्व ही मानता है।

३९. यत्कथ्यते हि हृदयङ्गमयोपमानयुक्त्या गिरा मधुरयुक्तपदार्थया च
श्रोतुस्तदङ्ग हृदयं परितो विसारि व्याप्नोति तैलमिव वारिणि वार्य शङ्कामू।।
त्यक्तोपमानममनोज्ञपदं दुरापं क्षुब्धं धराविधुरितं विनिगीर्णवर्णम्
श्रोतुर्न याति हृदयं प्रविनाशमेति वाक्यं किलाज्यमिव भस्मनि हूयमानम्।।
आख्यानकानि भुवि यानि कथाश्च या या यद्यत्प्रमेयमुचितं परिपेलवं वा
दृष्टान्तदृष्टिकथनेन तदेति साधो प्राकाश्यमाशु भुवनं सितरश्मिनेव।।

-योगवासिष्ठ ३ (उत्पत्ति-प्रकरण)-८४ (मनोऽङ्कुरोत्पत्तिकथन-सर्ग)-४५, ४६, ४७

४०. वक्तव्यमुक्तं भवता ज्ञातं ज्ञेयं मयाखिलामू; तव विश्रान्तिमायातु कृतकृत्या सरस्वती।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध) - २०३ (निर्वाणवर्णन-सर्ग)-५१

४१. भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः; आदर्शो राजतेऽत्यर्थं पौनःपुन्येन मार्जितः।।

-योगवासिष्ठ ६ii (निर्वाण-प्रकरण, उत्तरार्ध)-२०४ (चिदाकाशैकताप्रतिपादन-सर्ग)-१

कुरूप को शब्दांकित करते दस्तावेज़ की तरह

मिथलेश शरण चौबे

हमारी आकांक्षाओं को सच के सहारे रचने के उद्यम में लगी कथाएँ अक़्सर इन दोनों की परस्पर हिस्सेदारी के दावों की उदारता का ही साक्ष्य बनती रही हैं, वे भले ही ऐसा न चाहती हों। हर रचना क्या कहती है बिना इसकी परवाह के हम उसमें शामिल होते हैं। शायद वह बहुत कम हमें अपने में शामिल करती हो। हम अपने पढ़ने के जिस वृत्त में अक़्सर ठिठके रहते हैं, रचनाएँ हमेशा उसे तोड़ने की विनम्र लेकिन महत्त्वाकांक्षी कोशिश करती हैं। वे इसलिए हमेशा सजग प्रतीत होती हैं और हम लगभग आत्ममुग्ध। अपने पढ़ने-लिखने की दुनिया की यह आत्ममुग्ध तस्वीरें हमें कभी अपने वृत्त से बाहर नहीं जाने देती, यूँ भी हम ही कहाँ बाहर निकलना चाहते हैं। सृजनात्मक चेष्टाएँ आगे बढ़कर हाथ देती हैं, यदि हमारे ही हाथ न उठें तब। तब भी वे हाथ हमें बाहर निकालने के अपने निरापद अभियान में तत्पर रहते हैं।

चार कविता संग्रह, निबन्ध-आलोचना की तीन किताबें और दो उपन्यासों के बाद इस तीसरे उपन्यास के लेखक ध्रुव शुक्ल अपने विस्तृत लेखन और कुछ जल सत्याग्रह पर वक्तव्यों के सिलसिले में एक सृजनात्मक व्यक्ति के बतौर पहचाने जाते हैं। 'कचरा बाज़ार' लिखकर उन्होंने सृजन की सामाजिकता जैसे पद को किंचित गाढ़ा करने का उल्लेखनीय काम किया है।

हम वस्तुओं को इकट्ठा करने में मुग्ध मनुष्य निरन्तर अपने घरों को भरते चले जाते हैं। पुरानी अनुपयोगी चीज़ें क्रमशः कचरे के रूप में निष्कासित भी होती रहती हैं। रोज़मर्रा की अनेक चीज़ों सहित एक बड़ा कचरा सुविधा

सम्पन्न लोगों द्वारा फेंका जाता है जो शहर के बाहर की ज़मीन में ऊँचे टीलों के रूप में जहाँ अपना अस्तित्व निर्मित करता है वहीं बहुत ज़्यादा मात्रा में बड़ी इमारतों के आसपास शहर के अन्दर ही मुक्त रूप में दिखायी पड़ता है। इसी कचरे में से कुछ चीज़ें बटोरकर जीवनयापन करने वालों की एक बड़ी आबादी भी हमारे समाज में मौजूद है। ये बेघर लोग कचरे से ही चीज़ें जुटाकर अपने रहने का तथाकथित इन्तज़ाम कर लेते हैं जिन्हें हम झुग्गियों के नाम से अच्छी तरह पहचानते हैं।

आख्यान में निरन्तरता पाती इस कथा में दिनेश अर्थात सूर्य और राकेश अर्थात चन्द्रमा के बीच सम्वाद और पृथ्वी पर व्यापक रूप से फैलते कचरे की भयावहता को लेकर चिन्ताएँ विचारणीय हैं। कचरे में शामिल अनेक नष्ट न होने वाले रसायनों आदि के खतरों पर सुचिन्तित विश्लेषण है जिससे ही जल, भूमि, वनस्पतियाँ आदि प्रदूषित होते जा रहे हैं। हम मनुष्यों ने अपनी दुनिया को लगातार प्रकृति से दूर ले जाने की यान्त्रिक चेष्टाएँ की हैं। हमारे जीवन की आत्ममुग्धता ने पशु-पक्षी, पेड़-पौधों, कीट-पतंगों की नैसर्गिक उपस्थिति और हमारे होने की पूर्णता के अनिवार्य सम्बन्धों को नज़रअंदाज़ किया है। नतीजन अब वे पहाड़ व नदियाँ उसी जीवनदायी रूप में हमारे लिए नहीं बचे हैं जिसमें उनकी पहचान थी।

बाहर दिखायी पड़ते इस भयावह कचरे के समानान्तर ही हमारे अन्दर भी एक व्यापक कचरा संसार तैयार होता चला जा रहा है। हमारे समय में मूल्यों का लगातार क्षरण, सुचिन्तित जीवन दृष्टि का अभाव, अतृप्त कामनाओं के निरर्थक प्रलाप आदि इस कचरे के साक्ष्य हैं। वैचारिक विपन्नता के चलते एकांगी जीवन की एकरसता हममें मौजूद कचरे का ही एक निष्कम्प बिम्ब है। अपहरण, भ्रष्टाचार, हिंसा, बलात्कार, विज्ञापनों में स्त्रियों की वस्तुओं की तरह प्रस्तुति हमारे समय का वह भयावह कचरा है जिसने बहुसंख्यक आबादी को आक्रान्त करने का काम किया है। बगैर तर्क नक्षत्र विशेष में चिकित्सीय सहयोग से बच्चे को जन्म देने की कामना, अँग्रेज़ी वर्चस्व और विकसित होने के दिखावटी दम्भ में नन्दगाँव का निडनॉड में रूपान्तरण जैसी हमारी मनोदशाएँ दरअसल वैचारिक कचरे की प्रबलता का असन्दिग्ध प्रमाण हैं।

लेखक ने धर्म, राजनीति और बाज़ार की उस छवि को भी रूपायित किया है जिससे इनकी साझेदारी द्वारा किया जा रहा छल और फैलाया जा रहा कचरा साफ़ नजर आता है। इसी कचरा आक्रान्त क्रियाकलापों की वजह से श्रम का अनादर होता है, सम्वेदनहीनता की प्रवृत्ति बढ़ती चली जाती है और मनुष्य अपनी निजी ज़िम्मेदारियों से छिटककर किसी अदृश्य के भरोसे सब कुछ छोड़ देता है। इसी रास्ते दरिद्रता अपनी जगह बनाती है। सम्वेदनाओं के मरने की दारुण कथा इसी आख्यान में गैस त्रासदी के मुआवजे वितरण में अपात्रों-दलालों के द्वारा फर्जी लूट के वर्णन से भी चरितार्थ होती है।

इसी कचरा प्रवृत्ति के चलते मनुष्य प्रकृति का बेजा इस्तेमाल करता है और इसी के चलते निर्मित होती है एक असामंजस्य भरी दुनिया जिसमें जिनके पास जिस कार्य का हुनर है, वे उसके संसाधनों के लिए तरसते रहते हैं। सुदामा, शबरी, चित्रगुप्त, वसुधा, गंगा, ध्रुव, सप्तऋषि आदि पौराणिक चरित्रों व सूर्य-चन्द्र जैसे आध्यात्मिक प्रतीकों की कथा में उपस्थिति वर्तमान की कठोरता का निपट साक्षात्कार रचती है। एक चरित्र और एक लेखक का ध्रुव-युग्म भी अपनी तरह आख्यान को सान्द्रता प्रदान करता है। इन सभी चरित्रों के जीवन व्यवहार से कथा कचरा बाज़ार के विरुद्ध एक अनथक संघर्ष की जिजीविषा भी व्यक्त करती है। इस कथा का सच और उससे उत्पन्न चिन्ताएँ दीर्घकालिक व समूची मनुष्यता के लिए अनिवार्य सन्दर्भ की तरह हैं। ये सब हमारे दैनिक जीवन की बातें हैं, हमारे

आसपास हर समय दिखायी पड़ती दृश्यावलियाँ हैं लेकिन कितना कठोर सच है कि यही सब हम एक संगठित रूप में नहीं देखते। हमारी किंचित चिन्ताएँ होती भी है तो वे नितान्त एकांगी व अपने निजी दायरे से सम्बद्ध होती हैं। इस कथा में प्रकट और अप्रकट कचरे के सम्मुख कुरूप संसार को संगठित रूप में उद्घाटित किया गया है। हमारी तथाकथित विकास की अवधारणा के पीछे भागमभाग से लेकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी और वर्तमान अमेरिका वर्चस्व के आतंक के औज़ारों के निस्संग विश्लेषण से हम अपने खुरदुरे सच को जान सकते हैं जिनकी निर्मिति में कचरे की प्रभावी भूमिका है। इसे कथा के अलावा समय के कैनवास पर कुरूप को शब्दांकित करते दस्तावेज़ की तरह भी पढ़ा जा सकता है। इस अर्थ में यह 'वीभत्स रस' की अनूठी कृति है। इस तरह का लेखन हिन्दी में कम हुआ है।

पत्र

'समास' पर चिट्ठी लिखने की सोच रहा था। इधर पत्र लिखना एक प्रकार से बन्द होता जा रहा है। क्या यह विधा एकदम लुप्त हो जाएगी?

सम्पादक के नाम पत्र लिखने का चलन आज भी बना हुआ है। वह इसलिए भी कि सम्पादक को लिखे पत्र आसानी से छप जाते हैं। सम्पादकीय विवेक, रचना के चुनने में बरती गयी सतर्कता, कुछ नया देने, नया करने का उत्साह, पत्रिका के हर अंक में विषय विशेष की प्रस्तुति, पाठकों को जिससे कुछ नया मिले, जो किसी विचारधारा से आक्रान्त न हो, इस दृष्टि से 'समास' का प्रयास ऐतिहासिक है और इसे पठनीय, रोचक और बार-बार पढ़ने को उदग्र करता रहता है।

एक पाठक के रूप में 'समास' से मेरा जुड़ाव पुराना है। 'समास' के -पुनर्भव' के बाद अंक ५ से 'समास' मेरे पास बराबर आ रहा है और अंक ६ के बाद समास से मेरा सम्बन्ध एक पाठक से हटकर एक लेखक के रूप में हो गया है। तबसे ये दोनों रिश्ते जारी हैं- मैं इसे 'समास' का सौजन्य मानता हूँ। मेरे जैसे एक दूर-दराज़ के कस्बाई लेखक से कुछ लिखने या किसी अच्छी कृति का अनुवाद कर भेजने का सतत आग्रह 'समास' जैसी पत्रिका ही कर सकती है। 'समास' के पीछे जो आग्रह और चेतना सक्रिय है, वह बहुत ही उत्साह, ऊर्जा और सम्भावनाओं से भरपूर है।

समास पर एक दूसरी दृष्टि से विचार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। अभिव्यक्ति का इतना खुला मंच, रचना का ऐसा स्वागत और पृष्ठों की चिन्ता किए बिना सारवान रचना को छापने का ऐसा आग्रह मैंने किसी अन्य पत्रिका में नहीं देखा।

कुछ पत्रिकाएँ ऐसी होती हैं जो पत्रिका की सीमा का अतिक्रमण कर पत्रिका और पुस्तक के बीच का रूप धारण कर लेती हैं। 'समास' ऐसी ही पत्रिका है। हिन्दी में पुस्तक समीक्षाएँ तो निकलती हैं पर पत्रिकाओं में समावेशित सामग्री की व्यापक रूप से चर्चा नहीं होती है। हिन्दी में ऐसे पाठक-मंचों या अड्डों की भी अनुपस्थिति है जहाँ ऐसी पत्रिकाओं की बढ़-चढ़कर चर्चा हो और उनमें परिवेशित सामग्री के प्रभाव-विस्तार का आकलन किया जाए।

'समास' साहित्य और कलाओं पर एकाग्र त्रैमासिक पत्रिका है। साहित्य में सृजन की सभी विधाएँ और कलाओं में सभी कलाएँ आ जाती हैं। यह विषय विवेचन और प्रवर्तन में 'एकेडेमिक' टाइप की पत्रिका नहीं है। यह एक विचारधारा से पोषित और उसी में महदूद पत्रिका भी नहीं है। इसकी विशेषता है हर अंक का नया उपक्रम, हर अंक का एक विषय विशेष पर केन्द्रित होना। इसकी सबसे अच्छी व्याख्या अज्ञेय की इस पंक्ति में की जा सकती है, 'आँगन के पार द्वार-द्वार के पार आँगन'।

अंक-५ में कवि, चिन्तक और आधुनिकता के गम्भीर अध्येता कमलेश जी पर विशेष सामग्री दी गयी है। उनके सृजन

को रेखांकित करती सम्पादक की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं। ''इस अंक में अद्वितीय कवि और चिन्तक कमलेश को किंचित विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। कमलेश हमारी भाषा के उन अनोखे कवियों में हैं जिनकी कृतियों में गहन पारम्परिक अन्तर्दृष्टि और समकालीन सजगता एक साथ बेहद उज्ज्वल भाषा में चरितार्थ होती है। वह उन जैसे कवियों की उपस्थिति ही है जो हमें तमाम ओर से विष बुझे परशु की तरह भेदती तरह-तरह की जानकारियों के बीच अपनी ओर बढ़ी हुई बाँह की तरह अनुभव होती है।'' आगे अपने सम्पादकीय में उदयन दर्ज करते हुए कहते हैंः पिछले कई दशकों के प्रगतिशील कोलाहल के कारण कमलेश जैसे कवियों की कृतियों का वैसा पठन-पाठन नहीं हो सका जैसा उनके जैसी श्रेष्ठ कृतियों का किसी भी आत्मसजग सांस्कृतिक परिवेश में हुआ करता है। फिर सम्पादकीय हमारी उस बौद्धिक भूल की ओर इशारा करता है जिसके कारण कमलेश जैसे कृतिकारों को विचारधारा से प्रेरित उपेक्षा की धुन्ध के कारण नज़रन्दाज़ कर दिया जाता है। ''हमें इस बात पर आश्चर्यचकित होना चाहिए कि हमारी साहित्यिक संस्कृति पर बेजान और निष्फल हो गयी विचारधाराओं की ऐसी काली छाया पड़ी हुई है कि हम अपने अनेक श्रेष्ठ कृतिकारों को रेखांकित करने में संकोच अनुभव करते रहे हैं। 'समास' के कुछ पाठकों को यह जानना निश्चय ही रुचिकर होगा कि एक बड़े कवि होने के साथ कमलेश समकालीन और पारम्परिक ज्ञान-परम्पराओं के गम्भीर अध्येता और ज्ञाता हैं।''

सम्पादकीय की यह धारणा और विश्वास इसी अंक में कमलेश और उदयन वाजपेयी के लम्बे साक्षात्कार से प्रमाणित होती है। यह साक्षात्कार बेहद ज्ञान उत्तेजक और विश्व की प्रगतिशील, अन्धी, जड़ विचारधाराओं की जड़ें हिला देता है साथ ही उन विचारधाराओं से प्रेरित हमारे देश में पिछले साठ-सत्तर वर्षों से गतिशील राजनीतिक विचारधाराओं के भी खोखले और आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी तथा अवसरवादी चरित्र को रेखांकित करता है। जैसे लोहिया द्वारा प्रयुक्त 'समाजवादी' शब्द उनकी एक विवशता थी। इसका वही अर्थ नहीं है जिसका आजकल अर्थ लगाया जाता है। 'समाजवादी' शब्द को लेकर इतनी गहरायी से विचार करने विजय देवनारायण साही भी नहीं गये हैं। राजनीति में आज भी इस शब्द का प्रयोग जनगण को एक सपना दिखाने और अपनी करतूतों को छिपाने के लिए किया जा रहा है। इस साक्षात्कार से हम कमलेश की उस विचारधारा से भी रूबरू होते हैं जिसके चलते सच्चाई की खोज में वे कई विचारधाराओं से अपसरण करते गए और आज विचारों के ऊहा-पोह से ग्रस्त विचारकों की क्या स्थिति है उसे हमें साफ-साफ समझा सके। उन्हें साहित्य और कलाओं की भी उतनी ही जानकारी है जितनी राजनीति और समाज केन्द्रित विचार धाराओं की। यह साक्षात्कार इस अंक की एक उपलब्धि है। कमलेश की तुलना बाँग्ला लेखक अम्लान दत्त से की जा सकती है जो विचारधाराओं पर पड़ी धूल को निरन्तर झाड़ते-पौंछते रहे। उनकी विचार सरणि में समकाल और पुराकाल की हर विचारधारा आती थी और उन्होंने बिना पक्षपात के हर विचारधारा की जाँच-पड़ताल की है। मार्क्स, गाँधी, फ्रायड, रवीन्द्रनाथ और नीति-दुर्नीति, हिंसा-अहिंसा, नक्सल आन्दोलन, हथियारों की होड़, हमारी आर्थिक संरचना। बाँग्ला लेखक अशोक मित्र वामपन्थी विचारधारा से प्रतिबद्ध हैं, पर अम्लान दत्त ऐसी किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध नहीं रहे। वे सदा तटस्थ बने रहे। इनके कुछ प्रबन्धों को पढ़ने का मुझे अवसर मिला है। २०१० ईस्वी में इनकी मृत्यु हुई। शिवनारायण जैसा वामपन्थी विचारक भी अम्लान दत्त से प्रभावित था। विचार-सरणियों की दृष्टि से निर्मल वर्मा और अम्लान दत्त में काफ़ी समानता रही है।

अंक-६ के सम्पादकीय का यह अंश हमें प्रश्नाकुल बनाता है- हमारी समकालीन चेतना सोच-विचार के बने बनाए

ढाँचों जिन्हें ऊपर उद्धृत कविता के सहारे कहें तो सोच-विचार की धाराओं की ऊँची अभेद्य दीवारों को फाँदकर बाहर आए और फिर अपनी शर्तों पर किन्हीं भी परम्पराओं से सम्बन्ध बनाए।

इसी सम्पादकीय में, यह सपना भी पाठक के मन में उभरता है: ''धीरे-धीरे हम समास को हिन्दी में भारतीय साहित्य, कला और सभ्यता की पत्रिका के रूप में विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। इसके साक्ष्य 'समास' के अगले अंक बखूबी दे रहे हैं।

अंक-६ की विशेष उपलब्धि है मार्टिन हाइडेगर की दार्शनिक उपपत्तियों के माध्यम से भारत के ख्यात दार्शनिक जड़ाव लाल मेहता के व्याख्यानों का संग्रह 'कविकर्म और चिन्तन' की समीक्षा। यह हमारे चिन्तन की विडम्बना ही है कि हम पहले पश्चिम में जाते हैं, वहाँ की तर्कणा-पद्धति में उलझते हैं, लम्बी यात्रा के बाद फिर घर वापसी करते हैं। 'नाट्यमाला प्रवचनेन न मेधया न बहुना श्रुतेन' में निहित तत्त्व को जानकर फिर हम 'अहं' 'इद' के झगड़े को सुलझाकर श्रुतियों में निहित निष्कर्षों तक पहुँचते हैं। १९वीं, २०वीं सदी की भारतीय चिन्तन-पद्धति का यही निष्कर्ष है। कमलेश जी ने बड़े परिश्रम से जड़ावलाल मेहता की पुस्तक के बहाने हाइडेगर के दार्शनिक निष्कर्षों तक हमें पहुँचाया। क्या अज्ञेय, मुक्तिबोध, कुँवर नारायण और अशोक वाजपेयी की कविताओं में उपस्थिति-अनुपस्थिति, मृत्यु और जिजीविषा, कविता और शब्द, दिक् और काल की धारणाएँ जिस रूप में व्यक्त हुई हैं उन्हें जड़ाव लाल मेहता जैसे दार्शनिक की उपपत्तियों के प्रकाश में पुनर्विचार के लिए नहीं लिया जा सकता है?

फिर इस अंक की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है सुरेश शर्मा से उदयन की लम्बी बातचीत, आधुनिकता और पेगन सभ्यताएँ। इस पर सम्पादक की यह टिप्पणी कितनी मौजूँ है, 'वे बोलते हुए भी सोचते रहते हैं इसलिए उनकी बात कभी बासी नहीं जान पड़ती मानो उनकी बुद्धि का एक हिस्सा बोलने में लगा होता है और दूसरा अपने बोले हुए को सुनता रहता है। दरअसल चिन्तन और संवाद दोनों की आवाजाही के बीच कौन-सी प्रक्रिया चलती रहती है, किस प्रकार एक ओर हमारी चेतना बोलने के विषय की ओर उन्मुख रहती है और दूसरी ओर बाहर जो प्रश्न खड़े हैं, उन तक अपने चिन्तन पहुँचाने को' वक्ता की चेतना जिन प्रत्ययों, बिम्बों, भाषा-रूपों को खोजती रहती है इस पर हमारे यहाँ विचार तो ज़रूर हुआ होगा, पर कहीं पढ़ने को नहीं मिला। मेरी सीमा हो सकती है।

उदयन और सुरेश शर्मा की बातचीत से जो चीज़ें उभर कर आयीं है उन पर अलग से एक लेख ही लिखा जा सकता है। लेकिन सुरेश शर्मा के चिन्तन की गहरायी और साफ-साफ निष्कर्ष लेने की क्षमता की तुलना सिर्फ धर्मपाल जैसे विचारक से की जा सकती है। उदयन का कहना है: जिस बड़े धरातल पर सुरेश सोचते हैं वह आज के विश्व में बहुत कम लोग कर पाते हैं। मैं सुरेश के अलावा सिर्फ़ इतिहासकार धर्मपाल को इस स्तर पर सोचते हुए पाता हूँ। सचमुच में यह बातचीत हमें वैचारिक ऊर्जा प्रदान करती है।

इस बातचीत का बहुत महत्त्वपूर्ण अंश है इसका संस्मरणात्मक धरातल। बिना किसी 'अहं' या अपने को आगे लाने की प्रवृत्ति के जीवन के सहज प्रसंगों के उजाले में अपने विचारों का प्रस्तुतीकरण। यह बात पूरी बातचीत को एक आत्मीयता का आसंग देकर रोचक बना देती है बिना विषयगत गम्भीरता को आहत किए। यह निष्कर्ष कितना महत्त्वपूर्ण है जब कोई बहुत उथल-पुथल का समय आता है और जीवन-अस्तित्व के दार्शनिक आधार तिरस्कृत होने लगते हैं, उनके राजनैतिक-सामाजिक आधार भी ध्वस्त हो जाते हैं तब भी सामान्य जीवन जीने के साथ जुड़ी हुई

वस्तुएँ बची रहती हैं। उन्हें ध्वस्त करना मुमकिन नहीं होता। लम्बी परकीय शासन सत्ता के बाद भी भारतीय जीवन की मूल चीज़ों का बचा रहना इसका साक्ष्य है।

इस बातचीत के कुछ अंश उल्लेखनीय हैं। इन्हें इतिहास की लम्बी परम्परा के अनुशीलन के बाद ही प्राप्त किया गया है। सामान्य जीवन-लय में कुछ चीज़ों का अनायास जीवित रह जाना, मानव-अस्तित्व के विशेष आयाम को इंगित करता है। जीवनशैली, चिन्तन-विधा, एक ही स्वर, एक ही धुरी में बाँधने समेटने के बहुत से निर्मम प्रयास हुए हैं लेकिन उनको सफलता, आंशिक ही मिल पायी है।

भय-आधारित व्यवस्था के लिए हर एक को अकेले रखना अनिवार्य है और विस्मृति इस अकेलेपन का गहनतम आयाम है।

एक और अंश देखिए जो हमारी भाषा के गम्भीर प्रयोगों में छिपी गहन विचार सरणी और प्रत्ययों के विभेदीकरण की अचूकता की ओर संकेत करता है। सुरेश का कथन इस प्रकार हैः हमारी भाषा में 'एक' और एक से अधिक के बीच भेद करने की शाब्दी-युक्ति ध्यान देने योग्य है। एक का विपरीत शब्द 'अधिक' नहीं 'अनेक' है। 'अनेक' का अर्थ बहुत नहीं है, उसका अर्थ है 'एक नहीं'। हमारी भाषा की यह विशेषता भी है कि यहाँ किसी प्रत्यय को परिभाषित करने के लिए 'नेति' का उपयोग किया जाता है। फिर उन्होंने 'नेति' के बरक्स एक वचनात्मकता और मार्क्सवादी चिन्तन पर टिप्पणी करते हुए यह निष्कर्ष निकाला : हर चीज को, या यों कहें समस्त मानव अस्तित्व को किसी एक आयाम में ढालकर उस पर निर्णय देने की सुविधा आधुनिक वृत्ति में बहुत गहरे तक पैठी हुई है (इसमें सावरकर भी आ जाते हैं)।

फिर निर्मल वर्मा की अनुपस्थिति पर यह आत्मीय टिप्पणीः निर्मल की उपस्थिति का अभाव न जाने कितनी बार इस बातचीत के दौरान महसूस किया है। निर्मल को सुनने और उनसे कुछ कहने का आनन्द अद्‌भुत था। फिर उसी सन्दर्भ में स्टीफ़न हाकिंग के शब्दों में यह कहना कि एक वचनात्मकता ही ब्लैक होल है कितनी बड़ी बात है।

इस संवाद की सबसे बड़ी विशेषता उन्हें अर्थात् सुरेश को और-और सुनने की उत्सुकता पैदा करना है। जैसे एक संवाद चल रहा है जिसका आदि तो है अन्त नहीं। यह हमें प्लेटो और अरस्तु के संवाद की याद दिलाता है।

अंक-७ भी उतना ही विचारोत्तेजक, और ताजातरीन है। इसकी उपलब्धियों के बीच दो चीजें रेखांकित करने योग्य हैं एक प्रसिद्ध इतिहासकार धर्मपाल से उदयन की बातचीत और कमलेश जी का 'फ्राँसीसी एलाँ दानिएलू' के जीवन और भारतीय दर्शन और संगीत के प्रति उत्सुकता, उसे आयत्त करने के प्रयास का आख्यान। ऐसे कई विदेशी रहे हैं जो भारतीय जीवनशैली, सभ्यता, संस्कृति के प्रति उत्सुक बने रहे और उसे समझने के लिए अपने जीवन को बदलते रहे। यहाँ के साहित्य-संस्कृति पर उन्होंने लिखा भी। ऐसे दो व्यक्ति अभी भारत में विद्यमान है। एक हैं फादर द्युतियेन जिन्होंने फ्राँसीसी होते हुए भी बाँग्ला सीखी और इस सीमा तक कि आज उनकी गणना बाँग्ला लेखकों में की जाती है। इन्होंने भारत विषयक जो संस्मरण लिखे (मूल बाँग्ला में) उसके दो संकलन छप चुके हैं। दूसरे हैं मार्टिन कैम्पशेन (मूल जर्मन)। इन्होंने भारतीय दर्शन पढ़ा और उस पर शोध किया। बाँग्ला सीखी और रवीन्द्र तथा रामकृष्ण परमहंस के कथामृत का जर्मन में अनुवाद किया। वे हिन्दी भी बोलते हैं। स्थायी रूप से शान्तिनिकेतन में रह रहे हैं। वे रामकृष्ण मिशन के एक साधु हैं।

कमलेश जी का फ्राँसीसी 'एलाँ दानिएलू' पर लिखा आलेख कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, संस्थाओं, सांस्कृतिक कार्यों और भारत पर लिखी कई पुस्तकों की ओर ध्यान खींचता है। उदयशंकर चित्रकला सीखने इंग्लैण्ड अर्थात लण्दन गए थे जहाँ उनके पिता रह रहे थे और यह चित्रकला उन्होंने रवीन्द्रनाथ के घनिष्ठ मित्र विलियम रोथेंस्टाइन से ही सीखी थी। अन्ना पावलोवा से उनकी पहली भेंट यहीं लन्दन में हुई थी। बाद में वे उनके साथ फ्राँस चले गये। इस आलेख में भारतीय संगीत, चित्रकला, दर्शन आदि के कई महत्त्वपूर्ण प्रसंग हैं। एक तथ्य बहुत ही चौंकाने वाला है कि जवाहर लाल नेहरू और महात्मा गाँधी को भारतीय समाज की मौलिक जानकारी नहीं थी। उनकी जानकारी का स्रोत अँग्रेज़ों द्वारा लिखी पुस्तकें थीं। इसमें उदयशंकर के अलमोड़ा संस्कृति केन्द्र और मिरटोला में योगी श्री कृष्णप्रेम द्वारा स्थापित उत्तर वृन्दावन आश्रम की भी चर्चा है। उनका लखनऊ विश्वविद्यालय में अँग्रेज़ी विभाग में रीडर होना एक संयोग था। इंग्लैण्ड से वे दूसरी वजह से भारत आए थे, लखनऊ विश्वविद्यालय में नियुक्ति पाकर नहीं। इस प्रसंग का विस्तृत विवरण दिलीप कुमार राय (महान संगीतज्ञ) द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'योगी श्री कृष्ण प्रेम' में दिया गया है। बहरहाल कमलेश जी का लेख कई जानकारियों से पूर्ण और जिज्ञासा बढ़ाने वाला है।

समास-८ की सम्पादकीय टिप्पणी में रामानुजन की अच्छी जीवनी न होने के प्रसंग को पढ़कर मैं चौंका, विचलित हुआ और दुःखी भी हो गया अपने पूर्वजों की विरासत न सम्हाल पाने के कारण, उनके जीवन-प्रसंगों के साथ वे जिस सांस्कृतिक परिवेश में जन्मे उसकी उपेक्षा के कारण। कोई विभूति अधर में नहीं पैदा होती है। कोई परिवेश होता है, जहाँ से प्रेरणा पाकर वह धीरे-धीरे विकसित होती है। सम्पादक की ये पंक्तियाँ हमारे एक ऐसे बौद्धिक दिवालियेपन की ओर संकेत करती हैं जिसकी मिशाल मिलना कठिन है। जब मैं रामानुजन के विषय में लिखी सामग्री को देख रहा था, मैंने पाया कि उनकी एक भी अच्छी जीवनी किसी भारतीय ने नहीं लिखी है। उनकी जो दो-तीन जीवनियाँ भारतीयों ने लिखी हैं वे ज्यादा-से-ज्यादा दोयम दर्जे की हैं और साथ ही उनमें रामानुजन की गणितीय मनीषा को उस सांस्कृतिक और साभ्यतिक परिवेश से जोड़ने की दूर-दूर तक कोशिश नहीं है जो किसी भी अच्छी जीवनी में हुआ करता है। फिर उदयन वाजपेयी इसी टिप्पणी में हमारी सांस्कृतिक शिथिलता के साथ पश्चिमी विद्वानों द्वारा किए गए हमारी सांस्कृतिक थाती के अवमूल्यन के पीछे निहित उनकी खोटी और दम्भपूर्ण नीयत को रेखांकित करते हुए आगे लिखते हैंः पश्चिमी विद्वानों ने हमेशा यह कोशिश की है कि वे गैर पश्चिमी विभूतियों को उनकी अपनी विशिष्ट संस्कृतियों से अलगकर प्रतिष्ठित करें। पश्चिमी विद्वानों का अपने अलावा सभी संस्कृतियों को नीचा दिखाने का यह कार्य शताब्दियों से हो रहा है और हमने भी इसे मन-ही-मन स्वीकार कर लिया है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हमने अपनी संस्कृति को समझने के स्थान पर उसे विकास के नाम पर विस्थापित करने का विराट उपक्रम चलाया हुआ है।

दर-असल किसी पत्रिका का व्यापक लक्ष्य किसी एक ही टिप्पणी के माध्यम से पूरी तरह व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए उसमें परिवेशित सामग्री को एक निश्चित पृष्ठभूमि और नजरिया देने के उद्देश्य से यह लक्ष्य विभिन्न अंकों की विभिन्न टिप्पणियों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। 'समास' हमारे जीवन की विविधता को समझने का एक सांस्कृतिक उपक्रम है।

समास-८ में दो-तीन चीज़ें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक तो मणिपुर इम्फाल के नाटककार रतन थियाम से उदयन की

बातचीत है और दूसरा है कमलेश जी का 'रूसी संस्कृति का उद्‌भव और विनाश' जो अंक-६ तक फैला हुआ है। यह एक प्रकार से रूसी साहित्य पर प्रो. वरयाम सिंह द्वारा किए गए ऐतिहासिक काम के अभिनन्दन में लिखा गया है। प्रो. वरयाम सिंह द्वारा अनूदित (सीधे रूसी भाषा से) रूसी कवियों की चर्चा अधिक नहीं हुई है। यह लेख बेहद पठनीय और रूसी संस्कृति की झलक देने वाली कविताओं को हिन्दी में पढ़ने की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह रूसी संस्कृति के पतनोन्मुख उपाख्यान और इतिहास-गाथा को एक साथ प्रस्तुत करता है।

समास-८ की रेखांकित करने योग्य सामग्री और भी है। रतन थियाम से की गयी बातचीत से यह उजागर होता है कि भारत का नाट्यकर्मी आज भी अच्छे रंगमंच की तलाश में है, जो उसे कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। उसके पास साधन नहीं हैं, धन का अभाव है, फिर भी वह अपने सीमित साधनों में बेहतरीन रंग प्रस्तुतियाँ उपस्थित करता रहता है। शम्भु मित्र से एक बार पूछा गया था कि आप को क्या चाहिए, उन्होंने कहा था एक राष्ट्रीय थियेटर। उस थियेटर के लिए जमीन वह जमीन न पश्चिम बंग सरकार उपलब्ध करा पायी न केन्द्र सरकार का संस्कृति-विभाग। अपने उत्तर जीवन में शम्भु दा इसीलिए नाट्यकर्म से उदासीन हो गए थे।

उदयन और रतन थियाम की बातचीत बहुत ही उद्‌बोधक और मजेदार है। यह भारतीय नाट्य रंग के इतिहास की कई कड़ियाँ उजागर करती है। पुस्तकों के प्रति उनका अदम्य प्रेम, कॉलेज की औपचारिक शिक्षा से दूर भागकर ज्ञान पिपासा की ललक, जीवन के विविध अनुभवों को बटोरता उनका कुछ-कुछ आवारा और घुमक्कड़ जीवन हमें वाणभट्ट की याद दिला देता है। साथ में हजारी प्रसाद द्विवेदी के वाणभट्ट की आत्मकथा में चित्रित वाणभट्ट के रंगप्रिय जीवन की।

इस भटकन से बटोरे गये अनुभवों, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में अलका जी के सान्निध्य में पायी रंग शिक्षा के बाद वे गहरे नाट्य प्रदर्शनों, नाट्य लेखन उसके प्रस्तुतीकरण में उतरते गये। किसी नाटक को मंच पर कैसे अभिनीत करना चाहिए, उन्हें नाट्य रंग का कितना गहरा बोध था, उनकी नाट्य प्रस्तुतियों में शास्त्रीय और लोकायती परम्परा किस प्रकार घुली-मिली है, इस पर उदयन की यह टिप्पणी ध्यातव्य है। पर, इस टिप्पणी तक मैं आपको ले जाऊँ उसके पहले रतन थियाम के इस कथन को पढ़ना बहुत जरूरी है। क्योंकि आगे उदयन जो कुछ कहते हैं उसकी पृष्ठभूमि या कैनवास तो रतन का यह कथन ही देता है। रतन ने टैगोर के 'आँधार घररे राजा' नाटक का सन्दर्भ देते हुए अपने नाट्य निर्देशक के संघर्ष का वर्णन करते हुए कहा है :

''मैं सूक्ष्मताओं में जाना चाहता हूँ। मैं नाटककार को सहयोग देने की कोशिश करता हूँ। टैगोर जैसे नाटककार की कल्पना उनके शब्दों में निहित होती है। उससे दृश्यों का निर्माण होता है। टैगोर यह वर्णन करते हैं कि रानी राजा के विषय में क्या महसूस करती है, वह सोचती है कि वह कैसा दिखता होगा। ये सारी कल्पनाएँ रानी सुदर्शना के मन में हैं। लेकिन जब सुदर्शना राजा के विषय में यह कहती है कि वह ऐसा दिखायी देता होगा या वैसा, मैं सोचता हूँ कि यह नाटक के लिए पर्याप्त नहीं है। आपको नाटक में मन की इन छवियों को रंगमंच पर लाना होता है ताकि आप रानी की अनुभूति की बारीकि और उसकी गन्ध को रेखांकित कर सकें। मेरे विचार से इस नाटक की कल्पना अलग है और रानी की कल्पना अलग और मैं जो कल्पना कर रहा हूँ, वह तीसरी बात है। इस तरह नाट्यकार, चरित्र और रंग निर्देशक साथ आ जाते हैं और यह तब तक नहीं हो सकता जब तक आप दृश्य की सूक्ष्मताओं में नहीं जाते।''

अब इस लम्बे कथन के बाद उदयन ने जो प्रश्न के बहाने इसकी गाँठों को खोला वह रतन के कथन में निहित आशयों की ओर उजागर करता है। उदयन ने जोड़ा- शायद इसीलिए रानी अपने मन से राजा की जो छवि बना रही है उसे आपने रंगमंच पर मूर्त रूप देने की चेष्टा की है। मुझे लगा कि नाटक में लिखे शब्द आपके लिए उन खिड़कियों की तरह होते हैं जिन्हें खोलकर आप यह देखते हैं कि बाहर कौन-सा दृश्य आकार ले रहा है और फिर आप उस दृश्य को मूर्त रूप देते हैं। आप एक के बाद दूसरी शब्द-खिड़की या शब्द-झरोखा खोलकर दृश्य देखते चलते हैं और फिर उन्हें रंगमंच पर उतारने की कोशिश करते हैं। इसलिए आप शब्द को बनाए रखकर भी उसके परे के दृश्य को रचने में सफल हो जाते हैं। आमतौर पर नाटकों में शब्द दृश्य के स्थान पर आते हैं पर आपके नाटकों में शब्द और दृश्य दोनों एक साथ रहते हैं। यह आपके नाटकों की विलक्षणता है कि रंगमंच पर उपस्थित दृश्य अत्यन्त आकर्षक होता है पर साथ ही शब्दों की चमक भी बनी रहती है।

यहाँ थोड़ा रुककर उदयन वाजपेयी द्वारा अकसर लिए गए साक्षात्कारों की विलक्षणता, गहरायी और उनकी प्रश्नाकुलता पर कुछ कहना बहुत जरूरी है। एक तो यह कि उन्होंने विभिन्न साक्षात्कारों द्वारा भारतीय कलाओं, सभ्यता और संस्कृति, जीवन-पद्धतियों से जुड़ें विचारों के माध्यम से साक्षात्कारों के एक नये मुहावरे को विकसित किया है। इन साक्षात्कारों में उदयन की चेतना एक निष्क्रिय श्रोता (पेसिव लिसनर) की न होकर सम्मुख आसीन वक्ता के साथ समस्वर होकर गाहे-बगाहे उसके विचारों के तारों को छेड़ते हुए उसे गहरायी में डूबने, उसके अवचेतन में जो कुछ विद्यमान है उसे बाहर लाने को उत्प्रेरित करता है। वे अपने विचारों को लादते नहीं वरन् सामने बैठे व्यक्ति को अपने विचारों को शब्द देने, आकार लेने में मदद करते हैं। उन्होंने अब तक जितने रंगकर्मियों, लेखकों, साहित्यकारों, फिल्म निर्माताओं, नर्तकों, संगीतज्ञों के साक्षात्कार लिए हैं, उनकी पृष्ठभूमि में सक्रिय उदयन की चेतना का विश्लेषण किया जाए तो उनकी विविध कलाओं में सक्रियता, उनकी दृष्टि, कार्यशैली आदि के बड़े विलक्षण परिणाम हमारे सामने आएँगे। यहाँ पर थोड़ा इस दृष्टि से भी सोचा जा सकता है कि यदि उन्होंने ये साक्षात्कार न लिये होते तो कितने विचारों से हम वंचित रहते।

अब ऊपर उदयन ने रतन थियाम के नाट्य निर्देशन और नाट्य प्रस्तुतियों की जिस विलक्षणता की ओर संकेत किया है उसने रतन थियाम को किस प्रकार शब्द और नाट्य प्रस्तुतियों में उनकी सार्थकता को लेकर विचार करने को बाध्य किया उसके साक्ष्य तो और भी विलक्षण हैं। रतन थियाम ने नाट्य प्रस्तुतियों में शब्दों की दृश्य रचना और भावों के प्रकटीकरण में क्या भूमिका होती है, इसके सूत्र को पकड़ कर आगे कहा हैः शब्द को समझना बहुत कठिन है, शब्द के भाव को समझना। वह कपास की तरह हल्का हो सकता है लोहे की गेंद-सा भारी भी हो सकता है। जब आप पंख जैसे हल्के शब्द की बात करते हैं या आप 'पंख' शब्द की बात करते हैं, आपको पंख की कोमलता दर्शानी होगी, पर उसे बिना रंग के दर्शाया नहीं जा सकता। आगे बातचीत दूसरी ओर मुड़ जाती है। वैसे और कोई होता तो सीधे-सीधे पूछता आप अभिनय या नाट्य निर्देशन में कैसे आए पर उदयन ने कला या कविता की पूरी रचना प्रक्रिया खँगालते हुए पूछाः कई कवियों के मन में कविता की शुरुआत किसी पंक्ति से होती है, कई के मन में किसी छवि से, कई के मन में यह शुरुआत किसी धुन से होती है। मैं यह जानना चाहता था कि आपने मन में किसी नाटक की प्रस्तुति की शुरूआत किस तरह होती है।

बस इसी तरह सीढ़ी-दर-सीढ़ी यह बातचीत आगे बढ़ती जाती है और एक उत्सुकता के साथ विराम लेती है कि

रतन थियाम और उनके रंगकर्म को और जाना जाए।

इस अंक की दो-तीन उपलब्धियाँ और हैं जैसे सुरेश शर्मा का 'हिन्द स्वराज का अर्थलोक', 'विद्या और विज्ञान', 'रेने गुऐनो' का आलेख, सुरेश शर्मा की 'गुणिया से बात' एक और संवाद परक प्रस्तुति है। लक्ष्मीधर मालवीय और राधावल्लभ त्रिपाठी के भी आलेख महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन मालवीय जी के लेख से यह पता नहीं चलता कि महाकवि देव पर उन्होंने जो अनुसन्धानात्मक पाठ संशोधन और अर्थ व्याख्यान किया वह कहाँ से उपलब्ध है और बिहारी सतसई भी उनके द्वारा सम्पादित होकर किस प्रकाशन से निकलने वाली है।

'हिन्द स्वराज' पर सुरेश शर्मा का लेख कई दृष्टियों से 'हिन्द स्वराज' की विषयवस्तु, उसकी प्रासंगिकता का आख्यान करता है किन्तु उसकी दो बातें मुझे बहुत आकर्षित करती हैं, एक है आधुनिक सभ्यता द्वारा व्यक्ति के स्थान पर चीज़ों को महत्त्व देना और इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के मूल्य को निरन्तर अपदस्थ करते हुए उनका शोषण करना। धीरे-धीरे मनुष्य को भी एक जिन्स में परिवर्तित करना। 'हिन्द स्वराज' के बरक्स पं. जवाहर लाल नेहरू पर विचार करते हुए सुरेश शर्मा ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और वह है गाँधी जी के पट्ट शिष्य नेहरू द्वारा 'हिन्द स्वराज' के आशयों को पूरी तरह खारिज कर देना। 'हिन्द स्वराज' का हम चाहे जितना कीर्तन करें गाँधी के बाद व्यवहार में उसके कहीं दर्शन नहीं होते, न राजनीति में, न प्रशासन में। और 'हिन्द स्वराज' की आत्मा जिन संस्थाओं और व्यक्ति चेतना में विद्यमान भी है तो उनकी कहीं चर्चा नहीं होती है।

'रेने गुऐनो' का लेख वर्षों पहले कल्याण में निकला था और इसका हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान एलाँदानएलू ने किया था। इस लेख को अगर हिन्दी स्वराज के सन्दर्भ में पढ़ा जाए तो आधुनिक सभ्यता, मशीन और आदमी को जड़ बनाने वाले वैज्ञानिक अनुसन्धानों की कमियों को हम अधिक गहरायी से समझ सकेंगे।

रेने गुऐनो का विवेचन अत्यन्त स्पष्ट और पारदर्शी है। उन्होंने विज्ञान की सीमा बताते हुए उसे सिर्फ ऐन्द्रिय अनुभवों पर आधारित और आत्म से विमुख माना है। वह अस्तित्व के सिर्फ जड़ रूप को मानता है उससे परे भी कुछ हो सकता है इसमें उसका विश्वास है ही नहीं। गुऐनो का कहना हैः आधुनिकता ने हमें परम सत्य से परांगमुख कर दिया। विज्ञान द्वारा प्राप्त सुविधाओं के सन्दर्भ में उनका कहना हैः 'जब मनुष्य का पूरा जीवन अप्रधान की खोज में लग जाता है, जैसा आजकल दिखायी देता है, तब उससे अवश्य हानि होती है।

उनका विवेचन अभ्रांत और वर्तमान विज्ञान की सीमाओं को रेखांकित करता है। उनका कहना है : वह विज्ञान, जिस पर वर्तमान संसार इतना गर्व करता है, वास्तविक विज्ञान का, जो आत्मविद्या या सनातनी विद्या से भिन्न नहीं, का एक उच्छिष्ट भ्रमपूर्ण अंश मात्र है। वर्तमान विज्ञान ज्ञान की अधम जड़ वस्तुओं के अध्ययन में आबद्ध करके निरर्थक एवं बुद्धिहीन बन गया है। इस भ्रम एवं वर्तमानकाल की अन्य भ्रमपूर्ण दृष्टियों का मुख्य कारण अहंकार है। यह अहंकार सनातन धर्म-विरुद्ध दृष्टि का नामान्तर है। यही इस युग के विप्लव, संभ्रम आदि का प्रधान कारण है।

अब समास-६ को लेते हैं। इसमें ध्यान आकर्षित करती है सम्पादक की प्रेमचन्द की कहानियों या उनके कथा साहित्य में चित्रित गाँव पर टिप्पणी। सम्पादक के मत से यह कोई विशिष्ट गाँव नहीं प्रेमचन्द द्वारा अंकित यथार्थ गाँव है। दर-असल सम्पादक की दृष्टि में प्रेमचन्द के गाँव में कला का अन्यथाकरण नहीं है इसलिए उसमें कोई विशिष्टता या

अस्ति कश्चित वाग् विशेषः न होकर ज्यों-का-त्यों चित्रण है। इसकी तफसील में जाने के लिए ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाले भारतीय भाषाओं और हिन्दी के अन्य कथाकारों से प्रेमचन्द की तुलना करनी पड़ेगी। वह यहाँ सम्भव नहीं है।

इसके बाद नवज्योति सिंह से की गयी उदयन वाजपेयी की लम्बी बातचीत है जिसे 'भारतीय दृष्टियाँ और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग' शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है।

'समास' के अंकों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि 'नवो नवो भवति जायमानः' सृष्टि उत्पन्न हो-हो कर नयी बनी रहती है। वही सवेरा, वही शाम पर अपने हर सवेरे, हर शाम से भिन्न और ताजे। यही उक्ति समास के हर अंक पर लागू की जा सकती है। अभी तक उदयन के धर्मपाल से, कमलेश जी से, रतन थियाम से, सुरेश शर्मा से वार्तालापों के विवरण हम पढ़ चुके हैं। समास-९ में नवज्योति सिंह ने अपने वार्तालाप में कई चीज़ों पर विचार किया है। राजनीति से लेकर समाजनीति, दर्शन, अर्थनीति, प्राचीन परम्पराएँ, नयी परम्पराएँ, वैश्विक दृष्टि से हमारे साहित्य, कलाओं की स्थिति। पूरी बातचीत नवोन्मेष के साथ कई अछूते विषयों को अपने दायरे में लाती है। पहली बार यह पढ़ने को मिला कि हमारा स्वतन्त्रता का उत्सव उल्लासहीन था, उस पर विजय नहीं, गहरे विषाद की छाया पड़ी हुई थी। इसे गाँधी की विफलता कहें या नेहरू का समझौता अथवा माउण्ट बेटन की कूटनीति के सामने नेहरू का समर्पण। नवज्योति सिंह ने अपनी सारी बातें बड़ी सहजता और साफ़गोई से व्यक्त की हैं। इसलिए उनके वार्तालाप पर मुझे सम्पादक की टिप्पणी ही ध्यातव्य लगी। टिप्पणी में उदयन ने लिखा है : मुझे नवज्योति ऐसे दार्शनिक जान पड़े जो अपनी परम्परा में पैठकर आधुनिक विश्व में बराबरी का संवाद करता है। वे न पश्चिम के विरोधी हैं और न भारत के भक्त। उनमें एक सच्चे दार्शनिक की सम्यक दृष्टि है जो अपनी परम्परा की त्रुटियों को उतनी ही निर्ममता से देख पाती है जितनी निर्ममता से आधुनिक विश्व के प्रश्नों को। नवज्योति सिंह की एक बात बहुत विचारणीय है : जिस समाज व्यवस्था में यह विवेक न हो कि किस चीज का सम्मान करना है जिसमें छुपाने के लिए शर्म का उपयोग होता हो, वह कैसे चलेगी।''

इस वार्तालाप में एक महत्त्वपूर्ण बात उठायी गयी है और वह है हमारे संविधान की मूलप्रति में नन्दलाल वसु द्वारा किए गए रेखांकनों या दूसरों द्वारा अंकित किए गए अलंकरणों के उसके मुद्रित रूप में से गायब कर देना, सिर्फ अशोक की लाट वाले शीर्ष को रहने देना। यहीं पर एक महत्त्वपूर्ण बात की ओर हमारा ध्यान खींचा गया है कि फ्रांस अथवा अमरीका की तरह की स्वतन्त्रता का कोई महान स्मारक नहीं है। अगर आप किसी मेहमान को दिल्ली दिखाते हैं, उसमें कुतुब मीनार आदि के अलावा है क्या दिखाने लायक। वहाँ आधुनिक स्मारक के नाम पर केवल ब्रितानी स्थापत्य है, चाहे वह संसद भवन हो या इण्डिया गेट। आधुनिक स्वतन्त्र भारत का कोई स्मारक नहीं है। आपको ले-देकर दो-तीन आधुनिक चीज़े मिलेंगी, एक रिज़र्व बैंक के सामने रामकिंकर बैज का जक्खा-जक्खी (यक्ष-यक्षिणी) दूसरा राष्ट्रपति भवन के पीछे गाँधी जी की दाण्डी यात्रा का शिल्प। इसके अलावा वहाँ ऐसा कुछ नहीं है जो कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में उत्कर्ष प्राप्त दृष्टि का रूपंकरण हो।

समास-८ में कमलेश जी का जो लम्बा आलेख '' रूसी संस्कृति का उद्भव और विनाश'' शुरू हुआ था वह इस ९वें अंक में भी चलता रहा। इस लम्बे आलेख में उन परिस्थितियों का अंकन किया गया है जिनके चलते रूसी संस्कृति

पतन की ओर अग्रसर हो गयी। इस आलेख में रूसी कवियों के उद्धरण और साहित्यकारों के जीवन प्रसंग बार-बार पढ़ने योग्य हैं। भारत में मार्क्सवादी विचारधारा के भक्त रूस के इस चेहरे और उसके इन मानवतावादी कवियों के संघर्ष को बराबर उपेक्षित करने की कोशिश करते रहे हैं और रूस का ऐसा सरसब्ज बाग दिखाते रहे हैं मानो रूस में रामराज्य था और वहाँ सभी को समान रूप से सुख-शान्ति का बटवारा किया जाता था।

कमलेश जी के इस आलेख में रूस का इतिहास भी दर्ज है। प्रतीक्षा उस दिन की रहेगी जब यह पूरा विवरण पुस्तकाकार प्रकाशित होगा।

मुझे प्रयाग जी का कुछ भी पढ़ना रुचता है। उसमें उम्दा और स्वादपूर्ण गद्य के साथ जीवन के जिन बिम्बों को उभारा जाता है वे बड़े ताजे, टटके और जीवन की ऊष्मा से भरपूर होते हैं। प्रयाग जी के लेखन की एक विशेषता है एक बिन्दु पर कला के तमाम शिल्पकारों को समेट लेना। जिसमें प्रकृति की ध्वनियाँ, पक्षियों की चहचहाटें और शाम-सवेरे के रंगों का सुघड़ विन्यास होता है। उनके जीवन चित्र, यात्रा वृत्तान्त बोलते हैं। ये सब विशेषताएँ इस अंक में उनके यात्रा-वृत्तान्त, अम्बा दास और ऑस्लो की मेरी दो यात्राएँ में मिलती हैं।

अपने-अपने अज्ञेय (सम्पादक ओम थानवी) से उद्धृत अज्ञेय पर मानस मुकुल दास का संस्मरण बार-बार पढ़ने को जी चाहता है।

'समास' ने सर्जनात्मक अनुवाद और उसकी 'सैद्धान्तिकी' (मदन सोनी अंक-५, अनुवाद से पहले) और सर्जनात्मक अनुवाद में भारतीय भाषाओं की कविताओं, कहानी, उपन्यासों के चुने अंशों के द्वारा हमारी पाठ्य रुचि को परिष्कृत और विस्तारित करने का प्रयास किया है। अंक-६ में एक विचित्र लेख का शीर्षक है 'ग़ालिब का इतालवी में अनुवाद।' इसमें यह बताया गया है कि स्टीवन ग्रीकों ने ग़ालिब को अनुवाद के लिए क्यों चुना। फिर उनके द्वारा किए गए अनुवाद को इतालवी दूतावास में पढ़ा भी गया जिसमें मूल भाषा में उनकी गज़लों का पाठ अशोक वाजपेयी ने किया था।

उत्तराखण्ड में गत वर्ष त्रासदी क्यों घटित हुई अथवा पूरे देश में बाढ़ें क्यों आती हैं, इसके मूल में किस प्रकार विकास और प्रगति के नाम पर वनों को उजाड़ा जा रहा है, नदियों और समुद्र के तटबन्धों पर कांक्रीट की दीवारें बनाकर वहाँ बहुमंजिला इमारतें क्यों खड़ी की जा रही हैं, इन सबका विश्लेषण पवन गुप्ता और पर्यावरणविद् अनुपम मिश्र के आलेखों में मिलता है।

कमलेश जी के लम्बे लेख ''रूसी संस्कृति की उन्नति और उसका विनाश'' पर अधिक इसलिए नहीं कहा गया क्योंकि वह पूरा लेख एक-दूसरे लम्बे लेख की माँग करता है, जो वैसे ही बढ़ गये इस पत्रात्मक लेख में सम्भव नहीं है।

- रामशंकर द्विवेदी, उरई

आपके सम्पादन में प्रकाशित 'समास' को मैं धैर्य और ध्यान से पढ़ता रहा हूँ। यह, हमारी भाषा में ऐसी विशिष्ट पत्रिका है जो भारतीय बुद्धि-जीवन में बहुत दूर तक जड़ें जमायी औपनिवेशिक आधुनिकता को, उसके स्रोत में जाकर जानने-समझने का उद्यम कर रही है। धर्मपाल, सुरेश शर्मा, कमलेश, नवज्योति सिंह आदि से आपके संवाद

का सिलसिला इसका रचनात्मक साक्ष्य है। इस आधुनिकता का दबाव, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य और विविध कला-रूपों के साथ हमारे दैनिक जीवन में भी साफ-साफ देखा जा सकता है। दुर्भाग्य से हिन्दी, विचार की भाषा नहीं है। हम 'स्वयं' को भी 'अन्य' के तर्कों में पढ़ने के आदी हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में महात्मा गाँधी ने आधुनिक सभ्यता को लेकर जो बहस शुरू की थी, क्या विडम्बना है कि देश की राजनीतिक सक्रियता में वह पूरी तरह से असंग और अकेली रह गयी। आपको याद होगा कि दो बुद्धियों के पार्थक्य और उन्हें पढ़ने के ढँग को दार्शनिक कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने भी अपने चिन्तन का विषय बनाया था। उनके ही शब्दों में- 'जब तक व्यक्ति किसी बन्धन के प्रति सचेत है, तब-तक उसके द्वारा प्रतिरोध सम्भव है। उसे एक अपरिहार्य बुराई के रूप में सहते हुए भी आत्मा में स्वतन्त्र रहा जा सकता है। दासता तब आरम्भ होती है, जब व्यक्ति बुराई को महसूस करना ही बन्द कर देता है।' और यह भी कि 'जब अशुभ को शुभ रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो वह दासता और भी गहन-गम्भीर हो जाती है।' गुलामी के समय, बरसों पहले लिखा गया यह लेख, क्या आज के तथाकथित स्वतन्त्रता के समय में भी उतना ही प्रासंगिक और सार्थक नहीं है। **'समास-६'** में जड़ावलाल मेहता की पुस्तक 'कवि कर्म और चिन्तन : सर्जना के दो आयाम' पर कवि-विचारक कमलेश की आलोचना को भी मैं इसी वैचारिक परिसर का हिस्सा मानता हूँ।

कुछ बातें और। पहली तो यह कि आपने कुछ ऐसे रचनाकारों पर ध्यान केन्द्रित किया है जो महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, अनेक कारणों से अलक्षित रह गये हैं। दूसरी यह कि हिन्दी की विभिन्न बोलियों में रची गयी कहानियों को आप 'समास' में उचित महत्त्व दे रहे हैं। वैसे भी हिन्दी किसी एक भाषा का नाम तो नहीं है : वह एक भाषा समूह का नाम है। खड़ी बोली की समृद्धि में लोक-चित्त को उजागर करने वाली बोलियों का अपना महत्त्व रहा है। कहानी के साथ-साथ, इस समय लिखी जा रही कविता को भी आप शामिल कर सकते हैं।

एक पंथी गीत सुनिये :

तेला कहंवाल लानव गुरू आरूग फूल,
तेला कइसे के चढावंव गुरू आरूग फूल।
गैया के दूधल बछरू जुठारे हे,
कोठी के अन्न सुरही जुठारे हे
तरिया के पानी ल मछरी जुठारे हे
चन्दा सुरूज ल राहू केतू लीले हे
हृदय के भाव है आरूग फूल,
तोला इहील चढ़ावंव गुरू आरूग फूल।

राजेन्द्र मिश्र, रायपुर

समास-६ में नवज्योति सिंह से उदयन वाजपेयी की बातचीत भी दूसरी बातचीतों की तरह अपने पाठकों के सामने सोचने-समझने, चिन्तन-मनन और मानवीय संवादों के नये क्षितिजों, नये इलाकों को रखती है। इस बातचीत में हम पाठकों का सामना, हमारे देश की इस वक़्त की नैतिक चुनौतियों और भयावह विडम्बनाओं से होता रहता है।

इस बातचीत को पढ़ने के बाद यह भी लगता है कि हमने आज़ादी के बाद क्या-कुछ पाया है, इसका तो कुछ अनुमान लगाया जा सकता है किन्तु पिछले पैंसठ-छियासठ वर्षों में हमने कितना कुछ खोया है इसका अनुमान लगाना मुश्किल है।

पूरी बातचीत इसके पूर्व में प्रकाशित इतिहासकार धर्मपाल से हुई बातचीत की तरह धीरे-धीरे भारत में समाज की जगह के सिकुड़ते चले जाने, राज्य की जगह के फैलते चले जाने, विकराल होते चले जाने की विडम्बना का एहसास करवाते हुए आगे बढ़ती है।

यह संवाद जिस तरह से अपना आकार गढ़ता है, जिस तरह से नवज्योति अपनी किसी एक बात को किसी दूसरी बात से जोड़ते हैं, उनका कोई एक तनाव किसी दूसरे तनाव को बुलाता है, कोई एक समस्या कोई दूसरी समस्या से बाहर आती जान पड़ती है, यह सब पाठकों को यह भी बताता जान पड़ता है कि इस इस देश को समझने के तरीके भी अलग ही होंगे, उन तरीकों की अपनी विशिष्ट किस्म की प्रकृति होगी, जो किसी भी पुरानी, जीवन्त और जोखिम उठाती सभ्यता को समझने-समझाने के लिए ज़रूरी होती होगी।

''समास'' में जारी बातचीतों का यह सिलसिला हम पाठकों के लिए इसलिए भी महत्त्वपूर्ण बनता है कि जितने सवाल पत्रिका के पन्नों पर होते हैं, उनसे कुछ ज़्यादा सवाल हम पाठकों के मन में।

पिछली कुछ बातचीतों को हमने अपने मित्रों/परिचितों के एक छोटे से समूह में पढ़ा है और इस पत्र में उन प्रतिक्रियाओं का छोटा सा अंश पत्रिका के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने आपके पास भेज रहे हैं।

-विवेक पटवर्धन, अविनाश जोशी, जयशंकर (नागपुर)

'समास-९' के सम्पादकीय में उदयन वाजपेयी ने प्रेमचन्द का उल्लेख किया है, बल्कि उनके उल्लेख से ही अपना सम्पादकीय आरम्भ किया है। मैंने उन्हें अपनी नई पुस्तक 'प्रेमचन्द की कहानियों का कालक्रमानुसार अध्ययन' भेजी थी। मुझे प्रसन्नता हुई कि उनका ध्यान प्रेमचन्द पर गया और उनके कथा-लेखन पर भरत के नाट्यशास्त्र के सन्दर्भ में कुछ मूलभूत प्रश्न उठाये। मुझे नहीं लगता है कि उदयन वाजपेयी ने जो प्रश्न उठाये हैं और उन्हें उठाने में भरत मुनि का जो सहारा लिया है, वह इससे पूर्व किसी ने उठाये होंगे। उदयन वाजपेयी का मत है कि नाट्यशास्त्र में विधि और निषेध दोनों पर विचार है, इसलिए कि नाटक एक कला रूप की तरह अनुभव हो सके तथा दर्शक इस तरह देख सकें कि वे एक कलाकृति को देख रहे हैं, न कि जीवन के किसी अंश को।

नाटक और कथा की रूपरचना में अन्तर है। नाटक में विधि-निषेध होते हैं, क्योंकि नाटक सार्वजनिक विधा है और समाज की अनुकूलता-प्रतिकूलता तथा रंगमंच पर प्रदर्शन की सम्भावना-असम्भावना को ध्यान में रखकर ही नाटक में विधि और निषेध की कल्पना की गई है। दर्शकों के लिए नाटक को स्वीकार्य बनाने के लिए ही सम्भवतः भरतमुनि ने ऐसी व्यवस्था की थी, किन्तु उपन्यास-कहानी की विधागत प्रवृत्ति नाटक के समान नहीं है। उपन्यास-कहानी सार्वजनिक विधा नहीं हैं, रंगमंच पर उनका प्रदर्शन नहीं होता है। वे व्यक्तिशः पढ़ी जाने वाली विधाएँ हैं, जिनमें नाटक जैसा कोई निषेध एवं वर्जना नहीं है। कथा-साहित्य में उन्मुक्त यौन सम्बन्धों का चित्रण होता है, युद्ध के भयावह वर्णन होते हैं, मनुष्य की क्रूरता, दमन और शोषण पर पृष्ठ-के-पृष्ठ लिखे जा सकते हैं और इसी प्रकार के

वे प्रसंग और घटनाएँ जिनका भरत मुनि ने निषेध किया है, उपन्यास-कहानी में बिना किसी बाधा या अंकुश के प्रस्तुत किए जाते हैं। अतः भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के विधि-निषेध सिद्धान्त को उपन्यास-कहानी पर लागू करना तर्कसंगत नहीं है।

उदयन वाजपेयी ने आगे अपनी व्याख्या में एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि दर्शक नाटक को एक कलाकृति के रूप में देखता है, न कि जीवन के किसी अंश के रूप में तथा दर्शक या पाठक उसका कलारूप में आस्वादन करता है, न कि जीवन का अंग मानकर। वाजपेयी लिखते हैं कि कलाएँ जीवन का भाग होती हैं, पर वे सामान्य जीवन का कोई अंश या टुकड़ा नहीं होती। वे जीवन का पुनर्सर्जन करती हैं। इस पुनर्सर्जन की यह विशेषता है कि इसे अनुभव करते हुए यह कभी विस्मृत नहीं हो पाता कि यह पुनर्सर्जन है, जीवन की रपट नहीं।

उदयन वाजपेयी की इस धारणा पर विचार की आवश्यकता है। एक दर्शक जब नाटक देखने जाता है तो उसकी रुचि नाटक और उसमें अभिव्यक्त जीवन को देखने के प्रति होती है। नाटक को देखने के लिए यदि सभागार में दो सौ दर्शक हैं तो अधिकांश की रुचि ऐसी ही होती है। दो-चार कला के पारखी उसकी कलात्मकता की परीक्षा के प्रति आकर्षित हो सकते हैं। रंगमंच पर एक दृश्य का अभिनय हो रहा है, तब दर्शक दृश्य के प्रति एकाग्र होता है और कभी-कभी वह पात्रों के साथ अपना साधारणीकरण करता है। उस समय निश्चय ही, कुछ कला-पारखियों के मन में भी, उसकी कला के प्रति सावधान रहने की मानसिक चेष्टा सम्भव प्रतीत नहीं होती। दर्शक का जैसे ही मंच से ध्यान हटा, और वह कला-तत्त्वों की खोज में प्रवृत्त हुआ, उसकी आस्वादन प्रक्रिया भी तत्काल भंग हो जायेगी और वह जब तक कुछ सोचेगा, दृश्य आगे बढ़ जायेगा और जीवन का कुछ अंश वह गम्भीरता से देखने से वंचित हो जायेगा। अतः दर्शक जब नाटक देखता है तो वह उसे कलाकृति समझ कर नहीं देखता, जीवन का एक रूप देखने आता है। हाँ, देखने के बाद कोई प्रबुद्ध दर्शक यह सोच सकता है कि नाटक में जो जीवन देखा है, क्या उसकी प्रस्तुति कलात्मक हुई है या नहीं।

उदयन वाजपेयी का यह कथन सभी स्वीकार करेंगे कि कला में जीवन का पुनः सृजन होता है, लेकिन यह पुनः सृजन जीवन का ही होता है। प्रेमचन्द भी मानते हैं कि कहानी (साहित्य एवं कला) का यथार्थ जीवन का हूबहू यथार्थ नहीं है, क्योंकि कला का रहस्य, 'भ्रान्ति' और 'कृत्रिमता' में है, जिस पर यथार्थ का आवरण रहता है। प्रेमचन्द ने इसका विवेचन 'गल्प-रत्न' (१९२९) तथा 'मानसरोवर', खण्डः एक (१९३६) की भूमिका में किया है। वाजपेयी के पुनः सृजन और प्रेमचन्द की 'भ्रान्ति' के यथार्थ में कोई अन्तर नहीं है और दोनों का मत है कि कला जीवन की ही भ्रान्तिपूर्ण पुनर्सर्जना है। उदयन वाजपेयी इसके बाद अपने अनुभव के सम्बन्ध में प्रेमचन्द के उपन्यासों-कहानियों को आधार बनाकर लिखते हैं कि प्रेमचन्द की यही त्रुटि रही है कि वे किसी व्यक्ति के न लिखे गये हैं तथा किसी विशेष व्यक्ति की कल्पना न हों, बल्कि यथार्थ का तस-का-तस चित्रण हों। यह वाजपेयी की धारणा है, उनका निष्कर्ष है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में लेखक की कोई सत्ता नहीं है, लेखक गायब है और रचना और सामाजिक यथार्थ में एकरूपता है। वाजपेयी लिखते हैं कि प्रेमचन्द की कहानियों को लिखने का ढँग ऐसा है कि लगता ही नहीं कि उन्हें प्रेमचन्द ने लिखा है। ऐसा महसूस होता है मानो वह यथार्थ मात्र है और उनमें कृति-चेतना अनुपस्थित है तथा वे लेखक के किसी सौन्दर्य-बोध की उपज नहीं हैं और इस आधार पर वाजपेयी प्रेमचन्द को आत्म-सजगता विहीन लेखक कहते हैं।

उदयन वाजपेयी के इन मतों पर विचार की आवश्यकता है। हिन्दी के प्रगतिशील आलोचकों ने प्रेमचन्द के इस यथार्थवाद को एक बड़ी उपलब्धि माना है जो जीवन का वास्तविक चित्रण करता है, लेकिन खेद का विषय है कि इन आलोचकों ने प्रेमचन्द के भ्रान्तिपूर्ण एवं कृत्रिम यथार्थ के दर्शन की पूर्णतः उपेक्षा की है। उदयन वाजपेयी भी प्रेमचन्द के यथार्थ को इसी दृष्टि से देखते हैं, लेकिन वे प्रेमचन्द के यथार्थ को पुनर्सर्जन नहीं मानते और न प्रेमचन्द के यथार्थ-दर्शन पर विचार ही करते हैं और उनकी यथार्थ-चेतना को लेखक विहीन मानते हुए कथा-कृति को कला-कृति का दर्जा देने को तैयार नहीं है। इसके लिए वाजपेयी प्रेमचन्द के पाठकों के साथ उनके आत्म-सजगता की विपन्नता को दोषी ठहराते हैं।

मैं यहाँ पहले पाठकों की सीमा की समस्या को उठाता हूँ। वाजपेयी के अनुसार, पाठक प्रेमचन्द के गाँव-चित्रण को लेखक का गाँव-चित्रण न मानकर उसे सामान्य गाँव का रूप मान लेता है और यह गाँव चित्रण के प्रेमचन्दीय वैशिष्ट्य को खत्म कर देता है। इसके लिए प्रेमचन्द दोषी नहीं है और सारे पाठक ही। आप ज़रा सोंचे, जिन पाठकों ने गाँव नहीं देखा है, वे जब प्रेमचन्द के गाँव चित्रण को पढ़ेंगे तो महसूस करेंगे कि वे प्रेमचन्द द्वारा देखे गाँव को देख रहे हैं। जिन परिवारों में संयुक्त परिवार व्यवस्था है और जहाँ सामंजस्य है, वे जब 'बड़े घर की बेटी' कहानी पढ़ेंगे तो क्या वे यह अनुभव नहीं करेंगे कि यह बड़े घर की कल्पना प्रेमचन्द की कल्पना है? 'कफ़न' कहानी के प्रकाशन के बाद तब यह प्रश्न उठा कि यह जीवन की वास्तविकता नहीं है, यह तो प्रेमचन्द का, कहानीकार का रचा संसार है। डॉ. शिव-मंगलसिंह 'सुमन' ने मुझे लिखा था कि इस पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कक्षा में कहा था कि प्रेमचन्द ने इसमें अमानुषीय व्यवहार का चित्रण किया है, अर्थात् जीवन-यथार्थ पर लेखक हावी हो गया है और कहानी जीवन-यथार्थ की नहीं बल्कि लेखक की सोच की, मनुष्य-दर्शन की कहानी हो गयी है। अतः प्रेमचन्द को आत्म-सजगता विहीन कथाकार कहने का कोई औचित्य नहीं है। प्रेमचन्द पर यह आरोप सम्भवतः मैंने पहली बार पढ़ा है कि प्रेमचन्द में लेखक के रूप में कोई सजगता, कोई सचेतता नहीं है, जबकि उनकी आलोचना में कुछ आलोचकों ने इसकी चर्चा की है कि प्रेमचन्द एक सजग लेखक हैं और रचना में अपनी उपस्थिति अनेक रूपों में अंकित करते चलते हैं।

प्रेमचन्द की आत्म-सजगता, अर्थात् लेखन में एक लेखक के रूप में उनकी उपस्थिति को कुछ बिन्दुओं से समझा जा सकता है। प्रेमचन्द की रचनाओं के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध रहा है कि उनकी रचना को उनके नाम के बिना प्रस्तुत करने पर भी पाठक (प्रेमचन्द का पाठक) यह पहचान लेगा कि यह प्रेमचन्द की रचना है। इस प्रकार प्रेमचन्द की कहानी/उपन्यास आदि में कुछ ऐसा है जो प्रेमचन्दीय है और जो उन्हें टैगोर, जैनेन्द्र, अज्ञेय आदि से भिन्न एवं विशिष्ट बनाता है। प्रेमचन्द की रचनाओं की विषय-वस्तु, पात्र-सृष्टि, भाषा, प्रतिपाद्य आदि में उनकी छाप विद्यमान है तथा रचना में लेखक की उपस्थिति पाठक को प्रेमचन्द के उपस्थित रहने की बराबर जानकारी देती रहती है। कुछ आलोचकों ने तो प्रेमचन्द की शिल्प-चेतना पर यह आरोप लगाया है कि वे रचना में उपस्थित रहकर बराबर हस्तक्षेप करते हैं और कथा-संरचना, उसके विकास, पात्र के चरित्रांकन आदि पर अपनी पकड़ रखते हैं। प्रेमचन्द पूर्ण रूप में आत्म-सजग लेखक हैं, वस्तु, पात्र, परिवेश, मन्तव्य सबको अपना स्पर्श देते हैं और कहानी या उपन्यास प्रेमचन्द की रचना बनकर ही पाठक तक पहुँचती है। मैं 'कफ़न' कहानी का उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ। 'कफ़न' एक वस्तुनिष्ठ कहानी मानी जाती है और विश्वास है कि उसमें लेखक का कोई हस्तक्षेप नहीं है। 'कफ़न' कहानी में एक सम्वाद है,

''कैसा बुरा रिवाज़ है कि जिसे जीते-जी तन ढकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफन चाहिए।' यह उक्ति माधव की है जिसकी पत्नी बुधिया प्रसव-वेदना से मर गयी है, लेकिन यह लेखक का बौद्धिक हस्तक्षेप है। प्रेमचन्द अपने पात्र के मुख से बोलकर मृत्यु और जीवन के बड़े प्रश्न उठाते हैं ओर कहना चाहते हैं कि मृत्यु से बड़ा जीवन है। नये कफ़न से शव को अलंकृत करने की अपेक्षा जीवित मनुष्य का ध्यान रखना होगा, क्योंकि सत्य तो जीवन ही है। लेखक का यह हस्तक्षेप कहानी को प्रेमचन्दीय कहानी बना देता है। अतः प्रेमचन्द आत्म-सजग लेखक हैं और उनकी यह आत्म-सजगता कई दिशाओं से प्रकट होती है।

कमल किशोर गोयनका, दिल्ली

समास-६ में उदयन वाजपेयी और नवज्योति सिंह की बातचीत- 'भारतीय दृष्टियाँ और पश्चिम से उऋण होने के मार्ग' न केवल विचारोत्तेजक है बल्कि सभ्यता-विमर्श के लिए नयी दिशाएँ प्रस्तावित करता है। हमने भारत में विकसित सभ्यता की समकालीन नियति पर जड़ाव लाल मेहता, जे.एन. मोहान्ती, दया कृष्ण और कुछ अन्य दार्शनिकों के विचार पहले पढ़े थे। उनका जो भी प्रभाव रहा हो, नवज्योति सिंह के कथनों ने अनेक नयी दिशाओं में सोचने के लिए विवश कर दिया।

'परम्परा में उपलब्ध विचारों और आचरणों' को आज की आधुनिकता में हर स्तर पर, 'विचार के स्तर पर और आचरण के स्तर पर' फैलना चाहिए। परम्परा से सुलभ विचारों और बहसों के दायरे में ग्रीक विचारों (तथा पश्चिम में 'एनलाइटेनमेण्ट' और उसके उत्तरकाल में आज तक होने वाले चिन्तन को) लाया जाना चाहिए। अगर हमारे चिन्तन के प्रस्थान पश्चिमी प्रस्थानों से अलग रहे हैं तो उनको भी अन्य प्रस्थानों के साथ तुलनीय बनाना चाहिए। पश्चिम ही नहीं, चीन-जापान-तिब्बत आदि एशियायी और अफ्रीका-अमरीका के मूलवासियों का सोच भी हमें अपनी सोच में प्रस्थापित करना चाहिए। अनेक वर्ष पूर्व एक जापानी दार्शनिक ने 'वेज़ ऑफ थिंकिंग ऑफ ईस्टर्न पीपुल' लिख कर भारतीय- चीनी- जापानी और भोटी चिन्तन शैलियों में एकता को पहचानने का प्रयत्न किया था। इस प्रयत्न को भी आगे बनाये रखने का कोई प्रयास नहीं देखने में आया।

श्री जड़ाव लाल मेहता ने लिखा था कि कभी-कभी अपने घर पर वापस आने का मार्ग भी बहुत लम्बा मार्ग होता है। उनके अनुसार भारत की संस्कृति भी अब पश्चिम की संस्कृति के मार्ग से ही हमें पुनः उपलब्ध करनी पड़ेगी। नवज्योति सिंह द्वारा हमें अपनी पारम्परिक दृष्टि में पश्चिम आधुनिकता को पूरी तरह से फैलने देने के प्रस्ताव पर अनेक लोगों को सोचना और कार्य करना चाहिए।

यह बातचीत करने और प्रकाशित करने के लिए आपका बार-बार अभिनन्दन।

कमलेश, नयी दिल्ली

लेखक परिचय

आचार्य नरेन्द्र देव, भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण चिन्तक और आन्दोलनकर्त्ता। भारत की पारम्परिक वैचारिक और सांस्कृतिक विरासत पर अनेक व्याख्यान दिये हैं।

विश्वम्भरशरण पाठक, भारत के प्रमुख इतिहासकार, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी, १९४७ में इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के विभागीय अध्यक्ष, १९७३ में मैक्सिको में यूनेस्को प्रोफ़ेसर, गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग के कई वर्षों तक अध्यक्ष रहे फिर उसी विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। आपको संस्कृत और यूनानी भाषाओं पर अच्छा ज्ञान था।

कुमार शहानी, भारत के महानतम् फ़िल्मकारों में गिने जाते हैं। सिनेमा पर गहरा विचार किया है। 'माया दर्पण', 'तरंग', 'कस्बा', 'भावान्तरण', 'चार अध्याय' इनकी प्रसिद्ध फ़िल्में हैं, जो भारत और विश्व के सिनेमा में कालजयी कृतियाँ मानी जाती हैं। कुमार संसार के बड़े सिनेमा-अध्यापक के रूप में सहज ही स्वीकृत हैं। इनकी फ़िल्मों को राष्ट्रीय पुरस्कार समेत कई भारतीय और 'प्रिंस क्लाउस' समेत कई अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हैं। 'समास' में प्रकाशित कुमार की यह कविता हिन्दी में उनकी पहली कविता है। इन दिनों दिल्ली में रहते हैं।

कमलेश, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि, विचारक, अनुवादक और राजनीतिकर्त्ता। इनके तीन कविता संग्रह, 'जरत्कारु', 'खुले में आवास' और 'बसाव' प्रकाशित हुए हैं। कमलेश जी की कविताओं में भारतीय परम्परा की समृद्धि के दर्शन को अनेक आलोचकों ने रेखांकित किया है। इन्होंने पाब्लो नेरूदा की प्रसिद्ध कविता 'माचू पिच्चू के शिखर' समेत अनेक कविताओं के अनुवाद किये हैं। कमलेश जी ने साहित्य और इतिहास आदि अनेक अनुशासनों की पुस्तकों पर विस्तार से लिखा है। इन दिनों कमलेश जी भारत की जाति-व्यवस्था आदि अनेक संस्थाओं को औपनिवेशिक विचारों के कुहासे से बाहर निकालकर सम्यक आलोक में देखने का महती प्रयत्न कर रहे हैं। आप इन दिनों बी-२५, वसन्त कुंज एनक्लेव, नयी दिल्ली ७० में रहते हैं।

वागीश शुक्ल, हिन्दी के सम्भवतः सबसे गहरे और तीक्ष्ण सिद्धान्तकार, आलोचक और उपन्यासकार। इनकी दो पुस्तकें, 'शहंशाह के कपड़े कहाँ हैं' और 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' प्रकाशित हैं। पहली पुस्तक में साहित्य के अनेक मूलभूत प्रश्नों पर वैचारिक निबन्ध हैं। 'छन्द-छन्द पर कुमकुम' निराला की सुदीर्घ कविता 'राम की शक्ति पूजा' की अद्वितीय टीका है। आधुनिक समय में ऐसा कोई वैचारिक उद्यम किसी अन्य भारतीय लेखक ने इस स्तर का नहीं किया है। यह टीका निराला की इस महत्त्वकाँक्षी कविता को भारतीय साहित्य की देशी और मार्गी परम्परा के परिवेश में अवस्थित कर उसकी अर्थ समृद्धि को सहज उद्घाटित करती है। वागीश जी ने ग़ालिब के लगभग पूरे साहित्य की विस्तृत टीका लिख रखी है जो आने वाले वर्षों में प्रकाशित होगी। वे पिछले कुछ वर्षों से एक सुदीर्घ उपन्यास लिखने में लगे हैं जिसके कुछ हिस्से 'समास-६' में प्रकाशित हुए थे। आप इन दिनों स्वस्ति, म.न.-१०४२, वार्ड क्रमांक ०४ दाखिन दरवाज़ा बस्ती २७२००२ (उ.प्र.) में रहते हैं।

रामशंकर द्विवेद्वी, अनुवादक और समीक्षक। बांग्ला से हिन्दी में निरन्तर अनुवाद करते रहे हैं। इनके अनुवाद हिन्दी की तमाम पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं। समास के पिछले कुछ अंकों में इनके किये अनुराधा महापात्र, जीवनानन्द दास आदि के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। आप उरई (उ.प्र.) में रहते हैं।

राममनोहर लोहिया, भारतीय राजनीति की प्रमुख उपस्थितियों में एक। भारतीय परम्परा और आधुनिकता के विषय में अनेक व्याख्यान और पुस्तिकाएँ लिखीं और प्रकाशित करायीं। उनके विचारों का प्रभाव आज तक के राजनीतिक विमर्श और आन्दोलनों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अब विचार शेष हैं।

प्रकाश, हिन्दी के युवा कवि, अभी हाल में एक कविता संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनकी कविताएँ हिन्दी की अनेक महत्वपूर्ण पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं। आगरा में रहते हैं।

निकोलाई ज़बोलोत्स्की, रूसी भाषा के महत्वपूर्ण कवियों में इनकी गिनती होती है। इन्होंने अधिकतर पशुओं पर कविताएँ लिखी हैं। सोवियत सत्ता ने इन्हें भी अन्य तमाम महान कवियों की तरह पर्याप्त पीड़ा पहुँचायी।

वरयाम सिंह, रूसी भाषा से हिन्दी में अनुवाद की अनेक पुस्तकें प्रकाशित की हैं, लगभग सभी महत्वपूर्ण रूसी कवियों की कविताओं का मूल रूसी भाषा से प्रांजल हिन्दी अनुवाद किया है। वर्षों तक दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया है।

अमित दत्ता, युवा पीढ़ी के अत्यन्त महत्वपूर्ण फ़िल्मकार। भारतीय फ़िल्म एवं टेलीविजन संस्थान के स्नातक अमित की फ़िल्में विश्व के वेनिस समेत अनेक अन्तर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोहों में दिखायी जा चुकी हैं। चित्रकला एवं अन्य कलाओं में गहरी समझ है। आपकी महत्वपूर्ण फ़िल्में हैं - क्रमशः, नैन सुख, सेवन्थ वे (सातवाँ रास्ता) आदि।

माधुरी बेडेकर, 'समास' से हाल में ही जुड़ी हैं। मराठी से हिन्दी में अनुवाद किये हैं। नागपुर में रहती हैं।

मिथलेश शरण चौबे, हिन्दी के युवा कवि और आलोचक। एक आलोचना पुस्तक 'कुँवरनारायण का रचना संसार' विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर से प्रकाशित। कई साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और लेख प्रकाशित हुए हैं। हिन्दी लेखन के अलावा हिन्दी साहित्य पढ़ाते हैं। भोपाल में रहते हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग करते हैं।

संगीता गुन्देचा, हिन्दी की कथाकार, कवि और संस्कृत की अध्येता। समकालीन रंगकर्म पर कई पुस्तकें प्रकाशित हैं। एक पुस्तक 'भास का रंगमंच' संस्कृत के आदि नाट्यकार भास पर प्रकाशित है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के भोपाल परिसर में सहायक आचार्य हैं। 'समास' में सम्पादन सहयोग करती हैं।